

THE ISIBHĀSIYĀIM

इसि-भासियाइं सुत्ताइं

अर्थात्

अर्हतर्षि प्रोक्त

ऋषिभाषितानि सूत्राणि

भारतीय भाषाओं में सर्व प्रथमतः अनुवादित

संस्कृतटीकया समुल्लसितानि

हिन्दी-गुजराती अनुवाद्

और

विदग्ध-स्थलों पर विशद्

टिप्पणों से अलंकृत

— अनुवादक एवं सम्पादक —

प्रसिद्धवक्ता मंत्री श्री सौभाग्यमल्लजी म. के शिष्यरत्न, तटस्थ विचारक
पं. मुनि श्री मनोहरमुनिजी महाराज “शास्त्री,” “साहित्यरत्न”

— संशोधक —

पं. नारायण राम आचार्य ‘काव्य-न्यायतीर्थ’

— प्रकाशक —

सुधर्मा ज्ञानमन्दिर,

१७० कांदावाडी, बम्बई नं. ४

“इसिमासियाई” सूत्रपरिचय

श्रमणसंस्कृति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति अपने-आपमें एक विराट् समन्वय है । भारत जैसे विराट् देश में जहां कि करोड़ों मानव बसते हैं, सभी का एक विचार, एक आचार असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है, किन्तु जहां आचार और विचार की रेखाओं में विविधता लक्षित होती है, वहां विविधता में भी एकरूपता है । वह विविधता एक फुलवारी की विविधता है, जहां नानाविध पेड़ पौधे अपनी सौन्दर्य-सुषमा में निर्बाध अभिवृद्धि कर रहे हैं । यदि एक ही किस्म के पेड़ पौधे होंगे तो विपिन की वह मनोहरता लक्षित न होगी जो विविधता में होती है । इसी अर्थ में हम भारतीय दर्शनों को एक सजा हुआ गुलदस्ता कहेंगे, जहां हर एक दर्शन-पुष्प अपनी विचार-परम्परा का प्रतीक है । विविधता बुरी नहीं, बुरी चीज तो विविधता के आग्रह को लेकर एक-दूसरे के खान को इधियाने की चेष्टा करना, एक दूसरे को झटलाना । अपने विचारों को ही सच्चा समझने के आग्रह के कारण, जब व्यक्ति दूसरे के विचार-वैभव को सह नहीं सकता और उसकी वैचारिक स्वतंत्रता का गला घोटना चाहता है, तब उसमें जहरीली गैस घूस आती है, जो अपने व पराये सबको नष्ट कर डालती है ! ।

साम्प्रदायिकता की प्राचीर में जिनके मानस कैद रहते हैं, और बाहर की हवा लगते ही जिन की श्रद्धा लज्जावन्ती बन जाती है, उनके लिये वह विविध पुष्पों से सजा हुआ गुलदस्ता महज एक जलते हुए अंगारे जैसा है । जिनकी विचारधारा ने सम्प्रदाय मोह के कागज से छुड़ी पा ली है सोचने और समझने के लिये दिमाग की खिड़कियां बंद नहीं हैं । वे जहां भी पहुंचते हैं जीवनमधु पा ही लेते हैं । विचार मधुमक्षिका जहां भी पहुंचती है शहद की बूंदें ग्रहण करती है । इसीलिये अमृत के आगार कहना के स्रोत भ. महावीर कहते हैं—“जो मेधावी विचारशील ज्ञान की रोशनी लिये आगे बढ़ता है, उसके लिए विश्व का अणु-अणु श्रय की ओर बढ़ने की प्रेरणा देने वाला है, उसके लिये मिथ्याशास्त्र भी सभ्यक शास्त्र है । वह जहां भी जाएगा अमृत की दृष्टि लेकर जाएगा और अमृत ही लेकर आएगा । और जो जहर की शोध करने चला उसे अमृत में भी हालाहल की बूंदें दिखलाई देंगी । इतना ही नहीं, जीवनदायी अमृत भी जहर की लहर देने लगेगा । हमें अमृत का शोधक बनना है, उसी अमृत की खोज भारतीय सन्तों ने की है ।

भारत को ऋषियों की भूमि होने का गौरव प्राप्त है । जीवन और जगत् के विषय में जिसने जो भी खोज की है दर्शन के क्षेत्र में उसका अपना नया स्थान बन गया है । विभिन्न दर्शनकारों ने जीवन और जगत् के विषय में पृथक्-पृथक् विचार व्यक्त किये हैं । उन्होंने कहा गति और प्रगति का नाम जीवन है पर अनन्त-अनन्त विविधताओं-विचित्रताओं से भरा यह विश्व क्या है ?

मैं कौन हूं, इस विराट् ब्रह्मांड में मेरा स्थान क्या है ? इस गति और प्रगति का लक्ष्य क्या है ? ये छोटी आँखें जो कुछ देख रही हैं यही सब कुछ है ? या इससे भी परे कोई तत्त्व है ? इस विराट् विश्व का नियंत्रण सूत्र किन सशक्त हाथों में हैं ?

मानव-मानस में घूमड़ते इन प्रश्नों का एक ने उत्तर दिया तू और कोई नहीं, इस विराट् विश्व का एक मिल-मिलाता सुन्दर बुलबुल है । तेरी यह मोहकता, तेरी यह कमनीयता इस महान प्रकृति की देन है । उसी के हाथों से तेरा निर्माण हुआ है । इसी असीम जलधि ने दो बूंद जल दे दिया और विशाल भूषिण्ड ने तेरा पुतला खड़ा कर दिया । वायु तुझे अहर्निश जीवन दे रही है, वनस्पति तेरा भोजन है, अनन्त आकाश तेरा आवास है, यही तेरे इस मिट्टी के जीवन की गभीर-तुली परिभाषा है । कुछ क्षण तक हंस ले, खेल ले, तमाम भोग्यपदार्थों का निर्माण तेरे लिये हुआ है, भोग, केवल भोग तेरे जीवन का साध्य है, अर्थ तो साधन है और आखिर में तुझे इसी मिट्टी में समा जाना है, इससे परे तेरा कोई अस्तित्व नहीं है ।

इस दर्शनकार को हम चावार्क के नाम से पहचानते आये हैं। दृष्टिगत, दृश्य संसार ही इन्हें मान्य था, इसी को सजाना संवारना उनका लक्ष्य है। इनके विचार से मानव वित्तषणा और लोकेषणा का जीवित प्रतीक मात्र था। दूसरे शब्दों में आदमी रोटी दाल का केवल यंत्र मात्र है, कामना और उसकी पूर्ति जीवन लक्ष्य है।

दूसरे दर्शनकार सामने आये। उन्होंने बताया कि जीवन एक शाश्वत चक्र है, मानव न केवल क्षणस्थायी पानी का बुदबुदा ही है, किन्तु उसमें ही अमरत्व के तार संकृत हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि जन्म के बाद जन्मान्तर और मृत्यु के बाद नया जन्म भी है और इस विश्व की व्यवस्था करने वाला कोई महान् व्यवस्थापक है जिसके सुदृढ़ हाथों में त्रिराट विश्व का नेतृत्व है। जीव तो उसका एक अणु है। उसी के इच्छाधीन होकर कार्य करता है, उसी के संकेतों पर कुछ समय के लिये भूतल पर आया है। वह सर्वशक्तिमान उसी की पूजा और अर्चना का प्यासा है। अपने जीवाणु के द्वारा की गई सेवा से वह प्रसन्न भी होता है। इसके अच्छे और बुरे कर्मों के आधार पर असुन्दर या वह सुन्दर लोक प्रदान करता है। उसकी प्रभुसत्ता सभी जीवों को स्वीकार करनी होगी। उसकी सत्ता के सामने जीव की सत्ता नगण्य है। जीव अपने नये स्थानचय के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार उसने जीवन की अखंडता स्वीकार की।

परन्तु जीवन के शाश्वत तत्व को स्वीकार करने के दूसरे ही क्षण उसे परलोक भी स्वीकार करना पड़ा। उसने कहा 'हां, इस चक्षु की सीमा से परे भी कोई लोक अवश्य है, वह दो भागों में विभक्त है—एक इष्ट, दूसरा अनिष्ट। उसका कारण है जीवन की शुभाशुभ कार्य-परिणति। दूसरे शब्दों में शुभाशुभ कार्य-प्रणालि ही कर्म है।'।

पुनर्जन्म के लिये उसके कारणभूत कर्म का स्वीकार करना भी अपरिहार्य था। बिना इसके परलोक की वरूपना कैसे हो सकती थी। इसलिये इस लोक से परलोक तक पहुँचने के लिये कर्म का पुल बनाना ही पड़ा। इनका विधान रहा है कि श्रेष्ठ कर्मकर्ता को श्रेष्ठ लोक मिलेगा। उसी श्रेष्ठ लोक को स्वर्ग कहते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए धर्म भी आवश्यक है। इसका धर्म शुभकर्म का अपर पर्याय ही है। अतः इस रूप में पुरुषार्थ की भी प्रगति होती है। पहले दर्शनकार ने केवल दो ही पुरुषार्थ स्वीकार किये थे, किन्तु यह काम और अर्थ के साथ धर्म-पुरुषार्थ भी स्वीकार करता है। प्रथम दो ऐहिक सुख के लिये, धर्म आगे आने वाले लोक के लिये। यह त्रिपुरुषार्थवादी दल मोक्ष को स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं मानता था। उनकी विचारधारा यह रही है कि स्वर्ग शुभ कर्म का फल स्वर्ग है। और नरक अशुभ कर्म का प्रतिकूल है। स्वर्ग और नरक से उसकी दृष्टि कभी आगे-बढ़ना ही नहीं जानती थी। जन्म और मृत्यु के चक्र का सर्वथा उच्छेद इनके विचार से असम्भव है। इनकी धर्म-अधर्म की परिभाषाएं भी समाजस्वीकृत मर्यादाओं तक सीमित थीं। अतः समाजमान्य प्रत्येक कार्य धर्म की कोटि में है। सभ्यता व समाज की रक्षा तमाम धार्मिक आचरणों में सर्वश्रेष्ठ है। समाज की रक्षा के लिए की गई हिंसाएँ भी धर्म की सीमारेखा की उल्लंघन नहीं करती। ईश्वर का ईश्वरत्व भी सामाजिक सुव्यवस्था में ही सुरक्षित रहता था। उसे भी समाज का शान्ति के लिये निज धाम छोड़कर नीचे आना पड़ता था। दुष्टों का दलन, भक्तों का परित्राण उनकी यात्रा का लक्ष्य था।

इसे हम याज्ञिक या वैदिक मार्ग के नाम से पहचानते आये हैं। प्रवृत्ति उनका जीवनसाध्य रहा है।

मनीषी विचारकों की चिन्तन-धारा जब आगे बढ़ती है। मनन के मन्थन से प्राप्त आत्मानुभूति के बल से उन्होंने बताया-माना कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शुभ कर्म के द्वारा आत्मा स्वर्ग भी पा सकता है और अशुभ के द्वारा नरक भी। किन्तु हमें शुभ और अशुभ से ऊपर उठना होगा। शुभ के द्वारा आत्मा क्षणिक शान्ति पा लेता है किन्तु यह चक्र तो समाप्त तो नहीं हो गया। उस चक्र की समाप्ति के लिये जैसे अशुभ कार्य त्याज्य हैं वैसे शुभ को भी छोड़ना होगा और इसके लिये चौथा पुरुषार्थ सामने रखा गया, वह था मोक्ष। जिसके द्वारा तमाम कर्मों का उच्छेद कर आत्मा का शान्त सहज रूप पाना है और वही हमारे जीवन का एकमात्र साध्य सम्भव है और

उस के लिये तमाम कर्मों का त्याग करना होगा, चाहे वे पुण्य रूप हों या पाप रूप। धर्म की सुहावनी मोहक छाया से आये हों या अधर्म की काली छाया से। पथिक का आदर्श लक्ष्य पर पहुँचना है। राह में बिगम कहाँ! मार्ग फूलों का का हो तो भी चलना है, कांटों का है तब भी चलना है; पर हाँ, फूलों पर फिसलन है और कांटों में चुभन। विश्रान्ति के लिये लक्ष्य पर पहुँचना होगा। अनन्त सुगों के यात्री-आत्मा का शान्तिभवन मोक्ष है, इसीलिए मोक्ष पुरुषार्थ हमारा साध्य है और धर्म उसका साधन। यह निर्वाणवादी दर्शन की भूमिका है, जोकि मानव-मन को स्वर्ग और नरक के फूलों और शूलों से बचाकर पवित्रता के पथ पर अग्रसर करती है।

निवृत्तिवादी दर्शनकार ने साधक को प्रेरित किया है तू अपने लक्ष्य की सही दिशा में दृढ़ता से पग धरत जा मार्ग के फूलों और कांटों में तुझे उलझना नहीं है। कांटों में उलझनेवाला यदि राह भूला रही है तो फूलों की मुस्कान में बिंध जानेवाला भी लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाने वाला नहीं है। कांटों से बिंधने वाला कम से कम राह को समझता है पर फूलों से बिंधनेवाला राह क्या राही को भी भूल जाता है। इसीलिये कभी कभी फूलों की मधुरिमा को भूला देना कांटों पर चलने से भी कठिन हो जाता है। सूत्रकार ने राग और द्वेष की तुलना में राग को प्रगति की सबसे बड़ी बाधक चट्टान बताया है। राग और द्वेष दोनों पर विजय पाने वाले को इसीलिये तो “वीतराग” कहा जाता है।

किन्तु ध्येय-सिद्धि के लिये हमें फूल और कांटे दोनों का भूला देना होगा। बेड़ी लोहे की तब भी बन्धन है और सोने की है तब भी बन्धन है, बन्धन तो कहीं नहीं गया है। पर हाँ, पहली हाथों को बांधती है तो दूसरी हाथों के साथ हृदय को भी बांध लेती। स्वतन्त्रता की हवा में सांस लेने के लिये दोनों को तोड़ फेंकना होगा। किन्तु साथ ही यह भी समझ लेना होगा कि लोहे की बेड़ी चोरी का दंड है तो सोने की कंगन सज्जनता का उपहार है। लोहे की बेड़ी में पराधीनता की कसक है। किन्तु हाँ, कभी कभी लोहे के तारों को तोड़ फेंकने वाला रेशमी तारों में बंध जाता है। अनंत गगन में स्वच्छन्द विचरनेवाले विहंग के लिये पिंजरा उसकी उड़ान में बाधक ही है। आत्म स्वातंत्र्य के इच्छुक को पुण्य और पाप दोनों से बचना होगा साधक की साधना केवल आत्मशोधन के लिये ही है। उसके मन को न दिव्य लोक की गुलाबी धमा सुगंध कर रही हो नरक से उसके प्राण कांप रहे हों। इसीलिये शान्ति के अवतार म० महावीर साधक को मय और प्रलोभन से मुक्त रहकर साधना करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं:-

“नो इह लोगद्वयाए तव महिद्विजा, नो पर लोगद्वयाए तवमहिद्विजा। नो वण्ण-कित्ति सदद-सिलोगद्वयाए तवमहिद्विजा नत्तत्थ एगन्त निज्जरद्वयाए तवमहिद्विजा। दशर्वकालिक सूत्र अ० ९, उ० ४, तपसमाधिः।

एक शब्द में कहूं तो स्वर्ग और नरक की मय प्रलोभन जन्य छाया से साधक का मानस मुक्त रहे। उसकी तपःसाधना का केन्द्र न यह लोक रहे न परलोक। न यहां के भौतिक पदार्थों को पाने के लिये वह तपःसाधना करे, न अगले लोक में मिलनेवाली स्वर्ग की परियों के लिये ही वह संयम साधना करे। लोक और परलोक की भावना से ऊपर उठकर लोकोत्तर-साधना में प्रवृत्त हो।

निवृत्तिवादी दर्शन के पास धर्म की स्वतन्त्र परिभाषा है। उस पर उसका अपना निजी चिन्तन है, मनन है। समाज की स्वीकृति ही किसी भी कार्य को धर्म का चोगा नहीं पहना सकती। समाज की हाँ और ना उसकी अपनी स्वार्थिक एषणाओं की प्रतिध्वनियाँ हैं। उसका धर्म उसकी परंपराओं के पाश में बद्ध है। जहाँ तक उसकी सामाजिक लोह शृंखलाओं के बन्धन को मान्य रखकर व्यक्ति चलता है तबतक उसे वह धर्म की संज्ञा देता है, जहाँ किसी ने उसकी मार्मिक दुर्बलताओं की ओर इंगित किया, तो वह उसे शीघ्रही अधर्म का करार दे देगा। जहाँ व्यक्तियों का दम घोटनेवाली गली सड़ी रस्सियों को तोड़ने के लिये किसी ने करवट ली, समाज उसे विद्रोही कहेगा उस पर पापी और अधर्मी की सुइर लगा देगा। किसी स्वस्थचेता मानस द्वारा—जिसकी कि दिल दिमाग की खिड़कियाँ खुली हैं—और

जिसकी आत्मा छिपे पाप के प्रति विद्रोह कर उठती है और उसकी वाणी या लेखनी द्वारा समाज की पाप कहानी के नम्र चित्र उतरने लगते हैं तो समाज चीख पड़ती है— “यह गद्गार है।” इसने समाज की सुदृढ़ भित्तियों पर क्रूर प्रहार किये हैं। यह समाज की फुलवारी में आग का कार्य कर रहा है और समाज के अधिनायक उसे समाज में से उसी भांति निकल फेंकते हैं, जैसे दूध में पड़ी मक्खी को फेंक दिया जाता है। यह पुरस्कार है उसकी विद्रोही आत्मा का जो समाज की पाप कहानी के प्रति अंधा, गूंगा और बहरा नहीं बन सका है। यह दंड है उस चिकित्सक का जिसने फोड़े को नुकीली सुई से भीध दिया और भीतर ही भीतर सड़ने वाला मवाद बाहर आ गया।

सच तो यह है अधर्म की जड़ें सामाजिक इन्कार और स्वीकार में नहीं, मिथ्याभिनिवेश, राग और द्वेष में हैं। हमारा कार्य कितना भी मोहक क्यों न हो, समाज स्वीकृति की सुहर भी क्यों न लग चुकी हो, किन्तु यदि उस कार्य के पीछे वैयक्तिक स्वार्थ झांक रहा हो राग और द्वेष से छानकर उसकी अनुभूति आ रही हो तो वह अधर्म ही कहा जायगा। फिर भले उस पर कितने ही शास्त्र-वाक्यों के पर्दे ही क्यों न पड़े हों चांदी और सोने के आवरण से उसे क्यों न ढक दिया गया हो। पारदर्शी की आंखें उन सोने और सूत्रों के पर्दे को चीरकर छुपे पाप को खोज ही लेगी और उसके कान पाप की कर्ण कसक को चांदी खनखनाहट और शास्त्र रटन के मंहा घोष में भी सुन ही लेंगे। वस्तुतः पुण्य और पाप की तमाम क्रियाओं के पीछे यदि अज्ञान बोल रहा हो तो वे क्रियाएं जीवन पथ विधायिनी नहीं बन सकतीं।

ऋषिभाषित का अन्तस्तल

ऋषिभाषित दार्शनिक ग्रन्थ नहीं एक आध्यात्मिक सूत्र है। इसमें दर्शन की नहीं जीवन की उलझी गुथियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रत्येक धर्म में ऐसे विचारक सन्त भी आते हैं जिन्हें संप्रदायवाद की लोहशृंखलाएं बांध नहीं पाती हैं। जो रहते तो संप्रदाय में ही हैं, पर उनका चिन्तन संप्रदायातीत होता है। आंखें शरीर के विशेष भाग में रहकर भी शरीर और शरीर से अतिरिक्त वस्तुओं को देखती हैं। स्थूल चक्षु के लिये यह संभव है कि शरीर से भिन्न वस्तु को भी देखे। उसके लिये किसी का विरोध भी नहीं है पर अन्तश्चक्षु की कहानी कुछ दूसरी होती है। यदि अन्तश्चक्षु खुले हैं तो वह दूसरे धर्म का भी वैसा ही सत्य निरीक्षण करेगा जैसा कि अपने धर्म का करता है (पर निरीक्षण की सत्यता की पहली शर्त है आंखें खुली हों। जो आंखें खुली रखकर चलता है वह टकराता नहीं है। मार्ग के अवरोधक पदार्थों को वह देखेगा जरूर, पर उनसे लड़ने भिड़ने को तैयार न होगा, उनसे बचकर ही निकलने की उसकी चेष्टा रहेगी। धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में भी यही बात है जो आंखें मूंदकर चलते हैं उन्हीं में टकर और संघर्ष होते हैं। जिन संप्रदायों और जिन पार्टियों के बीच जितने ज्यादा संघर्ष होंगे वह उतना आंख मूंद कर चलनेवालों का समुदाय होगा।

(तत्त्व-चिन्तक विरोध में अविरोध पाता है। इसी विशाल दृष्टि के द्वारा वह संतवृत्ति पाता है।) हजारों वर्षों से साथ बहनेवाली भारत की तीन संस्कृतियों के तत्व चिन्तकों की अविरोध दृष्टि का परिचय ऋषिभाषित में मिलता है। प्रस्तुत सूत्र में जहां कुर्मापुत्र, तैत्तिरीयपुराण जैसे जैनदर्शन के तत्व चिन्तक हैं तो अंगिरस और देवनारद वैदिक दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ ऋषि भी आये हैं। पिंग और इसिगिरि जैसे ब्राह्मण परिव्राजक आये हैं तो साति-पुत्र जैसे बौद्ध भिक्षु भी आये हैं। पिंग और इसिगिरि के साथ” माहण परिध्वायेण का विशेषण है जो उनके ब्राह्मण वंश का परिचायक है। सातिपुत्र के साथ बुद्धेण अरहता विशेषण उनके बुद्धानुयायित्व का संसूचक है।

इस संकलन से यह परिलक्षित होता है कि संप्रदायवाद के संघर्ष के युग में एक धारा वह भी आई थी, जिसने संप्रदाय से ऊपर उठकर सोचा था। संप्रदाय भेद होने पर भी तत्व चिन्तन में जहां एकरूपता पाई गई उन सभी

ऋषियों के उपदेशों को तत् तत्विशेषणों के साथ संगृहीत किया गया। यह सांप्रदायिक उपनाम भेद दर्शन के लिये था। साथ ही यह इस बात का प्रतीक है कि सांप्रदायिक भेद होने पर भी तत्त्वज्ञों के तत्त्वज्ञान में एकरूपता कैसे संभवित हो सकती है। विचार की नीची भूमिका तक उसमें विरोध और विभेद पाये जाते हैं पर जब चिन्तक विचार की अमुक सीमा पार कर जाता है तो उसके चिन्तन में एकरूपता संभावित हो सकती है। फिर वेश और संप्रदाय उसे अपने में बांध कर रख नहीं सकते वह ज्यों ज्यों ऊपर उठता है त्यों त्यों पंथ, जाति, लिंग और वेश की दीवारें एक एक करके ढहती जाती हैं और एक दिन वह सबका हो जाता है सब उसके हो जाते हैं। यही कारण है भ० ऋषभदेव को हम प्रथम अर्हत् के रूप में पूजते हैं तो वैदिकदर्शन उन्हें ऋषभावतार के रूप में देखता है।

जैन संस्कृति यद्यपि आज पंथ और वेश की शृंगलाओं में जकड़ दी गई है फिर भी एक दिन उसका स्वर पंथ और वेश पूजा के विरोध में जाग्रत था। उसने वेश-पूजा नहीं गुण-पूजा का महत्व स्वीकार किया था। इसीलिये आत्म विकास की सर्वोत्तम श्रेणी (स्टेज) पर पहुँचने के लिये उसने पंथ और जाति का कोई आग्रह ही न रखा। उसने यह नहीं कहा क्षत्रिय ही मोक्ष पा सकता है, वैश्य नहीं या ब्राह्मण ही मोक्ष पा सकता है, शूद्र नहीं। सभी वर्ण और सभी वर्ग के व्यक्ति मोक्ष के अधिकारी हैं। उसने यह भी नहीं कहा कि तुम अमुक वेश धारण करो तभी मुक्ति पा सकोगे या अमुक पंथ में दीक्षित हुए बिना या अमुक प्रकार के विशेष अर्चन पूजन या क्रियाकाण्ड किये बिना तुम्हें मोक्ष नहीं मिल सकेगी। वह यह नहीं पूछता तुम किस संप्रदाय में दीक्षित हुए हो या किस के शिष्य हो? तुमने कितने वर्ष संयम पाला है? वह तो पूछता है अन्तःशुद्धि तुमने कितनी पाई है? (यदि अन्तःशुद्धि आ गई है तो गृहस्थ दशा में भी मोक्ष के अधिकारी हो और अन्तःशुद्धि नहीं है तो मुनि वेश में भी मुक्ति नहीं है)। यही कारण है कि महदेवी-माता गृहस्थ रूप में मुक्त हुई है। सम्राट् भरत चक्रवर्ती के रूप में ही कैवल्य पागये। भगवान् महावीर के शिष्यों में एक ओर गौतम जैसे श्रमण थे तो दूसरी ओर आनंद जैसे उपासक हैं तो अंबड़ जैसे परिव्राजक, परिव्राजक के रूप में उनके शिष्य थे। तो चक्रवर्ती भरत के पुत्र मरीचि-कुमार त्रिदंडी के रूप में भ० ऋषभदेव के शिष्य थे।

वेश और पंथ की सीमा तोड़कर आत्म-दृष्टि प्राप्त करनेवालों का समन्वय हम ऋषिभाषित में पाते हैं।

ऋषिभाषित का परीक्षण

ऋषिभाषित का अन्तस्तल देखने के बाद हमें इसकी प्रामाणिकता पर विचार करना होगा। स्थानकवासी परंपरा केवल बत्तीस सूत्रों को लेकर ही चली है और बत्तीस में ऋषिभाषित का समावेश नहीं है। फिर तेतीसवां सूत्र कैसे मान्य होगा? अनुवाद के समय यह प्रश्न मेरे पास आया भी था। बम्बई में एक भाई ने मुझसे प्रश्न भी किया था महाराज आप तेतीसवें सूत्र का अनुवाद कर रहे हैं? मैंने कहा: जी हां; हर्ज क्या है? उन्हें मेरे उत्तर पर आश्चर्य अवश्य हुआ। हमें सोचना होगा हम बत्तीस ही में क्यों बन्ध गये?

बत्तीस ही क्यों?

ऐसा कहा जाता है कि स्थानकवासी परम्परा ने बत्तीस आगमों को स्वीकार किया है और शेष आगमों को आधारभूत प्रमाण न मानकर उनकी उपेक्षा करदी। अब जरा देखना होगा वह कौनसा प्रमाण है जिसके द्वारा उसने ३२ आगमोंको सम्यक माना है और शेष को मिथ्याश्रुत का करार दे दिया। कहा जाता है कि बाह्याडंबर और प्रवृत्ति धर्म के प्रति ऐकांतिक विरोध रखकर चलने के कारण उसने मूर्ति-पूजा को आगम विरुद्ध घोषित किया है और जिन आगमों में मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं था केवल उन्हीं को मान्य रखा है। जिन आगमों में मूर्तिपूजा का विधान मिलता है उन्हें ठुकरा दिया गया।

केवल जिन-मूर्ति-पूजा या 'हरिहंत चेइयं' के पाठ लिये आगमों को अप्रामाणिक माना जाय तो उपांग सूत्र ही नहीं अंगसूत्र भी छेड़ने होगा क्योंकि 'अरिहंत चेइयाई' पाठ तो 'उपासक दशांग' और ज्ञातार्थकथांग सूत्र में भी मिलता है। उपासक आनंद अन्य तीर्थों में विहित 'अरिहंत चेइयं' के वन्दन पूजन का परित्याग करता है। द्रौपदी जिनमूर्ति का पूजन करती है। अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'अरिहंत चेइयं' शब्द के लिये आगमों का परित्याग किया गया है।

यदि सर्वज्ञ प्रतीत्य का आचार उपासक जाय और कहा जाय कि सर्वज्ञ भ० महावीरद्वारा प्रणीत सूत्रों को ही प्रमाण माना जायगा। इस आधारपर आगमों की छटनी करना चाहेंगे तो इस छटनी में बहुत कुछ खोना पड़ेगा। क्योंकि सर्वज्ञ प्रणीत आगमों में केवल द्वादशांगी का ही समावेश होसकता है यदि ऐसा कहा जाए श्री नंदीसूत्र में जो आगमों का परिचय दिया गया है उस रूप में वे उपलब्ध नहीं हैं। पर नंदी सूत्र के आगम परिचय के अनुकूल तो आज एक भी आगम नहीं है। नंदी सूत्र में जहाँ द्वादशांगी का परिचय मिलता है जहाँ हर अंगसूत्र की पदसंख्या अपने पूर्ववर्ती से दुगुनी है। आज न तो पदसंख्या ही उतने रूप में उपलब्ध है न द्विगुणित वृद्धि ही है। कम का इतना विपर्यास है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति के उत्तरवर्ती सभी सूत्र उससे छोटे ही हैं। ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र की उन हजारों कथाओं में से केवल गिनी चुकी कथाएं ही उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत प्रश्न का दूसरा उत्तर होगा क्या परिवर्धित और परिवर्तित आगम को मान्यता प्रदान नहीं की गई? आगमों का हम जरा गहराई से अध्ययन करें तो अनुभव होगा भ० महावीर के परिनिर्वाण के बाद आगमों में परिवर्तन ही नहीं परिवर्द्धन भी हुआ है। स्थानांग सूत्र के सातवें स्थानक में सप्त विष्णुओं के प्रकरण में गोष्ठा-माहिल का भी उल्लेख आता है। जबकि गोष्ठा-माहिल भ० महावीर के निर्वाण के करीब तीन सौ वर्ष बाद हुआ है और स्थानांग सूत्र की रचना भ० महावीर के समय में संपन्न हो चुकी थी, क्योंकि वह अंगसूत्र है। तीन सौ वर्ष बाद की घटना का उसमें समावेश होना यह सिद्ध करता है कि अंग साहित्य की रचना के बाद भी उसमें परिवर्तन हुआ है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी समसामयिक घटनाओं का यथास्थान उसमें प्रक्षेप किया है।

आगमों में स्वल्प परिवर्तन ही नहीं कहीं पूरा आमूलचूल परिवर्तन भी हुआ है। उदाहरण के लिये प्रश्न व्याकरण सूत्र को ही लें। श्री नंदी सूत्र में उसका परिचय कुछ अन्य रूप में मिलता है और आज वह बिल्कुल भिन्न रूप में उपलब्ध है। देखिये नंदी सूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र का परिचय इस रूप में मिलता है

से कितं पद्मवागरणाई? पद्मवागरणे सुयं अद्भुत्तरं पसिण सयं, अद्भुत्तरं अपसिण सयं, अद्भुत्तरं पसणा पसिणसयं, तंजहा अंगुदठ पसिणाई, आहु पासिणाई, अदाग पसिणाई अक्षे वि विचित्ता बिजाइसया, नागसुवन्नेहिं सविं दिइवा संवाथा भावयेअंति।

-नंदी सूत्र ५४

प्रश्न व्याकरण में अंगुष्ठ प्रश्न आदि ३२४ प्रश्न, अप्रश्न और सैकड़ों विद्याएं हैं। पर आज प्रश्नव्याकरण पंचाश्रव और पंचसंवर वर्णनात्मक है। स्थानांग सूत्र के दशम स्थानक में दस दशाओं के वर्णन में प्रश्नव्याकरण दशा का वर्णन कुछ भिन्न रूप में ही मिलता है। वहां प्रश्न व्याकरण के उपमा संख्या इसिभासियाई आदि दस अध्ययन बताये हैं।

अतः इस तर्क में भी कोई प्राण नहीं है कि श्री नंदीसूत्र में उल्लिखित अन्य आगम परिवर्तित है अतः हमें मान्य नहीं है।

ऋषिभाषित की प्रामाणिकता

इतनी लम्बी चर्चा के बाद अब हम सोचेंगे कि वर्तमान में मान्य आगम बत्तीसी के किन आगमों में ऋषिभाषित का उल्लेख व परिचय मिलता है। पहले नंदीसूत्र को लेते हैं जहां वर्तमान में उपलब्ध और अनुपलब्ध सूत्रों की विशाल संख्या मिलती है। अंगबाह्य सूत्रों में कालिक सूत्रों की सूची में सप्तवें स्थान पर ऋषिभाषित का नाम उपलब्ध होता है।

से किं तं कालियं? कालियं अगेगविहं पण्णत्तं। तंजहाः—उत्तरज्झायणं, दसाओ, कप्पो ववहारो निसीहं महानिसीहं इसिभासियाई।

स्थानांग सूत्र के दशम स्थानक में दस दशाओं का वर्णन है उसमें षष्ठ दशा के रूप में प्रश्नव्याकरण दशा का उल्लेख है। प्रश्नव्याकरण के दश अध्ययन हैं जैसे कि उपमा, संख्या ऋषिभाषित^१ आदि परन्तु जैसे कि पहले लिखा जा चुका है कि प्रश्नव्याकरण सूत्र का वर्तमानरूप स्थानांग और नंदी सूत्र दोनों उल्लेखों से भिन्न है। अतः वहां ऋषिभाषित को खोजना व्यर्थ होगा।

समवायांग सूत्र में चवालीस समवाय में ऋषिभाषितसूत्र का उल्लेख मिलता है। देवलोक से ज्यवित चवालीस ऋषियों के प्रवचन^२ रूप यह सूत्र है किन्तु एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ पर वर्तमान ऋषिभाषित सूत्र के पैंतालीस अध्ययन हैं और समवायांग सूत्र में चवालीस अध्ययनों का उल्लेख मिलता है। इस विभेद को मिटाने के लिये टीकाकार लिखते हैं। समवायांग सूत्र में देवलोकज्यवित ऋषिओं का ही उल्लेख है। संभव है एक ऋषि अन्य मात से आये हों, अतः उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

मूल भाष्य में आचार्य चतुर अनुयोग की व्याख्या करते हुए धर्मकथानुयोग में इसिभासियाई की गणना करते हैं।

कालिक श्रुत में चरणकरणानुयोग, ऋषिभाषित में धर्मकथा, गणितानुयोग सूर्य प्रज्ञप्ति में और द्रव्यानुयोग दृष्टि वाद में निर्दिष्ट है।

इसप्रकार स्थानांग समवायांग और नंदी सूत्रमें उल्लिखित ऋषिभाषित आज उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त पूरे सूत्रमें एकादशांग सूत्रों की विषय परिधि से किसी भी प्रत्येक बुद्ध का प्रवचन बाहर नहीं गया है। फिर उसे अपनाने में हानि क्या है?

ऋषिभाषित के रचयिता

ऋषिभाषित के एक रचयिता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह किसी एक व्यक्ति कृति नहीं है। उसमें पृथक् पृथक् वक्ताओं के विचार सूत्र संकलित हैं। ये विचारक ज्ञान की भीतरी तह तक पहुंचे हुए ऋषि हैं। आर्हती भाषा में इन्हें प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। प्रसिद्धि और घटना विशेष के कारण चार ही प्रत्येकबुद्ध लोकमानस में जीवित हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक बुद्ध चार ही हैं। श्री नंदी सूत्र में विभिन्न तीर्थंकरों के शासन के प्रत्येक बुद्धों की संख्या दी गई है। उसमें यह बताया गया है कि ३० आदिनाथ के ८४ हजार शिष्य थे और ३० महावीर के १४ हजार शिष्य थे। दूसरे रूप में यह भी बताया गया है कि जिन तीर्थंकरों के शासन में

१. स्थानेः—दस दसाओ पण्णत्ताओ तंजहा—१, २, ३, ४, ५, पण्ह बागरणदसाओ, पण्हवागरणदसाणं पंच अज्झणा पंच तंजहा अवमा संखा इसिभासियाई ॥

२. चोवालीसं अज्झयणा दिय लोण चुयभासिन—पण्णत्ता। दियलोयचुयार्ण इसीणं चोवालीसं इसिभासिज्झयणा पण्णत्तासमवायांग सूत्र ४४ वं समवाय.

३. एतद्भूतौ चतुश्चत्वारिंशत्स्थानेऽपि किंचित्लिख्यते, चतुश्चत्वारिंशत् इसिभासियन्ति ऋषिभाषिताध्ययनानि, कालिकश्रुतविशेषभूतानि, दियलोयचुयभासियेति—देवलोकज्युतैः ऋषिभूतैर्भाषितानि देवलोकज्युतभाषितानि। कस्यापि प्रत्येकबुद्धस्य अन्यस्याः कस्यादिचिद् गतेरायातत्वमपेक्ष्य पंचचत्वारिंशतोऽध्यध्वयनानां विवक्षया एकोनतयात्र ॥

नन्दीसूत्र ४४

४. कालियश्रुतं च इसिभासियाई तद्दशमसूरपजति सन्धो य दिद्धिवाओ चउत्थो होइ अणुओगो मूलभाष्य ६२९४।

जितने औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी, पारिणामिकी बुद्धि से युक्त मुनि होत हैं उतने ही प्रत्येकबुद्ध होते हैं । अतः यह मानना आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बुद्ध केवल चार ही हैं ।^१

ऋषिभाषित के प्रवक्ता अर्हर्तर्षि हैं । अतः उनका वचन प्रमाण माना गया है । आगम बोलते हैं अभिन्नदशपूर्वधर निश्चयतः सम्यक्दृष्टि माने गये हैं और उनका श्रुत सम्यक्श्रुत है । इस रूप में प्रत्येकबुद्धों का यह प्रवचन सूत्र सम्यक् श्रुत के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिए । पर वे सभी दश पूर्वधर हैं उसका क्या प्रमाण ? हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर कहा जा सके कि वे सभी सर्वज्ञ थे या दश पूर्वधर थे फिर भी प्रायः सभी ऋषियों के नाम के साथ अर्हर्तर्षि पद आया है । अर्हत्+ ऋषि के रूप में पदविच्छेद करने पर कलितार्थहोमा सभी ऋषि अर्हत् पद पर पतिष्ठित हैं । यदि अर्हर्तर्षि का अर्थ केवल इतना ही लिया जाय कि वे सभी अर्हत् परंपरा में दीक्षित हैं । इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि वे अभिन्न दशपूर्वी हैं । ऐसा स्पष्ट आधार भी नहीं है और मिलता भी नहीं है । फिर भी इतना कहा जा सकता है कि विशिष्टज्ञानी आवश्यक थे, क्योंकि वे प्रत्येक बुद्ध थे और प्रत्येक के साथ अर्हर्तर्षि पद आया है ।

ऋषिभाषित का अन्तर्दर्शन

ऋषिभाषित अन्तर के उद्बोधन का सूत्र है । जीवन और जगत के रहस्य ज्ञाताओं ने मानव की वृत्तियों को एक एक कर उठाया और उनका विश्लेषण किया है । कभी कभी वे हमारे अन्तर को झकझोर देते हैं तो कभी बहिर्मुखता को अन्तर्मुखी वृत्ति के रूप में प्रदर्शित करने की वृत्ति को प्रताड़ित करते हैं । आज के साधक जीवन की बहुत बड़ी विडम्बना यह है कि उसमें एक रूपता नहीं है उसका बहिरूप कुछ और है तो उसके अन्तर में दूसरी वृत्तियाँ काम कर रही हैं ! ऊपर की सफेद चट्टान से उन्हें हटाने का प्रयास किया जाता है और आश्चर्य तब और होता है जबकि वे वेशपूजकश्रमण केवल वेश की प्रतिष्ठा स्थिर रखना चाहते हैं और जब कभी उनके सामने वेश की प्रतिष्ठा को धक्का लगाने की घटना होती है तो वेही अन्तरसंगी साधक उनसे बोल उठते हैं तुमने मानव जन्म लिया है मुनिवेश का परिधान लिया है और श्रमण परंपरा की कलंकित करने का कार्य तुम कर रहे हो । वेश पूजा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत गाथा में मिलता है ।

अबद्धा समणे होई अबं कृणंति कम्मुणा

अण्ण मण्णाणि भासंते माणुस्सग्गा हणे हुत्ते ॥ ७ ॥

- ऋषिभाषित अ. ४, गा. ७

साधक जीवन में बहुरूपता को स्थान नहीं है । जनता के सामने जिसका रूप कुछ दूसरा है और जनता की आंखों से ओझल होते ही उसके जीवन की गति दूसरे प्रवाह में बहने लगती है । नगर में कुछ दूसरा रूप है तो ग्राम की भोली जनता के समक्ष उसके क्रिया कटावों में भिन्न रूपता आती है तो समझना होगा वह साधक अपनी

१. एवं माइयाई चउरासीई पइजग सहस्साई भगवओ अरहा. उसंहसामिस्स आइतित्थयरस्स; तहा संखिजाई पइजगसहस्साई मज्झिमसंगगाणं जिणवरणं चोइस पइजगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स, अहवा जस्स जत्तिआ सीसा उप्पत्तिआए वेणइआए कम्मिया परिणामियाए चउविहए बुद्धिए उववेया तस्स तत्तियाई पइजगसहस्साई, पनेय बुद्धा नि तत्तिया चेव । नन्दीसूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि लिखते हैं-यस्य ऋषभादेस्तीर्थकृतो यावत् शिष्यास्तीर्थ औत्पतिकया वैनयिकया कर्मज्या पारिणामिका चतुर्विधया बुद्ध्या उपेताः समन्विता आसीत् तस्य ऋषभादेस्तावन्ति प्रकीर्णक-सहस्राभवन् प्रत्येक बुद्धा अपि तावन्त एव । अत्रैके वावक्षत-इह एकैकतीर्थकृतस्तीर्थेऽपरिमाणानि प्रकीर्णकानि भवान्ति प्रकीर्णक अरिणामपरिमाणवत्वात्, केवलमिह प्रत्येकबुद्धरचितान्येव प्रकीर्णकानि द्रष्टव्यानि । प्रकीर्णकपरिमाणेन प्रत्येकबुद्ध-परिमाणप्रतिपादनात्तादेतत् प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विद्व्यते तदसमीचीनम्, यतः प्रवाजकानार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावो निविध्यते ननु तीर्थकरोपदिष्टासनात्प्रतिपन्नत्वेनापि, ततो न कश्चिद्दोषः ।

२. चौदस्तपुब्बिस्स सम्मसुरं अभिण्ण दसपुब्बिस्स सम्मसुरं तेण परं भिण्णेसु भयणा । नन्दी सू० ४०

आत्मा के प्रति वफादार नहीं है। वह आत्मदर्शी नहीं है, अर्थात् अंगिरिसे ऐसे ही जीवन के बहुसुपियापन का दूसरा चित्र दे रहे हैं:-

अदुवा परिसा मज्जे अदुवाविरहे कडे ।

ततो गिरिक्ख अप्पाणं पाव कम्माणिरुम्भति ॥

-अ. ४, गा० १०.

शास्त्रों का प्रचार अकेली जीभ से या संपत्ति से नहीं हुआ करता है। उसके पीछे हृदय की साधना चाहिये। जीभ आगम को जनता के कानों तक पहुंचा सकती है। संपत्ति शास्त्रों को संगमरमर की दीवारों में अंकित करवा सकती है पर हृदय की दीवारों में अंकित करना उसके वश से परे है। यही सत्य आपको निम्न गाथा में मिलता है।

सुयाणि भित्तिं चित्तं कट्टेवा सुणिवेसितं ।

मणुस्स हियं यं पुणिणं गहणं दुब्बियाणकं ॥

अ. ४, गा० ६

जिसके पास साहित्य की विशाल संपत्ति है वह अकिंचन होते हुए भी हृदय का सभ्राट् है। फिर उसके पास एक नया पैसा भी न हो तब भी भिखारी पन या दीनता उसके मन को छुएगी तक नहीं। दुनिया दुःख से भागती है किन्तु कार्यो द्वारा वह दुःख को निमंत्रण भी देती है। पर सन्तके मन पर दुःख सवारी नहीं कर सकता। न दुःख में दीनताही उसपर छा सकती है। वज्रिय पुत्र अर्हत्तर्षि इसी तथ्य को निम्न गाथा में प्रस्तुत कर रहे हैं।

जस्स भीता पलायन्ति जीवा कम्माणुगामिणो ।

समेवादाय गच्छन्ति किन्ना दिअं व वाहिणी ॥

अ. २, गा० १.

साधक के पास मन की वह साधना होती है कि बाहिरी सुख और दुःख उसके पास पहुंच ही नहीं सकते। बाहिरी आलोचना उसकी मनःशान्ति को मंग नहीं कर सकती। आलोचना के तीक्ष्ण प्रहारों के समय वह सोचता है किसी के कहने मात्र से कोई बुरा नहीं हो जाता। उसका चिन्तनशील मन बोलता है यदि सचमुच मुझ में दुष्टता भरी है और यह उस दुष्टता का उद्घाटन कर रहा है तब भी मुझे उसके लिये रोष नहीं करना चाहिये। जीवन में दुःख की सही घड़ियां वे हैं जब कि हम बुरे हों और दुनिया हमें अच्छा समझकर प्रशंसा के फूल चढ़ाती हो। भारद्वाजगोत्री अंगिरस ऋषि कहते हैं:-

जह मे परो पसंसाति असाधुं साधु माणिया ।

ग मे सा तव्यण भासा अप्पाणं असमाहिते ।

अ. ४१ ।

इस प्रकार ऋषिभाषित सूत्रकार साधक को आलोचना और प्रत्यालोचना के द्वन्द्व में भी स्थितप्रज्ञ रहने का परामर्श देते हैं। ऋषिभाषित सूत्र में सर्वत्र आपको जीवन के अन्तर्तम को आलोकित करनेवाले सीप और मोती बिखरे मिलेंगे।

ऋषिभाषित एक शुद्ध आध्यात्मिक सूत्र है, वह आत्मदर्शन का प्रतिपादन करता है। आत्मा की विहृतियों को दूर कर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की प्रेरणा देता है। कहीं यह कषाय विजय की प्रेरणा देता है तो कहीं समभाव की साधना का पाठ पढ़ाता है। कहीं आत्मिक खेती का निरूपण करता है। बत्तीसवें अध्याय में सुन्दर शैलिमें आध्यात्मिक खेती का रूपक दिया गया है। आत्मा को क्षेत्र तप को बीज और संयम को युग नांगल बताया गया

है। बौद्ध साहित्य में बताया गया है कि भगवान बुद्ध ने एक बार भारद्वाज ब्राह्मण से (आध्यात्मिक खेती का निरूपण किया था। उसमें श्रद्धा को बीज, तप को वृद्धि और प्रज्ञा को हल बताया गया है) काय-संयम वाक्संयम और आहार संयम कृषि क्षेत्र की मर्यादाएँ हैं और पुरुषार्थ बैल हैं और मन जोत है। इस प्रकार की कृषि से अमृतत्व का फल मिलता है।)

एव मेसा कसी कट्टा सा होति अमरपफला । एवं एसी कस्सित्वान सव्व दुक्खं पणुञ्जेति ॥

यहां आत्मा को क्षेत्र बताया है। वैदिक मंत्रों में भी क्षेत्र शब्द अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

स्वे क्षेत्रे अनमीषा विराजः

-अथर्ववेद.

अपने क्षेत्र में अनामय होकर रहो। यह क्षेत्र किसी भी दैहिक या अध्यात्म-व्याधि से छिष्ट न हो। अन्यत्र कहा गया है:-

शक्तः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः । अथर्व. १६+१०।१०

हमारे क्षेत्र का स्वामी या क्षेत्रपति शम्भु कल्याण कर हो।

ऋग्वेद के एक मंत्र में क्षेत्र शब्द अध्यात्म अर्थ में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रयुक्त हुआ है।

अक्षेत्रविक्षेत्रविद् ब्रह्माद् संप्रैति क्षेत्रविद्वानुशिष्टः ।

एतद्वै भद्रमनुशासनस्थोऽस्तु विद्वत्संजसीनाम् ॥ ऋ. १०।३२।७

अर्थात्-अक्षेत्रविद् क्षेत्रविद् से आत्मज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। वह ज्ञानी क्षेत्रज्ञ आत्मविद्या में उसका अनुशासन करता है। उसका उपदेश दोनों के लिये कल्याणकारी होता है। जिससे सर्वत्र उनकी प्रशंसा होती है। यहां आत्मा के लिये क्षेत्रज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। गीता में भी क्षेत्रज्ञ शब्द आत्मा के अर्थ में ही आया है।

हृद् शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।

-गीता अ. १३।१

अर्थ:-हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। जो इसे जानते हैं उन्हें तत्त्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

पाणिनि पर- क्षेत्र का अर्थ जन्मान्तर लेते हैं। क्षेत्रियञ्च परेक्षेत्रे चिकित्सः (५) २।९२)

काव्यों में भी क्षेत्र शब्द अध्यात्म अर्थ में आया है-

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।

अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ॥

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ कुमारसंभव ३।५०

महाकवि कालिदास अपने कुमारसंभव में आत्मा के लिये क्षेत्रविद् शब्द का प्रयोग करते हैं।

जैन सूत्रों में भी क्षेत्रज्ञ शब्द आत्म ज्ञाताके अर्थ में भगवान महावीर का विशेषण बनकर आया है।

क्षेत्रज्ञये से कुसले महेसी, अणंत नाणीय अणंतदंसी ।

जसंसिणो चवस्तु पहेठियस्स, जाणाहि धम्मं च धीरं च पेहि ॥

वीरस्तुति । ३ ॥

१. मिलाइये निम्न गाथा से-

एवं किसिं किसित्ताणं सव्व सत्त दयावहं.

माहणं खत्तिए वेइसं सुदे वादिथ मुच्चति ॥

-इसि-भा. अ. ३२ ।

अर्थात् आर्य जन्मू आचार्य सुधर्म से बोले—वे क्षेत्रज्ञ कुशल महर्षि अनंतज्ञानी और अनंतदर्शी यशस्वियों के पथ में स्थित हैं उन (भगवान् महावीर) के धर्म को आप जानते हैं और उनके ध्येय को देखते हैं।

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ शब्द जैन बौद्ध वैष्णव आर्य संस्कृति की तीनों धाराओं में समानरूप से व्यवहृत हुआ है और उसके प्रयोग में आश्चर्य जनक समता है।

अब तीसरे अध्ययन में इन्द्रियों के सम्बन्ध में चर्चा आई है। यदि पाँचों इन्द्रियां सुप्त हैं, तो अल्प दुःख की हेतु बनती हैं। इन्द्रियां क्या हैं? आत्मा इन्द्र है और उसकी कार्य में प्रवृत्त शक्तियां इन्द्रियां हैं। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है इन्द्र आत्मा की प्राचीन संज्ञा है। उसी के संपर्क से हमारी इन्द्रियां अपने कार्य में प्रवृत्त रहती हैं। इन्द्र की शक्ति ही इन्द्रियरूपी देवों के रूप में प्रकट हो रही है। इन्द्र ही सबके भीतर बैठा हुआ मध्य प्राण है जो इतर इन्द्रिय प्राणों को समृद्ध करता है।

कठोपनिषद् आदि अन्य भारतीय ग्रंथों में इन्द्रियों की उपमा अश्व से दी गई है। जो शरीर रूपी देवरथ में इन्द्रियों के सद्अश्वों को जोड़कर बुद्धिरूप सारथि की शक्ति से सफल जीवन यात्रा कर सकता है वही विजय शील महारथि है। जैन आगमों में इन्द्रियों को नहीं मन को अश्व बताया गया है। महामुनि केशीकुमार महान् साधक गौतम को पूछते हैं, हे गौतम, तुम एक साहासिक युद्ध अश्व पर आरुढ़ हो। वह पवन वेग से दौड़ता है किन्तु आश्चर्य है कि तुम उसके द्वारा गलत मार्ग पर ले जाये नहीं जाते! महान् सन्त गौतम ने उत्तर देते हुए कहा—उन्मार्ग की ओर दौड़ते हुए उस अश्व को मैं सूत्ररूप रस्सी के द्वारा रोकता हूँ, अतः मेरा अश्व उन्मार्ग की ओर न जाकर सन्मार्ग की ओर ही जाता है।

महा श्रमणे केशीकुमार फिर पूछते हैं—वह अश्व कौनसा है? संतगौतम बोले—मन ही यह साहसिक मयंकर युद्ध अश्व है, उसे मैं रोकता हूँ और धर्म-शिक्षा के द्वारा उसे जाति संपन्न अश्व की भांति चलाता हूँ।

शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है मन ही देवों का वाहन अश्व है, इसी पर आरुढ़ होकर देव विचरण करते हैं।

मनो वै देववाहनं । मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं धनीवाहते ।

शतपथ (१।४।३।६.)

ऋग्वेद में देव वाहन अश्व का वर्णन है—

वृषो अग्निः समिधयतेऽश्वो न देववाहनः । तं हविष्मन्त ईळते (ऋ. ३।२७।१४।)

१. पंच जागरओ सुता अप्य दुक्खस्स कारणा ।
तस्सेव तु विणासाय पण्णे वट्ठिज्ज संतरं ॥
२. स योऽयं मध्ये प्राणः । एष एव इन्द्रः । तानेष प्राणान्
मध्यत इन्द्रियणेन्द्र । यदैन्द्र तस्मादिन्द्रः ।
इन्धी ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम् ॥ ६। १। ६२
३. अयं साहसिओ भीमो दुहस्सो परिधावइ ।
अंसि गोयम आहडो कइं तेण न हीरसि ?
पहावंतं णिणिण्हामि सुयरस्सी रामाहियं ।
नमे गच्छइ उम्ममं मयं च पैडिक्खइ ॥ ५५-५६ उत्तरा० अ. २३.
४. मणो साहसीओ भीमो दुहस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं णिणिण्हामि धम्मसिक्खाइ कंधग ॥ उत्तरा. अ. २३. गा. ५९

यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में एक रूपक आता है:—शरीर रूप रथ में आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े और विषय उनके विचरने के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा पदार्थों का उपभोग करता है। जो प्रज्ञासंपन्न होकर संकल्पवान मन से स्थिर इन्द्रियों को सुमार्ग में प्रेरित करता है वही मार्ग के अन्त तक पहुंचता है। जहां से वापिस लौटता नहीं है।

दर्शन की त्रिपथा से

भारतीय दर्शन की त्रिपथगा (गंगा) भारत में तीन धाराओं में बही है। जैन बौद्ध और वैदिक संस्कृति दर्शन की त्रिपथगा है। तीनों के बीच बहुत कुछ वैचारिक साम्य है। कहीं थोड़ा वैषम्य भी है। आचार और व्यवहार में यद्यपि वे बहुत कुछ दूर जा पड़ी हैं फिर भी विचार के क्षेत्र में कुछ साम्य भी है और थोड़ा साम्य कहीं कहीं तो इतना स्पष्ट है कि चर्चित यह जाना पड़ता है। गहराई से अध्ययन करने पर अर्थ साम्य तो अधिकतर परिलक्षित हो जाता है पर कहीं तो शब्दसाम्य और पदसाम्य तक आश्चर्य प्रद रूप में परिलक्षित हो जाता है। ऋषिभाषित सूत्र में भी ऐसे अनेकों श्लोक हैं जिनका इतर भारतीय दर्शनों में साम्य मिल जाता है।

पैंतीसवें अध्ययन में अहंतापि उद्दालक कहते हैं:—

जागरह णरा निषं मा मे धम्मचरणे पमत्ताणं । काहेति बहू चोरा दीग्गतिगमणे हिक्कास्सं ॥
जागरह णरा निषं जागरमाणस्स जागरति सुत्तं । जे सुवति न से सुदिते जागरमाणे सुही होत्ति ॥

—इतिभा. अ. ३५. गा. २०-२२

मिलाइये—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरास्त्रिबोधत । क्षुरस्य धारा निक्षिता दुरत्यया दुर्म पथस्तत्कवचो वदन्ति ॥

—कठोपनिषद् १।३।१४.

(हे अज्ञान से ग्रस्त लोगो) उठो, जागो, श्रेष्ठजनों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार क्षुरे की धार तीक्ष्ण होती है और छुई नहीं जा सकती, बुद्धिमान् पुरुष आत्म-ज्ञान के मार्ग को उसी प्रकार दुर्गम बतलाते हैं।

बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ धम्मपद से मिलाइये.

अपमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहू जागरो । अबलस्सं व सीवस्सो हिक्वा यात्ति सुमेधसो ॥ धम्मपद २९

प्रमादी लोगों में अग्रमादी और (अज्ञान की निद्रा में) सोते हुए लोगों में जागरणशील बुद्धिमान मनुष्य दुर्बल घोड़े से तेज घोड़े के समान आगे बढ़ जाता है।

नत्थि जागरतो भयं. ३६

जागते हुए को भय नहीं होता।

समभाव का साधक सर्वत्र अपने रूप का दर्शन करता है। विश्व के अनंत अनंत प्राणियों में अपनी छाया का दर्शन कर विषम भाव से रहित हो विचरण करता है।

सम्बतो विरते वंते सम्बतो परिणिब्बुडे । सम्बतो विप्पमुक्कप्पा सम्बत्थेसु समं चरे ॥

—इतिभा. अ. १।८

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं मोक्षेलाहुर्मनीषिणः ॥ यजुर्वेदीय कठोपनिषद्

मिलाइये—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

—ईशोपनिषद् ६

जो समस्त प्राणियों को अपने में और अपने को समस्त प्राणियों में देखता है, वह उपर्युक्त एकात्मदर्शन के द्वारा किसी को घृणा या उपेक्षा का पात्र नहीं समझता है । अर्थात् वह सबके हित में अपना हित समझता है ।

बौद्ध दर्शन में—

अत्तानं उपमं कत्वा न हनेत्य न घातये. —धम्मपद् (१२६)

सभी प्राणियों को अपने जैसा समझकर किसी भी प्राणी की घात नहीं करना चाहिये ।

गीता भी कहती है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ! सिद्धसिद्धोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।

—गीता २।४९

हे अर्जुन ! कर्म फल की आसक्ति छोड़कर सिद्धि और असिद्धि में समबुद्धि रखकर और योग में स्थित होकर कर्म करो ! क्योंकि उपर्युक्त समत्व भाव ही योग कहा जाता है ।

सत्य ही विश्व का परित्राता है । साधक अविश्वास की भूमि असत्य से दूर रहे । देव नारद अर्हतर्षि कहते हैं आत्म-शान्ति का गवेषक साधक त्रियोग और त्रिकरण द्वारा असत्य का परिहार करे—

मुसावादं त्रिविदं त्रिविहेणं णेव ब्रूया णभासणं वित्तिथं सोयव्वल्लक्षणं ॥

—इसिभा० अ. १।४

मिलाइये—ऋग्वेद में ऋत सत्य को शान्ति का स्रोत बताया है—

ऋतस्य हि शुरुषः सन्ति पूर्वोर्ऋतस्य धीतिर्बुजिनानि हन्ति ।

ऋतस्य श्लोको वधिरा ततर्द, कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ।

ऋतस्य द्वा धरुणानि सन्ति. पुरुणि चन्द्रा वपुये वपूषि ।

ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष. ऋतेन गाव ऋतमा विवेक्षुः ।

—ऋग्वेद ४।२३।९-६

ऋत अनेक प्रकार की सुख शान्ति का स्रोत है । ऋत की भावना पापों को नष्ट करती है । मनुष्य को उद्बोधित और प्रकाश देनेवाली ऋत की कीर्ति बहरे कानों में भी पहुंच चुकी है । ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं । विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋतमूर्तिमान हो रहा है ।

ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है । ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियां जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती है ।

/ सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः । —ऋग्वेद १०।३७।२

सत्य भाषण द्वारा ही मैं अपने आपको सब दुराइयों से बचा सकता हूँ ।

/ सत्य का द्रष्टा ब्रह्मतेज को प्राप्त करता है । वह आत्मा की शुद्ध ज्योति है । समस्त तपः साधनाओं में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है । ऋषिभाषित सूत्र में बताया गया है ब्रह्मचर्य स्वयं एक उपधान तप है । वैदिक धारा के अमृत स्रोत

१. तयेसु वा उत्तम वम्भचेरं —सूक्तानां, वीरस्तुति

इसिभासियाई अ. १ गा. १०

२. ब्रह्मचारी ब्रह्म आजद् विभर्ति.

तस्मिन् देवा अधिविध्वे समेताः । —अथर्व० ११।५।२४

अथर्ववेद में कहा गया है—ब्रह्मचारी ब्रह्म (समष्टि रूप ब्रह्म अथवा ज्ञान) धारण करता है । उसमें समस्त देवता ओतप्रोत होते हैं ।

आचार्य भी ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मचारियों को अपने शिक्षण और निरीक्षण में रखने की योग्यता और क्षमता का सम्पादन करता है । सत्य और संयत जीवन से रहनेवाला मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही अपनी इन्द्रियों को पुष्ट और कल्याणोन्मुख बनाने और उन्हें साधना की ओर प्रवृत्त करने में समर्थ होता है ।

(दुःख के विनाश के लिये हमें अपने स्वरूप का ज्ञान करना होगा । मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? यह शरीर और ये इन्द्रियाँ क्या मेरा स्वरूप हैं ? कूकर और शूकर के रूप में भटकना, रोना और चीखना क्या मेरा स्वरूप है ? वज्रिय पुत्र अर्हर्षि साधक को प्रेरणा देते हैं, अज्ञान ही दुःख का मूल हेतु है । सिद्ध की भांति अपने स्वरूप का ज्ञान करो और कूकर और शूकर के रूप में आत्मस्वरूप को मूलानेवाली कर्मों की शृंखला को तोड़ फेंको । ऋग्वेद का अन्तर्द्रष्टा ऋषि कहता है मैं कौन हूँ । मैं स्वयं इन्द्र हूँ । मेरी पराजय नहीं हो सकती । मुझ में अनंत शक्ति है । रोना और चीखना मेरा स्वभाव नहीं है ।

जो अपने स्वरूप को भूलकर पर रूप में आसक्त होता है वह अपने स्वरूप का विनाश करता है और अपने स्वरूप की भूलानेवाला अन्धकार में प्रवेश करता है । जिसने अपने स्वरूप का विस्मरण किया है वही वैषयिक पदार्थों में आनंद की अनुभूति करता है । आध्यात्मिक आनंद की अनुभूति में वैषयिक आनंद बाधक है इसीलिये विचारकों ने साधक को वासना और उसके प्रलोभनों को दूर रहने का परामर्श दिया है । वल्कल चूरी अर्हर्षि कहते हैं—हे पुरुष ! तू स्त्रीवृन्द की संसक्ति से दूर रह और अपना अबन्धु न बन । नारी में आसक्त अपने आपका शत्रु होता है । अतः जितना भी संभव है इस मन की वासना से मुक्त करो, विजयी बनो ।

कठोपनिषद् के अर्हर्षि कहते हैं—भूढ़ लोग ही बाह्य विषयों के पीछे लगे रहते हैं । वे मृत्यु—अर्थात् अनात्मा के विस्तृत जाल में फँस जाते हैं, किन्तु विवेकी लोग अमृतत्व को जानकर अश्रुव अनित्य पदार्थों में नित्यत्व की कामना नहीं करते हैं ।

महाकवि भारवि अपने प्रसिद्ध काव्य किरातार्जुनीय में लिखते हैं—यौवन की शोभाएं शरद ऋतु के मेघ की छाया के समान चंचल होती हैं । इन्द्रियों के विषय भी केवल तत्काल रमणीय होते हैं और अन्त में दुःख देनेवाले होते हैं ।

१. आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते । — अथर्व० ११।५।१७
२. इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरात् । — २२।५।१६
३. दुःखमूलं च संसारे अण्णाणेण समजिनं ।
मिमांसिष्व स रूपानि द्वय कम्पाणि मूलतो । — इसिभासियाई अ. २।८
४. अहमिन्द्रो न पराजिये । — ऋग्वेद १०।४९।५
५. असुर्या नाम ते लोका अन्वेन तमसा वृताः ।
तारुते प्रेलाभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ — यजु० ४०।३
६. इसिभासियाई अध्ययन अ. ६ गा. ३
७. पराज्यः कामाननुवन्ति बाला—
स्ते मृत्योर्यान्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा,
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ — कठोपनिषद् २।१।२
८. शरदमधुधरच्छाया गतयो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ — किरात ११।१२

परम शान्ति ही निर्वाण है। उस परम शान्ति को जाने के लिये हर मुमुक्षु आत्मा प्रयत्नशील है। तप और संयम की साधना के द्वारा आत्मा कर्म क्षय करता है तब वह भव परम्परा को समाप्त कर निर्वाण को प्राप्त करता है।

महाश्वश्व अर्हतां वदते—

येह वत्तिक्खण् दीवो जहा चयति संततिं ।

आयाण बन्धरोहम्मि तह्मपा भव संततिं ॥

—इसिभा. अ. ३।१६

जैसे तेल और बाती के क्षय से दीपक दीपकलिका रूप संतति को समाप्त कर देता है। उसी प्रकार आत्मा आदान-कर्मों का ग्रहण और बन्ध का अवरोध करके भव परम्परा को क्षय करता है।

यहां निर्वाण को दीप निर्वाण से उपमित किया गया है। बौद्ध दर्शन भी दीप निर्वाण से आत्म निर्वाण को उपमित करता है, पर दोनों उपमाओं में उतना ही विभेद है जितना कि जैन और बौद्ध दर्शन में। जैनदर्शन दीप कलिका की संतति रूप भव-परम्परा को मानता है। उसके क्षय से आत्मा की शुद्ध स्थिति की प्राप्ति स्वीकार करता है जबकि बौद्ध दर्शन वासना की संतति (परम्परा) के क्षय के साथ आत्मा का भी क्षय मान लेता है। जोकि अत्यन्त कारुणिक अन्त है। जब आत्मा ही समाप्त हो गया तब इतनी साधना किसलिये? यह तो वैसा हुआ कि रोग को मिटाने चले, पर रोग मिटा और उसी क्षण रोगी भी चल बसा। ऐसी चिकित्सा क्या मूल्य रखती है?

महाकवि अश्वघोष काव्यात्मक शैली में दीपनिर्वाण से आत्मनिर्वाण को उपमित करते हैं—

दीपक जब निर्वाण प्राप्त करता है तो न वह ऊपर जाता है, न नीचे जाता है। न दिशा में जाता है, न विदिशा में। ज्ञेह के क्षय से केवल शान्ति को प्राप्त करता है, ऐसे ही निर्वाण प्राप्त आत्मा न पृथ्वी पर आता है न आकाश में, न वह दिशा में जाता है न विदिशा में। क्लेश क्षय होने पर केवल शान्ति प्राप्त करता है।

जैन दर्शन ने कहा है निर्वाण के बाद आत्मा शुद्ध स्थिति में लोकाग्र पर स्थित रहता है। उस निर्वाण प्राप्त करने के लिये एक प्रमुख साधन है सम्यग्दर्शन। तत्त्व-प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम उसके स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तु के स्वरूप पर निश्चित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन की तीन प्रकार से व्याख्या की गई है। प्रथम व्याख्या के अनुसार सुदेव सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है।

ज्ञान की प्रथम सीढ़ी तक यह व्याख्या ठीक है किन्तु जब विचार चर्चा आगे बढ़ती है, तब यह व्याख्या कुछ अपूर्ण सी रह जाती है। यदि देव गुरु धर्म पर श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है तो जो समस्त विकारों पर विजय पाकर जो अरिहन्त बन चुके हैं उनके लिये देव कौन हैं, उनके गुरु कौन हैं, और उनका धर्म क्या है। क्योंकि ये स्वयं ही देव स्वरूप हैं। उनका ज्ञान स्वयं के लिये गुरु तुल्य है और उनकी वाणी ही धर्म है। अतः दूसरी व्याख्या आती

१. दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काचित् विदिशं न काचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
तथाकृति निर्वृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काचित् विदिशं न काचित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

— अश्वघोष, बुद्धचरित

२. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । — तत्त्वार्थ अ. १०।५
३. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ — तत्त्वार्थ सूत्र अ. १-२
४. या देवे देवता बुद्धि गुरौ च गुरुता मतिः ।

धर्मे च धर्मेयीः शुद्धा सा सम्यक्त्वमिदमुच्यते — आ. हेमचन्द्र योगशास्त्र द्वितीय प्रकाश.

है। तत्वों का स्वरूप दर्शन कर उसके प्रति अचल आस्था रखना ही सम्यग्दर्शन है। चैतन्य का स्वरूप क्या है यह भेद विज्ञान पाकर पदार्थों का स्वरूप दर्शन करना सम्यग्दर्शन है। पदार्थ विज्ञान रूप सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद ही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप रूप में परिणत होता है।

भगवतीसूत्र में आचार्य सुधर्मास्वामी सम्यक्त्व की परिभाषा करते हुए फरमाते हैं कि वही सत्य है जो जिने-श्वर देव ने प्रतिपादित किया है और ऐसा श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में लिखते हैं—सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होता है। अतः आद्य तीनों ज्ञान (मतिश्रुतावधि) अज्ञान भी होते हैं, क्योंकि वे मिथ्यात्व दशा में भी पाये जाते हैं।

यह तत्व रुचि रूप सम्यग्दर्शन भी एक स्थान पर जाकर सीमित हो जाता है। सिद्ध स्वरूप में स्थित आत्मा के लिये तत्व रुचि का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यद्यपि उनके अनंत ज्ञान में विश्व के समस्त पदार्थ—सार्थ समस्त पर्यायों के साथ प्रतिमासित होते हैं फिर भी सिद्ध प्रभु जब चैतन्यादि तत्वों का लक्ष्यपूर्वक पार्थक्य नहीं करते। अतः तत्त्वार्थ श्रद्धात्मक सम्यक्त्व भी सिद्ध स्थिति में उतनी स्पष्टता के साथ प्रतिमासित नहीं होती है। अतः आचार्यों ने एक अन्तिम व्याख्या और दी है—स्वात्मोपलब्धि रूप सम्यक्त्व। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व सिद्धात्माओं में भी स्पष्ट रूप से प्रतिमासित है।

इसिभासियाई सूत्र में महाकाश्यप अहंतापि सम्यक्त्व और ज्ञान की उपादेयता बताते हुए कहते हैं—जैसे अग्नि और पवन के प्रयोग से स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा युक्त आत्मा पाप से विशुद्ध होता है।

सम्यग्दर्शन की उपादेयता जैनदर्शन में ही नहीं अजैन दर्शनों में भी स्वीकार की गई है। हिन्दु धर्म के सामा-जिक विधि नियमों के प्रणेता महर्षिभनु मनुस्मृति में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में लिखते हैं :-

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न आत्मा कर्म से बद्ध नहीं होता है और दर्शन से विरहित आत्मा संसार को प्राप्त करता है।

सम्यग्दर्शन आत्मदर्शन का वह प्रकाश है जिसके प्राप्त होने पर आत्मा स्व और पर का त्रिवेक करता है। विचार-अगत में वह खुले दिमाग के साथ प्रवेश करता है। उसके लिये अन्य दर्शन भी स्वदर्शन है। जो हंस बुद्धि को लेकर चलता है उसके लिये सर्वत्र दूध है, क्योंकि पानी को उसकी चंचु दूर कर देती है।

१. जीवादि सदृहणं समतंरुचमप्यपो तं तु ।

दुरभिणिचैस मुक्कं णाणं खु होदि रादि अग्निह ॥ - द्रव्यसंग्रह गा. ४१

२. तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं । - भगवती सूत्र.

३. सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञान मिति नियमतः सिद्धम् ।

आद्यत्रयज्ञानमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥

वाचकमुख्य उमास्वाति प्रशमरति प्रकरण ।

मति श्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ - तत्त्वार्थ अ. १

४. सम्मं च मोक्खत्रीयं तंपुण भुयत्थसदृहणारुवं ।

पसमाइ-लिंगनाम्सं सुहायपरिणाम रुवं तु । - आ. देवशुभ - नवतत्त्व प्रकरण.

५. इसिभासियाई अ. ६।२६

६. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ - मनुस्मृति अ. ६

भाष्यकार जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण विशेषावश्यक भाष्य में लिखते हैं—पर समय (सिद्धान्त) और स्वसमय दोनों ही सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये स्व समय ही है। जो मिय्यामतों का समूह सम्यक्त्व में उपकारी है वही पर-सिद्धान्त भी सम्यक्त्व के लिये स्व समय है।

इस प्रकार हम देखते हैं। भारतीय दर्शन की तीनों धाराओं के विचार सूत्रों में बहुत कुछ साम्य है। उनके दार्शनिक तथ्य कहीं साम्य रखते हैं तो एक स्थान पर जाकर अलग भी हो जाते हैं। यहां उनके साम्य वैषम्य का आंशिक दिग्दर्शन कराया गया है।

ऋषिभाषितसूत्र की भाषा

इसिभासियाई सूत्र की रचना पद्धति “त” श्रुति प्रधान है। संस्कृत ‘तथा’ शब्द का प्राकृत में तहारूप होता है। किन्तु जिस प्राकृत पर शौरसेनी और पेशाची की छाया है उसमें हकार श्रुति के स्थान पर तवर्ग की श्रुति आती है। संस्कृत ‘तथा’ को वे ‘तथा’ बोलेंगे।

प्राकृत शब्द उन तमाम प्राचीन भाषाओं के लिये प्रयुक्त होता है जो जन साधारण में संस्कृत के स्थान पर बोली जाती थी। हर प्रान्त की अपनी भाषा थी और उनमें थोड़ा कुछ अन्तर अवश्य था। आज के प्राकृत साहित्य में जो विभेद दृष्टिगोचर होता है, उसमें प्रान्तीय भाषाओं की छाया है। शैलिभेद प्रान्तीय भेद पर आधारित है। महाराष्ट्र में बोली जानेवाली आर्य भाषा महाराष्ट्रीय प्राकृत थी, तो आगरा के आसपास में बोली जानेवाली प्राकृत शौरसेनी कहलाती थी। स्थल की दूरी ने भाषा में बहुत बड़ा विभेद खड़ा कर दिया है और यह स्वाभाविक भी है। प्राकृत में यद्यपि सबका समावेश हो जाता है। फिर भी उनकी प्रकृति में अन्तर अवश्य है।

मूल आगम में जिस प्राकृत का व्यवहार हुआ है उसमें मागधीभाषा का प्राधान्य है। इसीलिये उसे अर्धमागधी कहा जाता है और अधमागधी की व्याख्या ही यह है कि जिसमें मगध प्रान्त और उसके निकटवर्ती प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का समावेश हो। स्वयं मागधी और अर्ध मागधी में भी कुछ अन्तर है।

जिस सूत्र की रचना जिस प्रान्तीय भाषा विशेष में हुई है उसकी रचना पद्धति में तत् तत् प्रान्तीय भाषा का बहुत कुछ हाथ रहा है। इसीलिये आचारांग सूत्र की भाषा में गठन जो सुदृढ़ता है और अर्थग्रांभीर्य है हव उत्तरवर्ती सूत्र कृतांग आदि आगमों में नहीं पाया जाता है।

श्रुत परम्परा के अनुसार सभस्त आगमों के अर्थ—प्रणेता भगवान महावीर हैं और उनकी शब्द-रचना गणधर देव करते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण इसके लिये सुन्दर रूपक देते हैं—

तप नियम और ज्ञान रूप वृक्ष पर आरुढ़ अनंत ज्ञानी केवली प्रभु भव्यात्माओं के बोध के लिये ज्ञानरूप फूलों की वृष्टि करते हैं। गणधरदेव उन ज्ञान पुष्पों को बुद्धिरूप पट में ग्रहण करके तीर्थकर भाषित वाणी को प्रवचन रूप में प्रथित करते हैं। वर्तमान द्वादशांगी की शब्द रचना आचार्य सुधर्म द्वारा हुई है। किन्तु

१. परसमओ उभये व सम्मदिद्विरस ससमओ जे णं ।
तो सव्वज्झयणाई ससमयवतव्वं नियथाई ॥
मिच्छतमयसमूहं समत्तं जं च तदुवगारम्मि ।
वद्ध पर सिद्धंतो तो तस्स तओ ससिद्धंतो ॥ — विशेषावश्यक भाष्य ६५३-५४
२. अरथं मासह अरहा गन्थं गुन्थन्ति गणहरा णिउणा ॥
३. तव नियम नाण एकस्स आरुद्धो केवली अमियनाणी ।
तो सुयइ नाणबुद्धिं भविय जण विबोहणद्धाण ।
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा निविहउण निरवसेसं ।
तिस्थयर भासिमाई गंधन्ति तओ पवयणद्धा ॥

कुछकाल तक श्रुत परम्परा के द्वारा यह क्रादशांकी मौखिक रूप में रही। लिपिबद्ध न होने से विभिन्न प्रान्तों में बिचरनेवाले आचार्यों की प्रान्तीय भाषा के उच्चारण अन्तरद्वारा रूप से प्रवेश कर सके। यह आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में आगम पुस्तकारूढ़ हुए तब यह उच्चारण भेद स्पष्ट हुआ। कहीं उच्चारणभेद के साथ शब्दभेद और अर्थभेद कभी सामने आया। किंतु उस समय उच्चारणभेद को उपेक्षित कर दिया और शब्दभेद और अर्थभेद को पाठान्तर के रूप में स्थान दिया गया। 'वितियं' 'विहयं' में उच्चारण भेद है, 'दुहजं' में शब्द भेद है। किन्तु पाठान्तर में कहीं शब्दभेद रहता है तो कहीं थोड़ा अर्थभेद भी आ जाता है।

बलभी वाचना के समय जब बहुश्रुत मुनि एकत्रित हुए और समवेत आगम वाचना हुई तब विभिन्न आचार्यों के मुंह से विविध पाठ सामने आये। आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगम के हार्द को परखते हुए बहुमत के आधार पर मूल पाठ तैयार किया और शेष को पाठान्तर के रूप में पृथक् स्थान दे दिया गया। आगम सम्पादन के गुरुतर कार्य को काफी विचार पूर्वक करने पर भी कहीं कहीं खलना रह गई। जैसे कि अन्तकृतांग सूत्र के तृतीय वर्ग के प्रथम छः अध्यायों में नाग गाथाप्रति के अनियसेन आदि छः कुमारों का विवाह चारित्र और निर्वाण प्राप्ति का निरूपण है। उनकी निर्वाण की कहानी समाप्त हो जाने के बाद तप और त्याग के उज्ज्वल नक्षत्र गजसुकुमार की कहानी प्रारंभ होती है और महारानी देवकी के प्रासाद में दो दो के रूप में छः मुनि प्रवेश करते हैं।

ये छः मुनि कौन से हैं? प्रभु नेमिनाथ समाधान देते हुए महारानी देवकी से कहते हैं "ये तेरे ही पुत्र हैं" किन्तु हरणगमेषी के द्वारा सुलेसा को प्राप्त हुए हैं।

निर्वाण प्राप्त मुनियों का फिर से जीवित होकर मिक्षा के लिये जाना अटपटा—सा लगता है। इतना ही नहीं, कहानी की स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है। अच्छा तो यह रहता कि उनका निर्वाण भी गजसुकुमार के साथ दिखाया जाता।

हां, तो आचार्य देवर्द्धिगणि ने पाठान्तरों को भी आदर का स्थान दिया। पाठान्तरकारों में आचार्य नागार्जुन का स्थान महत्व पूर्ण है। नंदीसूत्र के वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र सूरि स्वविराचलि की व्याख्या करते हुए कहते हैं अब मैं श्री हिमवन्त आचार्य की स्तुति करता हूं। जिनके शिष्य श्री नागार्जुन नामक आचार्य हैं। आचारांग, सुयगडांग, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में पाठान्तर रूप पाठ उनके हैं। वे कालिक श्रुत की व्याख्या के पूर्णतः ज्ञाता थे और बहुत से पुर्यों के पाठी थे। अतः उनके पाठ प्रामाणिक माने गये हैं।

आगमों का गहराई से अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि पाठान्तरों का महत्वपूर्ण स्थान है और पाठान्तर को सामने रखकर आगम की व्याख्या की जाय तो मैं समझता हूं काफी नये रहस्य ज्ञात हो सकेंगे। आज का व्याख्याकार मूल पाठ को महत्व देकर उसी की व्याख्या करता है और पाठान्तरों को फुट नोट में देकर आगे चल पड़ता है। किन्तु पाठान्तरों की व्याख्या की भी आवश्यकता है। क्योंकि पाठान्तर नया अर्थ रखता है और उसके द्वारा सम्पूर्ण गाथा से नया अर्थ प्रस्फुटित होता है।

पाठ भेद के साथ उच्चारण भेद को भी महत्व देना चाहिए। कई प्रतियों में 'त' श्रुति की प्रधानता है तो कई प्रतियों में 'य' श्रुति की। सूत्र के लिये कहीं 'सुत्त' शब्द का प्रयोग हुआ है तो कहीं 'सुय'। कहीं च

१. अन्तकृतांग सूत्र तृतीयवर्ग अ० सू० ७

२. कालिय सुय अणुजोगस्त धारण धारण य पुत्राणां ।

हिमवन्त लमारासणे वन्दे नागार्जुनाचार्यं ॥

मिउ-महव-सम्पन्ने अणुपुब्बि वायगत्तणं पत्ते ।

ओह-सुय-समायारे नागार्जुण वायपवन्दे ॥ — श्री नंदीसूत्र स्वविराचलि गा. ३९

आता है कहीं च के लिये य आता है। इसिभासियाई सूत्र के पाठ संशोधन के लिये प्रसिद्ध आगम सेवी विद्वान सुनि श्री पुण्यविजयजी म० के द्वारा पाटन भण्डार की चार प्रतियां प्राप्त की गई थीं। उनमें तीन प्रतियों में परिग्रह शब्द के लिये सर्वत्र परिग्रह ही आया है। यद्यपि प्राकृत व्याकरण के अनुसार परिग्रह के लिये परिग्रह शब्द आता है। पर हम कैसे मानें कि परिग्रह शब्द लिखने में वृद्ध लेखकों की स्खलना हुई है? यदि प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में ऐसे शब्द मिलते हैं तो फिर क्यों न उन्हें स्वीकार किया जाए? व्याकरण भाषा के पीछे चलता है। वह शासन नहीं, अनुशासन करता है। महान व्याकरण पाणिनीजी ने भी समस्त आर्ष रूपों को मान्यता दी है। उसके लिये पृथक् सूत्र बनाये हैं और जो आर्ष रूप से अष्टाध्यायी से सिद्ध नहीं होते उन्हें वार्तिककार वार्तिकों के द्वारा सिद्ध करते हैं।

आगम में आत्मा के ‘अप्पा’ ‘अत्ता’ ‘आया’ आदि विभिन्न पर्याय मिलते हैं। ये तमाम उच्चारण भेद प्रान्तीय भाषा भेद को लेकर आये हैं।

इसिभासियाई सूत्र में आत्मा के लिये आता शब्द का ही अधिकतर प्रयोग हुआ है। इसमें तथुति की प्रधानता है। किस शब्द का उच्चारण किस भाषा से अधिक साम्य रखता है, इस सबके लिये हमें सूत्रों का गहराई से अध्ययन करना होगा। इसके लिये सर्व प्रथम आगमों की तथुति प्रधान पाठों वाली एक प्रति तैयार करनी होगी। उसके लिये भाषाविज्ञान का गहरा अध्ययन अपेक्षित है। भाषा विज्ञान के आधार पर जो प्रतियां तैयार होंगी वे भाषा-विदों के लिये भी काफी खोजपूर्ण सामग्री प्रदान करेगी।

इसिभासियाई सूत्र की रचना पद्धति

इसिभासियाई सूत्र के मूल वक्ता अर्हर्षि हैं जो किनारान नेमिनाथ भगवान पार्ष्वनाथ और भगवान महावीर के शासन में हुए हैं। अर्हर्षियों की संख्या पैंतालीस हैं और उन्हींके प्रवचन पैंतालीस अध्ययनों के रूप में संकलित हैं। इन अध्ययनों का संकलन कर्ता कौन है, यह निश्चित कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कहीं पर भी संकलन कर्ता ने सुई खोला ही नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र की रचना पद्धति बताती है कि इसका संकलन कर्ता एक अवश्य है। हर अध्ययन के प्रारंभ में अध्ययन में वर्णित विषय का सूत्र बताती हुई एक पंक्ति आती है। बाद में “अरहता इसिणा बुद्धं” आता है। अर्हर्षि का प्रवचन तो इस के बाद शुरू होता है। किन्तु प्रश्न यह है कि इसके पहले की पंक्ति और “इसिणा बुद्धं” बोलने वाला कौन है?

जब हम मूल आगमों का अध्ययन करते हैं तो वहां ज्ञात होता है कि आगमों के तीन प्रवक्ता हैं। भगवान महावीर गणधर देव शौतम स्वामी से कहते हैं। उसके पहले आर्य जम्बु से आचार्य सुधर्मस्वामी कहते हैं। प्रस्तुत द्वादशांगी के मुख्यवक्ता सुधर्मस्वामी हैं। उन्हीं की याचना आज चालू है। आर्य जम्बु सुधर्मस्वामी से प्रश्न करते हैं—“आर्य, आपकी कृपा से मैंने इतने अंग सूत्रों का वर्णन सुन लिया है। प्रस्तुत अंग सूत्र में श्रमण भगवान महावीर ने क्या अर्थ फरमाया है?” आर्य जम्बु के प्रश्न के समाधान में आचार्य सूत्र की व्याख्या करते हैं।

आर्य जम्बु और आचार्य सुधर्म के पहले भी एक वक्ता आते हैं जो आचार्य सुधर्म के नगरी में आगमन का संदेश देते हैं। वर्तमान श्रुतपरम्परा के अनुसार सर्वप्रथम उल्लेखक (भूमिका निर्देशक) आर्य देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण हैं। वर्तमान आगमों को स्थिर रूप देकर उन्हें संकलित और सम्पादित करनेवाले आर्य देवर्द्धि ही हैं। अन्य

१. आता लेता। इसि. अ. ५

आता जाणाह पजवे। इसि. अ. ६

२. अन्तगद सूत्र प्रथम वर्ग भूमिका.

आगमों के मुख्य सम्पादक के रूप में आर्य देवर्द्धि गणि को हम मानते हैं तो इसिभासियाई सूत्र के संकलन कर्ता भी उन्हीं को मान सकते हैं। जब तक नई खोज एवं नया तथ्य सामने न आए तब तक हमें इसी तथ्य को स्वीकार करके चलना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र की भाषा प्रांजल है। कुछएक स्थलों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र सुबोधता है। एक अध्ययन में प्रायः एक विषय का निरूपण है। सभी गाथाएं अन्तर से अनुस्यूत हैं। विषय का प्रतिपादन हृदयस्पर्शी है। कुछ स्थल तो ऐसे हैं जो सीधे हृदय को स्पर्श कर जाते हैं और मन मस्तिष्क को झकझोर कर साधक की सुप्त चेतना को जाग्रत कर देते हैं।

इसिभासियाई सूत्र का वर्तमान रूप

काफी कांट छांट और तराश निखार के बाद इसिभासियाई सूत्र ने वर्तमान रूप प्राप्त किया है। प्रत्येक अध्ययन के प्रारंभ में संक्षिप्त विषय प्रवेश दिया गया है जो अध्ययन में वर्णित विषय की ओर संकेत करता है। फिर संशोधित मूल पाठ दिया गया है। फिर मूलस्पर्शी अर्थ आता है। उसके नीचे गुजराती अनुवाद भी दे दिया गया है, क्योंकि गुजरातीभाषी माइयों की मांग थी कि गुजराती अनुवाद के अभाव में गुजराती समाज के लिये उपयोगी न हो सकेगा। अतः सार्वजनीन उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर गुजराती अनुवाद देने की बात भी स्वीकार कर ली गई।

गुजराती अनुवाद के बाद हिन्दी विवेचन दिया गया है, जिसमें मूल के हार्द को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। उसके अभाव में केवल मूलस्पर्शी अर्थ पाठकों की जिज्ञासा को पूरी तरह संतुष्ट नहीं कर सकता था। विवेचन के पश्चात् संस्कृत टीका को स्थान दिया गया है। टीका का अर्थ प्रायः मूलस्पर्शी अर्थ से साम्य रखता है, अतः उसका अनुवाद नहीं दिया गया है। मतार्थ कहकर आगे बढ़ गया हूँ। जहां मूलस्पर्शी अनुवाद और संस्कृत टीकाकार के अभिप्राय भिन्न पड़े हैं वहां टीका के साथ अर्थ भी दे दिया गया है। इसके साथ ही डाक्टर शुक्तिंग की टिप्पणियों को भी स्थान दिया गया है। डा० शुक्तिंग की टिप्पणियां कहीं कहीं बहुत महत्वपूर्ण बन गई हैं, कहीं कहीं उन्होंने सूत्रकार की भूल की ओर भी इंगित किया है। जहां कुछ पाठ ही छूट गया है प्रबन्ध रचना की त्रुटि एवं छन्दो-भंग आदि के लिये अनेक स्थानों पर उन्होंने संकेत दिया है। प्रायः टीकाकार टिप्पणीकार और हम एकमत हैं, कहीं टीकाकार से मैं अलग हो गया हूँ और कहीं कहीं तो हम तीनों तीन रास्ते पर हो गये हैं। टीकाकार वाल्ड सीडट हैं और टिप्पणीकार डाक्टर शुक्तिंग हैं। जैसे कि मैं पहले लिख आया हूँ टीका संक्षिप्त है अतः सभी स्थलों पर नहीं दी गई है। टिप्पणी भी आवश्यक स्थलों पर दी गई है।

प्रस्तुत सूत्र के अनुवाद एवं विवेचन में काफी सावधानी रखी गई है। सत्य भूत होकर अर्हतर्षि के विचारों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। उसमें कहां तक सफलता मिली है यह निर्णय आपके (पाठकों) ऊपर छोड़ता हूँ।

स्वातंत्र्य दिन १५ आगस्त १९६१

राजगढ़ जि. धार

मनोहर मुनि

ऋषिभाषितानि-प्रतियों का परिचय

प्राप्ति की कहानी

इन्दौर से नन्वाई आते हुए भांडुप में सुआवक श्री मणीभाई गांधी जी ने मुझे ऋषिभाषित की एक प्रति दी। यह मेरा ऋषिभाषित से पहला परिचय था। प्रथम दृष्टि में ही मैं कुछ पन्ने उलट गया। कुछ गाथाएं देखीं। मन को गहरा आकर्षण हुआ और अनुवाद की प्रेरणा भी जगी। तीन दिन के बाद ही अनुवाद चल पड़ा। नया नया विषय था। पाठ भी कुछ दुरूह लगे, पर मन का उत्साह उन सबसे ऊपर था। इस दुरूहता की कहानी विद्वानों के समक्ष रखी तो पं० बेचरदासजी और पं० दलसुखभाई के सुझाव आये कि अन्य प्रतियों से पाठ संशोधन करें। पर प्रश्न तो प्रतियों की प्राप्ति का था। अहमदाबाद में प्रसिद्ध आराम सेवी विद्वान् मुनि श्री पं० पुण्य विजयजी म० से पत्रपरिचय स्थापित किया। उत्तर संतोषप्रद था व उन्होंने हस्तलिखित प्रतियों की उपलब्धि में सहयोगी होने की कामना प्रकट की। मेरा अनुवाद कार्य चलता रहा। प्रतियों की उपलब्धि के लिये अहमदाबाद से फिर संपर्क स्थापित किया पर अहमदाबाद मौन था। करीब ढाई महीनों की लम्बी प्रतीक्षा के बाद पत्र आया कि पाटण से ऋषिभाषित की चार प्रतियां आगई हैं और कुछ दिनों में वे प्रतियां मेरे हाथ में थीं।

पाठ संशोधन हाथ में लिया। पर इस दिशा में पहला ही प्रयास था। प्राचीन लिपि के पुराने मोड़, पडिमाचापें सब कुछ मेरे लिये नये ही थे, फिर भी प्रारंभिक कुछ कठिनाइयों के बाद प्राचीन लिपि से धोस्ती होगई और संशोधन का काम चल पड़ा। इस कार्य में प्रियवक्ता पं० विनयचन्द्रजी म० और सौभाग्यमलजी जैन कोट का सहयोग भूलाया नहीं जा सकता।

प्रतियों की कहानी

चारों प्रतियों पाटण भंडार की हैं। उन पर मुद्रालेख भी अंकित है। पांचवी छपी हुई प्रति है।

लम्बी प्रति

डा० २१६। नं० १००८३ इस प्रति को हम लम्बी प्रति के नाम से पहचानेंगे, क्योंकि यह प्रति अन्य प्रतियों में सर्वाधिक लम्बी है। इसकी लम्बाई १३॥ इंच है। पत्र संख्या १३ है। हर पन्ने में एक रंगीन चित्र है। अक्षर मरावदार और घुमावदार हैं और कुछ बड़े भी हैं। पड़ी मात्राओं में यह लिखी गई है पर यह प्रति काफी अशुद्ध है। कहीं पाठ के पाठ गायब हैं तो कहीं द्विरुक्तियां हैं। साथ ही इसका लेखक ग के द्वित्व को सदैव 'प्र' के रूप में लिखता है। 'परिभाह' को हमेशा परिग्रह के रूप में ही लिखता है। इसमें लेखक का नाम नहीं है साथ ही सन् संवत् भी नहीं दिया गया है। लिखावट में प्राचीनता बोलती है। सन् संवत् के अभाव में यह ठीक ठीक तो नहीं कहा जा सकता कि यह कितनी पुरानी है; फिर भी पत्रों की जीर्णता और लिपि के प्राचीन मोड़ इसकी पुरातनता सिद्ध करने में काफी हद तक सहायक होते हैं।

छोटी प्रति

छोटी प्रति इसका हमने यों नाम दिया कि यह प्रति पहली प्रति की अपेक्षा काफी छोटी है। प्रति आवरक पर परिचय यों मिलता है। ऋषिभाषित प्रकीर्णक, पत्र संख्या १३। डा० ४१ नं० ७५२। इस पर पाटण भंडार का मुद्रालेख है—श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिर, पाटण श्रीसंघनो जैन ज्ञान भंडार।

यह प्रति प्रथम की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। इसमें द्विरुक्तियों का अभाव है। शेष में प्रायः दोनों का स्वर मिल जाता है। लिपिकार ग के द्वित्व को प्र के रूप में ही लिखता है।

प्रति की प्राचीनता के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण मिलता है। प्रति के अन्त में लेखक ने संवत् दिया है—‘संवत् १४९५ वर्षे माघ वदि १२ भूमे लिखितं। छ ७४ ग्रंथ ८१५। यह प्रति स्पष्ट रूप से ५०० वर्ष की प्राचीन सिद्ध होती है। “भूमे लिखितं” स्पष्ट जरा स्पष्ट नहीं होता, पर संभवतः इसका अर्थ होगा भौमवार को लिखी गई है। मंगलवार को देशी भाषा में भौमवार भी कहा जाता है। ग्रंथाग्र ८१५।

तीसरी प्रति

इसके पत्रों की लम्बाई चौड़ाई, आकार प्रकार, दूसरी प्रति के अनुरूप है। आवरक कवर पृष्ठ पर परिचय इस प्रकार है— ऋषिभाषित पत्र संख्या १५ डा० १७६ नं० ६८७२ श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर पाटण, श्री वाड़ी पार्श्वनाथनो जैन ज्ञान मंडार।

द्वितीय प्रति पर श्री संघ नो जैन ज्ञान मंडार का मुद्रालेख है। प्रस्तुत प्रति वाड़ी पार्श्वनाथ के जैनज्ञान मंडार की है। प्रस्तुत प्रति प्रथम दो प्रतियों से अधिक शुद्ध है। द्विरुक्तियाँ नहीं जैसी हैं। अशुद्धियाँ भी अल्पतर हैं। प्रस्तुत प्रति अपेक्षाकृत मुद्रित प्रति के अधिक निकट है। लेखक “ग” के द्वित्व को कहीं द्वित्व रूप में और कभी ग के रूप में लिखता है।

प्रति की प्राचीनता

प्राचीनता की दृष्टि से प्रस्तुत प्रति सर्वाधिक प्राचीन लगती है। यद्यपि इसके अन्त में सन् संवत् का अभाव है। अतः निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता कि यह कितनी पुरानी है फिर भी इसके पत्र सर्वाधिक जीर्ण जर्जर हैं। पत्रों के बीच में छेद भी हो गये हैं। यह सब मिलाकर कह सकते हैं प्रति का निर्माण काल ५०० वर्षों से अर्वाचीन तो नहीं है। साथ ही प्रस्तुत प्रति में प्रशस्ति के रूप में ऋषिभाषित की संग्रह गाथाएं भी दे रखी हैं। प्रथम दो प्रतियों में इसका अभाव है।

ऋषिभाषित उद्धार प्रति

आवरक पृष्ठ पर इसका परिचय यों दिया है। ऋषिभाषित उद्धार, पत्र संख्या ३ डा० ३६ नं० ६१८ मुद्रालेख श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर, पाटण—श्री संघनो जैन ज्ञान मंडार।

यह पूरी प्रति नहीं है। जैसा कि उद्धार नाम से ही कुछ आभास मिल जाता है। उद्धार से यहाँ पुनरुद्धार का आशय नहीं है, अपितु ऋषिभाषित की सूक्ति स्वरूप मर्मसर्शी गाथाओं का सुन्दर लघु संकलन है। संकलन में गाथाओं के अतिरिक्त पाठ भी लिया गया है। गाथाएं प्रारंभ में तो पूर्ण हैं, पर बीच बीच में कहीं कहीं गाथाओं के दो ही चरण लिये हैं। कहीं पदों को विरुद्ध क्रम में भी रख दिया गया है, पर सर्वत्र नहीं, एक दो स्थानों पर ही ऐसी भूलें हुई हैं।

प्रस्तुत प्रति की लेखन शैली से अनुमान होता है यह अति प्राचीन नहीं है। क्योंकि अक्षरों के मोड़ भी अर्वाचीन है। अक्षर भी वर्तमान देवनागरी के हैं, साथ ही इसमें पढ़ी मात्राओं के प्रयोग नहीं है। जोकि प्राचीन प्रति की अपनी निजी विशेषता होती है। पढ़िमात्रा का मतलब है ए ऐ और ओ औ की मात्राएं अक्षर के ऊपर न लगाकर उसके पूर्व भाग में लगाई जाती हैं। जैसे कि “सोयव्वमेव” बदति को वे “सायव्वामव” बदति लिखते हैं। विशेष परिचय हस्त प्रतियों के फोह स्वयं दे रहे हैं।

मुद्रित प्रति

प्रस्तुत प्रति रतलाम से प्रकाशित हुई है। सन् १९२७ में छपी है। श्री ऋषभदेव केशरीमलजी नामक संस्था की ओर से प्रकाशित की गई है। परन्तु संपादक का नाम नहीं है। सफाई आदि ठीक होने पर भी प्रति में

अशुद्धियों की बाढ़ है। इसीलिये अनुवाद की दुरुहता भी बढ़ गई है। जैसे कि अध्ययन ४ गा० १७ के अन्तिम चरण में “जेवा उटीम गाणिणो” पद आता है। उटीम का कोई अर्थ नहीं है। अन्य प्रतियों में उटीम के स्थान पर ‘उत्तम’ शब्द है जोकि ठीक अर्थ देता है।

फिर भी अध्ययन, गाथा संख्या आदि सभी व्यवस्थित हैं। प्रस्तुत प्रति का स्तर प्राकृत व्याकरण के अधिक निकट है। ‘अग्नि’ ‘पुष्प’ ‘परिग्रह’ आदि को ‘अग्नि’ ‘पुष्प’ ‘परिग्रह’ के रूप में रखा गया है जोकि प्राकृत व्याकरण से सहमत है। अन्य प्रतियों में विचित्र रूप मिलता है। अग्नि को ‘अग्नि’ लिखते हैं पुष्प का ‘पुष्प’ रूप मिलता है। प्रस्तुत प्रति में पाठान्तर भी शब्द के साथ ही दे रखा है। किन्तु पाठान्तर प्रायः अन्य चार प्रतियों में देखा नहीं जाता है।

अन्त में संग्रहणी गाथाएं मिलती हैं जिनमें ४५ ऋषियों के नाम और त्रिषद क्रम भी है। उपसंहार में ऋषिभाषित का प्रामाण्य और देव नारद अर्हतर्षि का परिचय भी दिया गया है।

जर्मन प्रति

प्रस्तुत प्रति जर्मन के गोट्टिजिनो से प्रकाशित हुई है। इसके दो खंड हैं। प्रथम भाग का सम्पादन डा. वाल्टर शुत्रिग के हाथों से हुआ है। उसमें सर्व प्रथम जर्मनभाषा में इसिभासियाई सूत्र की भूमिका दी गई है। जिसमें बताया गया है कि यह सूत्र कहाँ किस रूप में प्राप्त होता है किन किन आगमों में इसका उल्लेख आता है। उसमें डा. शुत्रिग ऋषिभाषित सूत्र को बाइबल के उप विभाग गॉस्पेल से उपमित करते हैं। उसके बाद वे प्रस्तुत सूत्र के महत्त्व पूर्ण प्रश्नों पर विचार करते हैं। दस पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में विभिन्न प्रश्नों की चर्चा की गई है।

पश्चात् इसिभासियाई सूत्र का शुद्ध मूलपाठ दिया गया है। फुटनोट में पाठान्तर भी दिये गये हैं। शुद्ध पाठ के बाद प्रत्येक अध्ययन पर टिप्पणी दी गई है।

द्वितीय खंड में संक्षिप्त भूमिका है, बाद में ऋषिभाषित की संक्षिप्त टीका भी दी गई है। द्वितीय खंड डॉ. वाल्ड स्मीडट के द्वारा सम्पादित है, संस्कृत टीका रोमन लिपि में है।



अनुवाद की कहानी

ताज की नगरी आगरा में दर्शन शास्त्र के प्रौढ़ विद्वान् धर्मेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी म० के पास जैन दर्शन के प्रौढ़ ग्रन्थ विशेषाध्यक्षक माण्य एवं सन्मति तर्क का अध्ययन समाप्त कर जब विदा होने लगे तब आशीर्वाद के स्वर में धर्मेय कवि रत्न श्री ने फरमाया 'मुनि जी ! अध्ययन की एक सीमा तक तुम पहुँच गये हो, अब इसे पल्लवित और पुष्पित करना तुम्हारा अपना काम है। इसके लिये तुम किसी आगम को चुनना, क्योंकि यह क्षेत्र अभी सूना पड़ा है।'

तभी से दिल एक विचार अंकुरित हुआ था। एक आगम का अनुवाद तथा सम्पादन अभिनव ढंग से किया जाए। उस समय नन्दी सूत्र के सम्पादन का विचार दिमाग में लिये चल रहा था। उसके लिये कवि श्री के विद्वान् शिष्य श्री विजय मुनिजी शास्त्री की प्रेरणा भी थी। जब आगरा से इन्दौर आ रहे थे मार्ग में धर्मेय स्वर्गीय पं० श्री नगिनचन्द्रजी म० ने कहा—“नन्दी सूत्र सुन्दर है, किन्तु उस पर अनेकों व्याख्याएं प्रकाशित हो चुकी हैं; किसी नई कृति का सम्पादन हो तो सुन्दर रहेगा।” किन्तु उस समय मेरे पास कोई नई कृति थी ही नहीं, अतः उसके सम्पादन का प्रश्न ही नहीं था। जब हम गुरुदेव की सेवा में इन्दौर पहुँचे। उन्होंने भी आगम अनुवाद की योजना को पसंद किया।

इसी बीच कोट संघ (बम्बई) के उपप्रमुख सेठ मगनभाई कोट संघ की आग्रह भरी विनंती लेकर आये। उनके स्नेह भरे अनुरोध को स्वीकार कर प्रिय वक्ता पं० श्री विनयचन्द्र जी म० के साथ कोट चातुर्मास के लिये हम चल पड़े। जब बम्बई के उपनगर मांडुप में पहुँचे और वहाँ स्वाध्याय प्रेमी सेठ मणिलालभाई के द्वारा इसिभासियाई सूत्र (ऋषिभाषित सूत्र) प्राप्त हुआ। उसका कुछ अंश देखा; मन बोल उठा काफी सुन्दर सूत्र है। उसका अनुवाद कर डाला जाए तो बहुत सुन्दर रहेगा। साहित्य भी नया है। सुसुझुओं के लिये उपयोगी रहेगा। इधर धर्मेय कवि श्री जी म० एवं पं० श्री नगिनचन्द्रजी म० दोनों की आज्ञा का पालन भी हो जाएगा।

इस कार्य के लिये प्रियवक्ता श्री विनयचन्द्र जी म० की भी खास प्रेरणा रही। प्रेरणा के साथ सुन्दर सहयोग भी रहा। कोट चातुर्मास में यद्यपि काम का बोझ काफी था। प्रवचन देने के अतिरिक्त प्रिय वक्ता श्री के सार्वजनिक प्रवचनों का सम्पादन भी करना था। इधर दोहपर को अध्ययन भी करना था। फिर भी अवकाश के क्षणों में सूत्र का अनुवाद तथा सम्पादन कार्य करता रहा। पाठ संशोधन के लिये पाठ्य मंडार की प्रतियाँ भी आईं, फिर भी कठिनाइयाँ पूरी हल न हो सकीं। इस बीच जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान् पं० दलसुखभाई भी आये, उन्हें भी अनुवाद कार्य बताया। उसे देख उन्होंने भी सन्तोष व्यक्त किया। जैनगमों के विशेषज्ञ पं० श्री बेचरदास जी के द्वारा ज्ञात हुआ कि जर्मनी में डॉक्टर शुत्रिंग ने इसिभासियाई सूत्र को काफी अन्वेषण पूर्वक भूमिका और टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया है।

इसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया गया, किन्तु उसमें सफलता न मिली और चातुर्मास समाप्त हो गया। मांडुगा चातुर्मास में इसके लिये फिर से प्रयत्न किया और वाराणसी से पं० दलसुखभाई के द्वारा जर्मन प्रति आई। फिर तो मांडुगा संघ के मंत्री श्री नवनीत भाई ने चाय की एजेन्सी के द्वारा एक्सपोर्ट के साथ सीधे जर्मन से ही वह प्रति मंगवा दी।

प्रोफेसर शुत्रिंग द्वारा सम्पादित यह प्रति काफी सुन्दर थी। इसके दो भाग हैं। प्रथम का परिचय इस प्रकार है। प्रारम्भ में तेरह पृष्ठों में खोजपूर्ण भूमिका दे रखी है। उसके बाद चालीस पृष्ठों में पाठ भेद के साथ इसिभासियाई सूत्र का मूल पाठ है। फिर चौबीस पृष्ठों में प्रत्येक अन्वयन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं।

दूसरे भाग में इसिभासियाहं सूत्र पर संस्कृत टीका है। आगमों पर लिखी टीकाओं की भांति यह टीका भी संक्षिप्त है। हर गाथा पर टीका नहीं दी गई है। केवल क्लिष्ट गाथाओं की संस्कृत व्याख्या दी गई है। शेष को छोड़कर दिया गया है। इसे टीका की अपेक्षा संस्कृत अनुवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा।

द्वितीय भाग की भूमिका में बताया गया है ७।१२।१९५१ में आयोजित एक सभा में बोल्ड स्लीड ने भाषण देते हुए कहा था—

‘इसिभासियाहं’ का मूल पाठ उपोद्घात और संक्षिप्त टीका के साथ १९४२ में ‘वॉल्मुम के’ ४८९ से ५७६ में प्रकाशित हुआ है उसका अनुवाद भविष्य के लिये सुरक्षित रखा गया था। किन्तु बाद में उसका अनुवाद जर्मन भाषा में नहीं अपितु संस्कृत भाषा में किया गया है। ऐसा इसलिये किया गया कि भारतीय पाठक सूत्र के मूल पाठ से परिचित हैं। वे संस्कृत टीका के माध्यम से प्रस्तुत सूत्र का निकट परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये प्रस्तुत सूत्र का अनुवाद जर्मन भाषा में न करके संस्कृत भाषा में दिया गया है और भारतीय शैली के अनुरूप उसका संक्षिप्त अनुवाद दिया गया है।

जब यह पेरोग्राफ मैंने पढ़ा तो मेरा हृदय खिल उठा, कितना उदात्त दृष्टिकोण है। यह सूत्र भारतीय है, इसलिये वे उसका अनुवाद भारतीय भाषा में दे रहे हैं, ताकि भारतीय जनता उसका उपयोग कर सके। समुद्र के उस तट पर बैठे वे पश्चिमी विचारक भारतीय जनता का जितना ख्याल रखते हैं, क्या भारतीय जनता भारतियों का उतना ख्याल रखती है? आज तो हम भाषावाद और प्रान्तवाद के लिये झगड़ रहे हैं। कभी गुजराती और महाराष्ट्रीय लड़ते हैं। कभी बंगाली और अरुणचल जनता उकरती है। तो पंजाबियों को पंजाबी सुना चाहिये उसके लिये आमरण अनशन किया जाता है।

हमारे मानस कितने संकुचित हैं। हम धर्म पंथ और सम्प्रदाय के लिये झगड़ते हैं। आज का धर्म दो विरोधियों के बीच कड़ी नहीं बन सकता। हाँ, उसके नाम पर झगड़ सकते हैं। एक इंग्लिश विचारक हमारी इस धार्मिक अंधता पर व्यंग्य कसता हुआ बोलता है— We have just enough religion to make us hate but not enough to make us love another. एक दूसरे से घृणा करने के लिये हमारे पास धर्म पर्याप्त है, किन्तु एक दूसरे से प्रेम करने के लिये धर्म नहीं है। हमारा पीतल भी सोना है और दूसरे का सोना भी पीतल है। यह हमारी संकुचित बुद्धि हमें कहाँ ले जाएगी?

आज हमारी यह हालत है कि यदि गुजराती में एक पुस्तक प्रकाशित होती है तो हिन्दी पाठक बोल उठते हैं यह तो गुजराती है हमारे किस काम की है। यही कहानी हिन्दी में प्रकाशित पुस्तक की गुजराती भाइयों के लिये है। जब दूसरे देश अन्तरिक्ष में पहुँच रहे हैं तब इस उपग्रह के युग में संकुचित घेरे में कब तक जीवित रहेंगे?

मैं बहुत दूर आ गया। हाँ, तो वह जर्मन प्रति मेरे हाथों में आई। जब एक समस्या और मेरे सामने आई, इसका अनुवाद कैसे करवाया जाय। इंग्लिश तो थोड़ी बहुत परिचित भी है, किन्तु जर्मन के लिये तो मैं एकदम अपरिचित था। अनुवाद आवश्यक था। अजन्ता इंटर नेशनल के भाई जीतमजी सलेचा, सेठ नवनीत भाई सेक्रेटरी माटुंगा संघ (बम्बई) तथा मूक सेवक प्रवीणचन्द्र भाई कोठारी के सुप्रयत्नों से अनुवाद कार्य में सफलता मिली। बम्बई स्थित इन्डो-जर्मन सोसायटी के द्वारा इंग्लिश अनुवाद होकर मेरे पास आया। जर्मन निवासियों द्वारा संचालित उस कम्पनी ने कहा यह पुस्तक जर्मन की है, अतः इसका अनुवाद चार्ज हम चालीस प्रतिशत कम लेंगे। इनका देश प्रेम भी आदर की वस्तु है।

इंग्लिश का गुजराती अनुवाद एवं जर्मन प्रति से पाठ संशोधन एवं अन्य अनुवाद कार्य में माटुंगा के मूक सेवाशील श्री प्रवीणभाई कोठारी का अमूल्य सहयोग जो प्राप्त हुआ है उसे भी मैं भूल नहीं सकता।

अनुवाद होकर मेरे सामने आया तब तक १९५६ का माटुंगा चातुर्मास भी समाप्त हो गया और हम इंदौर की ओर लौट पड़े। क्योंकि वहाँ श्रेष्ठ गुरुदेव स्वविर-पद-विभूषित मंत्री श्री किशनलालजी महाराज अस्वस्थ थे। गुरुदेव के पवित्र दर्शनों के लिये हम चल पड़े। पर इसिमासियाई का कार्य अधूरा था।

हमने बम्बई छोड़ी, बम्बई का कांदावाड़ी संघ हमें नहीं छोड़ रहा था। बम्बई संघ के उपप्रमुख सेठ प्राणलाल भाई, सेक्रेटरी सेठ गिरधर भाई आदि सभी का अनुरोध था कि अलग चातुर्मास कांदावाड़ी हो। कोट और माटुंगा में आपके चातुर्मास हो चुके अब कांदावाड़ी कैसे सुनी रह सकती है? उनके आग्रह को ठेलते हुए आगे बढ़ते ही रहे और उनके प्रयत्न भी बढ़ते रहे। जब हम गुरुदेव के समीप इन्दौर पहुँचे वहाँ सेठ गिरधर भाई, सेठ रविचन्द्र भाई, सेठ मगनभाई आदि चातुर्मास की प्रार्थना हेतु आ पहुँचे। उनके भक्ति मरे आग्रह को गुरुदेव ढाल न सके और अपनी अस्वस्थता को भी उपेक्षित करके प्रखर सेवाशील पं० श्री नगिनचन्द्रजी म०, प्रिय वक्ता श्री विनयचन्द्रजी म० और इन पंक्तियों के लेखक को बम्बई चातुर्मास के लिये आज्ञा प्रदान की।

जेठ की तपती दुपहरी और अन्य कठिनाइयों को सहते हुए बम्बई पहुँचे। बम्बई-वासियों ने स्नेहभरा स्वागत किया। अब सेक्रेटरी श्री गिरधर लाल भाई दफ्तरी ने प्रियवक्ता श्री विनय चन्द्र जी म० से बम्बई चातुर्मास के प्रवचन सम्पादन एवं प्रकाशन के लिये कहा तो महाराज श्री ने कहा “प्रवचन पुस्तकें तो कोट और माटुंगा से प्रकाशित हो चुकी हैं, किन्तु श्री मनोहर मुनिजी ने तीन वर्ष के परिश्रम से जो इसिमासियाई सूत्र का अनुवाद एवं सम्पादन किया है उसको प्रकाशित करना चाहिये। समाज के लिये वह एक नई देन होगी।” और कांदावाड़ी संघ ने महाराज की प्रेरणा को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया। प्रिय वक्ता म० की प्रेरणा एवं कांदावाड़ी बम्बई संघ के ससम्पत्तों के फलस्वरूप इसिमासियाई जनता के हाथों में पहुँच रहा है।

यद्यपि इसके प्रकाशन के लिये दर्शनज्ञ पं० श्री दलमुख भाई ने भी गवर्नमेण्ट द्वारा संचालित प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित करने की प्रेरणा की थी और सेठ मगनलाल भाई पी. दोशी ने सन्मति प्रचारक संघ के अन्तर्गत प्रकाशन करने का सुझाव भी दिया था। किन्तु बम्बई संघ को यह श्रेय मिलना था। प्रस्तुत सूत्र के प्रकाशन में सेठ प्राणलाल भाई, इन्दरजी उपप्रमुख बम्बई (कांदावाड़ी) संघ, सेठ गिरधरलाल भाई प्रमुख बम्बई संघ, एवं सेवाशील कार्यकर्ता सेठ छोटालाल भाई कामदार का भी सक्रिय सहयोग रहा है। साथ ही सन्मति प्रचारक संघ, हैद्राबाद के संस्थापक प्रसिद्ध वक्ता यति श्री निर्मलकुमारजी ‘विश्वबंधु’ का भी सुन्दर सहयोग रहा है। प्रुफ संशोधन में सहयोगी श्री शान्तिमुनिजी म. ने और उसे लाने ले जाने में भाई गजानन शंकर चौहान ने जो सहयोग दिया उसे भी भुलाया नहीं जा सकता।

विजयादशमी

संवत् २०२०, दि० २० सितम्बर १९६३

विला पारला, बम्बई

मुनि मनोहर “शास्त्री” “साहित्यरत्न”

પ્રાશ્નકથન

આપણા સ્થાનકવાસી સમાજ માટે પૂ. મુનિરાજે અને મહારાસ્ટ્રીજીઓ જ આપણું એક માત્ર અવલંબન છે. પરંતુ તેઓશ્રીનો લાભ આરે મારા મળી શકતો નથી તેમજ બધા ગામોને મળી શકતો નથી. આ સંલેગોમાં તેઓશ્રીની ગેરહાજરીમાં ધર્મ સ્થાનકોમાં સત્-સાહિત્યનું વાંચન અને મનન થાય તે ખાસ જરૂરી છે. હુંકામાં આપણા સમાજનાં મુખ્ય બે અવલંબન છે. એક પૂ. સાધુ-સાધ્વીજીઓ, બીજું છે શાસ્ત્રો, આમ છતાં બેદનો વિષય એ છે કે આજે આપણા આ બન્ને અવલંબનો પ્રતિ આપણે ઉપેક્ષા સેવી રહ્યા છીએ.

સ્થાનકવાસી સમાજમાં ઉચ્ચ કોટીના મુનિરાજોની સંખ્યા ઓછી થતી રહી છે, તેમનું સ્થાન પૂરી શકે તેવાં મુનિરાજો દૃષ્ટિગોચર થતા નથી. સંખ્યાની દૃષ્ટિએ જોઈએ તો પણ મુનિરાજોની સંખ્યા ઓછી થતી જાય છે; પ્રમાણમાં નવા દીક્ષિત મુનિરાજો ઓછા થાય છે. ખીણ બાજુ આપણે ધાર્મિક પ્રવૃત્તિઓને નામે લાખો રૂપિયા ખર્ચાંએ છીએ, પરંતુ અધ્યાસશીલ અને ઉચ્ચ કોટીના સાહિત્ય અને સર્જન પાછળ ઉપેક્ષા સેવાતી હોય તેવું જણાય છે. અલબત્ત આજે સાહિત્ય પ્રકાશનના નામે હજારો રૂપિયા ખર્ચાય છે, પરંતુ તેમાં અધ્યાસશીલ સાહિત્ય કહી શકાય તેવું સાહિત્ય ઘણા ઓછા પ્રમાણમાં મળી શકે. આ બન્ને બાબતો આપણા સમાજ માટે ચિંતાનો વિષય ગણાવી જોઈએ.

આજના મુગે સાહિત્યનું મૂલ્ય ઘણું વધી જવા પામેલ છે. સાહિત્ય સમાજનું ઘડતર કરે છે. જે સમાજ પાસે સમૃદ્ધ સાહિત્ય હશે તે જ સમાજ ખરેખર શ્રીમંત છે. સમૃદ્ધિનો અર્થ માત્ર સંપત્તિ નથી. સંપત્તિ તો ચંચળ છે. તે તો આવે છે અને જાય છે. શાશ્વત સંપત્તિ તો સમૃદ્ધ સાહિત્ય છે. જે સમાજ પાસે વિશાળ અને સમૃદ્ધ સાહિત્ય હશે તે સમાજ પોતાનું ગૌરવભર્યું સ્થાન દેખાવી શકશે. આપણો સમાજ મુખ્યત્વે આપારી સમાજ હોઈ, તે જેટલું સંપત્તિનું મૂલ્યાંકન કરે છે તેટલું સાહિત્યનું મૂલ્યાંકન કરી શકેલ નથી; પરિણામે આપણો સમાજ અનુરૂપ લોકભોજ્ય સાહિત્ય તૈયાર કરી શકેલ નથી. એટલું જ નહિ પરંતુ કેટલુંયે કિંમતી સાહિત્ય આપણા સંસારોમાં વહુસ્પર્શ્ય પડેલું છે.

આમ છતાં કોઈ કોઈ મુનિરાજો અને વિદ્વાનો સાહિત્યના સંશોધનના કાર્યમાં લાગેલા જોવામાં આવે છે તે આનંદનો વિષય છે. આવા મુનિરાજો અને વિદ્વાનોની પ્રવૃત્તિઓને આપણે પ્રોત્સાહન આપી વેગ આપવો જોઈએ અને સાહિત્યના સંશોધનમાં રસ વધે તેમ કરવું જોઈએ. “ઈસિભાસિઆઈ” સૂત્રનું પ્રકાશન થવા પામેલ છે તે પણ ચિંતન, મનન અને સંપાદનનું જ પરિણામ છે. “ઈસિભાસિઆઈ” જોવા આજે કેટલાંય કિંમતી ગ્રંથો હજુ વહુસ્પર્શ્ય પડ્યા છે. આ બધા અમૂલ્ય ગ્રંથોને આપણે બહાર લાવવાની જરૂર છે.

“ઈસિભાસિઆઈ” સૂત્રનું અનુવાદ અને સંપાદન પં. મુનિ શ્રી મનોહરલાલજી મ., શાસ્ત્રી-સાહિત્યરત્ને કરેલું છે. અત્યાર સુધીમાં આ ગ્રંથનો હિન્દી કે ગુજરાતી કોઈ પણ ભાષામાં અનુવાદ થયો નથી. વિદ્વાન મુનિશ્રીએ સતત ત્રણ વર્ષ આ સૂત્રના પરિશીલન અને સંપાદનમાં ગાળ્યા અને પુષ્કળ પરિશ્રમને અંતે આ ગ્રંથનો અનુવાદ તૈયાર કર્યો.

પં. શ્રી નગીનચંદજી મ. પં. મુનિ શ્રી વિનયચંદ્ર મ., શ્રી મનોહર મુનિજી મ. ના સને ૧૯૬૦ ના કાંદાવાડી ઉપાશ્રયના આતુર્ભાસ દરમ્યાન આ સાહિત્ય અમારા જોવામાં આવ્યું. આ ગ્રંથમાં અનેક બાબતો ચાંગે જે સરળ અને હૃદયસ્પર્શી ભાષામાં રજુઆત થઈ છે તે ખરેખર પ્રશંસા મળી લે તેવી છે. સમસ્ત સુખદુઃખની જડ, સાધકની કર્તવ્ય દિશા, દુનિયાદારી માણસોના સ્વભાવનું વર્ણન અને વાસ્તવિકતાનું દર્શન, ગૃહસ્થોના સંસર્ગનું પરિણામ કર્મોની પરંપરાનું હૃદયદ્રાવક ચિત્ર, આત્મભાવમાં રમણ કરનારની મનોદશા, વગેરે અનેક બાબતો આ ગ્રંથમાં આવરી લેવામાં આવે છે. આ બાબતો એટલી સચોટ રીતે રજુ કરવામાં આવી છે અને એટલી મધુર ભાષામાં કહેવામાં આવી છે કે તે આમ જનતા પણ સમજી શકે અને

આખાલ-વૃદ્ધ સૌના હૃદયને સ્પર્શી શકે. આ ગ્રંથમાં રજુ થયેલ આખતો નાના મોટા સૌ કોઈના આત્માને ઉત્કર્ષ સાધવામાં સહાયક બની શકે તેવી છે. ગ્રંથની વિવેચનની ખુબીઓ અમારા હૃદયને પણ સ્પર્શી ગઈ અને તેથી અમો તે ગ્રંથ પ્રતિ ખૂબ ખૂબ આકર્ષાયા. આવી અમૂલ્ય ગ્રંથ આમ જનતા સમક્ષ જોવા તકે મુકાવો જોઈએ એમ અમોને લાગ્યું. વિદ્વાન મુનિશ્રીએ આટલી નાની ઉંમરમાં આ ગ્રંથના સંપાદનમાં કેટલો શ્રમ લીધો હશે, તેનો ખ્યાલ અમોને આ પુસ્તક જોતાં આવ્યો. આવા કિંમતી ગ્રંથનું સંપાદન કરીને, મહારાજશ્રીએ સમાજ પર મહાન ઉપકાર કરેલ છે.

અમોએ તુરત જ આ ગ્રંથનું પ્રકાશન કાર્ય શરૂ કર્યું. કાર્યની વિશાળતા અને પ્રેસની શિથિલતાને કારણે, તેના પ્રકાશનમાં ધાર્યા કરતાં વધારે વિલંબ થવા પામ્યો છે, પરંતુ તેનું પ્રકાશન કાર્ય સંતોષકારક રીતે પાર પડ્યું અને આજે અમો એક કિંમતી ગ્રંથ સમાજ પાસે મૂકવા શક્તિમાન બન્યા છીએ તે માટે અમો ગૌરવ અનુભવીએ છીએ.

પુસ્તક-પ્રકાશનની વ્યવસ્થામાં મુંબઈ કાંદાવાડી સંઘના ઉપપ્રમુખ રવ. પ્રાણલાલભાઈ ઈન્દરજી રેડ, સંઘના પ્રમુખ ત્રી. જે. રસલાલભાઈ દાનોદર દફતરી અને મંત્રી શ્રી છોટલાલભાઈ કામદારે ખૂબ જ શ્રમ લીધેલ છે તેની નોંધ આ તકે લઈએ છીએ. શ્રીમતી શુભાબેન નાનાદાસ શ્રી પ્રભાશંકર પોપટલાલભાઈ એ આ સૂત્રના પ્રકાશનમાં રૂ. ૫૦૦ ની અને રૂ. ૫૦૦ એક ગૃહસ્થે સહાયતા આપેલ છે. શ્રીમતી શ્રાવિકા પ્રભાબેન યુનિવર્સલ નરસેરામ વેકરીવાળાએ અગાઉથી ૧૦૦ પુસ્તકોના આહક થઈ રૂ. ૧૦૦૦ આપી પુસ્તક પ્રકાશનને વેગ આપેલ છે. આ ઉપરાંત અગાઉથી સંખ્યાબંધ ભાઈ-બહેનોએ આ પુસ્તકના આહક તરીકે નામ નોંધાવી અમોને પ્રોત્સાહન આપેલ છે તે માટે સૌનો આભાર માનીએ છીએ. પ્રકાશન કાર્યમાં ધાર્યા કરતાં વધારે વિલંબ થવા પામેલ છે અને અગાઉથી નોંધાયેલ આહકોને ખૂબ રાહ જોવી પડેલ છે; આમ છતાં એક મહત્વનું પુસ્તક આહક બંધુઓને આપી શક્યા છીએ તે માટે સંતોષ અનુભવીએ છીએ.

છેલ્લે એટલું જ કહેવાનું રહે છે કે પુસ્તક કે ગ્રંથની લોકપ્રિયતા તેના સુંદર ગેટઅપ કે સુંદર છપાઈ પર નિર્ભર નથી, પરંતુ તેનું વાંચન કેટલા પ્રમાણમાં જીવનને સ્પર્શી જાય છે અને કાયમી અસર મૂકતું જાય છે તે પર નિર્ભર છે. આ પુસ્તકનું મૂલ્યાંકન પણ તે જ રીતે કરવાનું અમો આહકો પર છોડીને, વિરમીએ છીએ.

તા. ૧-૮-૬૩
૧૭૦, કાંદાવાડી, મુંબઈ ૪.

લી. નમ્ર સેવકો
રવીચંદ્ર સુખલાલ શાહ
રમણીકલાલ કરતુરચંદ્ર કોહરી

भूमिका की विषयसूचि

पं रत्न-मंत्री श्रीकिसनलालजी म. के जीवन की रंगीन रेखाएं	पृ. १-१४
“इसिभासियाई” सूत्रपरिचय	,, १५-४०
अर्पण-पत्रिका	
इसिभासियाई सूत्र के मूल भावों का छायाचित्र	
प्राक्कथन	,, ४१-४२
श्रीमनोहरमुनिजी म. एक परिचय	,, ४३-४४
आशीर्वाद और अभिमत	,, ४५

ग्रंथविषयानुक्रम-सूचि

	अ.	भा.	पृष्ठ		अ.	भा.	पृष्ठ
१-प्रथम अध्ययन: सत्य श्रवण			१	हरह उड़ जाती है।	४,	१८,	२२
श्रोतव्य के चार लक्षण।	१,	१-६,	१-३	ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ धुरा			
श्रोतव्य के ग्रहण से प्राणी				और ज्ञान दर्शन जैसे			
उपधानवान् बनता है।	१,	९,	५	कुशल सारथिद्वारा शुद्ध			
उपधान का लक्षण।	१,	१०,	५	स्वरूप की प्राप्ति।	४,	२३,	२३
महान्तों के ग्रहण से				५-पंचम अध्ययन: अहं विजय			२५
संसार में अणुमरावर्तन।	१,	११,	६	नमन करने वाला आत्मा			
२-द्वितीय अध्ययन: दुःख निवृत्ति			७	शान्त एवं भागम-लीन			
दुःख और उसके कारणों की				होता है।	५,	१-३,	२५
व्याख्या।	२,	१-२,	७	६-षष्ठ अध्ययन: काम-विजय			२७
विमुक्ति के लिए साधक का				निरंकुश विषयों में			
कर्तव्य।	२,	६-९,	९-१०	आसक्त आत्मा ज्ञान			
३-तृतीय अध्ययन: कर्मलेप				रूपी प्रमद से अष्ट			
कर्मलेप का लक्षण।	३,	१-५,	१२	होकर विनष्ट होता है।	६,	१-५,	२७-२९
मोह की आग बुझाने की				स्वच्छन्द और विषय-			
अत्यंत कठिनता।	३,	९-११,	१३-१५	लोलुप आत्मा अपने			
४-चतुर्थ अध्ययन: समन्वय भाव			१६	आपका दुश्मन होता है।	६,	९-१०,	२९-३०
दुष्टशील व्यक्ति माया से				७-सप्तम अध्ययन: प्रमाद जय			३३
प्रतिच्छन्न रहते हैं।	४,	१-२,	१६-१७	प्रमाद जन्म-मरण			
मन, वाणी एवं कर्म की				का कारण है; अतः ज्ञानी को			
एकता जहां है वहीं साधुत्व है।	४,	५-६,	१७-१८	कार्य में अग्रमत्त			
अपने अष्टाचार के प्रति				रहना आवश्यक है।	७,	१-६,	३२-३४
जानबुझ कर, दुर्लक्षित साधक				८-अष्टम अध्ययन: दुःखनाश			३५
भविष्य में पश्चात्ताप करता है।	४,	९-१०,	१९-२०	अभ्यन्तर दुःख के ग्रन्थिजाल को			
अच्छे, बुरे कर्मों को आत्मा				दुःखहेतु समझ कर उसका			
ही जान सकता है।				नाश करने के लिए संयम-पालन			
चोर या सन्त को वह स्वयं				आवश्यक है उसीसे साधक			
या सर्वज्ञ जानता है।	४,	१५,	२१	निमुक्त होता है।	८,	१-४,	३५-३६
उल्लू की प्रशंसा और							
कौबे की निंदा हवा की							

अ.	पा.	पृष्ठ	अ.	पा.	पृष्ठ
९-नवम अध्ययनः कर्म प्रवाद		३७	१६-षोडश अध्ययनः इन्द्रिय-विजय		९०
जन्म और कर्म एक			इन्द्रियों का असंयम संसार का कारण है		
दूसरे पर आधारित			और उनका विपक्ष		
है, जन्म परम्परा			मोक्ष का कारण है ।	१६ १३,	९२
रोकने से कर्म-परम्परा			१७-सप्तदश अध्ययनः "सा विद्या या विमुक्तये"		९३
रूक जाती है ।	९,	१-४,	महाविद्या की प्राप्ति और कार्य ।	१७ १८,	९४
पांच आध्व का विवरण ।	९,	५-७,	१८-अष्टादश अध्ययनः पाप-बन्धन		९७
निर्जरा तप की व्याख्या ।	९,	९-१०,	पाप का आसेवन कर्ता ही		
दुष्कर तप की आवश्यकता ।	९,	१४,	संसार में भटकता है ।	१८ १२,	
लब्धियों के दुरुपयोग को			१९-उन्नीसवाँ अध्ययनः आर्य-कर्म		९९
रोक; सदुपयोग की			अनाथों को छोड़कर		
आवश्यकता ।	९,	१७,	आर्यकर्म करने के लिये		
सम्यक्त्वयुक्त आत्मा का ध्यान			आरियायण महर्षि का उपदेश ।	१९ १५,	
द्वारा शुद्ध होना ।	९,	२५,	२०-बीसवाँ अध्ययनः पंच उत्कल=चोर		१०१
सर्वज्ञ निरूपित			पंच उत्कलोंका लक्षण व भेद ।	२० १५,	
धर्म का अनुभव करने			२१-इक्कीसवाँ अध्ययनः अज्ञान विनाश		
वाले आत्मा की धन्यता ।	९,	३३,	जहाँ अज्ञान है वहाँ अन्धकार है;		
१०-दशम अध्ययनः नारी द्वारा उद्बोधन		५६	अन्धकार स्वयं एक विपत्ति है ।	२१ १,	
तेतलिपुत्र की जीवन कहानी ।	१०,	१,	ज्ञान द्वारा सब कुछ साध्य है ।	२१ १०,	
११-एकादश अध्ययनः अध्यात्म-मार्ग		६३	२२-बाइसवाँ अध्ययनः नारी और प्रतिष्ठा		
अध्यात्म-मार्ग का			सुसंस्कृत नारी से प्रतिष्ठा की प्राप्ति		
चिकित्सक ही वासनादि-व्याधियों			और असंस्कृत नारी द्वारा कुलनाश ।	२२ ६८,	
का नाश कर सकता है ।	११,	१-६,	साधना में ध्यान का स्थान ।	२२ १०-१४,	
१२-द्वादश अध्ययनः भिक्षाचरी		६७	२३-तेवीसवाँ अध्ययनः मृत्यु-दर्शन		१०७
गोचरी के लिए गए मुनि का			मृत्यु के दो प्रकार ।	२३ १,	
वर्तन कैसा होना आवश्यक है ।	१२,	१-३,	२४-चौबीसवाँ अध्ययनः अनासक्ति योग		१२३
१३-त्रयोदश अध्ययनः सर्वोदय देशना		७०	संसार में आसक्ति ही		
भयात्री अर्द्धतर्षि की हजारों वर्षों के			दुःखदात्री है और अना-		
पूर्व की सर्वोदय वाणी ।	१३,	१,	सक्ति हि शाश्वत स्थान		
१४-चतुर्दश अध्ययनः विचार-शुद्धि		७०	देने वाली है ।	२४ १-४,	
अशुद्ध विचार-प्रेरित			मोह क्षय से कर्म-सन्तति का क्षय ।	२४ २६-३७,	
शुद्ध किया भी अशुद्ध			२५-पच्चीसवाँ अध्ययनः वासना-क्षय		१४१
होती है ।	१४,		वासना के क्षय से ही		
१५-पंचदश अध्ययनः भौतिक सुख		७८	साधक मुक्त होता है ।	२५ १-१५,	
भौतिक सुख दुःखानुबंधी है ।	१५,	१,	२६-छबीसवाँ अध्ययनः धर्म-दर्शन		१४५
दुःख, बुढ़ापा, शोक, मानापमान			धर्म का मर्म, जो जिसकी वृत्ति है		
आदि जन्मपरम्परा के साथ ही समाप्त			उसीमें उसको सफलता प्राप्त होती है ।	२६ १-५,	
होते हैं, अतः उन का समूल नाश			प्राप्त्य के लक्षण और कर्तव्य ।	२६ ६-१५,	
ही आवश्यक है ।	१५,	१२-२७,			

अ.	गा.	पृष्ठ	अ.	गा.	पृष्ठ
२७-सत्ताहसर्वाँ अध्ययनः चरित्र संपत्ति		१६०	३७-सैंतीसवाँ अध्ययनः विश्व-व्यवस्था		२३७
साधु की संपत्ति उसका चरित्र है,			विश्व स्थिति का वर्णन ।	३७	१
निःसङ्गता ही उसकी मुक्ति का द्वार है ।	२७	१-४	३८-अड़तीसवाँ अध्ययनः आत्यंतिक सुख		२४१
साधुजीवन की मर्यादा ।	२७	५-७	आत्यंतिक सुख और दुःख का विवेचन ।	३८	१-१०
२८-अट्ठाइसवाँ अध्ययनः वासना-विजय		१६५	दान्त आत्मा के लिये आश्रम और		
साधु को वासना को रोक			अर्पण समान हैं ।	३८	११
कर निःस्पृह होना चाहिए ।	२८	१-२२	दाम्भिक आचरण गढ़ी है	३७	२७
उच्च-नीच-भाष भावनाओं			३९-उत्तचालीसवाँ अध्ययनः निष्पाप		२५९
पर आधारित है ।	२८	२३-२४	निष्पाप व्यक्ति को		
२९-उन्तीसवाँ अध्ययनः झोत-निरोध		१७४	देवता भी प्रणाम करते हैं ।	३९	१
झोतों का निरोध शक्य है ।	२९	१	४०-चालीसवाँ अध्ययनः-इच्छा-परित्याग		२६२
३०-तीसवाँ अध्ययनः कर्म फल-भोग		१८०	साधक को निरिच्छ मनने का उपदेश ।	४०	१-५
इस लोकमें किए कर्मों का			४१-एकचालीसवाँ अध्ययनः तपसमाधि		२६५
परलोक में उपभोग ।	३०	१-८	तप का उद्देश्य, उसकी साधना		
३१-एकतीसवाँ अध्ययनः लोक-स्वरूप		१८५	करने वाला तपोवन को जाता है ।	४०	१०-१७
लोक के प्रकार, लोक का अर्थ,			४२-बयालीसवाँ अध्ययनः-पुरुष का उद्बोधक		
और उसकी गति ।	३१	१०	पुरुषार्थ		२७३
३२-बैंसीसवाँ अध्ययनः दया-निर्झर		१९२	साधक को प्रयत्नशील		
प्राणिमात्र पर दया करके ही			होना अवश्य है ।	४२	१
ब्राह्मण आदि चार वर्ण सिद्ध-			४३-सैंतालीसवाँ अध्ययनः साम्ययोग		२७४
पद् प्राप्त कर सकते हैं ।	३२	१-४	लाभ-भलाभ में सम-स्थिति रखने वाला ही		
३३-तैंतीसवाँ अध्ययनः प्रज्ञा और प्रतिभा		१९७	महामानवता को प्राप्त करता है ।	४३	१
पंडित की पहिचान और उनके कर्तव्य ।	३३	१-१७	४४-चैवालीसवाँ अध्ययनः राग-मुक्ति		२७५
३४-चौतीसवाँ अध्ययनः परीषद्-अर्थ		२०६	साधक को राग-द्वेष से मुक्त ।		
पंडित को परीषद् और उपसर्गों को			होना आवश्यक है	४४	१
सहन करना चाहिए ।	३४	१-६	४५-पैंतालीसवाँ अध्ययनः अलिप्तता		२७६
३५-पैंतीसवाँ अध्ययनः आस्तिकता निरूपण		२१४	पापी जीवन गढ़ी है, अत एव		
अज्ञानमुग्ध आत्मा की			उससे साधक को अलिप्त रहना चाहिए ।	४५	१
दृष्टि वर्तमान तक सीमित होती है			साधक को सर्वज्ञ का शासन		
संयम को चुराने वाले पंचेन्द्रियादि			प्राप्त कर आत्म-ज्ञान की		
घोरों से सावधान रहनेका उपदेश ।	३५	१८-२३	विकसित करना चाहिए ।	४५	३४
३६-छत्तीसवाँ अध्ययनः कषाय विजय			परिशिष्ट नं. १		२९७
क्रोध की परिणति, ।	३६	१-१७ २२८	" " २		२९९

इति विषयानुक्रमसूचि संपूर्ण

इसि—भासियाइं

प्रथम अध्याय

प्रवेश

बहती हुई सरिता का जल तटवर्ती वृक्षों की जड़ों को तरी देता है ऐसे ही साध्व-श्रवण हमारे सद्गुणों को तरी देता है । सत्य श्रवण विकास की प्रथम सीढ़ी है । जीवन का श्रेय क्या है और प्रेय क्या है, यह हम सुनकर ही जान सकते हैं । प्रत्येक बुद्ध जैसे विशिष्ट आत्माओं को छोड़ दें पर सर्व साधारण के लिये यही नियम होगा । सुनना कुछ है पर सब कुछ नहीं । वह पहिली सीढ़ी अवश्य है पर उसके आगे की सीढ़ियों को पार किये बिना मंजिल पा नहीं सकते । श्रवण के बाद उसका आचरण होना आवश्यक है । श्रवण बीज है तो सदाचरण पलवित वृक्ष है । बीज को खाद और पानी मिले फिर भी वह विकसित न हो उसपर एक भी फल न आवे तो भ्रम और समय का अपव्यय ही माना जायगा ।

श्रोतव्य नामक प्रथम अध्याय में श्रवण को आवश्यक बताया गया है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अन्नदा परिग्रह विरति रूप व्रताचरण उसके मधुर फल बताये गये हैं । यहाँ चतुर्थ और पंचम महाव्रत को इसलिये साथ लिया गया है कि इसके प्रणेता अर्हर्षि नारद हैं और वे प्रभु नेमिनाथ के युग के हैं । आदि अन्तिम तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष २२ तीर्थंकरों के शासन में चतुर्थीय धर्म की देशना है ।

देवनारद अर्हर्षिपदिष्ट श्रोतव्य अध्याय की प्रथम दो गाथाएँ—

सोयव्वमेव वदति सोयश्वमेव पचदति ।

जेण समयं जीवे सव्वदुक्खाण मुच्चति ॥ १ ॥

तम्हा सोयव्वातो परं णत्थि सोयं ति ।

देवनारदेण अरहता इसिणा वुइयं ॥ २ ॥

मूलार्थः—श्रवण करना चाहिये । श्रवण करना ही चाहिये । ऐसा (जिनेश्वर) देव कहते हैं । जिसके द्वारा आत्मा स्वमत का ज्ञाता बन कर सभी दुःखों से मुक्त होता है । अतः श्रवण करने से बढ़कर दूसरा कोई शौच (पवित्र) नहीं है । इस प्रकार देव नारद अर्हर्षि कहते हैं ।

गुजराती भाषान्तरः—

श्रवणु करवुं जोधये, श्रवणु करवुंज जोधये, आपुं एनेश्वर देवो कहे छे जेना वडे आत्मा स्वमतनो ज्ञाता थधने थधा दुःखोनुं अन्त धावे छे. माटे श्रवणु करवा (सांख्यवा) श्री मोटी पीछ छोई पवित्रता नथी, आपी रीते देव नारद अर्हर्षि कहे छे.

जीवन के लिये श्रेय क्या है और प्रेय क्या है यह हम सत्य श्रवण के द्वारा ही जान सकते हैं । सुनने के बाद ही स्वपर का भेद विज्ञान पा सकते हैं । भगवान् महावीर की निर्वाण भूमिका श्रवण को बताते हैंः—

श्रवण से ज्ञान विज्ञान प्रत्याख्यान संयम तप व्यवदान अक्रियावस्था और पश्चात् निर्वाण । ये हैं निर्वाण की क्रमिक सीढ़ियाँ । आत्मा श्रवण के द्वारा ही श्रेय और प्रेय को पहचानता है । फिर उसमें किसी एक पथ को अपनाने के लिये स्वतंत्र है^१ ।

श्रवण के द्वारा आत्मा सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करता है और पश्चात् दुःख से मुक्ति पाता है, अतः श्रवण से बढ़कर दूसरी कोई पवित्रता नहीं है ।

टीकाकार बोलते हैंः—“सोयव्वंति श्रोतव्यं शिक्षितव्यं एव वदति श्रोतव्यं एव प्रवदति येन समयं यत् आदाय मुच्यते लोकः सर्वदुःखेभ्यः । तस्माच्छ्रोतव्यात् परं न किञ्चिदस्ति श्रोतव्यं । सोयंति शोचमिति पुस्तकानां पाठः धृष्टलेखकानां भ्रम इति न आद्रियते ।”

अर्थात् चुनना चाहिये, क्यों कि श्रवण से स्वमत को ग्रहण करके लोक (आत्मा) समस्त दुःखों से मुक्त होता है। अतः सत्य श्रवण से बढ़कर दूसरा कोई श्रोतव्य नहीं है। अन्य प्रतियों में जो “सोम” पाठ मिलता है जिसका अर्थ होता है शौचम् (पवित्रता)। यह पाठ वृद्धलेखकों के भ्रम के कारण आगया है, अतः वह हमें मान्य नहीं है।

टीकाकार को सोम पाठ मान्य नहीं है। क्यों कि श्रोतव्य अध्ययन है। अतः सत्य श्रवण से बढ़कर कोई श्रोतव्य नहीं मानते हैं। जर्मन के प्रोफेसर शुत्रिंग प्रथम अध्याय पर टिप्पणी देते हुए लिखते हैं:—

“थोड़ा बहुत जो सीखने लायक है उस और आग्रहपूर्वक ध्यान खींचने के लिए इस प्रकरण को पहले रखा गया है। ‘सोयन्’ और सोयं में ध्वनि साम्य है पर यह साम्यता विशेष महत्त्व नहीं रखती है। क्योंकि यहां श्रोतव्य को प्रमुखता दी गई है। अतः यह पाठ इस प्रकार होना चाहिये ‘तम्हा सोयतो परं नत्थि सोयन्’। वर्तमान पाठ में परंपरागत भूल दिखाई पड़ती है।”

पर देवर्षि नारद की प्राचीन कहानी “सोय” पाठ की पुष्टि करती है, वह इस प्रकार है:—एक बार प्रभु महावीर विचरण करते हुए सोरिथ पुर पधारे। उनके दो शिष्य धर्म धोष और धर्म यश अशोक वृक्ष के नीचे ठहरे थे।

पर वहां वे एक आश्चर्य देखते हैं। सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर चला, किन्तु छाया न बदली; तब वे एक दूसरे से कहने लगे यह तुम्हारी लब्धि है। बाद में एक शौच के लिये जाता है। तब भी छाया न बदली। दूसरा गया तब भी न बदली, तो देखा यह तो किसी तीसरे की लब्धि है। दोनों प्रभु निकट आते हैं और इसका रहस्य पूछते हैं। प्रभु बोले—इसी शौर्यपुर में एक बार समुद्रविजय राजा थे। उनके शासन में एक यज्ञदत्त तापस रहता था। सोमयज्ञ उसकी पत्नी थी। उनका पुत्र था नारद। वे उच्छृंखलिते निर्वाह करते थे। एक दिन खाते और एक दिन उपवास करते थे। एकवार पूर्वाह्न में अशोक वृक्ष के नीचे शिष्य नारद को सुलाकर खेत में कन चुन रहे थे। इधर वैश्रमणकायिक तीर्थंकर जंभुक देव वैताक्य से निकल कर उसके पास से गुजरते हैं। तभी वृक्ष के नीचे सोम बालक को देखते हैं। अवधिज्ञान से जाना यह तो हमारे देवनिकाय से च्यवित हुआ है। पूर्व जेह के कारण एवं बालक की अनुकंपा के कारण वे देवगण छाया को स्थिर कर देते हैं। जब बालक बड़ा होता है, देवगण उसे विद्या पढ़ाते हैं। पश्चात् नारद कांचन कुंडिका और मणि पादुका के साथ आकाश में घूमने लगे। एक बार वे द्वारिका में गये। वहां वासुदेव श्रीकृष्ण ने पूछा शौच क्या है? पर नारद उत्तर न दे सके। अतः इधर उधर की भाँते करके उठ गये और पूर्व विदेह में पहुँचे। वहां सिमंधर तीर्थंकर को युगबाहु वासुदेव पूछता है प्रभो शौच क्या है? तीर्थंकरदेव बोले सत्य ही शौच है। युग बाहु एकही वचन में सब कुछ समझ गये। नारद भी वह सुनकर अपरविदेह में गये। वहां युगंधर तीर्थंकर को महाबाहु वासुदेव वही प्रश्न कर रहे थे। प्रभु ने भी वही उत्तर दिया। महाबाहु भी सब कुछ समझ गये। नारद यह सब कुछ सुनकर द्वारिका में गये और वासुदेव से बोले—तुमने उस दिन कौनसा प्रश्न किया था? वासुदेव बोले शौच क्या है? नारद बोले—सत्य ही शौच है। वासुदेव बोले—सत्य क्या है? नारद इस प्रश्न का उत्तर न दे सके, अतः कुछ चिन्तित हो गये। तब कृष्ण वासुदेव बोले—जहाँ पहला प्रश्न पूछा था उसके साथ यह भी पूछना था। तब नारद बोले—हां वीर, सचमुच मैंने नहीं पूछा। पश्चात् अग्नि चिन्तन में प्रवृत्त होते हैं और जाति स्मरण पाकर संबुद्ध होते हैं। पश्चात् श्रोतव्य नामक प्रथम अध्याय का प्रवचन देते हैं।

इस प्रकार अध्ययन की भूमिका में शौच को स्थान है और उसके आरंभ में श्रोतव्य की।

श्रवण के बाद आचरण आवश्यक है। अतः अर्हतापि आचार के प्रथम अंग अहिंसाव्रत का निरूपण करते हैं।

पाणातिपातं तिविहं तिविद्वेणं जेव कुज्जा ण कारये।

पढमं सोयन्व लक्षणं ॥ ३ ॥

अर्थ:—त्रिकरण और त्रियोग से हिंसा न स्वतः करना और न अन्य से करवाना यह प्रथम श्रोतव्य लक्षण है।

गुजराती भाषांतर:—

त्रशु करशु अने त्रशु योग द्वारा पोते हिंसा न करवी अने जीव भासे पाशु न करायवी आ सांख्यवानुं पडेहुं वक्षसु छे.

विशेषः—जिस ध्वज से मनुष्य के अन्तर्मन में दया का झरना न बह उठे अंतर की घनीभूत करुणा का स्रोत फूट न पड़े ऐसा ध्वज करना जीवन में सही उत्क्रांति नहीं ला सकता । ध्वज का पावन मनन है और मनन का सम्बन्ध अहिंसा है^१ ।

प्राणातिपात का निषेध कर यहाँ अहिंसा का निषेधार्थक रूप लिया है । क्योंकि विभावा को इतना ही ध्वज की ओर पहला कदम है । मूर्तिकार मूर्ति निर्माण के लिये छिनी और इयौड़ी के द्वारा अनिष्ट अंश को दूर करता है वह अनिष्ट अंश दूर होते ही मध्यमूर्ति आँखों के सामने होगी । अतः विभाव दशा को दूर करना साधक का पहला कदम है । हिंसा समस्त विभावस्थायों में निकृष्टतम है । इसी लिये उसका त्रिकरण^२ और त्रियोग^३ से प्रत्यास्थान किया जाता है ।

टीकाकार भी बोलते हैंः—प्राणातिपातं त्रिविधं त्रिविधेन कायवाक्यनोभिरेव चरणकरणत्रिकाभ्यां इति चेन्नैव कुर्यान्न कारयेदिति करणत्रिकस्य प्रथमा द्वितीयांगयोरुक्तत्वात् ।”

अर्थात् त्रिविध का अर्थ मन वचन काया से लिया गया है पर करण से मतलब चरण करण नहीं लिया गया है । यहाँ न करना न करवाना और न करते हुवे को अनुमोदन देना ही प्राप्ति है ।

मूसावादं त्रिविहं त्रिविहेण णेव ब्रूया ण भासए ।

यितियं सोयध्वलक्खणं ॥ ४ ॥

अर्थः—त्रिकरण त्रियोग से (साधक) मिथ्याभाषा न स्वयं बोले, न अन्य से बुलवाये अथवा न मिथ्या उपदेश ही दे । यह दूसरा श्रोतव्य लक्षण है ।

गुजराती भाषान्तरः—

त्रय करणु अने त्रय योगो द्वारा मुनि मिथ्या भाषा पोते न ओले अने भीज पासेथी पणु न ओलवावे अने न मिथ्या उपदेश आपे ओ सांभणवानु भीजुं लक्षणु छे.

आगम श्रवण के लिये सत्यभाषी होना भी आवश्यक है । मिथ्याभाषी व्यक्ति संतों की आत्मा को परख नहीं सकता न उनके बोल की कीमत ही कर सकता है ।

अदत्तादानं त्रिविहं त्रिविहेण णेव कुज्जा ण कारवे ।

ततियं सोयध्वलक्खणं ॥ ५ ॥

अर्थः—साधक त्रिकरण त्रियोग से अदत्तादान का ग्रहण न स्वयं करे, न अन्य से करावे । यह तीसरा श्रोतव्य लक्षण है ।

गुजराती भाषान्तरः—

साधु पणु त्रय करणु अने त्रय योगो द्वारा अदत्तादान पोते पणु अहणु न करे व भीज पासे अहणु न करावे. आ त्रीजुं श्रोतव्य लक्षणु छे.

सत्य के शोधक को लोभ वृत्ति से दूर रहना होगा । क्यों कि चोरी की वृत्ति व्यक्ति को विनाश के पथ पर ले जाती है ।

अव्यभपरिग्रहं त्रिविहं त्रिविहेण णेव कुज्जा ण कारवे ।

चउत्थं सोयध्वलक्खणं ॥ ६ ॥

अर्थः—अवग्रह (काम) और परिग्रह से साधक त्रिकरण त्रियोग से दूर रहे और अन्य व्यक्ति को उसके लिये प्रेरणा भी न दे । यह चौथा श्रोतव्य लक्षण है ।

गुजराती भाषान्तरः—

अवग्रह ओटले वासना अने परिग्रहथी साधु त्रय करणु अने त्रियोगथी अवग्रह रहे अने भीजने पणु ओना प्रेरणा न दे आ योशुं श्रोतव्य लक्षणु छे.

समत्व और वासना ये दोनोंही भावबन्धन हैं मुक्ति की ओर कदम बढ़ाने वाले साधक को चाहिये इन सूक्ष्म बंधनों से मुक्त हो ।

^१ एवं सु णाणिणोसारं जे ण हिंसइ किंचण ।” भगवान् महावीर
^२ मन, वचन और काया ये त्रियोग हैं ।

^३ करना, करवाना और अनुमोदन करना ये त्रिकरण कहलाते हैं ।

चतुर्थ और पंचम व्रत का एक ही पद में निरूपण भ. नेमि की परंपरा को व्यक्त करता है। क्योंकि प्रथम और चरम तीर्थंकर के अतिरिक्त शेष २२ तीर्थंकरों के शासन में चतुर्थीय धर्म है। उसमें ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के लिये एक ही शब्द आता है वह है “सव्वाओ बहिद्धाणाओ वेरमैणं।”

ये चारों (पाँचों) अव्रत माने जाते हैं। साधक को व्रत की सूर्यादा में आने के लिये इनका प्रत्याख्यान आवश्यक है। यह प्रत्याख्यान तीन रूप से होता है। मन वाणी और कर्म (काया) से अशुभ प्रवृत्ति न स्वयं करना न अन्य से करवाना न उसका अनुमोदन ही करना। कोई भी कार्य संकल्प के रूप में पहले मन में जन्म लेता है फिर वाणी उसे अभिव्यक्ति देती है और देह उसे आचरण में लाकर मूर्त रूप देता है। त्याग का भी वही क्रम है। त्याग पहले मन में आना चाहिये, क्योंकि अंतर्मनसे, उस पदार्थ के प्रति से आसक्ति हट जाना ही त्याग की भूमि है। फिर वह वाणी और देह में आना चाहिये। पर आज प्रत्याख्यान के संवन्ध में उल्टी गंगा बह रही है। आज त्याग को सब से पहिले तन में प्रथम दिया जाता है। तन को पहले बांध दिया जाता है। वचन और मन खुले रहते हैं। यदि मन से उस वस्तु के प्रति आकर्षण समाप्त नहीं होता है तो साधक की स्थिति खुंटे से बंधे उस पशु-सी होती है जो हरी घास देखकर मुंह डालना चाहता है किन्तु खुंटे की रस्सी उसे ऐसा करने से रोकती है।

हां, तो खुंटे से बंधकर किसी वस्तु का त्याग पशु का हो सकता है, मानव का नहीं। ऐसी रस्सी तन की पवित्रता को सुरक्षित रख सकती है, पर मन की पवित्रता को नहीं। केवल तन का बन्धन सही अर्थों में आत्मविकास के लिये पूर्णतः सहायक नहीं हो सकता। तनका बंधन जितना एक कैदी को होता है उतना मुनि भी स्वीकार नहीं करता।

तन को तो नारकभूमि में तेलीय सागर तक बांधकर रखा, सागर के सागर भीत गये तन को जल की एक बूंद न मिली न अन्न का एक दाना ही मिला। वहां तन का त्याग अवश्य था किन्तु मन ने कब त्याग था? वह तो प्रतिक्षण हजारों गेलन पानी पी रहा था। लाखों टन अनाज एक ही घास में उतार रहा था। पर वह कठोर त्याग भव-परंपरा को कम करने में काम न आ सका।

अतः त्याग का आरंभ मन से होना चाहिये फिर वह तन में उतरे। मन से त्यागी हुई वस्तु फिर सहसा क्षीघ्र अंगीकृत नहीं की जा सकती। ऐसे तो आगम में त्याग के अनेक प्रकार हैं उसमें “एगविहं तिविहेणं, दुविहं तिविहेणं” के रूप में प्रत्याख्यान होते हैं। जिनमें केवल काया अर्थात् देह और वाणीसे कृत कारित और अनुमोदित का प्रत्याख्यान होता है। किन्तु वहां भी साधक के मन में उस वस्तु के प्रति अनासक्ति भाव रहता है। फिर भी असावधानी से मन उसमें प्रवृत्त हो जाए, अतः वह केवल कायिक और वाचिक प्रतिज्ञा लेता है। पर सम्पूर्ण प्रत्याख्यान तो “तिविहं तिविहेणं” से ही होता है।

ये व्रत एकदेशिक नहीं सार्वदेशिक हों। अर्हतर्षि उसी सार्वदेशिक विरति के लिये बोलते हैं—

सर्वं च सर्वहिं चेव सव्यकालं च सव्यहा।

निम्ममत्तं विमुत्तिं च विरतिं चेव सेवसे ॥ ७ ॥

अर्थः—साधक समस्त विधियों के साथ सभी प्रकार से सर्वदा सम्पूर्ण निम्ममत्त्व विमुक्ति और विरति का सेवन करे।

गुजराती भाषान्तरः—

मुनि समस्त विधियों साथे अन्ना प्रकारे सर्वदा सम्पूर्ण निम्ममत्त्व विमुक्ति अने विरतिनुं सेवन करे।

जिस साधक ने हिंसादि अशुद्ध वृत्तियों का परित्याग कर दिया है। जिसके मन वाणी और कर्म की त्रिवेणी में अहिंसा की पुनीत गंगा बह रही है वह साधक भ्रमत्व के सम्पूर्ण प्रकारों का त्याग कर देता है। चाहे वह ममत्त्व देहाभ्यास को लेकर आया हो या परिवार, संप्रदाय या प्रान्तमोह के रूप में आया हो साधक उसके रूप को पहचाने और उसी क्षण उससे दूर हट जाए। क्योंकि मोह ही प्रगाढ़ बंधन है। साधक बंधन को पहचाने और उसकी लोदशूलला को तोड़ कर दूर हो जाए।

सव्यतो विरते दंते सव्यतो परिनिव्वुडे।

सव्यतो विप्पमुक्कप्पा सव्यत्थेसु समं करे ॥ ८ ॥

१ राय पसेणीय सुत्त कैशीकुमार भ्रमण का आवरित में प्रवचन। २ जो आयु वर्षों में नहीं गिनी जा सकती ऐसी विशाल आयु का परिमाण दर्शक जैन पारिभाषिक शब्द। ३ नेह पासा अर्थकर। उत्तरा, अ. २३. ४ बुद्धिजति तिबद्धिजा बंधन पर-जाणिया। कि माह बंधन बीरो किवा जाणं तिउद्ध १' सुत्त अ. १, गा. १.

अर्थः—साधक सर्वथा विरक्त दमनशील और परि निर्वृत (शान्त) है। अतः वह सर्वथा बाह्याभ्यन्तर संयोगों से विप्रमुक्त (पृथक्) होकर समस्त अर्थों (पदार्थों) के प्रति सम (विकारात्मक भावों से रहित) होकर चले।

गुजराती भाषान्तरः—

साधु सर्वथा विरक्त અને દમનશીલ અને પરિનિર્વૃત-શાન્ત છે. માટે તે સર્વથા પ્રકારે બાહ્યાભ્યન્તર સંયોગોનું ત્યાગ કરીને બધા અર્થો (પદાર્થો) ને પ્રતિ સમ (વિકારાત્મક બાવોથી રહિત થઈને) વિચરે.

મોહबंधनों से ऊपर उठा साधक ही इन्द्रियों का दमन कर सकता है। इन्द्रियोंपर जिसका शासन है वही यथार्थ में शान्त है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधक बाह्याभ्यन्तर उपाधियों से मुक्त हो पदार्थ मात्र के प्रति समभाव का साधक हो सकता है।

दमन का अर्थ मारना नहीं; साधना है। घोड़े को राह पर चढ़ाने के लिये उसे मारने की नहीं, साधने की आवश्यकता है। इन्द्रियों को मारना क्या? मरी तो वे अनंतवार हैं पर उन्हें साधा नहीं गया। अशुभ से मोड़ कर शुभ में ले जाना ही उनको साधना है। ऐसा साधक इच्छित और अनिच्छित सभी स्थितियों में सम रह सकता है। प्रशंसा के फूल उसके मन में गुदगुदी पैदा नहीं करते और निन्दा के शूल चुमन पैदा नहीं कर सकते।

सर्वं सोयव्वमादाय अउयं उवहाणवं।

सव्वदुक्खपहीणे उ सिद्धे भवति पीरप ॥ ९ ॥

अर्थः—समस्त श्रोतव्य को ग्रहण करके साधक प्रशंसनीय उपधानवान बनता है, पश्चात् समस्त दुःखों से मुक्त होकर निरञ्ज हो (कर्म रज से मुक्त हो) सिद्ध होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

બધા શ્રોતવ્યોને ગ્રહણ કરીને તે સાધુ પ્રશંસનીય ઉપધાનવાન થાય છે. અને પછી તે બધાં દુઃખોથી મુક્ત થઈને નિરંજ (કર્મ રજથી રહિત થઈને) સિદ્ધ થાય છે.

जो सुना उसे ग्रहण किया तभी साधक प्रशंसनीय तपस्वी कहलाता है। सुना उसे जीवन में न उतारा तो वह केवल भार होगा। भार में बहपन भले हो पर उसमें आनंद नहीं मिल सकता। बोल चन्दन का हो या बबूल का वह मन को ऊँचाता है; आनंद नहीं दे सकता। “गंधा चंदन का भारवाहक मात्र है। उसको सौरभ का आनंद उसके भान्य में कहाँ? ठीक वैसे चरित्र से हीन ज्ञानी भारवाहक मात्र है।” बात कटु है, पर सत्य अवश्य है। विचारक ने ठीक ही कहा है दो व्यक्ति व्यर्थ ही धर्म करते हैं—एक जो पैसा एकत्रित करता है, पर उसका उपयोग नहीं करता। दूसरा वह जो अध्ययन करता है, पर उसे जीवन में नहीं उतारता। जो सुना उसे ग्रहण करके ही साधक प्रशंसनीय उपधानवान होता है। दुःख से मुक्त हो सिद्ध स्थिति को प्राप्त करता है।

टि. उपधान एक तप है। “अउयं” को कोई “अउयं” मानते हैं। असुत संख्या वाचक है। जो कि यहाँ अभिप्रेत नहीं है। टीकाकार उसको आर्थ मानकर उसका अर्थ आत्मानं करते हैं।

टीकाः—आर्थं सि आत्मानं इति मन्थामहे. उपधानम् तपस् तत् सेवमान उपधानवान् भवति।

अर्थात् आर्थ का अर्थ आत्मा को इस प्रकार दम मानते हैं। उपधान एक तप है, उसके सेवनकर्ता उपधानवान् होते हैं।

उपधान और उपधानवान् की व्याख्या करते हुए कहते हैंः—

सर्वं चेषोपसेवन्ति दत्तं चेषोपसेवन्ति वंभं चेषोपसेवन्ति।

सर्वं चेषोवधानं दत्तं चेषोवधानं वंभं चेषोवधानं ॥ १० ॥

अर्थः—साधक सत्य की उपासना करता है। दत्त का सेवन करता है, और ब्रह्मचर्य की उपासना करता है। सत्य ही उपधान है। दत्त ही उपधान है और ब्रह्मचर्य ही उपधान है।

गुजराती भाषान्तरः—

સાધક સત્યની ઉપાસના કરે છે. દત્તનું સેવન કરે છે અને બ્રહ્મચર્યની ઉપાસના કરે છે. સત્ય જ ઉપધાન છે. દત્ત જ ઉપધાન છે અને બ્રહ્મચર્ય જ ઉપધાન છે.

१ अउयं । २ जहा सरो चंदनभारवा ही भारस्सवाही णडु चंदनस्स । एवं खु णणी चरणेण हीणे भारस्स दाही ण डु सोमईय ।

पिछले पद्य में बताया गया है कि साधक उपधानवान् होता है तो प्रश्न होता है उपधान क्या है ? क्या अमुक प्रकार के विशेष क्रियाकौशल उपधान हैं ? या कोई विशिष्ट तप उपधान है ? उसका उत्तर यहाँ दिया गया है । साधक सत्य की उपासना करता है । दत्त अर्थात् अन्यद्वारा दी गई वस्तु को ही ग्रहण करता है और ब्रह्मचर्य की साधना करता है । सत्य में अहिंसा का समावेश है और ब्रह्मचर्य में अपरिग्रह अन्तर्भूत है । सत्य दत्त और ब्रह्मचर्य ही उपधान है । सत्य तो भगवान् हैं । अस्तेय भी महान् व्रत है और ब्रह्मचर्य तो श्रेष्ठतम तप है^१ । सत्य का साधक ही दत्त और ब्रह्मचर्य की उपसेवना कर सकता है । क्योंकि स्तेनवृत्ति और दाराना स्वयं असत्य हैं ।

महाव्रतों का आराधक ही भवपरंपरा को समाप्त कर सकता है । इसी तथ्य को व्यक्त कर रहे हैं:—

एवं से सिप बुद्धे विरते विपावे दंते द्रविद्धे अलं ।

ताई णो पुणरपि इच्चत्थं हव्यमागच्छइ ॥ ११ ॥

अर्थ:—इस प्रकार वह साधक बुद्ध विरत निष्पाप दान्त—समर्थ त्यागी अथवा त्रायीरक्षक बनता है और वह पुनः इस लौकिक वृत्ति के लिये संसार में नहीं आता है ।

गुजराती भाषान्तर:—

ये प्रमाणे ते साधक बुद्ध, विरत, निष्पात, दान्त, समर्थ त्यागी अथवा त्रायी रक्षक अने छे. अने ते इरीथी आ संसारमां लौकिक वृत्तिभाटे आवतो नथी.

सत्य दत्त (अचौर्य) और ब्रह्मचर्य का प्रती प्रबुद्ध है । भोगों से विरत होता है । निष्पाप और दमनशील होता है । शान्त दान्त साधक ही आत्म रक्षा में समर्थ हो सकता है । वह भव परंपरा के चक्र में पुनः फँसता नहीं है ।

टि. द्रविण का अर्थ द्रव्य अर्थात् साधक है । क्योंकि भावों का वही आश्रय है । हव्यः इस पार (यह संसार) आगम में पाठ “णो हव्वाए णो पारए” आता है जिसका अर्थ है न इस ओर न उस ओर । अलं-समर्थ । आगम में प्रश्न आता है केवली को “अलमत्थु” कह सकते हैं ? वहाँ अलं शब्द समर्थ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

टीकाकार भी बोलते हैं:—एवं सबुद्धो विरतो विगतपापो दान्तो द्रव्योऽलं ति समर्थस्त्यागी त्रायी वा न पुनरपि “इच्चत्थं” ति इत्थर्थं लौकिकवृत्त्यर्थं इच्चत्थं ति वा अत्र भावितं समागच्छति समागमिष्यति त्रयीमीति सर्वेष्वप्यध्ययने मुक्तमालापकं प्रथम एव लेखितमलमिति नारदाध्ययनम् ।

अर्थात् इस प्रकार वह बुद्ध विरत विगत पाप दान्त द्रव्य साधक अलं-समर्थ त्यागी अथवा त्रायी रक्षक पुनः इस लौकिक वृत्ति के लिये अथवा इस संसार में नहीं आता है । इस प्रकार मैं (अर्हत्तर्पि नारद) बोलता हूँ । यह आलापक समस्त अध्ययनों के अन्त में प्रयुक्त होता है । इसी लिये इसको सर्व प्रथम दिया गया है ।

^१प्रोफेसर शुब्रिंग इच्चत्थं के स्थान पर इत्थत्थं पाठ शुद्ध मानते हैं । दशवैकालिक अ. ५ उ. ४ गा. ७ में इत्थत्थं पाठ आता है ।

इति प्रथम नारदाध्ययनम् ॥

१ ते सच्चं भावे—प्रश्न व्याकरण ।

२ तथेसु वा उत्तम बंधचेरं—वीरस्तुत सबकृतंग ।

३ आइ मरणाओ मुच्चइ इत्थत्थं चयइ सखसो ।

× इसिभासियं जर्नेन संस्करण पू. ५५२ ।

द्वितीय अध्याय

आत्मा दुःख से बचना चाहता है पर दुःख के कारणों से नहीं बचता। अतः वह नहीं चाहते हुए भी पुनः उसी ओर जा पहुँचता है। दो वृत्तियाँ हैं - एक है श्रान की, दूसरी शेर की। श्रान परवर मारनेवाले को नहीं, परवर को काटता है जब कि शेर गोली खाकर गोली पर नहीं, गोली मारनेवाले पर झपटता है। वस ये दोही वृत्तियाँ सर्वत्र काम कर रही हैं। एक अज्ञानी की वृत्ति है, वह दुःख के निमित्तों पर आक्रोश करता है, जब कि ज्ञानी दुःख के मूल पर प्रहार करता है। इसी तथ्य को द्वितीय अध्याय से वज्रिय पुत्र अर्हताधि मामिक रूप में व्यक्त करते हैं :-

जस्स भीता पलायंति जीवा कम्माणुगामिणो ।
तमेवादाय गच्छंति किञ्चा दिग्वा व वाहिणी ॥ १ ॥
वज्रियपुत्तेण अरहता इसीण बुद्धं ।

अर्थः—कर्मानुगामी आत्मा जिस दुःख से भीत होकर पलायन करता है किन्तु अज्ञान वश पुनः उसी (दुःख) को ग्रहण करते हैं। जैसे कि युद्ध से भगती हुई सेना पुनः शत्रु के घेरे में फँस जाती है वज्रिय पुत्र अर्हताधि ऐसा बोले -

गुजराती भाषान्तरः—

कर्मानुगामी आत्मा के दुःखभी आने आगी लय छे, परंतु अज्ञानने वश थयेका तेने (दुःख) गच्छु करे छे, के प्रभासे युद्धभी आगती सेना इरीथी शत्रुना घेराभां इसाई लय छे, वज्रिय पुत्र अर्हताधि आम बोल्या.

जन साधारण दुःख से बचना चाहता है किन्तु दुःख के कारणों का परित्याग नहीं करता। वह भूप से बचना चाहता है, किन्तु सूर्य का मोह भी उससे छूटता नहीं है। जब तक कारण उपस्थित है तब तक कार्य परंपरा चालू रहेगी। अनादि से भटका हुआ आत्मा कार्य नहीं, चाहता पर कारण छोड़ता नहीं है। परिणाम यह होता है कि घूम फिर कर वह पुनः दुःख के सामने ही पहुँच जाता है। जैसे कि शत्रुद्वारा विदीर्ण सेना युद्ध से भाग खड़ी होती है। किन्तु कभी कभी ऐसा होता है कि जिससे भागना चाहती उसी शत्रु सेना के चंगुल में पुनः फँस जाती है। तर्कशास्त्र में इसे कहा जाता है आयातं षटकुल्यां प्रभातः। एक व्यापारी द्रव्य अर्जित कर पुनः स्वदेश लौट रहा था। वह द्रव्य का कर चुकाना नहीं चाहता था। अतः उसने राजमार्ग छोड़ दिया और सारी रात इधर उधर घूमता रहा। प्रातः हुआ और घर की सीधी राह ली, किन्तु ज्योंही आगे बढ़ा वहीं नाका मिल गया। जिससे बचने के लिये सारी रात जंगल की खाक छानता रहा, प्रातः वहीं आ पहुँचा। ऐसे ही आत्मा जिस दुःख से बचने के लिये भागता है उसीके सम्मुख जा पहुँचता है।

टीकाकार बोलते हैंः—यस्मात् पापकृत्यात् पापकर्मणो भीताः पलायन्ते कीर्णं वाहिणी-सेना, तमेवादाय जीवाः कर्मानुगामिनो भवन्तीत्यस्य लोकस्य द्वितीयचतुर्थपादयोरपरिहार्यो विनिमयः।"

जिस पाप कृत्य से भीत आत्मा पलायन करती है किन्तु छिन्न भिन्न सेना की भाँति उसी को ग्रहण करके आत्मा कर्मानुगामी होते हैं। इस श्लोक के दूसरे और चतुर्थ पाद का अपरिहार्य विनिमय है।

दुःख और उसके कारणों की विस्तृत व्याख्या अर्हताधि दे रहे हैं :-

दुष्खा परिवित्तसंति पाणां मरणा जन्मभया य सच्चसत्ता ।
तस्सोद्यत्तमं गवेसमाणा अप्पे आरंभभीरुण ण सत्ते ॥ २ ॥

अर्थः—प्राणी दुःख से परिग्रसित हैं। मौत और जिन्दगी के भय से समस्त आत्माएँ प्रकंपित हैं। वे दुःख के उपशमन की खोज में हैं (पर उसके कारण भूत) आरंभ से अल्प भी नहीं डरते।

गुजराती भाषान्तरः—

प्राणीमात्र दुःखभी त्रासी गयेका छे, मौत अने जिन्दगीना लयथी समस्त आत्माओं त्रासेका (कर्मायमान थयेका) छे, ते दुःखना निवारणुनी शोधभां छे, (परंतु तेना कारणभूत) आरंभभी अरापणु डरता नथी.

प्रस्तुत गाथा में अर्हताधि जीवन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे हैं वे हैं दुःख और उसके कारणों की खोज। समस्त आत्माएँ दुःख की उपशान्ति खोज रही हैं। अनंत युग बीते उसका लक्ष्य है अशान्ति से हटकर शान्ति की

ओर जाना किन्तु लगता है, उसने नागरबेल की जगह मूल से नागफनी का पान खा लिया है। इसीलिये दुःख की परम्परा मौजूद है। उसका पुरुषार्थ पानी विलोडन मात्र रहा है। इसका कारण है वह दुःख के बाहरी कारणों से बचता है, किन्तु उसके उपादान से विपदा रहता है। अशान्ति का मूल है आरंभ; सुख के लिये वह आरंभ करता है, किन्तु आरंभ ही अशान्ति की जड़ है। वह फल से घृणा करता है जब कि फूल से प्यार करता है।

कर्मवाद का प्रतिपादन करते हुए बोलते हैं:—

गच्छन्ति कर्म्मोहिं सेऽणुवद्धे पुनरपि आयाति से सयं कहेणं ।

जम्ममरणाइ अद्धो पुनरपि आयाइ से सक्कम्म सित्ते ॥ ३ ॥

अर्थ:—आत्मा स्वकृत कर्मों से अनुबद्ध होकर (परलोक) गमन करता है। अपने ही कर्मों के द्वारा पुनः इस संसार में आता है। इस प्रकार वह आते आत्मा स्वकर्म से सिक सिंचित जन्म और मृत्यु की परंपरा में आता है। (फंसेता है)

गुजराती भाषान्तर:—

आत्मा पोते ऊरेदा ऊर्मोथी अंधाधने (परलोकमां) लय छे. पोताना ज ऊर्मोद्वारा इरी पाछे ते आ संसारमां आवे छे. अे प्रभाले ते आर्त आत्मा पोताना ऊर्मने क्षीधे जन्म अने मृत्युती परंपरामां आवी लय छे. (इसाध लय छे.)

जन्म-मृत्यु की परंपरा का मूल क्या है और इसका उत्तरदायित्व किस पर है इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया गया है। जन्म और मृत्यु के लिये तू स्वयं उत्तरदायी है। तेरे शुभ और अशुभ कर्म ही जन्म और मृत्यु के बीज हैं। कर्म का अनुबन्ध भव परंपरा में परिभ्रमण कराता है। नरक और स्वर्ग का निर्माता तू स्वयं है।

आत्मा की अशुभवृत्तियों भावकर्म हैं, वे ही द्रव्य कर्म को एकत्रित करती हैं। सूर्य स्वयं अपनी किरणों द्वारा बादलों का निर्माण करता है और स्वयं ही किरणों द्वारा उन्हें द्रवित कर स्वयं उनसे मुक्त होता है। कर्मवाद का सिद्धान्त हमारी बहिर्दृष्टि को मोड़कर अन्तर की ओर लाता है। अपनी स्थिति के लिये तू स्वयं उत्तरदायी है। इंग्लिश का विचारक बोलता है:—

It is our own past which has made us what we are. We are the children of our deeds.

आज हम जो कुछ हैं—हमारे अतीत ने हमको बनाया है। हम अपने कार्यों के बालक हैं।

कर्मवाद मानव को अन्तरभिमुख बनाता है। जो कुछ बनता और बिगड़ता है उसके लिये उत्तरदायी मैं स्वयं हूँ। फिर दूसरे पर रोष और दोष क्यों? पेन्सिल छीलते अपने ही हाथों चाकू ने पेन्सिल के साथ अंगुली छिल डाली तो दूसरों से लड़ने मिट्टने की कोई मूर्खता न करेगा। कर्मवाद बोलता है, विपत्ति को एक दिन तूने ही निमंत्रण दिया था। आज वह आई है, तो उससे भागने की और आक्रोश की कोई आवश्यकता नहीं है। तेरे अशुभ का उदय है। उसे कोई रोक नहीं सकता। विपत्ति के लिये किसी को दोष न दे। संपत्ति के लिये किसी से भीख न मांग। तेरे शुभ का उदय होगा तो बिना मँगि मिलके रहेगी। कर्मवाद कहता है मानव सब कुछ तेरे हाथ है। दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है ॥

१ भगवती सूत्र में इस प्रश्न की चर्चा है। प्र. सयं भन्ते! नेरइया नेरइयेसु उव्वज्जन्ति असयं भन्ते नेरइया नेरइयेसु उव्वज्जन्ति ?

उ. गांगेय! सयं नेरइया नेरइयेसु उव्वज्जन्ति नो असयं नेरइया नेरइयेसु उव्वज्जन्ति । प्र. से केण द्ढेण भन्ते एवं उच्चई जाव उव्वज्जन्ति । उ. कम्मोदपणे, कम्म गुरुत्तयाणं कम्मभारियत्तयाणं, कम्म गुरुत्तंभारियत्तयाणं, असुभाणं कम्मणं उदयेणं, असुभाणं कम्मणं विवागेणं, असुभाणं कम्मणं फल विवागेणं सयं नेरइया जाव उव्वज्जन्ति नो असयं नेरइया नेरइयेसु जाव उव्वज्जन्ति से तेण द्ढेण गांगेया ! जाव उव्वज्जन्ति । भगवती सूत्र श. ९-३२ सू. ३७७.

गांगेय अणगार प्रश्न करते हैं:—प्रभो नारक जीव नरक में स्वयं उत्पन्न होते हैं या दूसरा उन्हें वहाँ उत्पन्न कराता है? प्रभु ने उत्तर दिया गांगेय नारक स्वयं ही नरक में उत्पन्न होते हैं। दूसरा उन्हें कोई वहाँ उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रतिप्रश्न करते हुए गांगेय अणगार बोले—प्रभो! आप किस अपेक्षा विशेष से ऐसा फरमारहे हैं? उत्तर—कर्म के उदय से, कर्म से भारी होनेके कारण, अशुभ कर्म के विषाकोदय और फलोदय से आत्मा नरक में उत्पन्न होता है। अतः ऐसा कड़ा जाता है कि नरक स्वयं ही नरक में उत्पन्न होता है।

भगवती श. ९. ३२ सू. ३७७.

आत्मा के परिभ्रमण के मूल हेतु कर्म हैं। यह स्वीकार लेनेके बाद कर्मवादियों के सामने दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है—कर्म पहले या आत्मा? यदि आत्मा पहले था तो उस कर्मरहित आत्मा ने कर्म क्यों ग्रहण किये? और यदि कर्म पहले थे तो वृक्ष पड़े कर्म आत्मा से क्यों और कैसे विपक गये? इसी प्रश्न का समाधान निम्न दो गाथाओं में दिया गया है—

बीजा अंकुरणिष्फली अंकुरातो पुणो बीजं ।

बीज संवृज्जमाणांमि अंकुरस्सेव संपदा ॥ ४ ॥

बीजभूतानि कम्माणि संसारमि अणादिण् ।

मोहमोहितचित्तस्स ततो कम्माण संतति ॥ ५ ॥

अर्थः—बीज से अंकुर फूटता है, और अंकुरों में से बीज निकलते हैं। बीजों के संयोग से अंकुरों की संपत्ति बढ़ती है। अनादि संसार में कर्म बीजवत् हैं। मोह-मोहित चित्तवाले के लिये उन बीजों से कर्मसंतति आगे बढ़ती है।

गुजराती भाषान्तरः—

बीजभांथी अंकुर फूटे छे अने अंकुरभांथी बीज नीकणे छे. बीजेनां संयोगथी अंकुरोनी संपत्ति वधे छे. अनादि संसारभां कर्म बीज सभात छे. मोहथी मोहित थाय तेवा चित्तवाणा भाटे ते बीजेथी कर्म संतति आगण वधे छे.

बीज में विराट वृक्ष समाया हुआ है। अनुकूल वातावरण पाकर बीज एक दिन विशाल वृक्ष बनता है जो कि अपने में हजारों नये बीज छिपाये रहता है। वज्रियुक्त अर्हतर्षिने कर्म को भी नन्हें बीजों से उपमित किया है। अल्प रूप में आये हुए कर्म भी अपने में अनंत संसार लिये आते हैं। भाव-कर्म से द्रव्य कर्म के दलित एकत्रित होते हैं और द्रव्य कर्म पुनः भाव कर्मों को स्पंदित करते हैं। आत्मा के राग द्वेषात्मक स्पंदन शब्दकर्म है और कर्माग-वर्णन के पुद्गल रत्न कर्म हैं। भाव कर्म से प्रेरित हो आत्मा द्रव्य कर्म को अपनी ओर आकर्षित करता है। वे ही कर्म जब विपाक रूप में उदय में आते हैं तो किसी निमित्त का आश्रय लेकर ही आते हैं। अज्ञानी आत्मा उस निमित्त को ही सब कुछ मानकर उसी पर अपना रोष ठेलता है। इसलिये वह उदयगत कर्मों को क्षय कर करने के साथ राग द्वेष की परिणति के द्वारा अनंत अनंत कर्मों को उसी क्षण बांध भी लेता है। यही है बीज और वृक्ष की कार्यकारण परंपरा और उसकी उपमा का रहस्य। इसी कार्य-कारण परंपरा से बंधकर आत्मा और कर्म दोनों विरोद्धस्वभावी होनेपर भी अनादि के सह-यात्री हैं।

कर्म-विमुक्ति के लिये साधक क्या करे यही बता रहे हैं—

मूलसेके फलुप्पत्ती मूलघाते हतं फलं ।

फलत्थी सिंचते मूलं फलघाती न सिंचति ॥ ६ ॥

अर्थः—जड़ का सिंचन करने पर फल पैदा होगा और मूल के नष्ट हो जाने पर फल स्वतः नष्ट हो जाएगा। फलार्थी जड़ को सींचता है, फल न खाहने वाला मूल का सींचन नहीं करता।

गुजराती भाषान्तरः—

જડનું સિંચન કરવાથી ફળ ઉત્પન્ન થશે અને મૂળના નાશથી ફળ તરતજ નાશ પામશે. ફલાર્થી જડનો સિંચન કરે છે. ફળ ન ચાહનારા મૂળનું સિંચન કરતા નથી.

वासना की विष-वेल के सुख और दुःख से दो फल हैं। यदि जड़ को सींचन मिलता गया तो फल फूटते रहेंगे। फल को नष्ट करना है तो उसकी जड़ को समाप्त करना होगा।

मोहमूलमनिव्धाणं संसारे सध्वदेहिणं ।

मोहमूलाणि दुक्खाणि मोहमूलं च जग्गणं ॥ ७ ॥

अर्थः—संसार के समस्त प्राणियों के अनिर्वाण-अशान्ति और परिभ्रमण का मूल मोह है। समस्त दुःखों की जड़ में मोह काम कर रहा है और जन्म का मूल भी मोह ही है।

गुजराती भाषान्तरः—

સંસારના સમસ્ત પ્રાણીઓના અનિર્વાણ-અશાન્તિ અને પરિભ્રમણનું મૂળ મોહ છે. સમસ્ત દુઃખોનાં જડમાં (મૂળમાં) મોહ કામ કરી રહ્યો છે અને જન્મનું મૂળ પણ મોહ જ છે.

आत्मा-ज्ञान चेतनामय है। कोई भी पदार्थ उसके सामने आते हैं तो वह देखता भी है। देखना कोई बन्ध का कारण भी नहीं है। क्योंकि ज्ञाता और दृष्टा रूप आत्मा का अपना स्वभाव है। आत्मा न देखेगा तो क्या पत्थर देखेगा? ज्ञान-चेतना पाप की हेतु नहीं हुआ करती। पाप हेतुक तो है राग चेतना। किसी उद्यान में गये महकते फूल देखे यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु देखने के साथ बोल पड़े कितने अच्छे हैं। “अच्छे हैं” कहने के साथ ही राग चेतना आगई। मन बोल पड़ा—“अच्छे हैं तो लेलो।” यही राग चेतना वासना में परिणत हो गई। किन्तु सोचा माली आजाए तो पैसे देकर लेलें, यहाँ तक वासना नीति की सीमा रेखा में है, किन्तु देखा माली न जाने कब आये और क्यों पैसे खर्च किये जाएं, ऐसे ही ले लिये जाएं। यहाँ वासना नीति की सीमा लांघ गई। मन में वासना बुझी; हाथ आगे बढ़े और कुछ फूल लेकर चला आइये थे कि मन बोल पड़ा बोले पुन के लिये भी ले चलें। यहाँ वासना लोभ में रंग गई। तभी माली ने हाथ पकड़ा और चोरी के अपराध में पकड़ा गया। यही दुःख है। जहाँ मोह है वहाँ दुःख अवश्यंभावी है।

दुःख के मूल की खोज कर उसे ही समाप्त करना होगा :—

दुःखमूलं च संसारे अण्णाणेण समज्जितं ।

मिगारिज्ज सरूपपत्ती हण कम्मणि मूलतो ॥ ८ ॥

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंसे दयिण अलंताती ।

णो पुणरपि इच्छत्थं हव्यमागच्छति-सि बेसि ॥ ९ ॥

इह विद्वं वज्जियपुत्तज्झयणं ॥

अर्थ :—इस दुःख मूलक संसार में (आत्मा) अज्ञान के द्वारा बन्धा हुआ है। जैसे सिंह बाण के उत्पत्ति स्थल को देखता है ऐसे-तुं दुःखोत्पत्ति के कारणभूत कर्मों के समूल नष्ट कर। ऐसा सिद्धबुद्ध आत्मा संसार में पुनः नहीं आता।

गुजराती भाषान्तरः—

आ दुःखी संसारमां (आत्मा) अज्ञानने दीधि डूबेको छे। जेवी रीते सिंह बाणुनु उत्पत्ति स्थान न्यूजे छे तेज प्रभाणु तुं कर्मों, के जे दुःखो उत्पत्ति करवामां अरक्षुभूत छे तेनो संपूर्ण नाश कर। सिद्धबुद्ध आत्मा संसारमां क्रीथी आवतो नथी।

संसार दुःखमूलक है तो फिर आत्मा इसमें क्यों पड़ा हुआ है? और दुःखनाश का उपाय क्या है इन दो विषयों की चर्चा इस गाथा में की गई है।

कड़वे नीम के पत्ते भी विषप्रस्त मानव को भीटे लगते हैं। आत्मा को दुनिया के दुःखभरे तत्त्वों में सुख का आभास होता है। यदि गाय की आंखों पर हरा चश्मा लगा दिया जाय तो उसे सूखी घास भी हरी दिखाई देगी। यही तो अज्ञान है और दुःख में सुख की अभिनिवेशात्मक बुद्धि ही संसार-संस्तिति का मूल हेतु है। इसी पाश में बंधकर आत्मा संसार का मोह छोड़ नहीं सकता। साधक कुत्ते की नहीं, सिंह की वृत्ति अपनाए। कुत्ता पत्थर को काटने दौड़ता है किन्तु सिंह पर बाण छोड़ा गया तो वह बाण के उद्गम स्थल को ही अपने वार का लक्ष्य बनाता है। इसी प्रकार साधक दुःख को नष्ट करने के लिये दुःख के मूलहेतु कर्म को ही समूल नष्ट करदे। ऐसे तो आत्मा कर्मों को प्रतिक्षण नष्ट कर रहा है, किन्तु वह उसकी जड़ को समाप्त नहीं करता। कर्म-बन्ध के मूल हेतु राग और द्वेष को समाप्त कर के ही आत्मा कर्म और उसके फल दुःख को समाप्त कर सकता है।

॥ इति द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

तृतीय अध्याय.

आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है फिर वह कभी निम्न और कभी तिर्यग् गति क्यों करता है? इस प्रश्न का समाधान ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र में किया गया है। तृ वे का स्वभाव है जल में तैरना किन्तु उसे धारों से बांध कर और मिट्टी के आठ लेप लगा कर पानी में डाला जाए तो वह नीचे बैठेगा। आत्मा भी लेप से आवेष्टित है। इसी लिये तो निम्न और तिर्यग् गति करता है, लेप क्या है और आत्मा लेप से उपरत कैसे हो सकता है प्रस्तुत अध्याय में इसी की चर्चा है।

भविष्यं खलु भो सन्वलेषोवरत्तेण लेषोवलित्ता खलु भो जीवा अपेगजम्मजोणीभयावत्तं अणा-दीयं अणवद्गं दीहमद्धं चातुरंतं संसारसागरं वातीकंता सिंघमत्तुलमयलमव्यावाहमपुणभयमपुण-रावत्तं सासत्तं ठाणमभ्युपगता चिद्धंति ।”

अर्थ :- (सुमुख आत्मा को) समस्त लेपों से उपरत होना चाहिये। लेपोपलित आत्माएं अनेक जन्म-मोनियों से भयावृत अनादि अनवदप्र सुदीर्घकाल भावी चातुरन्त संसार सागर को पार करके शिव अचल अतुल अव्याबाध पुनर्भव और पुनरागमन से रहित शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लेती हैं।

(सुमुख आत्माने) अधा आवरणोष्ठी दूर रहेतुं नोद्ये. अनावरण आत्माओं अनेक जन्मोष्ठी लयावृत अनादि अनवदप्र, सुदीर्घ-कालभावी चातुरन्त सागरने पार उत्तरीने शिव, अचल, अतुल, अव्याबाध पुनर्भव अने पुनरागमनशी रहित शाश्वत स्थानने (मोक्ष) प्राप्त करी ले छे.

देवल अर्हत्तर्षि साधक को लेपोपरत होने की प्रेरणा दे रहे हैं। साथ ही लेपोपलित आत्मा की शुद्ध स्थिति भी बताई गई है (जो कि विचारणीय है।) आत्मा की विभाव परिणति उसका भाव लेप है और उसके द्वारा आकर्षित कर्म द्रव्य-लेप है। दोनों लेपों से उपरत आत्मा स्वभाव में उपस्थित हो सकती है। प्रारंभ के छः विशेषण संसार की भयानकता व्यक्त करते हैं। जो कि औपपातिक सूत्र में वर्णित संसार स्वभाव के चित्रण से मिलते जुलते हैं। अन्तिम सात विशेषण स्वभाव में स्थित आत्मा के हैं। ठाणं शब्द ऐसे तो सिद्ध शिला के लिये प्रयुक्त होता है, किन्तु ये समस्त विशेषण सिद्ध शिला के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि सिद्धशिलागत जीवों में पुनर्भव भी है और पुनरावृत्ति भी है। किन्तु सिद्धात्मा में इसका अभाव है। अतः स्थूल रूप में ये विशेषण सिद्धस्थान को लागू हों, किन्तु वस्तुतः ये सिद्ध प्रभु के ही विशेषण हैं।

शक्रस्तव में भी यह विशेषणावली मिलती है। किन्तु प्रस्तुत पाठ में अपुणभव विशेषण विशेष है। वहाँ 'अद्य' पाठ है, जिसका अर्थ है अरुज रोगाभाव जब कि यहाँ अतुल शब्द है जो कि अतुलित के अर्थ में है। अर्थात् अवश्य विशेषण शक्रस्तव में विशेष हैं।

कुछ क्लिष्ट विशेषण के अर्थ इस प्रकार हैं :-

अणवद्गं-अनवदप्र-अनंत, छोररहित।

अव्याबाध-व्याबाधा रहित.

अपुनर्भव-जहाँ जाने के बाद भवपरंपरा समाप्त हो जाती है।

टीकाकार बोलते हैं :-लेपः कर्म कथापो वा, भवितव्यं खलु सर्वलेपोपरत्तेन। लेपोपलितः खलु भो जीवाः अनवदप्र दीर्घाध्वानं चातुरंतं संसारसागरं अनुपरिवर्तन्ते इत्यादि अनेकशब्दा लुप्ताः।

“लेपोपरतास्तु संसारं व्यतिक्रान्ता जीवा सिंघेत्यादि विशिष्टं स्थानं अभ्युपगतास्तिष्ठन्ति ।”

अर्थात् संसार के कुछ विशेषण लुप्त हो चुके हैं। शेष का अर्थ ऊपर आ चुका है।

टिप्पणी:-प्रो. शुब्रिंग लिखते हैं :-“किसी भी प्रकार का अपराध (लेप) आत्मापर धब्बा लगाता है। अतः उससे दूर रहना चाहिये। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु आगे बताया गया है, दागलगा हुआ आत्मा (लेपोपलित) दुनिया को जीतता है। यह विरोधाभास है।” वास्तव में ये समस्त विशेषण लेप से उपरत आत्मा को लागू होते हैं। टीकाकार ने भी इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है। अतः लेषोवलित्ता के स्थान पर लेषोवरता पाठ होना चाहिये। अथवा नवम अध्याय की भौति बताना चाहिये था कि लेपोपलित आत्मा अनादि अनंत संसार में परिभ्रमण करता है और लेपोपरत आत्मा संसार का अन्त करता है।

लेपोपरत साधक का जीवन चित्र देते हुए आह्तिर्वि बोलते हैं :—

से भवति सव्वकामविरत्ते, सव्वसंगातीते सव्वसिणेहत्तिकेते सव्ववीरियनिव्वुडे सव्वकोहोवरत्ते सव्वमाणोवरत्ते । सव्वमायोवरत्ते, सव्वलोभोवरत्ते, सव्वचासादाणोवरत्ते, सुसव्वसंबुडे, सुसव्व-सव्वोवरत्ते, सुसव्वसव्वोवरत्ते, सुसव्वसव्वोवसंते, सुसव्वपरिवुडे, णो कत्थइ सँज्जति तम्हा सव्वलेखोवरप भविस्सामि त्ति कट्ठु असिणं वधिलेणं अरहता इसिणा बुद्धं :—

अर्थ :—लेपोपरत आत्मा समस्त वासनाओं से विरक्त होता है । सर्व संग तथा सर्व जेह से विरक्त होता है । साथ ही वह समस्त (अशुभ) शक्ति से निवृत्त हो कोष मान माया और लोभ के समस्त प्रकारों से दूर रहता है । समस्त वासा दान-वस्त्रग्रहण से उपरत हो श्रेष्ठ रूप में समी (सावक प्रवृत्तियों) से संवृत्त हो श्रेष्ठ रूप में समी (वागनाओं से, सर्वोपरत हो) समी स्थानों में (अन्तर और बाह्य के) समी रूपों में (श्रेष्ठ) उपशान्त होता है । साथ ही वह सभी प्रकार से परित्त व्याप्त हो (समी के बीच रहता है) । फिर भी कहीं पर भी वह आसक्त नहीं होता । अतः मैं सभी लेखों से उपरत होऊँगा । इस प्रकार अस्ति दखिल अर्हत्तर्वि बोले :—

कर्मरूप दोषधी रहित आत्मा समस्त वासनाओंधी विरक्त होय छे । सर्व संग तथा सर्व जेहधी विरक्त होय छे । साथे साथे ते समस्त (अशुभ) शक्तिधी निवृत्त थछिने, कोष, मान, माया अने दोषना समस्त प्रकारोधी दूर रहे छे । समस्त वासा दान-वस्त्रग्रहणी अलग रहिने श्रेष्ठ रूपमां अधी (सावक प्रवृत्तियों) धी संवृत्त थछिने श्रेष्ठ रूपमां अधी (वासनाओंधी) दूर रहिने अधे स्थणे (अन्तर अने बाह्यना) अधा रूपोमां उत्तम होय छे, साथे साथे ते अधी प्रवृत्तियोंधी व्याप्त होवा छतां (अधानी वच्चे रहे छे), पणु ते अ्याय पणु आसज्जि पामतो नथी, तेधी छु सर्व आवरणोधी दूर रहिथे । (उपरत थछिथे) आ प्रमाणे अस्ति दखिल अर्हत्तर्वि बोल्या :—

लेपोपरत आत्मा की स्थिति इसमें बताई गई है । वह वासना और उसके निमित्त समी से पृथक् हो जाता है । इन्द्रियों और मन की समस्त प्रवृत्तियों को आश्रय से मोक्ष कर उनका संवरण करता है । साथ ही वह जड और चैतन्य के सभी संग का त्याग कर निस्संग होता है । क्योंकि निस्संगता का अपर पर्याय मुक्ति है^१ । निःसंग आत्मा फिर भले प्रासाद में रहे या उपवन में रहे, परिवार से वेष्टित रहे या अकेला विचरण करे । वह कहीं पर भी आसक्त नहीं होता । क्यों कि उसकी आत्मा उपशान्त है ।

टि. वासादाणः—वास के निवास अथवा वस्त्र दोनों ही अर्थ हैं । अपेक्षा भेद से दोनों ही स्वीकृत हो सकते हैं ।

वास—निवास स्थान के आदान से उपरत हो जाता अर्थात् उसे रहने के लिये प्रासादों की आवश्यकता नहीं है । अथवा वास-वस्त्र के आदान की उसे आवश्यकता नहीं रहती । वह स्थविर कल्प से जिनकल्प को ग्रहण करता है । अतः उसे वस्त्र लेने की भी आवश्यकता नहीं है ।

लेप क्या है ? उसे बताते हुये बोलते हैं :—

सुहुमेय बायरे वा पाणे जो तु विहिंसइ ।

रागदोसामिभूतप्पा लिप्पते पावकम्मणा ॥ १ ॥

अर्थ :—राग द्वेष से अभिभूत आत्मा सूक्ष्म या स्थूल किसी प्रकार की हिंसा करता है वह पाप कर्म से लिप्त होता है ।

राग-द्वेषधी लपटायेद्यो आत्मा सूक्ष्म छे स्थूल-कोई पणु प्रकारनी हिंसा करे छे ते पाप कर्मधी लिप्त होय छे ।

प्रस्तुत गाथा में कुछ प्रश्नों का समाधान दिया गया है । लेप क्या है और उसमें आत्मा लिप्त कैसे होता है । जब तक राग और द्वेष की परिणति है तब तक हिंसा रहेगी ही । इस से एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त निकल आता है । राग ही हिंसा का अनुबन्धक है । क्योंकि राग के हट जाने के बाद हिंसा कब बन्ध नहीं होता । इसी लिये १० वें गुणस्थान से ऊपर

१. सव्ववीरिय परिनिव्वुडे, २ रज्जति, ३ निस्संगता मुक्तिपदं यतीनां संग्रहशेषाः प्रभवन्ति दोषाः । आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽथः संगेन योगी किमुतास्पसिद्धिः ॥ ४ अर्थमागधीकोष पृ. ३८२ शतावधानी रत्नचन्द्रजीम.

केवल ऐर्ष्याधिक क्रिया है। तत्त्वार्थसूत्रकार प्रमत्त योग को ही हिंसा बताते हैं^१। प्रमत्त योग के दृढ़ते ही राग की बन्धक शक्ति समाप्त हो जाती है।

दूसरा लेप बताते हैं :—

परिग्रहं निष्कृते जो उ अण्यं वा जति वा बहु ।

मेही मुच्छायदोसेण लिप्यते पावकम्मुणा ॥ २ ॥

अर्थ:—जो साधक, अल्प या बहुत परिग्रह ग्रहण करता है, वह गृहस्थों में ममत्वशील होता है? वही दोष उसे पापकर्मों में लिप्त करता है।

वे साधक अल्प या बहुत परिग्रह ग्रहण करते हैं, वे गृहस्थयोगी ममता पशु करते हैं, वे व दोष (ममता) होने पापकर्मों में लिप्यते हैं।

आत्मा को कर्म से लिप्त करनेवाली दूसरी वृत्ति परिग्रह है। पदार्थ के प्रति ममत्व ही परिग्रह है। पदार्थों के प्रति की आसक्ति उसे गृहस्थों के परिचय के लिये प्रेरित करती है। वह उन्हें ममत्व के पाश में बांध कर उनसे धन संग्रह करता है। मैं और मेरापन ही सब से बड़ा पाप है।

कोहो जो उ उदीरेह अण्णो वा परस्स वा ।

सं निमित्तानुबन्धेण लिप्यते पावकम्मणा ॥ ३ ॥

एवं जाव मिच्छादंसणसल्लेण ।

अन्वयार्थ :—जो अपने या दूसरे के (सुख) क्रोध को पुनः जगाता है, उस निमित्त के अनुबन्ध से आत्मा पाप कर्म से लिप्त होता है।

ऐसे ही मिथ्यादर्शनशक्त्य तक जो पापकर्म हैं वे आत्मा के लिये लेपवत् हैं।

वे पीताना अथवा पीतना (सुख) क्रोधने इरीषी जगाने हैं, वे आत्मा से निमित्तवादी अनुबन्ध ने पाप कर्मों में लिप्त थाव हैं वे व प्रमाणों थावत् मिथ्या दर्शन शक्त्य सुधी वे पापकर्मों हैं वे आत्मा माटे लेपवत् (आवश्यक समान) हैं।

अतः कषाय पर संपूर्ण विजय प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक कभी कभी क्रोध का उदय हो आना सहज है। आग लगाने पर फायर त्रिगेड याद आता है, ऐसे क्रोध की ज्वाला सुलगने पर क्षमा के साधकों को स्थिति पथ में लाये और उनके शान्त जीवन के शीतल कणों से क्रोध को उपशान्त करें। यह है क्रोधोपशमन की विधि किन्तु कषाय शील आत्मा कभी कभी इससे विपरीत आचरण करता है। वह क्रोध पैदा करनेवाली भूली बातों को फिरसे स्मरण करता है और सुप्त क्रोध को जाग्रत करता है। दूसरे को वैर याद दिलाकर उसके दिल की सोई आग को जगा देता है। इस प्रक्रिया से आत्मा अहर्निश कषाय में जल ही रहती है।

उदीर्णा जैन पारिभाषिक शब्द है। जो कर्म देर से उदय में आने वाले हों उन्हें विशेष प्रक्रियाद्वारा शीघ्र उदय में ले आना उदीर्णा कहलाता है। ऐसे ही उपशमित क्रोध को फिर से जाग्रत करना भी उदीर्णा है।

जिन प्रवृत्तियों से आत्मा अशुभ का बन्ध करता है। वे पाप प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं। उनकी संख्या अठारह है। जिनमें तीन यहाँ बता चुके हैं। शेष के नाम इस प्रकार हैं :—असत्य, स्नेह, मैथुन, परिग्रह, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति, अरति, माया-सृष्टि, मिथ्यादर्शन। ये सभी आत्मा के लिये लेप रूप हैं।

पाणातिवातो लेवोलेवो अलियवयणं अदत्तं च ।

मेहुणगमणं लेवो लेवो परिग्रहं च ॥ ४ ॥

अर्थ:—प्राणातिपात, लेप है असत्य, चोरी, कामवासना और परिग्रह भी लेप हैं।

प्राणातिपात लेप (अंधन है), असत्य, चोरी, कामवासना अने परिग्रह पशु (अंधन) लेप हैं।

કોહો બહુવિહો લેવો, માળો ય બહુવિધવિધીઓ ।

માયા ય બહુવિધા લેવો, લોભો યા બહુવિધવિધીઓ ॥ ૫ ॥

અર્થ:—ક્રોધ કે અનેક રૂપ હૈં વે સવ લેપ હૈં । માન કે સી અનેક રૂપ હૈં । માયા ઓર લોભ કે અનેક પ્રકાર હૈં । વે સમસ્ત લેપ રૂપ હૈં ।

હોધના અનેક રૂપો છે તે બધા બંધનકર્તા છે. માન (અભિમાન) ના પણ અનેક રૂપો છે. માયા અને લોભના પણ અનેક રૂપો છે. તે બધા બંધનકર્તા છે.

ક્રોધ અનેક રૂપ મેં આતા હૈં । કર્મો સ્થાન કે લિયે કર્મી જાનાંબિક દિતોં કી રક્ષા કે લિયે મી ક્રોધ આ જાતા હૈં । इसी प्रकार अहं भी बहुविध है । वह करी समाज सेवा के रूप में तो करी त्याग विराग के रूप में आता है । इस प्रकार माया और लोभ विश्व विविध रूपों में आते हैं । उनका असली रूप समझना कठिन है । कषाय किसी भी रूप में किसी भी वेष में आवे आत्मपतन का ही कारण बनता है ।

તમ્હા તે સં વિકિંચિતા, પાવકમ્મવહ્નં ।

ઉત્તમદુઃખરગ્ગાહી, ચિરિચક્ષાપ પરિવ્વપ ॥ ૬ ॥

અર્થ:—સાધક કે આત્મવિકાસ કે લિયે ત્રીન ચાર્તોં કા નિર્દેશ કિયા ગયા હૈં । જીવન કી ઝંચાઈયોં પર પહુંચને કે લિયે સાધક તુરી વૃત્તિઓં કો છોડકર અચ્છાઈયાં કા પ્રાદક બને ઓર પુરુષાર્થી બન કર ધૂમે ।

સાધકના આત્મવિકાસ માટે ત્રણ વાતોનો નિર્દેશ કરવામાં આવ્યો છે. જીવનની શ્રેષ્ઠતા પ્રાપ્ત કરવા માટે, સાધક ખરાબ વૃત્તિઓને છોડીને બહાઈનો ચાલક બને અને પુરુષાર્થી બનીને ફરે.

સીરે દૂસિં જધા પપ્પ, વિનાસમુવગચ્છતિ ।

एवं रागो य दोसो य, बंधचेरविणासणा ॥ ७ ॥

અર્થ:—રાગ દ્વેષ કી સમાપ્તિ કે લિયે ઋષિને સુન્દર રૂપક દિયા હૈં । જૈસે છાછ મેં ગિરકર દૂધ નષ્ટ હો જાતા હૈ, વૈસે હી રાગ દ્વેષ કે મેલ મેં બ્રહ્મચર્ય કા તેજ મી સમાપ્ત હો જાતા હૈ ।

રાગદ્વેષની સમાપ્તિ માટે ઋષિએ સુન્દર રૂપક આપ્યું છે. જેવી રીતે છાશમાં પડવાથી દૂધ નાશ પામે છે, તેવી જ રીતે રાગદ્વેષમાં (મેલમાં) બળવાથી બ્રહ્મચર્યનું તેજ પણ નાશ પામે છે.

टीकाकार भी कहते हैं :—

क्षीरे यथा दुष्टिं प्राप्य विनाश उपगच्छति,

एवं रागश्च द्वेषश्च ब्रह्मचर्यविनाशनौ ।

અર્થ:—જૈસે છાંછ દૂધ કો નષ્ટ કર લેતી હૈ, વૈસે હી રાગ દ્વેષ બ્રહ્મચર્ય કો નષ્ટ કરતે હૈં ।

જેવી રીતે છાશ દૂધનો નાશ કરે છે, તે જ પ્રમાણે રાગદ્વેષ બ્રહ્મચર્યનો નાશ કરે છે.

जहा क्षीरं पघाणं तु, मुच्छन्ना जायते दधि ।

एवं मोहिष्यदोषेण, पापकर्मं प्रवहति ॥ ८ ॥

અર્થ:—જૈસે શ્રેષ્ઠ દૂધ મી લહી કે સંસર્ગ સે દુઃખત્વ સ્પર્શ કો છોડકર લહી બન જાતા હૈ, વૈસે ગુહ્યોં કે સંસર્ગ દોષ સે મુનિ મી પાપકર્મ મેં લિપ્ત હો જાતે હૈં ।

જેવી રીતે શ્રેષ્ઠ દૂધ પણ દહીંના સાન્નિધ્યમાં દૂધના તત્વો છોડી દહીંને દહીં બની જાય છે, તેવી જ રીતે મહસ્થોના સંસર્ગ-દોષથી મુનિ પણ પાપકર્મમાં લિપ્ત થઈ જાય છે.

टीकाकार भी कहते हैं :—

यथा तु प्रधानं विशिष्टं क्षीरं मूर्च्छनया दधि जायते,

एवं मृद्धिदोषेण पापकर्मं प्रवर्धते ॥

અર્થ:—જૈસે વિશિષ્ટ દૂધ મૂર્છના સે લહી બન જાતા હૈ, વૈસે હી મૂર્છિભાવ સે પાપ કર્મ વધતા હૈ ।

જેવી રીતે વિશિષ્ટ દૂધ મેળવવાથી દહીં બની જાય છે, તેવી જ રીતે મૂર્છિભાવથી પાપ કર્મો વધે છે.

रण्णे द्वाग्निणा दह्वा, रोहंते वणपादवा ।

कोहग्निणा तु दह्वाणं, दुग्गलाणं ण णिवत्तई ॥ ९ ॥

अर्थ :—वन में दावाग्नि से दग्ध वन-वृक्ष फिर से ऊग आते हैं । इस प्रकार क्रोध की आग से दग्ध आत्मा के दुःख के अंकुर फिर ऊग आते हैं । क्रोधाग्नि से दग्ध आत्मा के लिए द्वाग्नि का पथ निवेदित किया है । क्रोधित मानव क्रोध की आग के द्वारा अपने दुःख दाता को भस्म कर देना चाहता है, किन्तु वन के वृक्ष के समान उसके दुःख फिर ऊग जाते हैं ।

क्रोधित आत्मा दुःख के निमित्त को सुख का काँटा मानता है और उसे समाप्त भी कर देता है । किन्तु वे दुःख नई कोयल के साथ फिर से फूट पड़ते हैं और शत्रु की अपेक्षा दुःखी शक्ति एकत्रित कर अपने वैर का प्रतिशोध लेते हैं ।

जंगल में दावानल लागता वृक्षों जलीने करी पाछा छेने छे, ते ज प्रभाणे क्रोधनी आगथी दावेवा आत्माना दुःखना अंकुर करीथी छगी नीकणे छे, क्रोधाग्निथी जणता आत्मा भाटे शान्तिनो रस्तो जताववामां (निवेदित) आव्यो छे, क्रोधित मनुष्य क्रोधनी आगथी पोताने दुःख आपनारने नष्ट करी देवा भागतो होय छे, परंतु जंगलना वृक्षोनी जेम तेनां दुःखो करीथी छगी नीकणे छे,

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं वे कहते हैं कि :—

अरण्ये दावाग्निना दग्धा वनपादवाः पुनः रोहन्ति, मुनेस्तु क्रोधाग्निना दग्धानां निवर्तनं प्रत्यागमो न भवति ॥ कस्तु नाम दुःखानां प्रत्यागमं इच्छेत् ॥

अर्थात् वन में दावाग्नि से दग्ध-वन वृक्ष फिर से ऊग सकते हैं परन्तु मुनि की क्रोधाग्नि से दग्ध दुःखों का प्रत्यागम नहीं हो सकता । वे दुःख पुनः लौट कर मुनि के पास नहीं आते । किन्तु कौन ऐसा होगा जो दुःखों का प्रत्यागमन चाहेगा । पर यह व्याख्या अस्पष्ट है ।

ओठसे छे जंगल में दावानलथी जणेला वृक्षो करीथी छगी शके छे; परंतु मुनिना क्रोधाग्निथी जणेलां दुःखो करीथी आवी शकता नथी, ते दुःखो करीथी मुनि पासे पाछा आवी शकतां नथी, परंतु कोणु ओवो हसे छे जे दुःखोनुं प्रत्यागमन छच्छे ?” पाशु आ व्याख्या अस्पष्ट छे,

सक्का वण्णी णिवारेतुं, चारिणां जलितो बहिं ।

सब्बोदहिजलेणा वि, मोहग्गी दुण्णिचारिया ॥ १० ॥

अर्थ :—बहर की जलती हुई आग को पानी से बुझाना सरल है, परन्तु मोह की आग को बुझाने में संसार की अनन्त जल राशि भी असमर्थ है ।

बाहरनी जणती आगने पाणीथी जजावतुं सहेद्धु छे, परंतु मोहनी आगने जजाववा भाटे संसारना अंधा समुद्रोनी अनंत जलराशि पशु असमर्थ छे,

जस्स एते परिण्णाता जातिमरणबंधणा ।

संछिन्नजातिमरणा सिद्धिं गच्छंति णीरया ॥ ११ ॥

अर्थ :—जिसे जन्म और मृत्यु के बन्धन परिज्ञात हो चुके हैं वही परिज्ञात-आत्मा जन्म और मृत्यु के बन्धनों को तोड़कर कर्म धूल से रहित हो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

जेषो जनम अने मृत्युना बन्धनोने ओणज्या छे, ते जानी आत्मा जनम अने मृत्युना बन्धनोने तोड़ीने कर्मनी रज्ज्थी रहित थर्ह सिद्धिने प्राप्त करे छे,

जन्म और मृत्यु में जिसे यथार्थतः बन्धन की अनुभूति होती है, वही बंधन को तोड़ सकता है । बंधन का परिज्ञान होना ही जीवन की महत्वपूर्ण क्रान्ति है । अन्यथा आत्मा मौत से भागता है, पर जन्म से प्यार करता है और श्रेष्ठ स्थल में जन्म पाने के हेतु साधना भी करता है किन्तु स्थितप्रज्ञ आत्मा को न जन्म के प्रति मोह है, न मौत से बड़ भागता ही है किन्तु हाँ, आत्मविकास की दिशा में इन्हें बन्धन अवश्य मानता है । बन्धन का परिज्ञाता बन्धन तोड़ने की दिशा में भी आगे बढ़ता है ।

एवं से बुद्धे विरते । विपावे जंते दविण अलंताती ॥

णो पुणरवि इत्थं हव्वमागच्छति सि धेमि ॥ तईयं दविलज्जयणं

अर्थ :—देखिये प्रथम अध्ययन की अन्तिम गाथा ।

तृतीय दचिल अध्ययन समाप्त ॥



चतुर्थ अध्ययन

साधना के पथ में आगे बढ़ते साधकको प्रशंसा के फूल और निन्दा के शूल दोनों भिन्न करते हैं किन्तु लक्ष्य की ओर हड़ कदमों से आगे बढ़ते साधक को ये फूल न लुभा सकते और न शूल की चुनन उसे पथ से अष्ट कर सकती है, क्योंकि जन साधारण की प्रशंसा और निन्दा केवल स्थूल मापदण्डों को लेकर चलती है। कभी वह चोर की भी प्रशंसा कर जाती है तो कभी मुनि का भी तिरस्कार कर डालती है। ऐसे क्षणों में साधक साधनानी के साथ अपने आपको संभाल रखे इसीका विज्ञा सूचन प्रस्तुत अध्ययन में मिलता है।

भारद्वाज गोत्री अंगिरस अर्हर्तर्षि उवाच—

आयाणरक्ष्णीपुरिसे परं किञ्चि न जानती ॥

असाधुकर्मकारी खलु अयं पुरिसे ॥

अर्थ :—आद्यान-रक्ष्णी कर्मोपादान रूप परिग्रह का रक्षक मानव दूसरी कोई बात जानता ही नहीं है। ऐसा पुरुष वस्तुतः असाधु कर्म का करने वाला है।

आद्यानरक्ष्णी (दीक्षी भाष्य) कर्मना अणु हेतुग्रह परिग्रहन्ती रक्षा करे छे ते भीछ कोई बात नजानतो न थी। ऐवो भाष्यस भरैभर अशुभ कर्म करनार छे।

परिग्रह का पिपासु केवल ग्रहण किये हुए की रक्षा ही जानता है। वह आत्मा अचन्य कर्मों को करते हुए कभी हिनकेगा नहीं।

टीकाकार बोलते हैं :—

आद्यानं कर्मोपादानं तद्रक्षति सिगृह्णीतीति आद्यानरक्ष्णी,
आद्यानरक्ष्णी भवति पुरुषो न किञ्चिज्जानाति अपरं जने।

आद्यान अर्थात् कर्म के उपादान की रक्षा करता है। उस लुपाता है वह आद्यानरक्ष्णी है। कर्म का उपादान अशुभ वृत्ति भी हो सकती है और उस अशुभवृत्ति के द्वारा एकचित्त परिग्रह भी कर्मोपादान है। आगम में कर्मोपादान की दूसरी व्याख्या मिलती है। गृहस्थ के वे व्यापार जिनके द्वारा गृह कर्म का बन्ध हो। वे पंद्रह प्रकार के व्यापार कर्मोपादान है।

इच्छाओं के भारसे अत्यधिक दया हुआ व्यक्ति परिग्रह के उपार्जन और रक्षण के अतिरिक्त दूसरी बात नहीं जानता। “खलु अयं पुरिसे” की ध्वनि आचार्याय सूत्र के “अयं तेजो अयं उवरण” ११, २ से मिलती है। चोर को अंगुलि-निर्देश पूर्वक बताया जाता है यह चोर है। इसी प्रकार असाधु कर्म करनेवाले के लिये यहाँ अयं पाठ आया है।

पुनरपि पावेहिं कर्मेहिं चोदिज्जति णिच्चं संसारंमि अंगिरसिणा भारद्वाएण अरहता इसिणा।

अर्थ :—ऐसा मानवसंसार में पुनः पुनः पापकर्मों के लिये प्रेरित होता है भारद्वाज गोत्री अंगिरस अर्हर्तर्षिने ऐसा कहा है। ऐवो भाष्यस संसारभां हरी हरी पाप कर्मोधी प्रेराय छे। भारद्वाज गोत्री अंगिरस नामना अर्हर्तर्षि ऐवुं ओले छे।

टीका :—असाधुकर्मकारी खल्वयं पुरिसे पुनरपि पापकर्ममिः चोव्यते नित्यं संसारमिति।

असाधुकर्म करने वाला यह पुरुष पुनः पापकर्मों से संसारभ्रम भ्रमण के लिये होता है, अर्थात् परिग्रह के रक्षण के लिये कर्तव्याकर्तव्य भूलकर फिरसे पाप कर्मों को उपार्जित करता है।

णा संवसता सक्कं सीलं जाणित्तु माणसा ॥

परमं खलु पडिच्छन्ना मायाए दुद्धमाणसा ॥ १ ॥

अर्थ :—(किसीके) साथ रहे बिना उसके शील (स्वभाव) को मनुष्य जान नहीं सकता। क्योंकि दुष्ट प्रवृत्ति के मानव सचमुच माया से छिपे रहते हैं।

१—पञ्चस कर्मादाणां समणोवासगरस जाणियन्वा न समावरियन्वा। उपासक दशा अ. १। २—सोमपीति। ३—तो संवसित्तु सक्कं सीलं।

एक भारतीय कहावत है “सोना जाने घसे, आदमी जाने बसे” बाहर से सब सज्जन दिखाई देते हैं, किन्तु उसके शील (स्वभाव) की पहिचान साध रहने पर ही हो सकती है। इंग्लिश में भी एक कहावत है All that glitters is not gold सभी चमकने वाला सोना नहीं हुआ करता है, बाहर से सोना दिखाई देता है, किन्तु जब हम कुछ दिन उनके साथ रहें, तादात्म्य बड़े फिर भी हमारी पूर्ण धारणाएँ स्थिर रहे तभी समझना चाहिये वास्तव में यह सोना है। अन्यथा माया के आवरण में अनेक रंगे सिंगार चूमते हैं। उन से सावधान रहना चाहिये।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं :—

यस्य पापं शीलं जानन्ति तेन संबन्धुं न शक्नुवन्ति मानवाः ।

तस्मात् परममर्थं प्रतिच्छन्ना निगूढा भवन्ति मायया दुष्टमानसाः ।

जिसके पापभरे शील (आचार) को हम जान लेते हैं उसके साथ रहना शक्य नहीं है, अतः दुष्ट हृदय वाले व्यक्ति माया से एकदम प्रतिच्छन्न रहते हैं।

टीकाकार की प्रस्तुत व्याख्या जरा कुछ ठीक नहीं बैठती। क्योंकि “तस्मात्” से उसका अर्थ जमने के बजाय अधिक बिगड़ता है।

णियदोसे निगूहन्ते चिरं पि णोवदंसए ॥

किह मं कोपि ण ज्ञाणे जाणेण त्थ हियं सयं ॥ २ ॥

अर्थ :—वह अपने दोषों को छिपाता है। चिर समय तक भी अपने दोषों को किसी के समक्ष प्रगट नहीं करता है। वह सोचता है दूसरा कोई भी इस पाप को नहीं जान सकता, किन्तु ऐसा सोचने वाला अपना हित नहीं जानता।

ते पोताना दोषेणे छुपावे छे अने घण्टा समय सुधी पणु पोताना दोषेणी ज्ञादोयना करतो नथी अने ते विचारें के भारा पापोने भीजे छोड़ नशुतो नथी, पणु आवो विचारनार पोतानो न अहित करे छे।

पूर्व गाथा में साधक को प्रेरणा दी गई थी कि माया से छिपे हुए मनुष्यों से सावधान रहना चाहिये यहाँ उसी माया शील व्यक्ति का परिचय दिया गया है। मायावी (छली) मानव बड़ी सफाई के साथ अपने दोषों को छिपाये रखता है। उसे विश्वास रहता है कि इस घटना को केवल मैं ही जानता हूँ, दूसरा कोई नहीं। बस; यही सोच कर वह निश्चिन्त रहता है।

टीका :—निजदोषान् हि निगूहन्ते आत्मानं चिरमपि नोपदर्शयेत् ।

इह न कोऽपि मां जानीयादिति मत्वाऽऽत्महितं स्वयं न जानाति ।

अर्थ :—उपरिक्त ।

जेण जाणामि अप्पाणं आवी वा जति वा रहे ॥

अज्जयारिं अणज्जं वा तं णाणं अयलं बुधं ॥ ३ ॥

अर्थ :—जिसके द्वारा मैं अपने आपको जान सकूँ, प्रत्यक्ष या परोक्ष में होनेवाले अपने आर्य और अनार्य कर्मों को देख सकूँ, वही ज्ञान शाश्वत है।

जेना पडे हुं पोतानी जतने जणु शकुं, प्रत्यक्ष अगर परोक्षमां थनारा भारा आर्य अने अनार्य कर्मोने जेध शकुं ते न सायुं अने शाश्वत ज्ञान छे।

मनुष्य दूसरे के पुण्य पाप का लेखा जोखा अधिक रखता है और उसी में अपनी ज्ञान गरिमा मान बैठता है किन्तु अंगिरसजी कहते हैं वही ज्ञान सत्य है जिसके द्वारा मैं अपने आपको जान सकूँ, मेरे अपने आर्य और अनार्य कर्मों को पहचान सकूँ।

सुधाणि भितीं चित्रं कट्टे वा सुणिवेसितं ॥

मणुस्स-हिययं पुणिणं गहणं दुव्वियाणकं ॥ ४ ॥

अर्थ :—दीवारों पर अंकित सूत्र और काष्ठ में आलेखित चित्र दोनों सुविज्ञात हैं। किन्तु मानव का हृदय गहन और दुर्विज्ञात है।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

દીવાલો પર કોતરેલા સૂત્રો અને લાકડા પર દોરેલા ચિત્રો સહેજ સમજાઈ જાય છે ત્યારે માણસના હૈયાને બાંધવું થાયું કઠણ છે કેમકે તે ગહન છે.

માનવ બાહર સે નહીં भीतर से परखा जाता है। चित्रों को समझ लेना जितना सरल है उतना ही मनुष्य हृदय को जान लेना कठिन है।

ટીકાકાર का अभिप्राय भी समान है :—

“सुयानिति” सुयानेति स्थाने सुज्ञातं भवति चित्रं भिरयां काष्ठे वा निवेक्षितं,
हृदं मनुष्यहृदयं तु गहनं दुर्विज्ञानव्यं।

दीवार और काष्ठ पर अंकित चित्र सुज्ञात होता है, किन्तु हृदय गहन है, जल्दी से उसे कोई समझ नहीं सकता।

अण्णहा स मणे होइ, अन्नं कुणंति कम्मणा ॥

अण्णमण्णाणि भासंति, मणुस्स गहणे हु से ॥ ५ ॥

अर्थ :—जिसके मन में कुछ दूसरा है और कार्य कुछ दूसरे हैं, पर वे एक दूसरे से बोलते हैं तब मनुष्य-जन्म पाया है।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

માણસનું હૈયું ગહન કેમ છે તે બતાવે છે. તે મનમાં બીજું વિચારે છે ત્યારે દેહથી કામ કાંઈ જુદા જ કરે છે. તેમાં નવાઈ તો આ છે કે આવું ખોતે કરતાં છતાં એક બીજાને કહે છે તમે મનુષ્ય અવતાર પામ્યા છો, તેને શા માટે બગાડો છો.

जिनका बाहरी रूप कुछ दूसरा होता है और भीतरी कहानी कुछ दूसरी होती है उन्हीं साधकों का यहां चित्रण दिया है। बाहरी सिका तो पूर्ण आत्म-संयमी साधक का है, किन्तु भीतरी सिका खराब है; किन्तु तारीफ तो यह है कि वे एक दूसरे को उपदेश देते हैं तुमने सुन्दर-सा मानव जीवन पाया है, इसे क्यों भिड़ी के मोल खतम कर रहे हो।

ટીકા :—अन्यथा स भवति मनसि अन्यत् कर्मणा चेष्टितेन कुर्वन्ति, अन्यत् भाषन्ते एवमन्येभ्यो मनुष्येभ्यो गहनः स खलु पुरुषः।

जहां मन, वाणी और कर्म की एकता है वही साधुत्व है। जिसके मन में कुछ दूसरा है, जिसकी वाणी में कुछ और है और जिसके कार्य में कुछ तीसरी ही बात है, वह दुरात्मा है^१।

तण-खाण-कंडकलता-घणाणि वल्लीघणाणि ॥

सद्वणिद्वियसंकुलाई मणुस्स-हिदयाई गहणाणि ॥ ६ ॥

अर्थ :—घांस, टूट, कंडकलता, बादल, लतामण्डप के सदृश मनुष्यों के शठ, छली संकुचित और हृदय होते हैं।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

માણસોના હૈયાં વિચિત્ર હોય છે. કેટલાકનાં હૈયાં ઘાંસ જેવા તુચ્છ, કેટલાકનાં કાંટાંની વેલડી જેવા બીજાને ચુલનારા હોય છે તો કેટલાકનાં હૈયાં વાદળાં અને લતામંડપ જેવા પશુ હોય છે, જે બીજાને શાન્તિ આપે છે. તો કેટલાકના હૈયાં શઠ છલિયા અને સંકુચિત પણ હોય છે.

१ तृणपशु की परीक्षा बाहर से होती है, जब कि मानव की परीक्षा उसके हृदय से होती है। यहां मानव के पांच हृदय बताये गये हैं। किसी का हृदय तृण सदृश क्षुद्र होता है, जो शक्तिहीन है और अपने आप की रक्षा भी जो अपने आप नहीं कर सकता, न दूसरे किसी आर्थिक अभाव की तपती चुपहरी में क्लान्त मानव को छाया देने में भी समर्थ है।

२ टूट (खाण) —दूसरा वह हृदय जिसने विकास तो किया है, किन्तु जिसकी जीवन की मधुरता के पत्ते सर चूके हैं रसहीन जीवन जीनेवाला।

३ कण्ठकलता—जिसने पत्तों की सम्पत्ति तो पाई किन्तु आश्रय लेने वाले के पैर में झूल बनकर चूमा ।

४ मेघ (घन)—किसी का हृदय मेघ जैसा होता है । खारे पानी को भीठा बनाकर देने की कला मेघ में है । ऐसे हृदय वाला व्यक्ति कष्ट प्रसंगों को भी मधुरता में बदल देता है ।

५ लतामण्डप जिसने पत्र-पुष्पों का सौन्दर्य पाया है वह कोमलांगी लता जैठ की तपती दुपहरी में स्वयं तप कर भी अपनी गोद में धाने वाले को शीतल छाया ही देता है । एक वह भी हृदय है जो स्वयं तप कर भी दूसरे के जीवन में शीतलता प्रदान करता है ।

मुञ्जितु उच्चावय भोण, संकण्णे कडमाणसे ॥

आदाणरक्खी पुरिसे, परं किञ्चिण जाणति ॥ ७ ॥

अर्थ :—परिमृष्ट का पिपासु मानव संकल्प पूर्वक उच्चतर भोगों का उपभोग ही चाहता है । दूसरी बात वह जानता ही नहीं है ।

गुजराती भाषान्तर :—

परिग्रहणो डिपासक माणुस पोताना मनमां सारां सारां लोभेन संकल्पो ण करतो छिय छे. लोभशी छटीने त्याग तरङ्ग आवतुं तेने गमतुं ण नथी.

अदुवा परिसामज्जे, अदुवा विरहे कडं ॥

ततो निरिक्ख अप्पाणं, पावकम्मा णिरुंभति ॥ ८ ॥

अर्थ :—परिषद् में बैठे हैं तब दूसरा रूप है, और एकान्त में हैं तब कुछ दूसरा रूप है । किन्तु सच्चा साधक आत्म निरीक्षण करके पाप कर्मों को रोकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

जेनो मन त्यागनी तरङ्ग आकर्षयो नथी जेवो साधु सत्तामां जेसे छे त्यारे जेनुं इप गुहुं छिय छे त्यारे जेनी वर्तलूक भीछ छिय छे. त्यारे साय्यो संत पोतानी आत्माने जेधने, पापकर्म्मधी पोताने रोडे छे.

जनता के सामने रहें तब दूसरा रूप रखना और उनसे दूर होते ही दूसरा रूप अपना लेना यह बहुरूपियापन जीवन को ले डुबता है । यह धोखा-धड़ी है । कोई देख रहा है तब हमारी चर्चा में पूरा संयम उतर आता है और उनके इष्टि से हटते ही अपना रूप बदल लेते हैं तो हम ईमानदार तो नहीं कहे जा सकते । दुनियाँ की आँखें देखें या न देखें साधक की अपनी आँखें तो उसे देख रही हैं । दुनियाँ की आँखें हमें कब तक बुराई से बचाए रखेंगी । असल में तो हमारी आँखें ही हमें बचा सकती हैं । वही जीवन का सबसे बड़ा सत्य है कि साधक हजारों के बीच में बैठा हो या वन के सूने एकान्त में हो उसकी साधना की धारा एक रूप में बहनी चाहिये । भगवान महावीर ने कहा है । —

से भिक्षू वा भिक्षुणी वा ।... दिआवाराओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा । दशवे० अ. ४

भिक्षु या भिक्षुणी छोटे छोटे गावों में घूमती हों या बड़े २ शहरों में हों, वे अकेली हों या जनता के समक्ष हों, स्वप्न में हों या जागृति में उनकी साधना अपरिवर्तित रूप में रहे ।

दुष्पचिण्णं सपेहाण, अणाधारं च अप्पणो ॥

अणुवट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा परितप्पति ॥ ९ ॥

अर्थ :—अपने दुष्प्रचीर्ण (दुर्वासना से अर्जित) कर्म और अनाचारों के प्रति देखता हुआ भी जानबूझ उपेक्षा करनेवाला और धर्म के लिये सदैव अनुपस्थित रहनेवाला व्यक्ति जीवन की संघ्या में पश्चात्ताप करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

पोताना दुष्प्रचीर्णु (अशुभ वृत्तिशी बेगा करेवां) कर्मो जेने अनाचारोने प्रति जखी जेधने डिपेक्षा सेवनार जेने धर्मना भाटे कटी पञ्च तैयार नहि रहनारो माणुस जवननी आभरी घडीमां पश्चात्ताप करे छे.

સુપદ્વિષ્ણં સપેદાપ્, આચારં વા વિ અપ્પણો ॥

સુપદ્વિષ્ણો સદા ધમ્મે, સો પચ્છા ડ ણ તપ્પતિ ॥ ૧૦ ॥

અર્થ :—અપને શ્રેષ્ઠ આચારોં કે પ્રતિ સતર્કે ઝૌર ધર્મ મેં સદૈવ સુપ્રતિષ્ઠિત રહનેવાલા જીવન કી સંધ્યા મેં કમી પશ્ચાત્તાપ કે ઓસ, નહીં વઢાતા હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

શ્રેષ્ઠ આચારોને વિચાર પૂર્વક જીવનમાં ઉતારનાર અને ધર્મને માટે સદા તત્પર રહેનારે કોઈ દિવસે પશ્ચાત્તાપના આશુંઓ વઢાવતો નથી.

પુચ્છસ્સાવરત્તમ્મિ, સંકલ્પેણ વહું કહું ॥

સુકહં દુકહં વા વિ, કસારમણુગચ્છહ ॥ ૧૧ ॥

અર્થ :—પૂર્વ રાત્રિ ઝૌર અપર રાત્રિ કે ક્ષણોં મેં સંકલ્પોં કે દ્વારા આત્મા ને જો મી અચ્છે વા કુરે કાર્ય કિયે હૈ વે કર્તા કા અનુગમન કરતે હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

પહેલી અને પાછલી રાતે સંકલ્પો દ્વારા આત્મા એ સારાં કે નરસાં કામો કર્યા છે તે કર્તાનું અનુગમન કરે છે.

આત્મા શુભાશુભ વૃત્તિયોં કે દ્વારા જો મી કર્મવલ્લિકાં એકત્રિત કરતા હૈ વે સંચિત કર્મ તબ તક આત્મા અનુગમન કરતે હૈ જબ તક કિ વે વિપાકોદય વા પ્રદેશોદય કે દ્વારા ભોગ કર નિર્જરિત નહીં હો જાતે ।

ટીકા :—પૂર્વરાત્રિ તથા અપરરાત્રિ સ્તીતાતીતતરકાલે સંકલ્પેણ ચિકીર્ષયા વહુ કૃતં યત્

સુકૃતં વા દુકૃતં વા કર્મ તત્ કર્તારમણુગચ્છતિ તસ્ય જીવે સજ્જતિ ।

પૂર્વરાત્રિ તથા અપર રાત્રિ કે અતીત ઝૌર અતીતતર કાલ મેં શુભાશુભ અધ્યવસાય ઝૌર સંકલ્પોં કે દ્વારા જો કુછ શુભાશુભ કર્મ આત્મા સંચિત કરતા હૈ વે કર્મ અપને કર્તા કા અનુગમન કરતે હૈ ।

સુકહં દુકહં વા વિ, અપ્પણો યાવિ જાણતિ ॥

જ ય ણં અપ્પણો વિજાણતિ, સુકહં ણેવ દુકહં ॥ ૧૨ ॥

અર્થ :—અપને અચ્છે વા કુરે કર્મોં કો આત્મા સ્વયં જાનતા હૈ, કિન્તુ કિસી કે અચ્છે કુરે કાર્યોં કો દુસરા વ્યક્તિ જાન નહીં સકતા હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

ખોતાના સારાં કે ખોટાં કામોંને આત્મા ખોતે જાણે છે. બીજી વ્યક્તિ કોઈના સારાં કે નરસાં કામોંને જાણી શકતી નથી.

કિસી કી અચ્છાઈ ઝૌર કુરાઈ કે સમ્બન્ધ મેં વ્યક્તિ વહુત જલ્દી નિર્ણય દે દેતા હૈ, કિન્તુ અપની અચ્છાઈ ઝૌર કુરાઈ કા તૌલ વ્યક્તિ સ્વતઃ જિતના કર સકતા તતના દુસરા નહીં । વ્યક્તિ કી સ્થૂલ આંખે અચ્છાઈ ઝૌર કુરાઈ કે સ્થૂલ રૂપ કો હી દેખ સકતી હૈ, કિન્તુ મજબૂરિયોં કે વે પતલે ધાગે સ્થૂલ આંખે નહીં દેખ પાતી હૈ; જિનસે બન્ધકર જવન્ય કાર્ય કરને કે લિયે વ્યક્તિ વિવશ હો જાતા હૈ ।

નરં કલ્લાણકારિણિ, પાવકારિંતિ યાહિરા ॥

પાવકારિં પિ તે વૂયા, સીલમંતો ત્તિ યાહિરા ॥ ૧૩ ॥

અર્થ :—બાહરી દુનિયોં કલ્યાણકારી આત્મા કો મી પાપકારી બતલાતી હૈ । ઝૌર અન્તર તક ન પહુંચને વાલે દુરાચારી કો મી સદાચારી કહ બાલતે હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

બાહ્ય દષ્ટિવાળો આત્મા કલ્યાણકારી આત્માને પણ પાપકારી ઓલે છે, અને બીતર સુધી ન પહોંચી શકનાર માણસો દુરાચારીને પણ સદાચારી બતાવી દિયે છે.

जोरे नि ता पणसंति, गुणी वि गरिजिजानी ॥

ण से पचायताऽचोरे, ण से इत्तवताऽमुणी ॥ १४ ॥

अर्थ :—स्थूल-दृष्टि जनता कभी चोर की भी प्रशंसा करती है और कभी कभी मुनि को उस के द्वारा घृणा भी मिलती है, किन्तु इतने मात्र से चोर सन्त नहीं बन जाता और सन्त असन्त नहीं हो सकता ।

गुजराती भाषान्तर :—

स्थूल-दृष्टिवाणी जनता अचारेक चोरनी पण प्रशंसा करे छे अने अचारे अचारे ते मुनिने पण घृणानी दृष्टिणी जुवे छे. पण ओटला मात्रथी ओछे चोर सन्त अनी जतो नथी अने संत ते चोर अछे जतो नथी.

साधक अपने आप को बाहिरी आँखों से तौलने का प्रयत्न न करें । दुनियाँ की निन्दा और प्रशंसा के गज से अपनी अच्छाई और बुराई को न मापे । क्योंकि दुनियाँ के गज दूसरे को मापने में कभी कभी गलती भी कर बैठते हैं । दुनियाँ की आँखों में जो सन्त हैं उसी तरह को चीर कर भीतर झाँकने पर वह एक चोर भी निकल सकता है और दुनियाँ जिसे चोर मान कर जिस पर घृणा बरसा रही है । बाहर से जिस का जीवन सूखा रेगिस्तान दिखाई दे रहा है, किन्तु प्रेम और कृपा के हल्के हाथों उस पर का कठोर आवरण हटाने पर अन्तर में वह दया प्रेम और कृपा का क्षरता भी बढ़ता हुआ दिखाई दे सकता है ।

णणसस वयणा चोरे, णणसस वयणा मुणी ॥

अणं अप्प वियाणाति, जे वा उत्तमणाणिणे ॥ १५ ॥

अर्थ :—किसी के कथनमात्र से कोई चोर नहीं बन जाता और किसी के कहने से कोई सन्त नहीं बन जाता । अपने आप को स्वयं जानता है या सर्वज्ञ जानते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

ओछेना उडेवामात्रथी ओछे चोर अनी जतो नथी अने ओछेना उडेवामात्रथी ओछे सन्त पण अनी जतो नथी. आत्मा पोताने पोतेण जणु छे के तेने सर्वज्ञ जणु छे.

किसी के बोलने से सन्त चोर नहीं बन सकता है और चोर सन्त नहीं । अपनी यथार्थ स्थिति व परिस्थितियों को हम जानते हैं यह वे अनन्तज्ञानी जानते हैं ।

जइ मे परो पसंसाति, असाधुं साधुमाणिया ॥

न मे सातायप भासा, अप्पाणं असमाहितं ॥ १६ ॥

अर्थ :—यदि मैं असाधु हूँ और साधु मानकर दूसरा मेरी प्रशंसा करता है, यदि मेरी आत्मा असंयत है तो वह प्रशंसा की मधुर भाषा मुझे संयत नहीं बना सकती ।

गुजराती भाषान्तर :—

अगर हुं साधु छुं अने जीणे साधु भानीने भारी प्रशंसा करतो छेय अने ओ भारी आत्मा संयममां न छेय तो जीवनी आ प्रशंसानी भाषा भारी विकास करी शकशे नहिं !

यदि साधक के जीवन में संयम का अभाव है किन्तु स्वार्थ या अंधधृद्धा से प्रेरित जनता यदि एक सन्त के रूप में उनका सन्मान करती है, वह धृद्धा के सुमन भी बरणों में चढ़ाती है, किन्तु वे प्रशंसा के फूल असाधु को साधु के रूप में बदल देने में असमर्थ रहेंगे ।

प्रशंसा के फूलों में कभी साधक का मन फिसलन का अनुभव करता है तो अर्हतर्षि उसे सावधान करते हैं—

जति मे परो विगरहाति, साधुं संते णिरंगणं ॥

ण मे सक्कोसप भासा, अप्पाणं सुसमाहितं ॥ १७ ॥

अर्थ :—यदि मैं निर्ग्रन्थ हूँ और जनता मेरी अश्रमानना करती है तो निन्दा की वह भाषा मुझ में आक्रोश नहीं पैदा कर सकती है, क्योंकि मेरी आत्मा सुसमाधिस्थ है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જો હું સાધુ છું અને કોઈ ભારા પ્રત્યે ઘૃણા કરે છે, તો પણ મને ચિન્તા નથી; કેમકે તે નિન્દાની બાધા મને ક્રોધ ઉપજાવી શકે નહિ; કારણકે મારો આત્મા સમાધિમાં છે.

यदि साधक में साधुभाव हैं तो फिर बाहिरि दुनियाँ भले ही असाधु समझकर निन्दात्मक आलोचना क्यों न करे, उससे साधक कभी क्रोध न होगा। प्रशंसा के फूल साधु के मन में गुदगुदी नहीं पैदा कर सकते, न निन्दा के सूत्र उस के मन में टीस ही पैदा करेंगे। निन्दा और प्रशंसा में साधक की जीवनतुल्य सम रहती है।

हर क्रान्तिकारी को निन्दा और अपमान के कबूते घूँट पीने ही पड़ते हैं। अपमान का जहर के घूँट पीने के बाद ही शिव बना जा सकता है। यदि साधक अपने प्रति ईमानदार है तो उसे दुनियाँ की आलोचनाएँ अपने मार्ग से हटा न सकेगी।

जं उल्लूका पसंसंति, जं वा निंदंति वायसा ॥

निंदा वा सा पसंसा वा, वायुजालेव्य गच्छती ॥ १८ ॥

अर्थ :—उल्लूक जिसकी प्रशंसा करे और कौवे जिसकी निन्दा करे, वह निन्दा और वह प्रशंसा दोनों ही धुआ की भाँति उड़ जाती हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

ધૂવડ જેની પ્રશંસા કરે અને કાગડાઓ જેની નિન્દા કરે આવી નિન્દા અને પ્રશંસા હવા માફક ઉડી બાય છે.

जिस निन्दा और प्रशंसा के पीछे दृष्टि का कालापन रहा हुआ है, जिसके पीछे केवल साम्प्रदायिक, स्वार्थिक ममत्व बोल रहा है, वे निन्दा और प्रशंसा सत्य-विहीन हैं। उसी के लिये सुन्दर-सा रूपक दिया है। उल्लू प्रकाश की निन्दा करता है और अंधकार की स्तुति करता श्रेष्ठ बतलाता है। और कौवा रात्री की निन्दा करता है। यह निन्दा और प्रशंसा वस्तु की अच्छाई और बुराई के प्रति नहीं है। अपने स्वार्थ की साधना अंधेरे में होती देख रात्री की प्रशंसा ही करेगा। और कौवे के स्वार्थ में क्षति होती है तो वह निन्दा करेगा ही।

जं च बाला पसंसंति, जं वा निंदंति कोविदा ॥

निंदा वा सा पसंसा वा, पपाति कुरूप जगो ॥ १९ ॥

अर्थ :—अज्ञानी जिसकी प्रशंसा करता है और विद्वान् जिसकी निन्दा करता है, ऐसी निन्दा और प्रशंसा इस छली दुनियाँ में सर्वत्र उपलब्ध है।

गुजराती भाषान्तर :—

અજ્ઞાની જેની પ્રશંસા કરે અને વિદ્વાન જેની નિન્દા કરે, આ કપટી દુનિયામાં આવી નિન્દા અને પ્રશંસા સર્વત્ર મળી આવે છે.

अज्ञानी और भोली जनता सत्य से अछुती रहने के अंधश्रद्धा के अंधेरे में पलती है, अतः उससे प्रशंसा प्राप्त कर लेना सहज है। विद्वानों की दुनियाँ में प्रशंसा उतनी सस्ती नहीं रहती, क्योंकि उनमें भाजुकता का अभाव है। हाँ; आलोचना का माव गर्म रहता है। क्योंकि दूसरे की प्रशंसा को पचा लेने के लिये आवश्यक पाचन-शक्ति का उसमें अभाव होता है। अतः इस मायाशील विष में निन्दा और प्रशंसा कदम कदम पर मिलती हैं, किन्तु साधक को दोनों से सावधान रहना है। साथ ही निर्भीक भी।

जो जत्थ विज्जती भावो, जो वा जत्थ ण विज्जती ॥

सो सभावेण सब्बो वि, लोकम्मि तु पवत्तती ॥ २० ॥

विसं वा अमतं वाचि, सभावेण उवट्ठितं ॥

चंदसूरा मणी जोती, तमो अग्गी दिवं सित्ती ॥ २१ ॥

अर्थ :—जो भाव जहाँ उपलब्ध है या जहाँ जिसका अभाव है यह सद्भाव या अभाव लोक में आभाषिक ही है। दुनियाँ में अमृत भी है और विष भी है। चन्द्र और सूर्य, अंधकार और प्रकाश, मणी और अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी, सब कुछ स्वभाव से ही उपस्थित हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

कोई लाव क्यांक छिपल्यछे अने कोई वस्तु क्यां नथी पणु आ सद्भाव अने अभाव लोकमां सर्वत्र स्वाभाविक रूपे न छे. दुनियांमां अमृत पणु छे अने जेर पणु छे. खाद, सूरज, अंधाई अने प्रकाश भण्डि अने अग्नि, स्वर्ग अने पृथ्वी अथा स्वभावथी न रहैला छे.

विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने २ स्वभाव में उपस्थित है। हमारे चाहने या न चाहने से किसी का सद्भाव और अभाव नहीं हो जाता। दुनियाँ में अंधकार भी अनन्तकाल से है और प्रकाश भी अनन्त काल से है। अमृत भी अनादि है और जहर भी। साधक को उलझना नहीं है। सीधी राह पर लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाना उसका उद्देश्य है।

वदतु जणे जं से इच्छियं, किंणु कलेमि उदिणमप्पणो ॥

भावित मम गतिथ एलिसे, इति संखाप न संजलामहं ॥ २२ ॥

अर्थः—कोई भी जो चाहे वह बोल सकता है। मैं अपने आप को उद्दिष्ट क्यों करूँ। मुझसे वह सन्तुष्ट नहीं है। यह समझकर मैं कुपित नहीं होता हूँ।

गुजराती भाषान्तरः—

कोई पणु भाणुस जेभ हावे तेभ थोड़ी शके छे. हुं पोताने क्लेशमय शा भाटे थवा दजि. ते भारथी संतुष्ट नथी आ समझने हुं क्रोध नथी करतो.

कोई भी मानव सारी दुनियाँ को प्रमत्त नहीं कर सकता, सूर्य सबको प्रकाश देता है, फिर भी कुछ उसकी आलोचना करेगा ही। जिसके स्वार्थ को ठेस लगेगी वह आलोचना अवश्य करेगा। उस स्थिति में नाथक अपनी मनःस्थिति गहकवाने न दे; वह सोचे दुनियाँ चाहे जो बोल सकती है यदि मैं संयम और साधना के प्रति वफादार हूँ, तो मुझे इन आलोचनाओं से उद्दिष्ट नहीं होना है। मेरे द्वारा इसके स्वार्थ को सहयोग नहीं मिल रहा है, इस लिये यह मेरे पर क्रुद्ध है। फिर मैं क्यों इसके प्रति क्रोध लाकर अपनी शान्ति को भंग करूँ ?

टीकाः—वदतु जनो यद् यस्येष्टं तृणवत् त्वं गणयामि । किं नु क्रोम्यहं यज्जानेनात्मस्वभावेनोदीर्णम् ? नैवास्मि तस्य कर्तेति भावः । नास्तीदृशं मम भावितमिति संख्यायाहं न संज्वलामि न कुप्ये, किन्तु जनस्य आक्षेपे क्षमे । इदं तु “ ल ” श्रुति गर्भं वैतालियमन्यस्य कस्यचिद् कवेः कृतिरिव दृश्यते ।

जिसको जो इष्ट है वह बोल सकता है। उसे मैं तृणवत् गिनता हूँ। उसे जानकर मैं अपने आपको उदीर्ण क्यों करूँ ? मैं उसका कर्ता नहीं हूँ और न मेरा ऐसा बुरा करने वाला कोई विचार ही है। यह सोच कर मैं उस पर कुपित नहीं होता हूँ। अतः जनता के आक्षेपों को मैं सहूँगा। “ ल ” श्रुतिवाला यह वैतालिक (छंद) किसी अन्य कवि की कृति होना चाहिये।

अक्खोवंजणमाताया, सीलवं सुसमाहिते ॥

अप्पणा च्चेवमप्पाणं, चोदितो वहते रहं ॥ २३ ॥

अर्थः—अष्टप्रवचन माता रूप अक्ष (धुरा) से युक्त शीलवान् सुसमाहित आत्मा का रथ आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर चलता है।

गुजराती भाषान्तरः—

आठ प्रवचन माता (पांच समिति त्रय गुप्ति) रूप अक्ष (धुरा) सहित शीलवाणो सुसमाधिस्थ आत्मानो रथ आत्मा द्वारा न प्रेरार्थने थावे छे.

जीवन भी एक रथ है जिसकी धुरी में अष्टप्रवचन माता (पांच समिति तीन गुप्ति) का तेल लगा हुआ वह अपनी गति पर स्वतः प्रेरित होकर आगे बढ़ता है।

सीलक्खरहमारुढो, णाणदंसणसारही ॥

अप्पणा च्चेवमप्पाणं, जदित्ता सुभमेहती ॥ २४ ॥

एवं से बुझे मुत्ते० गतार्थ ।

अर्थ :—शील ही जिसका अक्ष है, ज्ञान और दर्शन जिसके सारथी हैं, ऐसे रथ पर आरुढ़ होकर आत्मा अपने द्वारा अपने आपको जीतता है और शुभस्थिति को प्राप्त करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

सीयक्ष जेनी धुरा छे अने ज्ञान अने दर्शन जेना सारथी छे, जेवा रथ उपर भेसीने आत्मा पोते पोताने छते छे अने शुभ स्थिति भेजवे छे.

ब्रह्मचर्य की सुदृढ धुरा और ज्ञान दर्शन जैसे कुशल सारथी को पाकर शुभ आत्मपर्याय अशुभस्थित आत्मपर्याय से युद्ध करता है और शुद्ध रूप को प्राप्त करता है ।

यहां जीवन युद्ध का चित्रण दिया गया है । आत्मा बाहिरी संघर्ष अनन्त २ बार कर चुका है । उसमें तलवार के बल पर उसने विजय भी पाई, किन्तु एक दिन वह पराजय के रूप में बदल जाती है । विश्व-विजेता अपने घर पर शासन नहीं चला सकता । और गृह-विजेता अपनी इन्द्रियों पर शासन नहीं चला सकता । इन्द्रिय-विजेता के लिये अशुभ आत्मपरिणति पर विजय पाना कठिन है । उसी अशुभपरिणति से युद्ध के लिये साधक को प्रेरित किया है । पञ्चीसवीं गाथा में रथ का रूपक दिया है, उसी रथ पर आरुढ़ होकर ब्रह्मचर्य की सुदृढ धुरा बनाकर युद्ध के लिये आगे बढ़े । यहाँ विजय के रूप में शुभस्थिति का वर्णन किया है । आत्मा की अशुभस्थिति पापाश्रय है, शुभस्थिति पुण्याश्रय है, किन्तु आत्मा की शुद्धस्थिति निर्बन्ध है, उसी की ओर यहाँ इंगित है, किन्तु आगम में शुद्धस्थिति के लिये प्रायः शुभ ही प्रयुक्त हुआ है । आत्म-युद्ध का रूपक उत्तराध्यायन में भी दिया गया है । इन्द्र के ५५० के उत्तर में राजर्षि नमि आत्म-युद्ध का विस्तृत सांग रूपक देते हैं ।

चउर्थ अंगिरसिणामज्जयणं ॥

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥



पंचम अध्ययन

पुष्कसाल-अञ्जयण

पुष्कसालपुत्र उवाच:—

मन का अहंकार आत्मा के सूक्ष्म शत्रुओं में एक है। अहंकार पर ठेस लगती है तो क्रोध उछलता है। वह ही विकास पाकर कुटुम्ब और परिवार बनाता है। यही मैं और मेरा पाप के अग्रदूत हैं। पंचम अध्ययन अहं विजय के लिये प्रेरणा देता है।

माणा पञ्चोरित्ताणं, विणय अप्याणुवर्दस्य ॥

पुष्कसालपुत्रेण, अरहता इतिणा सुहयं ॥ १ ॥

अर्थ:—मान से नीचे उतरे हुए विनय में आत्मा को स्थित रखने वाले पुष्कसालपुत्र अर्हतरिषि ब्रेक्रहा है।

गुजराती भाषान्तर:—

मानशी डेठे उतरेधा अने विनयमां पोताना आत्माने स्थिर राखनार पुष्पशालपुत्र नामक अर्हतरिषिआ आभउछु छे.

गुह्यी आगम्य सिद्धता, शले किष्वाण अंजलि ॥

पाण-भोजन से किष्वा, सर्वं च शयनासनं ॥ २ ॥

अर्थ:—उन्होंने मस्तक के द्वारा पृथ्वी को छूकर भूमि पर अंजलि करके भोजन पानी और समस्त शयनासन का त्याग कर दिया है।

गुजराती भाषान्तर:—

तेमने मस्तक द्वारा पृथ्वीने स्पर्श करीने तथा भूमि उपर अने हाथ जोडीने सर्व भोजन पाणी तथा शयनासननो त्याग कर्थो छे.

णमस्मानस्स सदा, संति आगम वद्वती ॥

क्रोध-माण-प्यहीणस्स, आता जाणइ पज्जवे ॥ ३ ॥

अर्थ:—नमस्कार करने वाले की आत्मा सदैव शान्ति और आगम में लीन रहती है। क्रोध और मान से विहीन आत्मा पर्यायों को जानता है।

गुजराती भाषान्तर:—

नमस्कार करनार आत्मा सदा शान्ति तथा आगम(शास्त्रवचन)मां तल्लीन रहे छे. जेहे क्रोध तथा मान छल्या छे ते (सर्व द्रव्योनी) पर्यायोनो जाले छे.

नमनशील आत्मा की निम्ना आगम में होती है। और आगमाभ्यासी शान्तिपथ से परिचित रहता है। अशान्ति के मूल क्रोध और अहं से उपरत होकर आत्मा समस्तपर्यायों को जानता है। कषाय मोह के क्षय के साथ अन्तर्मुहूर्त में शेष तीनों घातिकर्म क्षय कर आत्मा सर्वज्ञ बनता है। सर्वज्ञ द्रव्यों की अनन्त पर्यायें युगपत् जानते हैं। छद्मस्थ समस्त द्रव्यों का परिज्ञान रखता है, किन्तु एक द्रव्य की भी वह समस्त पर्यायों को वह नहीं जान सकता। वाचकसुख्य भी बोलते हैं—“मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु” मति श्रुत का विषय प्रबन्ध समस्त द्रव्यों में है, पर समस्त पर्यायों में नहीं है।

“सर्वद्रव्यपर्यायेषु केचलस्य” केचलज्ञान का विषयनिर्बन्ध समस्त द्रव्यपर्यायों में युगपत् है। तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र २७-३०.

टीका:—मानात् प्रत्यवतीर्य मानं त्यक्त्वा विनय आत्मानं उपदर्शयेत्, क्रोधमानहीनस्य आत्मा पर्यायान् जानाति, क्रोधस्थाने शमं सेवते मानस्थाने मार्दवम्।

मान रूप गज से नीचे उतर कर आत्मा विनय के दर्शन करता है। क्रोध-मान से विहीन आत्मा पर्यायों को जानता है। क्रोध के स्थान पर शान्ति और मान के स्थान पर मार्दव को प्राप्त करता है।

ण पाणे अतिपासेज्जा, अलिधादिण्णं च वज्जाए ॥

ण मेहुणं च सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे ॥ ४ ॥

अर्थ :—साधक प्राणातिपात का सेवन न करे । असत्य और स्वेय का वर्जन करे । मैथुन का सेवन न करे । और अपरिग्रही बने ।

गुजराती भाषान्तर :—

मुनि प्राणातिपात (हिंसा) न करे, असत्य तथा चोरीने छोडे, मैथुननो त्याग करे अने अपरिग्रही बने.

प्रस्तुत गाथा में साधक जीवन में पांच महाव्रतों का निरूपण किया है । यद्यपि पुष्पशालपुत्र ऋषि भगवान नेमनाथ की परम्परा के हैं, किन्तु यहाँ पंच महाव्रतों का पृथक् पृथक् निरूपण करते हैं ।

कोह-माण-परिणस्स, आता जाणाति पज्जवे ॥

कुणिमं च ण सेवेज्जा, समाधिमभिदंसए ॥ ५ ॥

अर्थ :—कोध-मान का परिज्ञाता आत्मा पर्यायों का भी परिज्ञाता है । समाधि का इच्छुक साधक मांस का भी सेवन न करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

कोध तथा मानने छतनार आत्माना पर्यायोने पण्य जणु छे. समाधिने चाहनार साधक मांसनुं पण्य सेवन न करे.

आगम में दो प्रकार की परिज्ञा बताई है—ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा । ज्ञपरिज्ञा से साधक वस्तु के स्वरूप को जानता है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से आश्रय का प्रत्याख्यान करता है ।

एवं से सुद्धे विरए पावाओ ॥

अर्थ :—इस प्रकार प्रसुद्ध आत्मा पाप से विरक्त होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

आ प्रमाणु प्रसुद्ध आत्मा पापथी मुक्त थाय छे.

इति पंचमं पुष्पशालपुत्र नामज्ज्ञयणं ॥

इस प्रकार पुष्पशालपुत्रनामक पंचम अध्ययन समाप्त ॥



षष्ठ अध्ययन

वागलचीरी-अध्ययन

तमेव उचरते मातंग, सहे काय-मेदाति ॥

आयति तमुदाहरे, देवदानवाणुमतं ॥ १ ॥

अर्थ:—देह मेद न होने पर भी गजेन्द्र की ध्वा रखने वाला अशुभ वृत्तियों से उपरत रहकर देव और दानव से अभिमत सिद्धान्त बोलते हैं ।

गुजराती भाषान्तर:—

जेम हाथी युद्धमां जाय अने भाणुवृष्टिशी पाछो न हरे तेवी रीते साधकने मरणांतिक उपसर्ग आवे तो पशु अशुभ वृत्तिओशी अलग रहेवा ओछो अने ओवुं देव अने दानवोंने पशु मान्य सिद्धान्त (अर्हति) बोले छे.

आयति: उत्तरकाल:—अमरकोष ।

युद्ध में गया हुआ गजेन्द्र शत्रुदल के प्रहारों को सह कर भी आगे ही बढ़ता है । उसी की सुदृढ़ ध्वा से साधक की ध्वा को तोलते हुए ऋषि बोलते हैं । देव दानव और मानव समस्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं ।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी साधक को युद्ध रत हस्ति की उपमा दी गई है:—

पुटो य दंसमसपुहिं, समरेव महासुणी ॥

नागो संगामसीसे वा, सुरो भमिहणे परं ॥ अध्या० २-१०.

प्रस्तुत अध्ययन की पहली गाथा काफी गूढ़ है । अर्थ अस्पष्ट है । टीकाकार एवं प्रोफेसर शुब्रिंग इसके सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं । दोनों की व्याख्याएँ नीचे दी जा रही हैं । सत्य का तथ्य पाठकों की विवेक बुद्धि पर छोड़ता हूँ ।—

टीका:—मातंग इति ललितविस्तरग्रंथतृतीयपरिवर्तानुसारेण कस्यचिद् प्रत्येकबुद्धस्य नाम अस्य स्वर्णबुद्धक्षेत्रे रिंचित-
स्तेजो, धातुं च समापद्योश्चैव परिनिर्वाणस्येहाध्ययनस्य गथे च पद्ये धानुलेखितत्वान्मातंगो गज एवेति अपरिहार्यं ध्याय्या ।

ललित विस्तर ग्रंथ के तीसरे परिवर्त के अनुसार मातंग यह किसी प्रत्येक बुद्ध का नाम है । किन्तु यह ऋषि बुद्ध-
क्षेत्र का है और तेज धारण के लिये चमकती बीजली की भांति वर्णन आता है । किन्तु परिनिर्वाण के इस अध्ययन में उल्लिखित मातंग का अर्थ हस्ति ही है । इस व्याख्या को मानकर ही हमें चलना होगा ।

टीका:—गजो मरणार्थं गहनं वनं यातीति प्रसिद्धं । मातंगश्च आचरन् श्राद्धो मातंगश्चाद्धः । गजो यथा तमसि
गहन उपरतो मृतस्तथा श्राद्धोऽपि कायमेदाय मरणाचैकाकी एव प्रायोपगमं गच्छति । आयति भविष्यत् काले तं देवदान-
वानुमतं प्रशस्यमति उदाहरे उदाहरिष्यति जनः ।

हाथी मृत्यु के लिये गहन वन में प्रवेश करता है यह प्रसिद्ध है । मातंग (हस्ति) की भांति आचरण करने वाला
ध्वावान् (साधक) मातंगश्चाद्ध कहलाता है । जैसे हस्ति अंधकार पूर्ण गहन वन में प्रवेश करके मरता है ऐसे ही साधक
शरीर त्याग के लिये अकेला पादपोषगमन (संधारा) करता है ।

आयतिशब्द भविष्यकाल के अर्थ में आया है । देव और दानव सभी के लिये प्रशस्त हो ऐसा (सिद्धान्त) मैं कहूँगा ।

प्रोफेसर शुब्रिंग “मातंगश्चाद्धे” के सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं:—“इधर उधर भटकते हाथी की भांति सामान्य
मानव अपने लिये जीता है । अंधेरी झाड़ियों में हाथी मर जाता है उसका कोई साक्षी नहीं रहता; इसी प्रकार सामान्य
मानव मर जाता है उस ओर भी कोई देखता नहीं है, उसकी कोई कहानी कहने वाला नहीं मिलता । ऐसा मानव कभी
कभी मृत्यु के लिये गहन वन में पहुँचता है, ऐसे मानव को यहाँ (प्रस्तुत अध्ययन में) देव और दानव के बीच लिया
गया है । प्रस्तुत पाठ में कहीं कोई शब्द-रचना है ।

तेणेमं खलु भो लोकं सणरामरं वसीकतमेव मण्णासि ॥

तमहं भेमि विरथं वागलचीरिणा अरहता इसिणा बुद्धं ॥ २ ॥

अर्थ :—देव दानव और मानवों की यह सम्पूर्ण सृष्टि जिसके आधीन है वह मैं विरत वल्कलचीरि अर्द्धतर्पि इस प्रकार बोलता हूँ ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેણે દેવ દાનવ અને માનવની સંપૂર્ણ સૃષ્ટિ વશમાં કરી છે તે હું વલ્કલચીરી નામનો સંસારથી વિરત અર્ધતર્પિ આમ બોલું છું.

टीका :—तेनाथं खलु भो लोकः सनरामरो वशीकृत एवेति मन्ये तमहं विरतं विरजस्कं वेति ब्रवीमि ।

हे आत्माओं ! उसी ने देव और मानव की सृष्टि वश में की है ऐसा मैं मानता हूँ वह मैं विरत अथवा (कर्म) रज-रहित (वल्कलचीरी) इस प्रकार बोलता हूँ ।

ण नारीगणपसत्ते अप्पणो य अयंधवे ॥

पुरिस्ता जत्तो वि वञ्चह तत्तो वि जुधिरे जणे ॥ ३ ॥

अर्थ :—हे पुरुष ! तू नारीवृन्द की संसक्ति (आसक्ति) से दूर रह और अपना अबंधु (दुश्मन) भी न बन; क्योंकि नारी-प्रसक्त (आसक्त) व्यक्ति अपने आपका शत्रु होता है । अतः जितना भी संभव है युद्ध करो और विजयी बनो ।

गुजराती भाषान्तर :—

હે પુરુષ ! તૂ નારીજાતિની આસક્તિથી દૂર રહ અને પોતાનો જ દુશ્મન પણ ના બન. કેમકે નારીમાં આસક્ત થએલો આત્મા પોતાનો દુશ્મન બને છે. માટે જોડાણ અને તેડાણ (વિકારો સાથે) યુદ્ધ કરો અને વિજય મેળવો.

जिस आरंभ से आत्मा नरक के द्वार पहुँचता है, उससे दूर रहो । जीवर्ग में संसक्त और युद्धविरत व्यक्ति नरक की राह छेते हैं । वे दोनों पापशील आत्माएँ कर्म विपाक को प्राप्त करेंगी ।

जीवन भी एक युद्ध स्थल है । साधक को दो मोर्चों पर लड़ना होगा । एक नारी पर आसक्ति और दूसरा परिवार पर ममत्व । यह अन्तर का संघर्ष है । साधक ! तुम्हें इस मोर्चे पर डट जाना है । पूरी शक्ति के साथ रहो, विजय तुम्हारे हाथ है ।

इसके दो पाठान्तर हैं “ण नारीगणपसेते” दूसरा “ण नारीगणपसंवतु” दोनों पाठ प्रायः श्री-संसर्ग से बचने का आशय रखते हैं ।

टीका :—हे पुरुष ! नारीगणप्रसक्तो मा भूः आत्मनश्चाबन्धवः हे पुरुषाः यस्मात् आरंभाद् ब्रजथ नरकमिति शेषः, तस्माद् युद्धशीलो जनोऽपि ब्रजति, स्त्रीगृहो हिंसकश्चोभौ पापकारिणौ कर्मफलं लप्स्येते इति भावः ।

हे पुरुष ! नारीवृन्द पर आसक्त मत हो, साथ ही अपना शत्रु भी मत हो । हे पुरुष ! जिस आरंभ (पाप) से नरक के द्वार पर आत्मा पहुँचता है उस युद्ध की मयानक वृत्ति से भी तुम दूर रहो । स्त्रियों में आसक्त और हिंसक ये दोनों पाप-कारी आत्माएँ कर्मफल को प्राप्त करते हैं ।

निरंकुसे व मातंगे छिण्णरस्सी ह्य वि वा ॥

णाणपग्गहपग्गहे विविधं पवसे नरे ॥ ४ ॥

अर्थ :—निरंकुश हस्ति और लगामबिहीन अथ नानाविध रस्तियों को तोड़ देता है । इसी प्रकार ज्ञानरूप प्रग्रह से भ्रष्ट मनुष्य भी अनेक रूप में दौकता है और विनाश को प्राप्त होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ નિરંકુશ હાથી અને લગામ વગરનો ઘોડો રસ્સીઓને તોડી દિયે છે, તેમ જ્ઞાનરૂપ પ્રગ્રહ (મર્યાદા) થી ભ્રષ્ટ થયેલો માણસ પણ આમ તેમ ફોડે છે અને વિનાશને પામે છે.

टीका :—निरंकुश इव मातंगः छिन्नरस्मिद् ह्योऽपि आमयति एवं ज्ञानप्रग्रहः विविधं प्लवते, विनाशं गच्छति नरः ।

अर्थ उपरवत् है ।

मर्यादा-भंग करने वाले मानव का जीवन अंकुशबिहीन हस्ति और बेलगाम घोड़े की भांति खतरनाक होता है । वह ऋषि और सन्तों के व्रतों की मर्यादा के बंधनों को तोड़कर आत्म-पतन करता है ।

“हए” का पाठान्तर “रवे” मिलता है। जिसका अर्थ शब्द होता है, जो कि छिन्न रस्सी के साथ ठीक नहीं बैठता है।

णावा अकर्णधारा व सागरे वायुणेरिता ॥

चंचला धावते णावा सभावाओ अकोविता ॥ ५ ॥

अर्थ :—नाविक (मछलाह) रहित नौका वायु से प्रेरित होकर सागर में इतस्ततः दौड़ती है। इसी प्रकार अकोविद मानव भी स्वभाव से भटकते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

नाविक वगैरानी नाव डवाने बीधे समुद्रमां आभ तेम छोडे छे तेम अज्ञानी भाणुस पणु (संसारमां वासनाथी प्रेराधने) आभ तेम छोडे छे.

सागर में पड़ी हुई मछलाह रहित नौका वायु के थड़ों से इतस्ततः लक्ष्य-हीन दौड़ती है। ज्ञान-शून्य आत्मा अपने आपको इच्छाओं की लहरों पर छोड़ देते हैं। इच्छाओं की लहरों पर तैरने वाला लक्ष्य हीन होकर भटक जाता है।

टीका :—अकर्णधारा नौरिव सागरे वायुणेरिता चंचला धावते नौरिति द्वितीयपदं स्वभावावकोविदा। अर्थं गतं।

मुक्तं पुष्पं व आगासे निराधारे तु से णरे ॥

ददसुंबणिबद्धे तु विहरे बलवं विहिं ॥ ६ ॥

अर्थ :—आकाश में फँका हुआ पुष्प, निराधार मानव और दड़ रस्सी से बद्ध पक्षी के लिये विधि ही बलवान है।

गुजराती भाषान्तर :—

आकाशमां ईकायव्वा डूल, (समुद्रमां पडेव्वा) निराधार भाणुस अने मज्जुत दोरडाथी अंधायेव्वा पक्षी अने अंधानी सद्धता अने शान्ति लाव्यने आधारे छे.

आकाश में उड़ता हुआ पुष्प कहाँ जा गिरेगा, अपार सागरमें पड़ा मानव कहाँ थाह पाएगा और सुदृढ़ सूत्र से बंधा पक्षी कब लक्ष्य पर पहुँचेगा? उसके लिये कोई कुछ कह नहीं सकता। उसका भाग्य ही वहाँ एक मात्र सहायक हो। अर्थात् इनका लक्ष्य स्थान पर पहुँचना विधि के हाथों में है। अथवा आकाश में फँके गये पुष्प की भाँति वह मनुष्य निराधार है। तथा बंधे हुए पक्षी के भाँति उसका जीवन है। उसके लिये विधि ही बलवान है। अथवा उसकी मुक्ति के लिये तप की विधि ही बलवती है। वही उसे अशान्ति से मुक्त कर सकती है।

टीका :—पुष्पमिवाकाशे मुक्तं स्थापितं एवं निराधारः स नरः पुष्पमिव ददशुम्बनिबद्धं एवं ददसूत्र निबद्ध इति षष्ठे श्लोकेऽभिहितमिदं विधायाह्वयः नरो बलवन्तं तपोविधिं विहरेदिति। विहरते सकर्मकः प्रयोगः। अर्थं गतं।

छठे श्लोक में जो कहा गया है वही नवम अध्याय में अध्याहार्य है।

सुप्तमेतगतिं चेव, गंतुकामेऽपि से जहा ॥

एवं लब्धा वि सम्मग्गं, सभावाओ अकोविते ॥ ७ ॥

अर्थ :—सूत्र मात्र ही उसकी गति है और वह गमन करना चाहता है। स्वभाव से अकोविद पुरुष सम्यक् मार्ग को प्राप्त करके भी लक्ष्य स्थान को नहीं पा सकते।

गुजराती भाषान्तर :—

वे भाणुसो स्वभावथी दुशण नथी तेओ सम्यग् मार्गने प्राप्त करीने पोताना लक्ष्य तरङ्ग वर्ध शकता नथी. पणु ते सूत्रना अनुसारेव्वा गति करी शकें छे.

बागे से बंधा पक्षी गति करना चाहता है उपर उसकी दौड़ वहीं तक है जहाँ तक कि धागा है। उससे वह आगे नहीं बढ़ सकता। इसी प्रकार जो स्वभावतः कुशल नहीं है, स्वतः ज्ञानसम्पन्न नहीं है वे सम्यक् मार्ग प्राप्त करके भी आगे नहीं बढ़ सकते। वे परम्परा के बागे से (सूत्र से) चिपटे रहेंगे, पर उनके विशेषार्थ तक पहुँच कर आत्मसाधना करना उनके वश की बात नहीं है।

जं तु परं णवण्हिं अंबरे वा विहंगमे ॥
ददसुत्तणिबद्धेत्ति सिलोको' ॥ ८ ॥

अर्थ :—जो दूसरे को नवीन विचारधाराओं के द्वारा आकाश में विहंगम बने देखते हैं । पर वे अपने आप को हड़ रज्जुबद्ध पाते हैं । शेष छठे श्लोक की भांति है ।

गुजराती भाषान्तर :—

जे (भाष्यसी) गीळने नवीन विचारोना आधारें आकाशमां (स्वतंत्र) पक्षीनी जेम (उडता) गुवे छे, पक्षु पोताने दोरडीथी पंधायेळो गुवे छे.

जब साधक दूसरे को स्वतंत्र उड़ान भरते देखता है और अपने आप को सुहृद पाश में बंधा हुआ पाता है, तो उसका हृदय मुक्त गमन में उड़ान भरने के लिये वैसा ही छटपटाता है जैसा पाश में बद्ध पक्षी । तन्मयवृष्टि आत्मा मुक्ति की ओर लाने वाले महापुरुषों को देखता है तब भी उसे बन्धन की कठोरता अखर जाती है ।

णाणा-पग्गहसंबंधे, धित्तिमं पणिहित्तिदिष ॥
सुत्तमेसगती चेव, तथा साधू गिरंगणे ॥ ९ ॥

अर्थ :—नानाविध नियमों (प्रग्रह) के सम्बन्ध में धैर्यशील दमितेन्द्रिय निर्माण साधु सूत्रमात्र गति का अवलंबन लेता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

अनेक प्रकारना गुहा गुहा नियमोना संबन्धमां धैर्यशील, धन्द्रियोने दमन करनार, अने स्त्रियोथी दूर रहेनार साधु सूत्रने अवलंबीने न गति करे छे.

इच्छा स्वयं एक पाश है । इच्छा की पूर्ति में सुख की कल्पना आत्मा की वद्ध दशा है जब कि इच्छानिरोध मुक्ति का द्वार है । इच्छाओं का गुलाम सारे जगत का गुलाम है । आशा के पाश में बद्ध व्यक्ति का चित्र ठीक वैसा ही होगा जैसा सेकड़ों बन्धनों से बन्धे हुए अश्व का चित्र । न वह इस ओर हिल सकता है और न वह उस ओर । साधक विविध नियमों द्वारा इच्छा के पाश को तोड़ता है और स्वतंत्र बनता है । नियमों के सम्बन्ध में धैर्यशील साधक सूत्र की गति का अवलंबन न ले ।

सच्छन्दगतिपयारा, जीवा संसारसागरे ॥
कम्मसंताणसंबद्धा, हिंसन्ति विधिहं भवं ॥ १० ॥

अर्थ :—सच्छन्द गति से घूमने वाली आत्माएँ कर्म-संतति से सम्बद्ध होकर विविध भवों में भटकती हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

स्वैर वृत्तिथी अटकुवावाणा आत्माओ, ऊर्भेथी पंधाएने अवोबव परिअमणु करे छे.

पिछली गाथा में बताया गया है, साधक इच्छानिरोध के लिये सूत्र द्वारा निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़े । क्यों कि आगम की मर्यादाओं को तोड़कर सच्छन्द आचरण रखने वाले प्राणी कर्म वेष्टित होकर भवपरम्परा में परिभ्रमण करते हैं ।

कम्मसंताणः—कर्म आत्मा के साथ सन्तति प्रवाह से ही सम्बद्ध है । कोई भी कर्म अनन्त अनन्त काल तक के लिये आत्मा के साथ बंध नहीं जाता है, किन्तु समय की अमुक सीमा विशेष को लेकर ही कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं । किन्तु जब उनका विपाकोदय होता है उस समय वह आत्मा शुभनिमित्त को पाकर राग की परिणति लाता है और अशुभ-निमित्त पर द्वेष परिणति रखता है । ये ही परिणतियाँ पुनः अनन्त अनन्त नये कर्मों की वर्गणाएँ आकृष्ट करती हैं और आत्मा उनसे संबद्ध होता है ।

इत्थीणुभिद्धे वसप, अप्पणो य अबंधवे ॥
जत्तो विवज्जती पुरिसे, तत्तो विज्जविणे जणे ॥ ११ ॥

अर्थ :—नारीविषयों में अनुगृह्य (लोलुप) रहने वाला आत्मा अपने आपका भी दुश्मन होता है । पुरुष जितना जितना इसका विवर्जन करता है उतना वह उपशान्त रह सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

विषयोमां लोलुप रहेवावाणो आत्मा पोतानो न स्वयं पक्षु दुश्मन छीय छे. पुरुष जेटळो तेनाथी दूर रहे छे, तेठळो न ते शान्त रही शके छे.

वासना वासित आत्मा स्वतः स्वभाव दशा की इत्या करता है । आत्म-गुणों को नष्ट कर आत्मा का पतन करता है, अतः वह आत्मा का शत्रु ही है । दूसरी ओर मोह के आवेग में आत्महत्या करने वालों की भी कमी नहीं है । अतः साधक को इससे दूर रहने का संकेत किया गया है । वह निवर्जन केवल पार्थिव ही न हों अपि तु मानसिक भी होना चाहिये । जिवनी दूरी है उतना ही मन शान्त रहेगा ।

ममती मुक्कमप्पाणं पडिबद्धे पलायते ॥

धिरते भगवं वक्कलचीरि उग्गतवेत्ति ॥ १२ ॥

एवं से बुद्धे ॥

अर्थ :—जो अपने आपको मुक्त मान लेता है वह प्रतिबद्ध होकर पलायन करता है । किन्तु भगवान् वक्कलचीरि ही संसार के दावानल से बाहर निकलते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

जे स्वयं पीताने मुक्त मानी वेसे छे, तेने सामेथी (कर्मथी) अंधाईने लागवुं पडे छे. परंतु भगवान् वक्कलचीरि व संसाररूपी दावानलभांथी अक्षर नीकणे छे.

बहुत से लोक अपने आपको मुक्त मानते हैं, किन्तु केवल मान लेने मात्र से आग छपी नहीं हो जाती । मुक्त मान लेने पर भी वह आत्मा कर्म-शृंखलाओं से प्रतिबद्ध होकर पलायन करता है । तो वह 'बदती व्याघात' हुआ । मुक्त आत्मा पुनः कर्मबद्ध हो संसार में परिभ्रमण नहीं करेगा ।

छट्टं वक्कलचीरिणामज्झयणं ॥

॥ वक्कलचीरिमोक्तं षष्ठं अध्यायनं समाप्तम् ॥



सप्तम अध्ययन

कुम्भापुत्र इति-भासिय अध्ययन

घर में कैवल्य पाने वाले अर्हर्तर्षि कुम्भापुत्र दुःख से मुक्त होने के लिये प्रेरणा दे रहे हैं। दुःख क्या है और दुःख के कारण क्या है? उत्सुकता याने उत्सूयता स्वयं एक दुःख का हेतु है। शास्त्रवाक्यों को तोड़-भरोड़ कर उस से मनमाना अर्थ निकालना और उसके द्वारा अपना अभीप्सित पूरा करना गलत है। भोली जनता को भुलावा देकर शास्त्रों की दुहाई देकर उस ओट में वैयक्तिक हितों का पोषण करना एक पाप है। किसी भी लेखक के शब्दों को गलत ढंग से रख कर उसका वह अर्थ कर डालना जो स्वयं लेखक को मान्य न हो तो लेखक के प्रति अन्याय होगा। दूसरी ओर उत्सुकता और इच्छा स्वयं दुःख का हेतु है। इच्छाओं के बहाव में रहने वाला बिना पतवार की नौका की तरह भटकता है, इच्छा की तृप्ति के लिये वह साधना करता है, समाज-सेवा करता है, राष्ट्रीयता अपनाता है, तो भी अन्तर में छिपी वासना उसे कहीं शान्ति नहीं पाने देती। यही सब कुछ प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद है।

सर्वं दुःखावहं दुःखं दुःखं सुउसुयत्तणं ॥

दुःखीव दुःकरचरियं चरित्ता सर्वदुःखं खवेति तवसा ॥ १ ॥

अर्थ :—समस्त दुःख दुःखप्रद है। उत्सुकता अथवा उत्सूयता सबसे बड़ा दुःखी के सदृश दुःकर साधना करके तप के द्वारा साधक समस्त दुःख का क्षय करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

अर्थां दुःखो ऽष्ट आपनार छे. उत्सुकता अथवा उत्सूयता सौथी मोहुं दुःख छे. दुःखीनी जेम दुःकर साधना करीने, तपद्वारा साधक समस्त दुःखोनो क्षय (नाश) करे छे.

दुःख का नाम ही आत्मा को दुःखी करता है। वह दुःख से दूर भागना चाहता है। किन्तु दुःख भी दुनियाँ की निकम्मी चीज नहीं है। कमल कीचड़ से पैदा होता है, उसी प्रकार वैराग्य भी प्रायः दुःख से ही आता है। गर्मा से पारा पिघलता है, उसी तरह दुःख की आँच में मानव का बन्धुत्व प्रसरता है। दुःखी व्यक्ति सत्रमें आत्मीयता के दर्शन करता है। दुःखी यदि दुःख में समभाव की साधना करता है तो वह सर्त की कोटी में पहुँच जाता है साथ ही साधक इच्छा को नियंत्रित करे। क्योंकि वही तो अशान्ति की जड़ है। इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है तो इच्छा की पूर्ति भी सुख न होकर दुःख का द्वारा खोलती है, अतः साधक इच्छा-निरोध करे। ऐसा करके साधक स्थूल रूप से दुःखी की धेजि में आ जाएगा और दुःखी मानव की भाँति आवश्यकताओं को सीमित करेगा, किन्तु अन्तर में वह तप की ज्वाला द्वारा समस्त दुःखों को समाप्त कर देता है।

टीका :—सर्वं दुःखावहं दुःखं; सोत्सुकत्वमिच्छा। दुःखी वा सि इवेति न, किन्वेवेति।

इच्छा समस्त दुःखों के कारण है तथा स्वयं दुःखरूप है। दुःखीव शब्द से यहाँ दुःख के समान ऐसा अर्थ न लिया जाय अपि तु वह दुःखी ही है, इस रूप में उसे ग्रहण किया जाए।

प्रोफेसर शुब्रिंग इस सम्बन्ध में अपना अभिप्राय निम्न रूप में प्रदर्शित करते हैं—

प्रत्येक दुःख अपने साथ नया दुःख लाता है। पहिले से किसी वस्तु की अभीप्सा (उत्सुकता) भी दुःख है। साधुत्व समस्त दुःखों का अन्त कर सकता है। साधना के पथ में आने वाले कष्टों को सहना चाहिये। प्रथम श्लोक साधना में आने वाले दुःखों का वर्णन करता है।

तम्हा अदीणमणसो दुःखी सर्वदुःखं तित्तिक्खेज्जा ॥

सेसि कुम्भापुत्तेण अरहता इसिणा बुद्ध्यं ॥ २ ॥

अर्थ :—अतः दुःखी व्यक्ति अदीन मन होकर समस्त दुःखों को सहन करे। कुम्भापुत्र अर्हर्तर्षि इस प्रकार बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

तेथी दुःखी व्यक्तिओओ, दीन दीन न थतां सर्वं प्रधारना दुःखोनो (समभावथी) सहन करवा ओम “कुम्भापुत्र अर्हर्तर्षि” ओ प्रभाओ ओओ.

इच्छा अन्य दुःख पर साधक विजय पाए, किन्तु उसके बाद भी शारीरिक वेदना कभी सता सकती है। दुःख आना यह एक बात है, किन्तु उसके साथ हीन मनोवृत्ति का आना दूसरी बात है। दुःख शरीर के तेज को समाप्त करता है, तो हीन मनोवृत्ति आत्मा की चमक को समाप्त करती है; इसलिये गरीबी बुरी नहीं है, हीनता बुरी है। गरीबी में सुखी रोटी चटनी के साथ खाकर भी आदमी के चेहरे पर मुस्कान बनी रह सकती है, किन्तु हीनता में दूसरों की गुलामी है। हीनता में भी विनम्रता है, किन्तु स्वार्थ भावना से दूषित है। इसीलिये दुःख आने पर भी साधक हीनता न आने दे। उत्तराध्ययन में परिसह अध्ययन में क्षुधा पीड़ित होने पर भी साधक भोजन की याचना करे, किन्तु याचना भी हीन वृत्ति से बूर रहे "अवीणमणसो चरे" उपा. अ. २.

जनवादो ण तापज्जा अत्थितं तत्तसंजमे ।

समाहिं च विराहेति जेरिट्ठचरियं चरे ॥ ३ ॥

अर्थ :—तप-संयम के अस्तित्व में जनवाद आत्मकल्याण नहीं कर सकता। जो देशाचार में पड़ता है वह समाधि को भी खो बैठता है।

गुजराती भाषान्तर :—

तप-संयमना अस्तित्वमां जनवाद आत्म-कल्याण करी शकतो नथी, जे देशाचारमां पडे छे ते समाधिने पणु भोई ऐसे छे.

विशेषणा से उपरत होने के बाद भी मानव लोकैषणा की ओर हाथ बढ़ाता है। यश की भूख भी मानव के मन में सुरक्षित स्थान रखती है। आगे आने के लिये हर संभव प्रयत्न करता है, सेवा भी करता है, किन्तु सेवा का तोल वह यश से करता है। उसका लक्ष्य सेवा न रह कर यश-लिप्सा होगा। यश का मोह उसे राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पटकता है, वहाँ भी ख्याति के प्रवाह में औचित्य का विचार भी न करेगा और आत्मसमाधि को भी खो बैठेगा।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं :—

आक्षिप्तं निन्दितं पुरुषं जनवादो न त्याजयेत् । तपःसंयमौ समाधिं च विराधयति स हि नस्ति योरिष्टाचरियं अपूर्ण-तपश्चरियं चरति ।

आक्षिप्त अर्थात् निन्दित पुरुष को जनवाद त्यागता नहीं है। अर्थात् जो साधक संयम पथ से गिर जाता है। जन साधारण उसकी तीव्र निन्दा और भर्त्सना करता है। परिणाम यह आता है साधक गिर कर संभलने के बजाय तप संयम और समाधि भाव सब कुछ खो देता है। साथ ही जो अपूर्ण तप करता है वह कभी हिंसा के लिये भी तत्पर हो जाता है।

आलस्येणापि जे केह उस्सुअत्तं ण गच्छति ।

तेणापि से सुखी होइ किं तु सिद्धि परक्रमे ॥ ४ ॥

अर्थ :—आलस्यवश भी कोई मानव उत्सुकता-इच्छा के पथ में नहीं जाता है। उससे भी वह सुखी हो सकता है यदि भ्रष्टावान् सही पुरुषार्थ करे तो फिर क्या? अवश्य सफलता पा सकता है।

सिद्धि का पाठान्तर सद्धी भी है उसका अर्थ शहीद या सहीर शहीद या धैर्ययुक्त पुरुष पराक्रम करे, आलस्य न करे।

गुजराती भाषान्तर :—

आणसु भनुप्य पणु उत्सुकता-छच्छाना पथे जातो नथी, तेनाथी पणु ते सुखी थई शके छे, जे भ्रष्टावान् छोय अने पुरुषार्थ करे तो पछी शुं? जर विजय भेजवी शके छे. सिद्धिनुं पाठान्तर सद्धी पणु छे, तेनो अर्थ शहीद अथवा सहीर, शहीदशील अथवा धैर्ययुक्त पुरुष पराक्रम करे, पणु आणस न करे.

प्रमाद की गणना पांच पापों में है, किन्तु वह प्रमाद यदि आत्मा को अज्ञान से रोकता है तो द्रव्य प्रमाद इतना अनिष्ट कारक नहीं होता, क्योंकि यदि आलस्य को लेकर भी मानव पाप की ओर प्रवृत्त नहीं होता है तो भी वह नारक से तो बच जाता है। किन्तु आत्मा यदि विचार पूर्वक अपने पुरुषार्थ को आत्मसिद्धि की ओर मोड़ देता है तो अपने लक्ष्य को पा लेता है।

टीका :—यः कश्चिदालस्येन कारणतोत्सुकत्वं न गच्छति तेनापि स सुखी भवति इ. अ. किन्तु परन्तु शहीद सहीर धीमान् वा पराक्रमेवालस्यं न गच्छेत् ।

आलस्य से भी जो कोई पापक्रिया में उत्सुकता नहीं रखता है वह भी सुखी होता है। फिर भी भ्रष्टावान् धैर्यशील साधक पुरुषार्थ चादी बने। आलस्य का परि त्याग कर शुभ में प्रवृत्ति के लिये उठ खड़ा हो।

आलस्यसंतु परिण्णाप जाती-मरण-बंधणे ।
उत्तिमद्वरगगाही वीरियातो परिच्यप ॥ ५ ॥

अर्थ :—प्रमाद जन्म-मृत्यु के बंधन रूप में परिज्ञात है । श्रेष्ठ ग्राही आत्मा श्रेष्ठ अर्थ के लिये शक्ति के साथ विचरण करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

प्रमाद (लूझ) जन्म-मृत्युना बंधन रूपमा परिज्ञात छे । श्रेष्ठ ग्राही आत्माशे श्रेष्ठ अर्थ भाटे शक्तिनी साथे यादवुं जेईये ।

प्रमाद स्वयं एक मौत है । अतः साधक उससे सावधान रहे । अच्छाई का ग्राहक व्यक्ति के साथ घूमें । विहार करे । धमण संस्कृति पुरुषार्थ में विधायक करती है । उसके आराध्य देव स्वयं धमण भगवान् थे । उन्होंने गौतम जैसे साधक को अप्रमत्त रहने के लिये उद्बोधन दिया है । अतः आलस्य से पाप में न जाने यह ठीक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि आलस्य अच्छा है । इसीलिये प्रस्तुत गायथा में साधक को अप्रमत्त रहकर विचरण करने की प्रेरणा दी गई है ।

कामं अकामकारी अत्तत्ताप परिच्यप ।

सावज्जं निरवज्जेणं परिण्णाप परिच्यपज्जासि ॥ ६ ॥

अर्थ :—साधक काम को अकाम बनाकर अर्थात् कामपर विजय पाकर विचरण करे । सावध को निरवध से परिज्ञात कर विचरे ।

गुजराती भाषान्तर :—

साधके कामने अकाम बनावीने अर्थात् (जेईये के) काम पर विजय भेजवीने यादवुं जेईये । सावधने निरवधधी परिज्ञात करीने यादवुं जेईये ।

परिज्ञा के दो प्रकार बताये गये हैं । ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा । साधक ज्ञपरिज्ञा से सावधार्थ्य को जाने और प्रत्याख्यान से उसका परित्याग करे । आचारोंग सूत्र में यह पाठ बहुत स्थानों पर आया है ।

पिछली गायथा में बताया गया है कि साधक पुरुषार्थ-वादी बने । पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । धमण संस्कृति में अर्थ, काम हेतु है और धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ उपादेय हैं । उसी की ओर इंगित करते हुए बताया है साधक काम को अकाम अर्थात् उसे विकल करे ।

वासना का त्यागी मुनि केवल आत्म-शुद्धि के लिये ही साधना करे । स्वर्ग के फूल और नरक के झूल उसके मन में आकर्षण और भय पैदा न कर सकें । तत्त्वज्ञ की साधना स्वर्ग के वैभव के लिये न वह नरक की आग से बचने के लिये भी साधना करेगा । वह इसलिये तप नहीं करता कि यहाँ एक दिन भूखा रहने से अगले जन्म में इसके बदले में हजार गुना स्वाद्य सामग्री मिलेगी ।

दशवैकालिककार बोलते हैं (अ. ९ उद्देश ४-)

नो इहलोगद्वयाप तव महिद्विजा ।

नो परलोगद्वयाप तव महिद्विजा ।

नो किञ्चि-वण्णसदसिलोगद्वयाप तव महिद्विजा ।

नधत्थ निज्जरद्वयाप तव महिद्विजा ।

साधक इस लोक के भौतिक दुकड़ों को लक्ष्य में रखाकर भी तप न करे । न अगले जन्म के लिये ही वह शरीर को छुलावे । प्रशंसा के फूल उस के मन को न लुभावे । किन्तु केवल आत्मा को कर्मबन्धन से विमुक्त करने के लिये ही वह साधक तप का आराधन करे ।

टीका—कामं अकामकारी परिचजेत् । अत्तत्तेत्ति आत्मस्वार्थ आत्महितार्थ सर्व सावधं परिज्ञाय प्रत्याख्याय निरवधेन चरितेन परिचजेत् ।

काम को निष्काम बनाकर साधक विचरे । साधक आत्महित के हित को प्रमुखता देकर सावध प्रवृत्ति परिज्ञात कर उसका परित्याग कर निरवध चारित्र को लेकर विचरे ।

एवं से वुद्धे ॥ गतार्थ ॥

सत्तमं कुम्मापुत्तणामज्झयणं

सत्तम कुर्मापुत्त नामक अध्ययन समाप्त ॥

केतली नाम अट्टमज्ज्ञयणं

केतली पुत्र अर्हतर्षि भाषित अष्टम अध्ययन

आरं दुगुणेणं पारं एक गुणेणं ।
(ते) केतलीपुत्तेण इसिणा बुद्धं ॥ १ ॥

अर्थ :—इस लोक में जीव दो गुणों से युक्त रहता है । दो गुणों से मतलब ज्ञान और चारित्र्य हो सकते हैं । परलोक में आत्मा के साथ केवल एक गुण ज्ञान ही रहता है । चारित्र्य साथ नहीं जाता । भगवतीसूत्र में पूछा गया है, कि ज्ञान आत्मा के साथ इस भव में रहता है या पर भव में ? इसका समाधान करते हुए प्रभु बोले—गौतम ! ज्ञान इस जन्म में भी होता है और अगले जन्म में भी साथ रह सकता है^१ । चारित्र्य के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है, वह केवल इसी जन्म में रहता है ।

गुजराती भाषान्तर—

आ बोधमां एव ये गुणोत्थी युक्त होय छे ये गुणो ओटले ज्ञान अने चारित्र्य थई शके छे । परलोकमां आत्मान्नी साथे ज्ञान रहता छे, चारित्र्य साथे नहुं नथी । भगवती-सूत्रमां पूछयुं छे के आत्मान्नी साथे ज्ञान आ अवमां रहे छे के परभवमां ? तेनुं समाधान करता प्रभु बोल्या—गौतम ! ज्ञान आ जन्ममां पणु होय छे अने आवता जन्ममां पणु साथे रही शके छे, चारित्र्यना संबन्धमां आतुं नथी, ते मात्र आव अवमां (जन्ममां) रहे छे ।

टीकाकार इस सम्बन्ध में मिश्रमत रखते हैं :—आरं ति हृल्लोके द्विगुणेन द्विगुणपाशेनेव दहतं बध्यते जीव इति शेषः । पारं ति परलोकं एकगुणेन सम्यक्त्वेन ।

आरं अर्थात् इसलोक में द्विगुणित पाश से आत्मा बन्धुता है । पारं अर्थात् परलोक में एक गुण से अर्थात् से बंधता है । यह अर्थ अस्पष्ट है । द्विगुण से क्या लिया जाय राग या द्वेष ? हों, राग द्वेष से आत्मा बंधता है किन्तु इसके साथ यह भी प्रश्न आता है क्या राग द्वेष इसी भव में बंधन कारक हैं, अगले जीवन में नहीं ? दूसरा प्रश्न परलोक में एक गुण बंधन कारक है वह एक गुण है सम्यक्त्व तो क्या सम्यक्त्व भी बन्धन कारक है^२ । सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध रूप है, फिर वह बन्धन कारक कैसे हो सकता है ? अतः प्रथम गाथा का प्रस्तुत अर्थ उचित नहीं जान पड़ता ।

द्विगुण से मतलब ज्ञान और चारित्र्य का ग्रहण उपयुक्त है । एक गुण से अभिप्राय ज्ञान से हो सकता है । यह बंध का नहीं, बंधच्छेद का अभिप्राय है । जो कि अगली गाथा से स्पष्ट होता है—

इह उत्तमगन्धेयप रत्नसमिया लुप्यन्ति ।
गच्छन्ती सयं वा छिद् पाचप ॥ २ ॥

अर्थ :—इस श्रेष्ठ गंध का ज्ञाता रथ की शम्भा (रखके चक्र से बनी रेखा) की भांति पाप कर्म को नष्ट करता है ।
गुजराती भाषान्तर :—

आ श्रेष्ठ गंधनो जालुकार रथनी शम्भा (रथना चक्रथी अनेही रेखा) भाइक पाप कर्मोनो नाश करे छे ।

‘गंध’ का पाठान्तर गंध है, उसका अर्थ यदि सौरभ लिया जाय तो जीवन की खुशबू होगा । जीवन की सुगन्ध सर्व श्रेष्ठ सुगन्ध है ।

धम्मपद वर्ग में भी कहा गया है :—

चंदणे तगरं चापि उप्यले अथ वस्सकी ।
एत संगंधजातानं सीलंगंधो अणुत्तरो !—धम्मपद पुष्पवर्ग ॥

१—इह भविष्य भन्ते । पाणे पर भविष्य नाणे तदुभविष्य पाणे ? गोयमा इह भविष्य वि नाणे, पर भविष्य वि नाणे, तदुभविष्य वि नाणे । इह भविष्य भन्ते चरित्ते पर भविष्य चरित्ते तदुभयभविष्य चरित्ते ? गोयमा ! इह भविष्य चरित्ते, नो पर भविष्य चरित्ते नो तदुभय भविष्य चरित्ते । २—मूलाय परिणाम एवंतु—नवतत्त्वभाष्य, आत्म विनिश्चयते बोधः दर्शनं तत्त्व विनिश्चयते । स्थितिरात्मनि चारित्र्यं कुत एतेभ्यः भवति बन्धः । ३—गंधः

टीका :—हे पुरुष ! जीवरक्षक शम्याय हवानिभ इव छिन्दि पापकर्म ! रथशम्या लुप्यमाना सच्छति नश्यति ।

हे साधक ! आत्मा रूप रथ के चरण चिन्हवत् पाप कर्म को नष्ट करो । रथ चलता है और पीछे रेखा छोड़ता जाता है । इसी प्रकार आत्मा जो क्रिया करता है उसके अनुरूप शुभाशुभ बन्ध करता है पाप कर्म को नष्ट करो ।

स्वयं वोर्द्धिदय कम्मसंचयं

कोसारकीडेव जहाइ बंधणं ॥ ३ ॥

अर्थ :—जैसे रेशम का कीड़ा बंधन को छोड़कर मुक्त होता है, इसी प्रकार आत्मा स्वयं ही कर्म दलिकों को त्यागकर मुक्त होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

ये प्रमाणे रेशमनी छोडे बंधन तोडीने मुक्त थाय छे, तेण प्रमाणे आत्मा स्वयं कर्मना बंधनोनी त्याग करीने मुक्त थाय छे.

ग्रंथ छेद महामुनि कोशार (रेशम के) कीड़े की भांति बंधन को छोड़कर स्वयं मुक्त होता है ।

कोशार नामक रेशमी कीड़ा होता है । सहजतः खाता है, लोग उसे पालते हैं । कुछ दिनों के बाद वह अपने मुँह से एक तंतु सी छोड़ता है । उसे अपने शरीर पर लपेटता जाता है । वह तार सैकड़ों गज लम्बा होता है । उसके द्वारा स्वयं बंध जाता है । बाद में उसे गर्म पानी में छोड़ा जाता है, उष्णता से सारे तार बहू तोड़ देता है । आत्मा कोशार (रेशमी कीड़े) के सदृश स्वयं अपनी विभावपरिणति के द्वारा कर्म दलिकों का संवय करता है, किन्तु सम्यग्दर्शन पाकर तप की ज्योति लगते ही स्वयं ही कर्मबन्धनों के रेशमी धागे को तोड़कर मुक्त होता है ।

जैन दर्शन इस चीज में विश्वास नहीं रखता है कि हमारी आत्मा को कर्म से विमुक्त करने के लिये कोई अदृश्य शक्ति आएगी । अनन्त काल तक परमात्मा के नाम पर घूटने टेक कर गिदगिहाते रहो । हुनियों की कोई दूसरी शक्ति बंधन को तोड़ नहीं सकती । आत्मा की सोई हुई अनन्त अनन्त शक्ति जब जागृत होती है तब वह स्वयं ही कर्म जंजीरों को तोड़कर मुक्त होता है ।

टीकाकार इस संबंध में भिन्न मत रखते हैं :—उत्तमग्रंथच्छेदको विशिष्टो मुनिर् लोकग्रन्धनं जहाति कोशाद् रथनिदाद् वरकील इव अत्र प्रथमतृतीयपादयोर्विनिमयो द्वितीयाध्ययनवत् कार्यः ।

राग द्वेष की ग्रंथि का छेदन करने वाला विशिष्ट उत्तम मुनि लोकग्रन्धन का त्याग करता है । जैसे रथ की धुरी में से कील निकल जाने पर रथ भंग हो जाता है । उसी प्रकार साधक संसार रूप रथ की कील राग द्वेष को नष्ट कर देता है, इस प्रकार वह भवका अंत कर देता है । द्वितीय अध्ययन की भांति यहाँ भी प्रथम और तृतीय पाद मिल गये हैं ।

प्रोफेसर शुक्तिंग भी लिखते हैं—वाहन के खीले की भांति तुम्हारे दोष संसार के संबंध को बनाये रखते हैं और खीले के निकलते ही रथ की गति बंद हो जाती है । इसी प्रकार पाप हटते ही सांसारिक जीवन समाप्त हो जाता है ।

तम्हा एयं वियाणिय गंधजालं दुक्खं दुहावहं छिंदिय ठाइ संजमे ।

से हु मुणी दुक्खा विमुच्चह भुवं सिवं गइ उवेइ ॥ ४ ॥ (प्रत्यन्तरे)

अर्थ :—इस प्रकार अभ्यन्तर ग्रंथि जाल को दुःख का हेतु और दुःखरूप जानकर साधक उसका छेदन करता है और संयम में स्थित होता है, वही मुनि दुःख से विमुक्त होता है । आयु-समाप्ति के बाद शाश्वत शिवरूप सिद्ध स्थिति को प्राप्त करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

आ प्रमाणे अभ्यन्तर ग्रंथिजालने दुःखनुं कारण अने दुःखइय जाणीने साधक तेनुं छेदन करे छे अने संयममां स्थिरता भेणवे छे, तेण मुनि दुःखनी विमुक्त (पर) होय छे. आयुध्य पूर्ण थया पछी शाश्वत शिवरूप सिद्धस्थितिने पावे छे.

मिथ्यात्व और कषायों की ग्रंथियाँ ही दुःखों के लिये बद्धमूल हैं और इसे मैं अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही भेद सकता हूँ। यह परिज्ञान पाते ही आत्मा संयम में स्थित होता है और संयम की परिणति में लीन मुनि समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

टीका :—तस्माद् य एतद् ग्रंथजालं विविधानि लोकबंधनानि विज्ञाय दुःखं दुःखावहं चित्वा संयमे तिष्ठति स खलु मुनिर्दुःखाद् विमुच्यते।

अतः जो ग्रंथ जालरूप विविध प्रकार के लोकबंधनों को जानकर दुःख को दुःख का हेतु जानकर संयम में रहता है वही साधक दुःख से विमुक्त होता है।

एवं से बुद्धे० ॥ गतार्थ

केतलीपुत्र अर्हतर्षिप्रोक्त

॥ इति केतलीपुत्राध्ययनं ॥

॥ इति अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन

नवम महाकाश्यपः

महाकाश्यप अर्हतर्षिभाषित

जन्म और मृत्यु की परम्परा कर्म के अस्तित्व को सूचित करती है। जब तक कर्म उपस्थित है तब तक भवभ्रमण चालू रहेगा। कार्य की समाप्ति के लिए कारण को समाप्त करना होगा। संसार रंग मंच पर होने वाली घटनाएँ, विधिवत्ताएँ, दुःख और त्रास के रोमांचक दृश्य पर्दे के पीछे एक ही सूत्रधार काम कर रहा है, वह है कर्म जब तक कर्म सूत्रधार है। भयानक नाटक के दृश्यों को समाप्त करने के लिए सूत्रधार को अलग हटाना होगा। कर्म की फिलोसफी ही प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

जाव जाव जन्मं ताव ताव कम्मं, कम्मणा खलु भो

पया सिया, समियं उवनिच्चिज्जइ, अवचिज्जइ

य, इइ महाकासेवेण अरहता इसिणा बुद्धं ॥

अर्थ :—जब तक जन्म है तब तक कर्म है। कर्म से ही प्रजा उत्पन्न होती है। सम्यक् चरित्र के अनुसरण से कर्मों का अपव्यय होता है और वे सम्पूर्ण क्षय भी हो सकते हैं। महा काश्यप अर्हतर्षि इस प्रकार बोले :

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યાં સુધી જન્મ છે ત્યાં સુધી કર્મ છે. કર્મથી જ પ્રજા ઉત્પન્ન થાય છે. સમ્યક્ ચારિત્ર્યના અનુસરણથી કર્મો શિથિલ થાય છે અને તેનો સંપૂર્ણ ક્ષય પણ થઈ શકે છે. મહાકાશ્યપ અર્હતર્ષિ આ પ્રમાણે બોલ્યા.

મહર્ષિ કાશ્યપ એક મહત્વ પૂર્ણ સિદ્ધાન્ત बताते हैं। जहाँ तक जन्म की परम्परा है वहाँ तक कर्म की परम्परा है। जन्म और कर्म एक दूसरे पर आधार रखते हैं। कर्म से जन्म है और जन्म लेने पर फिर नए कर्मों का संचय है। अतः कर्म-चक्र की गति को रोकने के लिए हमें जन्म-परम्परा को रोकना होगा।

कर्म-परम्परा को रोकने का प्रमुख साधन सम्यक् चरित्र है। दर्शन से आत्मा तत्त्व का साक्षात्कार करता है, सम्यक् ज्ञान के द्वारा उसकी विशेष स्थिति को समझता है और सम्यक् चरित्र के द्वारा उसके प्रवाह को रोकता है अथवा प्रवाह में कमी तो अवश्य आता है।

टीका :—यावद् यावज्जन्म तावद् तावत् कर्म, कर्मणा खलु भो प्रजा स्यात्, सम्यक् चरितं अनुसृत्योऽपचीयतेऽपचीयते च कर्म।

જય તક જન્મ છે તબ તક કર્મ છે । કર્મ સે હી પ્રજા હોતી છે । સંસાર સંતતિ કર્મ પર હી આધારિત છે । સમ્યક્ ચરિત્ર કે અનુસરણ કે દ્વારા આત્મા કર્મ કો શિથિલ કરતા છે ઓર નષ્ટ મી કરતા છે ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

જ્યાં સુધી જન્મ છે, ત્યાં સુધી કર્મ છે. કર્મથી જ પ્રજા થાય છે. સંસાર સંતતિ કર્મ પર જ આધારિત છે. સમ્યક્ ચરિત્રનું અનુસરણ કરવાથી આત્મા કર્મને શિથિલ કરી શકે છે અને નષ્ટ પણ કરી શકે છે.

કમ્મુણા खलु भो अपह्नीणेणं पुणरवि आगच्छइ
हत्थच्छेयणाणि, पायच्छेयणाणि, एवं कण्णच्छेयणाणि,
नक्खच्छेयणाणि उट्ठच्छेयणाणि जिह्वच्छेयणाणि
सीसदण्डणाणि, मुंडणाणि, उद्विग्गेण जीवो कोट्टणाणि
पिट्ठणाणि, तज्जणाणि, तालणाणि, चहणाइ, बंधणाइ परिकिल्लेसणाइ ॥

અર્થ :—જય તક આત્મા કર્મો સે વિહીન નહીં હોતી છે, તબ તક ડસકી ભવ-પરમ્પરા સમાપ્ત નહીં છે । કહીં હાથ કા છેદન હોતા છે, કહીં પૈર કાટે જાતે છે, કહીં કાન કા છેદન હોતા છે, કહીં પર નાક કા, કહીં હોંઠ કા, તો કહીં જીભ કા છેદન હોતા છે । કહીં પર સિર કો દંડિત કિયા જાતા છે, કહીં પર મુંડિત કિયા જાતા છે । કહીં પર ઉદ્વિગ્ગ જીવ કૂટે જાતે છે, કહીં પર કિસી પ્રાણી કો પીટા જા રહા છે, તો કહીં ડસકા તર્જન કિયા જા રહા છે, કહીં પર કોઈ તાડના દે રહા છે, કહીં પર પ્રાણિયો કા વધ હોતા છે, કહીં પર બંધનો મેં જકડા જા રહા છે, કહીં પર ચારો ડોર સે ડસે પરિકેશ દિયા જા રહા છે ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

જ્યાં સુધી આત્મા કર્મોથી છુટકારો પામતો નથી ત્યાં સુધી તેની ભવ-પરમ્પરા સમાપ્ત થતી નથી. ક્યાંક હાથનું છેદન થાય છે, તો ક્યાંય પગ કાપવામાં આવે છે; ક્યાંક કાન કપાય છે તો ક્યાંક નાક, ક્યારેક હોઠો, તો ક્યારેક જીભ કપાય છે. ક્યાંય માથાને દંડ આપવામાં આવે છે તો ક્યાંક તેને મુંડિત કરવામાં આવે છે. કોઈક સ્થળે ઉદ્વિગ્ગ જીવને કૂટવામાં આવે છે, તો કોઈક જગ્યાએ કોઈ પ્રાણીને માર મારવામાં આવે છે, તો ક્યાંય તેનું તર્જન કરવામાં આવે છે, ક્યાંક તેને માર મળે છે તો કોઈક સ્થળે પ્રાણીઓનો વધ કરવામાં આવે છે. તો ક્યાંય તેને બંધનમાં જકડવામાં આવે છે. તો કોઈક સ્થળે તેને આરે બાંધી વાળું જ હુઝ (પરિકલેશ) આપવામાં આવે છે.

ટીકા :—કર્મણા खलु भो अपह्नीनेन पुनराये हत्तादिच्छेदनानि शीर्षदण्डनानि आगच्छन्ति जीवः उद्विरेण तु कर्मणा कुट्टणाणीत्यादि ।

કર્મ ઓર ડસકી ડરીણા સે આત્મા હસ્તચ્છેદનાદિ દુઃખો કા અનુભવ કરતા છે ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

કર્મ અને તેની ઉદીરણથી આત્મા હાથનો ઉચ્છેદ વગેરે દુઃખોનો અનુભવ કરે છે.

જય તક જન્મ છે તબ તક કર્મ-પરમ્પરા છે । જો આત્મા કર્મ-પરમ્પરા કો છિજ કિદ વગેરે મરતા છે, ડસે પુનઃ સંસાર મેં જાન હી પડતા છે । જન્મ લેને કે બાદ ડસકે માગ્ય મેં દુઃખ હી દુઃખ છે । યદ સંસાર જીતા-જાગતા નરક છે । કહીં પર કિસી કો મારા જા રહા છે । કહીં મારના છે, કહીં તાડના છે, કહીં વધ છે ઓર કહીં બંધન છે । યહી દુનિયા કા ચિત્ર છે । દો રાષ્ટ્રો કે સ્વાર્થ આપસ મેં ટકરાતે છે । ડસ સંઘર્ષ મેં સે યુદ્ધ કી જ્વાલા ફૂટ નિકલતી છે । હજારો સૈનિક હજારો નાગરિક ડસ જ્વાલા મેં જલ જાતે છે । શત્રો કે દ્વારા કિસી કા હાથ કટ જાતા છે, કિસી કા પૈર કટ જાતા છે, કોઈ કરાદતા છે ઓર કોઈ ચિદ્વાતા છે । યુદ્ધ કે દેસે છોટે છોટે નક્ષે તો રોજ હી દેસને કો મિલ જાતે છે । અર્થાત્ જય તક કર્મ છે તબ તક દુઃખ મીજૂદ છે ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

જ્યાં સુધી જન્મ છે ત્યાં સુધી કર્મની પરમ્પરા છે; જે આત્માઓ કર્મ પરમ્પરાને ક્ષીણ કર્યા વગર મૃત્યુ પામે છે તેને ફરીથી સંસારમાં આવવું જ પડે છે. જન્મ લીધા પછી એના ભાગ્યમાં દુઃખ છે. આ સંસાર જીવતો જાગતો નરક છે. ક્યાંક કોઈને મારી નાખવામાં આવ્યો છે; ક્યાંક મારવાનું, લડવાનું, બાંધવાનું

અને ક્યાંક બંધ છે. આજ દુનિયાનું ચિત્ર છે. એ રાષ્ટ્રોના સ્વાર્થને ખાતર અંદરોઅંદર ઝઘડે છે તે સંઘર્ષમાંથી યુદ્ધની જ્વાળા ફૂટી નીટળે છે. હબરો સૈનિકો અને હબરો નાગરિકો તે જ્વાળામાં હોમાઈ જાય છે. શસ્ત્રોને લીધે કોઈના હાથ કપાઈ જાય છે, કોઈના પગ કપાઈ જાય છે, ફણસે છે અને કોઈ બૂમો પાડે છે. યુદ્ધના આવા નાના નાના નરપાશો તો રોજ જોવા મળે છે. અર્થાત્ જ્યાં સુધી કર્મે છે ત્યાં સુધી દુઃખ છે જ ને છે. (મોગ્ધ છે).

અંદુરબંધનકઈં બંધનાઈં, ત્રિયલબંધનાણિ, જાવજીવબંધનાણિ,
નિયલજુયલ સંકોહણ-મોહનાઈં હિયયુપ્પાહનાઈં દસણુપ્પાહનાઈં,
ઉલંબનાઈં ઓલંબનાઈં ઘંસનાઈં પીલનાઈં સીહપુચ્છનાઈં કહમિગદાહનાઈં,
મત્તપાણનિરોહનાઈં દોગચ્ચાઈં દોમસાઈં દોમણસાઈં ॥

અર્થ :—શંખલા ઝીર વેરી કે વન્ધન, યાવજીવન કે વન્ધન, યુગલ રૂપ મેં શંખલા મેં જકડે, સંકોચન મોહન આદિ કષ્ટ, કઈં હૃદય ઉઘાડે જા રહે હૈં, કઈં કિસી કે દાંત ડહાડે જા રહે હૈં । કઈં પર કિસી ક્ષ્ત્ર કી શાશ્વાઓં સે બાંધા જા રહા હૈ, કઈં પર કિસી કો શંખલા સે બાંધ કર ઉપર લટકાયા જા રહા હૈ । કઈં કિસી કો ઘસીટા જા રહા હૈ, કઈં પર કિસી કા ઘોલન હો રહા હૈ, કઈં પર પીડન કિયા જા રહા હૈ । કઈં પર સીંગ કો પૂંછ સે બાંધ કર ચમઢી ઉઘેઢી જા રહી હૈ । કઈં પર કટામિદાહ હો રહા હૈ, કઈં પર મોજન ઔર પાની મહીં દિયા જા રહા હૈ । કોઈં દરિદ્રતા કે દુઃખ સે પીડિત હૈં । કોઈં મોજન કે અભાવ સે યા અમોજ્ય મોજન સે દુઃખી હૈં । કોઈં દુર્મન હૈ, દિન રાત આર્થિક યા પારિવારિક કઠિનાહયોં સે હમેશા ચિંતિત રહતે હૈં ।

સાંકળ અને ઘેડીના બંધન. યાવજીવનના બંધનો, યુગલ રૂપમાં શંખલામાં જકડાયેલો, કુશાવું સંકોચાવું તુટવું વગેરે દુઃખ, ક્યાંક હૃદય ખાલી કર્યે બંધ રહ્યા છે, ક્યાંક કોઈના દાંત પાડવામાં આવી રહ્યા છે, ક્યાંક કોઈ વૃક્ષની ડાળીથી બંધાઈ રહ્યો છે, ક્યાંક કોઈનાં સાંકળોથી બાંધીને ઉપર લટકાવી રહ્યા છે ક્યાંક કોઈને ઘસેડાવાઈ રહ્યો છે. ક્યાંક કોઈને માર મારાઈ રહ્યો છે, ક્યાંક કોઈ પર બળાત્કાર થઈ રહ્યો છે, ક્યાંક આગળ સિંગડાને પુછડી બાંધી ચામડી ઉતરવાઈ રહી છે. તો ક્યાંક ઘોર અસિદાહ થઈ રહ્યો છે, કોઈ જગ્યાએ અનપાણી પાણુ અપાતા નથી. કોઈ દરિદ્રતાના દુઃખથી પીડાય છે, કોઈ અજના અભાવથી અગર અણુગમતા અતથી દુઃખી થઈ રહ્યા છે. કોઈ આર્થિક કે પારિવારિક આપત્તિ ઓથી હંમેશા ચિંતિત છે.

યહો દુઃખ પૂર્ણ બિમીષિકામય સંસાર કા નસ-ચિત્ર દિયા ગયા હૈં । ચારોં ઓર દુઃખ કી ઔર અશાન્તિ કી લપટેં હૈં । ગ્રહુત સે પ્રાણી માત્ર કી કૂરતા સે પીડિત હૈં । કોઈં આર્થિક ચિન્તાઓં સે પીડિત હૈં, કોઈં દારિદ્ર્ય કી અમિ સે છુલસે જા રહે હૈં । કોઈં આર્થિક કષ્ટ સે યુક્ત હૈં તો પારિવારિક સમસ્યાઓં મેં ડલસે રહતે હૈં । લાલ્લોં કી સમ્પત્તિ હોને પર મી પારિવારિક સમસ્યાએ માનવ કો અશાન્ત બતાએ રાખતી હૈં ।

ટીકા :—અન્દુ હૃતિ શંખલા તયા વન્ધનાણિ નિગદબન્ધનાણિ સિંહપુચ્છનાણિત્તિ શ્રીઅમયદેવેન ઔપપાતિકવૃત્તૌ મેહનત્રોટનમિતિ વ્યાખ્યાતાણિ કહમિગદાહનાઈંતિ કટકેત વેદિતું પ્રવીણં હૃતિ દશાશ્રુતસ્કંધચુરાણિઃ શીષં કદ્યં કેવલં દુઃખાણિ પ્રત્યનુભવમાનો જીવો સંસારસાગરં અનુપરિવર્તેતે ॥

અર્થાત્ અન્દુ શંખલા સે બાંધા જાના નિબિડ વન્ધન । સિંહ પુચ્છનાણિ કી ઔપપાતિક સૂત્ર કી ટીકા મેં આચાર્ય અમયદેવ મેહનત્રોટન” કે રૂપ મેં વ્યાખ્યા કરતે હૈં । કહમિગદાહ સે મતલબ હૈ કટક સે બાંધને કે લિએ પ્રવીણ કરના ।” દશાશ્રુતસ્કંધચૂર્ણિ । શેષ સમી સરલ હૈં । કેવલ દુઃખ કા અનુભવ કરતા હુઆ આત્મા સંસાર-સાગર મેં મટકતા હૈં ।

“સિંહ-પુચ્છનાઈં” કા એક અર્થ મહ હોતા હૈ, સીંગ કો પૂંછ સે બાંધ કર ડસકી ચમઢી ઉઘેઢના । ટુસરા અર્થ યહ મી હોતા હૈ કિ કિસી આદમી કે ગર્દન કે પિછલે ભાગ કી ચમઢી ઉતાર કર સિંહ કી પૂંછ કી આકૃતિ મેં લટકાયા જાતા હૈ । કટામિ બાંસ કે દો ભાગોં કો મિલાકર અજના કટામિ કહલાતા હૈ, કિ ટુસરા અર્થ હોતા કટ નામક ઘાસ મેં લપેટ કર આદમી કો જલા ડાલના કટામિ કહલાતા હૈ ।

માડમરનાઈં મરણિમરનાઈં પુત્તમરનાઈં ધૂયમરનાઈં
મજ્જમરનાઈં અપ્પાણિ ય સયણમિત્ત-
ચંબુવગ્ગમરનાઈં તેસિં જ નં દોગચ્ચાઈં દોમહાઈં
દોમણસ્સાઈં અપ્પિયસંવાસાઈં પિયવિપ્પઓગાઈં
હીલનાઈં સિંસનાઈં ગરહનાઈં પઞ્ચહનાઈં

परिभ्रमणाई, आगङ्गणाई, अण्णयराई, च दुक्खदोमणस्साई

पञ्चगुभवमाणा अण्णायं अण्णदग्गं दीहमच्च चाउरंतसंसारसागरं अणुपरियट्टंति

भाई की मृत्यु, बहन की मृत्यु, पुत्र पुत्री पत्नी की मृत्यु, और दूसरे स्वजन परिजन की मृत्यु या उनका दारिद्र्य, दुर्मौजन, उनकी मानसिक चिन्ताएं, अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग, अपमान, घृणा और पराजय तथा और भी अनेक दुःख दुःखिन्ताओं का अनुभव करते हुए आत्मा अनादि, अनन्त, वीर्य मार्गशील चातुरन्त संसार सागर में परिभ्रमण करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, पति, पत्नी वगैरेनुं मरखु अने बीज स्वजनो परिजनोनुं मरखु अथवा तेमनुं दारिद्र्य, मानसिक चिन्ताओ, अप्रियनो संयोग अने प्रियवस्तुनो वियोग, अपमान, घृणा अने पराजय तथा वधु अने दुःख भराव चिन्ताओनो अनुभव करतां अनादि, अनन्त थीर, मार्गशील संसार इपी सागरमां आत्मा परिभ्रमण करे छे.

कम्ममुणा पहीणेणं खलु भो जीवा नो आगच्छिहिति

हृत्थच्छेयणाणि ताई चैव भाणियव्वाइं जाव

संसारकंतारं विईवइत्ता सिधं मयल-मरुय-मक्खय-

मव्वाथाहमपुणरावसं सासयं ठाणमभुवमया चिट्ठंति ।

अर्थ :—कर्महीन आत्मा संसार में पुनः नहीं आती है। हस्तच्छेदनादि उपर्युक्त दुःख उनके लिए समाप्त हो जाते हैं। वे संसार के बीहड़ वन को पार कर शिव, अचल अरुज, अक्षय, अव्याघाध, पुनरागमन रहित और शाश्वत स्थान को पा लेते हैं।

कर्महीन आत्मा संसारमां इरीथी आवतो नथी. हस्त छेदनादि उपर कहेवा दुःख तेने माटे समाप्त भई जाय छे. ते संसारइपी लयंकर जंगलने पार करीने शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अव्याघाध, पुनरागमन रहित अने शाश्वत स्थानने प्राप्त करे छे.

कम्ममूलमनिव्वाणं संसारे सच्चदेहिणं ।

कम्ममूलाईं दुक्खाईं कम्ममूलं च जम्मणे ॥

अर्थ :—संसार के समस्त देह-धारियों का भव-भ्रमण कर्म जन्य है। समस्त दुःखों की जड़ कर्म है और जन्म भी कर्म मूल है।

संसारना समस्त देहधारियोना लवभ्रमणुं उगमस्थान कर्म छे. समस्त दुःखोनी जड (मूल) कर्म छे; अने जन्म पणु कर्मनुं ज मूल छे.

जब तक लौह पिंड में अग्नि तत्त्व है तब तक उसे घन का प्रहार सहना ही पड़ेगा। जब तक कर्म है तब तक अशान्ति के प्रहार आत्मा को सहने ही पड़ेंगे। जब तक आत्मा पर राग और द्वेष की चिकनाहट रहेगी, तब तक कर्म रज उससे अवश्य ही चिपकेगी। बाजार में धूल उड़ती है तो नए कपड़ों पर भी लगती है और पुराने झिन्ध कपड़े पर भी चिपकती है। परन्तु नए कपड़े पर लगी मिट्टी शीघ्र ही दूर हो सकती है। जब कि चिकनाहट वाले कपड़े की रज बिना साबुन और पानी के दूर नहीं हो सकती। इसी प्रकार योग रूप हवा से कर्म धूल उड़ती है, किंतु आत्मा पर कषाय की चिकनाहट होने पर वह मजबूती से चिपकी रहती है और कषाय की चिकनाहट रहित आत्मा पर कर्म रज अधिक ठहरती नहीं है, किन्तु सकषाय आत्मा कर्म से वेष्टित हो कर संसार में भव-परम्परा बढ़ाती है।

आचार्य उमास्वाति कहते हैं :—

सकषायवाजीवकर्मणो योयान् पुद्गलानादत्ते संबन्धः ।—तस्यार्थं अ. ८ सू. २ और ३

सकषाय परिणति से आत्मा कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है।

संसारसंतर्भूलं पुण्णं पावं पुरेकडं ।

पुण्णपावनिरोहाय सम्मं संपरिव्वय ॥ २ ॥

अर्थ :—पूर्व कृत पुण्य और पाप संसार संतति के मूल हैं। पुण्य और पाप के निरोध के लिए साधक गम्यक प्रकार से विचरे।

गुजराती भाषान्तर :—

पूर्व कृत पुण्य અને પાપ સંસાર સંતતિના મૂળ છે. પુણ્ય અને પાપના અટકાવ માટે સાધકે સમ્યક્ પ્રકારથી વિચરવું જોઈએ.

पुण्य और पाप दोनों बन्ध-हेतुक हैं। क्योंकि, दोनों आध्रव हैं। वाचक मुख्य उमाखाति भी कहते हैं: —

स आश्रवः शुभः पुण्यस्य,

अशुभः पापस्य ॥—तत्त्वार्थ अ. ६ सू. २, ४

पुण्य और पाप दोनों आध्रव हैं। एक शुभ है, और दूसरा अशुभ। एक सोने की बेड़ी है, और दूसरा लोहे की। बन्धन दोनों में हैं। एक से स्वर्गीय सुखमा मिल सकती है, पर शाश्वत शान्ति नहीं। यात्री बन से पार होता है, मदकते गुलाब उसके मन को सुरभित बना देते हैं, कांटे पैर में चुभ कर तन और मन को दुःखित बना सकते हैं। कांटों में तन उलझता है, तो फूलों में मन उलझता है। दोनों उलझन ही हैं और दोनों उलझने पथ के बन्धन ही हैं। दोनों ही लक्ष्य से दूर हैं। फूलों से सुगन्ध भले ही मिल जाय किन्तु मंजिल को निकट लाने में तो वह असमर्थ ही है। लक्ष्य का साधक यात्री जितना ही शूल से बचेगा उतना ही या उससे भी अधिक फूल भी बचेगा, क्योंकि शूल की चुभन थोड़ी ही देर रोकती है, किन्तु फूल की सौरभ मन को बांध लेती है और मन का बन्धन तन के बन्धन से अधिक मजबूत होता है।

अतः पुण्य और पाप दोनों बन्धन ही हैं, वे चाहे फूल के हों या शूल के। मोक्षमार्ग में दोनों ही बाधक हैं। साधक को दोनों ही बन्धन तोड़ फेंकना है।

पुण्यपावस्स आयाणे परिभोगे यावि देहिणं ।

संतई-भोग-पाउगं पुण्णं पावं सयंकडं ॥ ३ ॥

अर्थ :—देहधारी आत्मा को पुण्य पाप के आदान-ग्रहण और परिभोग में योग्य वस्तुओं की परम्परा प्राप्त होती है, किन्तु वह स्वकृत पुण्य और पाप के फल स्वहृत् है।

गुजराती भाषान्तर :—

દેહધારી આત્માને પુણ્ય પાપના આદાન, ગ્રહણ, અને ઉપભોગમાં અયોગ્ય વસ્તુઓની પરંપરા પ્રાપ્ત થાય છે, પરંતુ તે પુણ્ય અને પાપના ફલસ્વરૂપ છે.

पुण्य और पाप के विपाक रूप में प्राणी को शुभ या अशुभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। किन्तु पुण्य के मीठे स्वादु फलों के भोग के समय उसका अहं धोलाता है, कि मैं ने अपने श्रम की बुद्धों के बदले इसे पाया है। दूसरे को इसे छिनने का क्या अधिकार है? यदि किसी मुकद्दमे में सफलता मिल जाएगी तो कहेगा कि मेरी बुद्धि से सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु यदि हार मिलती है तो वह वकील को दोष देगा, गवाह की गलती निकालेगा या फिर भगवान के मस्तक पर पाप धोयेगा।

जैन दर्शन मानव को स्वावलम्बन का संदेश देता है। संतति और सम्पत्ति के लिए मित्रारी बन कर क्यों किसी के सामने गिड़गिड़ाता है, क्यों हाथ फैंकाता है, तेरा पुण्य कोष भरा होगा तो मिलेगा ही। दूसरी ओर दर्शन की यह देन मानव के दिमाग से अहं का नशा भी दूर करता है। तेरे पुण्य का यह कल्पवृक्ष तुझे मीठे फल दे रहा है। तेरा अपना कुछ नहीं, यदि पुण्य का कल्पवृक्ष सूख गया तो सब कुछ समाप्त है। अतः इसे सेवा के जल से सिंचन करता जा।

दूसरी ओर अशुभोदय के समय मानव बुरी तरह से छटपटाता है और अशुभोदय जिस निमित्त आगे आता है, आत्मा उसी निमित्त पर झपटता है, आक्रोश करता है और चीखता-चिल्लाता है। उस निमित्त को दुःख का मूल मान कर समाप्त करने की चेष्टा करता है। किन्तु कर्मवाद कहता है कि जिस विष फल से तू भागना चाहता है उसके बीज एक दिन तेरी आत्मा ने बोए थे। फिर दूसरे पर रोष और दोष क्यों?

संवरो निज्जरं सेव पुण्ण-पावधिणासणं ।

संवरो निज्जरं चेव सब्बहो सम्ममायरे ॥ ४ ॥

अर्थ :—संवर और निर्जरा पुण्य-पाप के विनाशक हैं । अतः साधक संवर और निर्जरा का सम्यक् प्रकार से आचरण करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

संवर अने निर्जरा पुण्य-पापना विनाशकर्ता छे. तेथी साधके संवर अने निर्जरानी सारी रीते आराधना करवी जेई छे.

आत्मा को कर्म से मुक्त करना है । उसके लिए आगम में सुन्दर रूप दिया है । जीवन एक सरोवर है, जिसमें पुण्य और पाप का कटु, भयुर जल भरा है । उसे जल से खाली करना है । किन्तु जब तक उस जल आगमन के द्वार खुले हैं तब तक तालाब नहीं सूखेगा । आगम उसको सुखाने का तरीका बताता है ।

जहा महातालायस्स सञ्चिह्णे जलागमे ।

उत्तिस्सवणाए तवेणाए कम्मेण सोसणा भवे ॥—उत्तरा० अ० ३२ गा. ५

जैसे महान् तालाब की मोरिया बन्द कर दी जाय और बाद में उसका पानी उलीचा जाय और ताप की व्यवस्था की जाय तो वह महा तालाब भी सूख जाएगा । आत्मा तालाब में पुण्य पाप का आश्रव आगमन का द्वार रोकना संवर है और उसके बाद पानी का उलीचना निर्जरा है ।

संवर की एक सुन्दर परिभाषा द्रव्य-संग्रह में मिलती है । वहां संवर के दो रूप बताए गए हैं—एक भाव-संवर, और दूसरा द्रव्य-संवर ।

चेदणपरिणामो जो कम्मासवरोहणे हेव ।

सो भाव-संवरो खलु द्रव्यासव-रोहणे अण्णो ॥—द्रव्यसंग्रह गा० ३४

कर्मों के आश्रव को रोकने में सक्षम आत्मा का चेतन परिणाम भाव-संवर है । और द्रव्याश्रव को रोकने वाला द्रव्य-संवर है । निर्जरा के भी दो रूप बताए हैं :—

जह कालेण तवेण्यमुत्तरसंकम्म-पुगलं जेण ।

भावेण सवदि जेया तस्सडणं चेदिनिजरा दुब्बिहा ॥—द्रव्यसंग्रह ३६

आत्मा का वह भाव, निर्जरा है, जिसके द्वारा कर्म-पुद्गल फल देकर नष्ट हो जाते हैं । और यथा काल से अथवा तप के द्वारा कर्म-पुद्गलों का आत्मा से पृथक्करण होना द्रव्य-निर्जरा है । आत्मा की वह निशुद्ध भाव धारा जिसके द्वारा कर्म परमाणु आत्मा से पृथक् होते हैं वह भाव-निर्जरा है । द्रव्य-निर्जरा के भी दो प्रकार हैं—प्रथम कर्म जितनी स्थिति के साथ बंधा है उसकी स्थिति क्षय होने पर वे कर्म आत्मा से पृथक् होते ही हैं वह यथाकाल निर्जरा कहलाती है । तथा तप के द्वारा कर्म को लदीर्ण करके उन्हें स्थिति के पहले प्रदेशोदय के द्वारा भोग कर नाश कर देना दूसरे प्रकार की निर्जरा है ।

मिच्छत्तं अनियत्ती य पमाओ याप्ति जेगहा ।

कसाया खेव जोगाय कम्मादाणस्स कारणं ॥ ५ ॥

अर्थ :—मिथ्यात्व, अनिवृत्ति, अनेक (पंच) प्रकार का प्रमाद, कषाय और योग कर्म ग्रहण करने के कारण हैं । जिन निमित्तों को पाकर आत्मा कर्म ग्रहण करता है वे पांच हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

मिथ्यात्व, अनिवृत्ति, अनेक पांच प्रकारना प्रमाद, कषाय अने योग कर्म आववाना कारण छे. जे निमित्तोने दीधे आत्मा कर्मनुं अडणु करे छे ते पांच छे. (पांच निमित्तोने दीधे आत्माने कर्म आवे छे)

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति कहते हैं :—

मिथ्यादर्शनाधिरतप्रमादकाषाययोगबन्धहेतवः ॥

—तत्त्वार्थसूत्र अ. ८ सू. १

आत्मा से कर्म को बन्ध होने में ये पांच मुख्य हेतु हैं । इन्हें पंच आश्रव भी कहा जाता है ।

मिथ्यात्व :—व्यवहार में सत्य, देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा का भ्रम अभाव, असद्, देव, गुरु और अधर्म पर श्रद्धा मिथ्या तत्त्व हैं। दार्शनिक दृष्टि से नव तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा का अभाव या उनको विपरीत रूप में देखना मिथ्यात्व है। किसी पदार्थ को एकांत नित्य या अनित्य मानना भी मिथ्यात्व है। वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी विशेष धर्म को स्वीकार करके शेष धर्मों को अस्वीकार करना भी मिथ्यात्व है। अष्टांग और निश्चय आदि नवों में से एक को ही सत्य मान कर दूसरे का विरोध करना मिथ्यात्व है। निश्चय दृष्टि से आत्मा की शुद्ध स्वभाव-दशा से हट कर विभाव-दशा में रमण करना मिथ्यात्व है।

अनिवृत्ति :—इसे अग्रत या अविरति भी कहते हैं। हिंसा, असत्य आदि में जाती हुई आत्मा-प्रवृत्ति का निराध-व्रत है। इसका अभाव व्यावहारिक दृष्टि से अग्रत है। निश्चय दृष्टि से अन्तरात्म वृत्ति में अरति पाकर बहिरात्मक प्रवृत्ति में जाना अग्रत है।

प्रमाद :—मद विषयादि से प्रेरित होकर मूल गुण एवं उत्तर गुणों में अतिचार लगना व्यवहार प्रमाद है। निश्चय दृष्टि में आत्मा के अप्रमाद रूप शुद्ध भाव से चलित होना प्रमाद है।

कषाय :—जिनके द्वारा भव-परम्परा की वृद्धि होती है ऐसे क्रोधादि विकार व्यवहार कषाय है। निश्चय दृष्टि में आत्मा के प्रशान्त रूप में क्षोभ की लहर पैदा होना कषाय है।

योग :—मन वचन और काया की चंचलता योग कहलाती है। नैश्चयिक दृष्टि से आत्मा में परिस्पंद होना ही योग है।

मिथ्यात्व के पांच या पचीस भेद हैं। मत के १२ भेद हैं। प्रमाद के ५ कषाय के चार और योग के तीन भेद हैं। विस्तृत व्याख्या के लिये अन्य ग्रंथों का अवलोकन करें।

जहा अंडे अहा बीज, तहा कम्मं सरीरिणं ।

संताणे खेव भोगे य नाणाधत्तमिच्छइ ॥ ६ ॥

अर्थ :—जैसा अंडा होता है वैसा ही पक्षी भी होता है। जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा। इसी प्रकार जैसे कर्म होंगे आत्मा को वैसी शरीर मिलेगी। कर्म के ही कारण सन्तति में और भोग में नानात्व देखा जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

जेवुं छडु होय छे तेवुं न पक्षी पक्षु होय छे. जेवुं बीज होय तेवुं न जाड थो. तेन प्रभांजे जेवा उभों होय, तेना प्रभांजे आत्माने शरीरनी प्राप्ति थो. कर्मने लीधे न संततिमां अने भोगमां नानात्व जेवा भणे छे.

संसार विरूपता और विविधता का जीता-जागता रूप है। एक ही माँ के दो लड़कों में साम्य नहीं पाया जाता। कोई बुद्धिमान है तो कोई मूर्ख है। इस विविधता का उत्तर वैदिक दर्शन ईश्वर में देता है, कि ईश्वर की इच्छा ही इस विविधता का कारण है। जैन दर्शन इसका ठीक ठीक उत्तर देता है, कि मयूर के अंडे से मयूर ही जन्म लेता है। आम की गुठली से आम ही पैदा होता है। इसी प्रकार जैसा कर्म होगा उसी के अनुरूप देहधारियों के भोग होते हैं। यह विविधता और विचित्रता आत्मा के पूर्वोपाजित शुभाशुभ कर्म पर आधारित है।

निव्वत्ती वीरियं खेव, संकप्पे य अणेगहा ।

नाणावणधियक्खसु दारमेयं हि कम्मणो ॥ ७ ॥

अर्थ :—निवृत्ति, रचना, पुरुषार्थ, अनेकविध संकल्प, नाना प्रकार के वर्ण और वित्तों का द्वार-कर्म है।

गुजराती भाषान्तर :—

निवृत्ति, रचना, पुरुषार्थ, अनेकविध संकल्प, विविध प्रशारणा वशों अने दुःखोना द्वार कर्म छे.

हर व्यक्ति की रचना, शक्ति और संकल्प पृथक् पृथक् हैं। यह सृजक ही नव सर्जन का केन्द्र है। आत्मा के जैसे संकल्प होंगे उसी दिशा में उसका शक्ति-प्रवाह भी बहता है। संकल्प और शक्ति ही मानव बनता है। सत् संकल्प और शक्ति सत्प्रयोग मानव को सत् रूप में ढालता है। आत्मा का संकल्प बल ही तो था कि महावीर बन सके। आत्मा सत् संकल्प करता है तो वीर्य शक्ति उसकी सहचारिणी बनती है और वही शक्ति मानव को महामानव बना सकती है।

असत् संकल्प और असत् शक्ति मानव को दानव बना सकती है। रावण को रावण बनाने वाले उसके दुस्संकल्प ही तो थे। संकल्प का छोटा-सा बीज-शक्ति का जल पाकर एक दिन विराट् वृक्ष बनता है। आत्मा भुल्लूङ्ग माली है जो बीज डालकर भूल जाता है। किन्तु जब वे वृक्ष का रूप लेते हैं तब उसे प्रतिबोध होता है। आत्मा प्रतिक्षण असंख्य बीज डाल रहा है। प्रतिक्षण सावधान रहे कि खेत में बुरे बीज न पड़ जायें, अन्यथा वे ऊग के ही रहेंगे।

आत्मा के हर संकल्प में अनन्त बल है। जैसे हमारे संकल्प हैं वैसे ही हम बनेंगे। “यो सच्छब्दः स एव सः”।

अतः अपनी चेतना जाग्रत रखे। कहीं असत्संकल्प हमारे मन में बैठ न जावें। दुनिया में वर्णों की बित्तकों की, दूसरे शब्दों में आकृति और प्रकृति की विषमता ही संकल्पों पर आधारित है। दार्शनिक भाषा में सत्संकल्प के द्वारा शुभ कर्म एकत्र होता है और वे ही कर्म आत्मा, को शुभ या अशुभ रूप आकृति और प्रकृति प्रदान करते हैं।

एस एव विवण्णासो संवुडो संवुडो पुणो।

कमसो संवरो नेओ देस-सव्वविकप्पिओ ॥ ८ ॥

अर्थः—यही आत्मा का विपन्न रूप—विभाव दशा है, अतः साधक पुनः पुनः संवृत बन आत्मा को पाप से संवृत करना ही देश और सर्वतः संवर है।

गुजराती भाषान्तरः—

आम आत्मानुं शुद्ध स्वरूप छे; विभाव दशा छे; तेशी साधक इनी इरीने आत्म अनीने गुणने पोताथी हर शप्ते ते न देश अने सर्व संवर छे.

प्रस्तुत गाथा में संवर तत्त्व का निरूपण किया गया है। असत्संकल्पों के द्वारा आत्मा विग्रूप रूप बनता है। यह विभाव दशा आत्मा का शुद्ध रूप नष्ट करती है। अतः साधक अपने को असत्संकल्पों से समेटे। मिथ्या विचारों से समेटे। कषाय और वासना से आत्मा को संवृत बनाए। जैसे कलुआ अपने पर आघात होते देखता है तो अपने को संवृत कर लेता है। गर्दन और पैरों को समेट लेता है। फिर कोई भी चाबु उस पर प्रहार नहीं कर सकता है। इसी प्रकार आत्मा भी जहाँ अपनी स्वभाव दशा का इन्तन देखे वहाँ अपने को समेट ले। यही समेटना संवर कहलाता है। जो कि देश और सब दो भेदों में विभक्त है। शिक्षाव परिणति से आशिक रूप में हटना देश संवर है। और सब संवर रूप चारित्र्य यथाकाल कहलाता है जिसमें किसी प्रकार के कर्म का बन्धन नहीं होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार ब्रैलेसीकरण सब संवर रूप चारित्र्य है। आत्मा की वह नियुक्त अवस्था जिसमें समस्त राग द्वेष प्रेरित आत्मा के स्पन्दन (भावक्रिया) रुक जाते हैं साथ ही योग जनित द्रव्य किया भी रुक जाती है और आत्मा अपना शुद्ध रूप प्राप्त कर कर्म रहित हो जाता है।

सोपायाणा निरादाणा विपाकेयरसंजुया।

उयक्कमेण तथसा निज्जरा जायए सया ॥ ९ ॥

अर्थः—आत्मा की भिन्न रूपों से कर्मों की निर्जरा करता है। कभी वह निर्जरा उपादान सहित होती है, कभी नाना कर्मों के अपग्रहण मूलक होती है। कभी वह विपाकोदय के साथ होती है तो कभी केवल प्रदेशोदय वा है और कभी उपक्रम सहित तप से भी निर्जरा होती है।

गुजराती भाषान्तरः—

आत्मा गुदां गुदां इपोथी कर्मोनी निर्जरा करे छे. अयारेक ते निर्जरा उपादान साथे होय छे, अयारेक नवा कर्मो अटकाववाना रूपमां होय छे, तो अयारेक ते विपाकना उदयनी साथे होय छे तो अयारेक इक्त प्रदेशो उदयवाणी होय छे. अने अयारेक उपक्रम साथे तपथी पलु निर्जरा थाय छे.

अर्हत्तर्षि संवर तत्त्व के निरूपण के बाद निर्जरा तत्त्व की व्याख्या कर रहे हैं। कर्म प्रदेशों का रसहीन होकर आत्मा से पृथक् हो जाना निर्जरा है, उसके अनेक प्रकार हैं। प्रथम निर्जरा वह है जिसमें मूल हेतु को ग्रहण किया गया है। जिसमें निर्जरा के रहस्य को समझा है और उसके प्राप्त किए जाने वाले साध्य मोक्ष का निश्चय किया गया है। कर्म के आगमन के हेतुभूत मिथ्यात्व मोह रूप कर्म की निर्जरा सोपादाना निर्जरा है। निर्जरा का दूसरा प्रकार है निरादाना अर्थात् जिसमें निर्जरा का मूल हेतु प्रहीत नहीं है, जिसमें भव-परम्परा की समाप्ति का व्येय नहीं ऐसे बाल आदि के द्वारा होने वाली निर्जरा निरादाना है। दूसरे शब्दों में सोपादाना निर्जरा सक्राम निर्जरा है और निरादाना निर्जरा अक्राम निर्जरा।

अथवा निरादाना का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा एक बार जिस कर्म की निर्जरा करे उसे भविष्य में कभी ग्रहण न करे वह भी कर्म के अग्रहण मूलक निरादाना निर्जरा है।

विपाकेतर संयुता आत्मा जिन कर्म प्रदेशों के विपाकानुभव रसानुभव छोड़ता है। वे विपाकोदय वाले कर्म प्रदेश और उनका निर्जरा सविपाका निर्जरा है।

आत्मा कुछ कर्म प्रदेशों का अत्यन्त रसानुभव करके त्यागता है। वह प्रदेशोदय कहलाता है। उदाहरण के तौर पर क्लोरोफॉर्म सुंघा कर ऑपरेशन किया जाता है। उस समय वेदना अत्यल्प होती है वह वेदनीय कर्म का प्रदेशोदय है। ऐसी निर्जरा अविपाका निर्जरा कहलाती है। उपक्रम और तप के द्वारा भी निर्जरा होती है। उपक्रम के अनेक अर्थ हैं। बीज बोने के लिए की जाने वाली क्षेत्र शुद्धि पूर्व तैयारी उपक्रम है। आयु का दूटना भी उपक्रम है। सम्यक् बीज बोने के लिए मिथ्यात्व मोह की निर्जरा उपक्रम निर्जरा। अन्य अर्थ ये आयुर्मात्र होने पर कर्मों को आत्मा भोग करके क्षय करता है वह भी तोपक्रमिक निर्जरा है आन्तर और बाह्य तप जिन कर्मों को रस विहीन करते हैं वह तपाजन्य निर्जरा है।

तपाजन्य निर्जरा को बताते हुए अर्हतर्षि गाथा बोलते हैं :—

संततं बंधय कम्मं निज्जरेह य संततं ।

संसारगोचरं जीवीं वित्तेस्सो उ त्थो ममो ॥ १० ॥

अर्थ :—संसारी आत्मा प्रतिक्षण कर्म बांध रहा है और प्रतिक्षण कर्मों की निर्जरा भी कर रहा है, किन्तु तप से होने वाली निर्जरा ही विशेष है।

गुजराती भाषान्तर :—

संसारी आत्मा क्षण क्षण धर्मनु बंधन बांधी रहो छे अने क्षण क्षण उभोनी निर्जरा पाणु करी रहो छे. पाणु तपशी थनारी निर्जरा न विशेष छे.

संसारवस्थित आत्मा ऐसे प्रतिक्षण अनंत पुराने कर्मों की निर्जरा कर रहा है। किन्तु अनंत कर्म नए बांध रहा है। क्योंकि आत्मा अनुभूतिमय है उसका वेदन एक क्षण भी शून्य नहीं है। चाहे वह सातारूप में हो या असातारूप में वेदन तो है ही। पुराने वेदनीय कर्म तो विपाकोदय में आ रहे हैं और रस देकर समाप्त हो रहे हैं। और तो और कषाय के तीव्र परिणाम में भी आत्मा मोह कर्म की निर्जरा करता है। सूत्र में इसका निरूपण आता है। ऊपर से यह जरा अटपटा तो लगता है कि कषाय परिणति में निर्जरा कैसे? उसका समाधान है कषाय मोह के उदय में ही तो आएगी और कषाय करने पर पूर्व संचित कषाय में मोह के कर्म विपाकोदय में आ कर रसहीन बनते हैं। फिर प्रश्न होता है कि निर्जरा होती है तो आत्मा मुक्त क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह होगा कि आत्मा जो प्रतिक्षण जितने कर्मों की निर्जरा कर रहा है उससे वे कर्म अनंत गुणित हैं; जो कि अभी अनुदय अवस्था में ही पड़े हैं। अतः सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के बिना मोक्ष संभव नहीं। दूसरा उत्तर महाकाश्यप दे रहे हैं: आत्मा शुभ या अशुभ कर्मों का विपाकोदय प्राप्त करता है। अर्थात् वे उदय में आते हैं तो किसी निमित्त को ले कर ही आते हैं। अज्ञानी आत्मा शुभ निमित्त पर राग करता है और अशुभ निमित्त पर द्वेष करता है। राग और द्वेष के कारण आत्मा पुनः नए कर्मों का उपार्जन करता है। जो कि निर्जित कर्मों की अपेक्षा परिमाण में द्विगुणित या असंख्य गुणित भी हो सकते हैं। आत्मा ऐसा मूढ़ कर्जदार है जो कर्ज चुकाता है, किन्तु एक हजार चुकाता है और दस हजार का नया कर्ज फिर ले लेता है। कब मुक्त होगा? यदि ऋण होना है तो नया कर्ज लेना बन्द करे। और पुराना कर्ज अल्प रूप में भी चुकाए फिर भी एक दिन ऐसा आएगा जब वह पूर्णतः ऋणमुक्त हो जाएगा। इसीलिए पहले संवर तत्त्व का निरूपण है। आत्मा अपने आप को संवृत करे अर्थात् नया ऋण लेना बन्द करे, बाद में की गई निर्जरा ही उसे ऋण मुक्त कर सकती है। संवर बिना की गई निर्जरा कोई मूल्य नहीं रखती है। क्योंकि वह तो अनादि से चली आ रही है, किन्तु निर्जरा भव-परम्परा को समाप्त करने में सहयोगी नहीं हो सकती; इसी लिए अर्हतर्षि ने कहा है “वित्तेस्सो उ त्थो ममो” अर्थात् तप के द्वारा होने वाली निर्जरा महत्वशील है; क्योंकि उसके द्वारा निर्जित कर्म आत्मा से पुनः कभी चिपकने नहीं हैं।

अंकुरा खंघ्रखंधीया जहा भवइ वीरुहो ।

कम्मं तहा तु जीवाणं सारासारतरं ठितं ॥ ११ ॥

अर्थ :—अंकुर से स्कंध बनता है, स्कंध से शाखाएँ छूटती हैं और वह विशाल वृक्ष बनता है। आत्मा के शुभाशुभ कर्म इसी प्रकार विकसित होते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

अंकुरमांथी डाणी अने छे. डाणीमांथी शाखाओ नीकणे छे. अने ते मोटो वृक्ष (जड) अने छे. आत्माना शुभ अशुभ कर्मोनी विकास आनी रीते थाय छे (आ ४ प्रभासे थाय छे).

छोटा-सा अंकुर एक दिन स्कंध से शाखा प्रशाखा से मुक्त हो विशाल वृक्ष हो जाता है। ऐसे ही अशुभ कर्म का छोटा-सा अंकुर यदि समाप्त न किया गया तो एक दिन विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। अंकुर छोटा है ऐसा मान कर हम उसकी उपेक्षा कर जाते हैं, किन्तु यह उपेक्षा ही उसकी वृद्धि में सहायक होती है और वह दुर्निवार हो जाता है। इसी प्रकार शुभ संकल्प को इच्छा कार्यशक्ति का सिंचन मिलता है तो वह भी विराट् रूप धारण कर प्रशस्त फलप्रद वृक्ष बनता है।

उपक्रमो य उत्करो संक्षोभो स्वयणं तथा ।

बद्धपुट्टनिधत्ताणं वेयणा तु निकाइते ॥ १२ ॥

अर्थ :—बद्ध स्पष्ट और निधत्त कर्मों में उपक्रम, उत्कर, संक्षोभ और क्षय हो सकता है। किन्तु निकाचित कर्म की वेदना अवश्य होती है।

गुजराती भाषान्तर :—

अद्ध स्पष्ट अने निधत्त कर्मोमां उपक्रम (पंधायेका कर्मोने तोडवुं), उत्कर (कर्मोनी स्थिति आदिमां वृद्धि करपी), संक्षोभ (कर्मोना प्रदेशमां हलचल) अने क्षय यथै शके छे. परंतु निकाचित कर्मोनी वेदना अवश्य थाय छे.

कर्म बन्ध के दो रूप हैं। कषाय की मंद परिणति में जो कर्म बंधते हैं उनका बन्धन शिथिल होता है। उनमें परिवर्तन-संभव है। किन्तु जो कर्म कषाय की तीव्र परिणति में बंधे जाते हैं उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं।

जिन कर्मों में उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण संभव है उसे 'निधत्त' कर्म कहते हैं। कर्म बन्ध की वह शिथिल स्थिति जिसमें स्थिति और रस में हानि वृद्धि तथा उसी की अवान्तर प्रकृतियों में परिवर्तन संभव हो, वह 'निधत्त' कहलाती है। किन्तु जिसमें उद्वर्तनादि एक भी कारण संभव न हो वह 'निकाचित' कर्म कहलाता है। आगम में इसके लिए रूपक भी आता है। तपी हुई सड़कों के समूह के सदृश 'निधत्त' कर्म हैं। उन सड़कों में परिवर्तन की गुंजाइश रहती है। किन्तु यदि उन्हीं सड़कों को तपा कर घन से पीट कर एकमेव बना दिया जाए फिर उनका पृथकरण असंभव सा है। इसी प्रकार जो कर्म तीव्र कषाय के द्वारा बांधे गए हैं; उनमें स्थितिघात, रसघात कुछ भी संभव नहीं है। उसे 'निकाचित' बंध कहते हैं।

संक्षोभ :—कर्म-प्रदेशों में हलचल।

क्षयण :—क्षय करना।

आत्मा के साथ बद्ध स्पष्ट कर्मों में उपक्रम आदि संभवित है। अर्थात् उन में परिवर्तन भी हो सकता है और तप के द्वारा उनका क्षय भी हो सकता है। किन्तु निकाचित कर्मों को तो भोगना ही होगा।

टीका :—उपक्रमः उत्कर्षः च तथा संक्षोभः संक्षेपः क्षापणं बद्ध-स्पष्ट-निवृत्तानां विनिहितानां भवति कर्म-प्रदेशानां निकाचिते च कर्मणि वेदना पीडा। अर्थं गतं।

उकड्वंतं जघा तोयं सारिज्जंतं जघा जलं ।

संस्वविज्ञा निदाने वा पाचकस्मं उदीरती ॥ १३ ॥

अर्थ :—अंजली में भरकर ऊपर उठाया जाने वाला पानी और (सार्यमाण) ले जाया जाता पानी धीरे धीरे क्षय होता जाता है, किन्तु निदान कृत कर्म अवश्य उदय में आता है।

१ उपक्रम—बद्ध कर्मों को तोड़ना उपक्रम है। उसका का दूसरा अर्थ कर्मों के बन्ध का आरंभ भी है। २ उत्करी (उत्कर) कर्म की स्थिति आदि में वृद्धि करना।

गुजराती भाषान्तर :—

अंजलीभां करीने उपर लधं जवातु पाणी अनं (सार्यभाणु) ते लधं जवातु पाणी धीरे धीरे क्षय थतुं जय छे परंतु निदान-कर्मकृत अवश्य उदयभां आवे छे.

कर्म-बन्ध के बाद उसका अबाधा काल विपाक काल पूर्ण होने के बाद शनैः शनैः वह कर्म उदय में आकर क्षीण हो जाता है । जैसे अंजली में सरा नानी प्रतिक्षण एक एक बूंद गिरता जाता है वैसे ही यदि बड़कर्म यदि निधन है तो क्षय होता जाता है । किन्तु निदान कृत कर्म तो अवश्य उदय में आता है । किसी फलशक्ति को ले कर किया जाने वाला संकल्प निदान है वह उदय में आ कर रहता है ।

टीका :—उत्कृष्यमाणं यथा तोयं सार्यमाणं यथा जलं कर्म संक्षपयेत् ।

अस्यत्र निदाने परलोकं अधिकृत्य फलेषु पापं कर्मशेष उदीर्यति । अर्थ गतम् ।

अप्पा ठिती शरीराणं बहुं पावं च दुष्करं ।

पुण्यं यज्जिज्ञाते पावं तेण दुष्करं तवो मयं ॥ १४ ॥

अर्थ :—देहधारियों की स्थिति अल्प है और पाप कर्म बहुत है साथ ही वे दुष्कर भी हैं । और पाप कर्म पहले भी बांधे जाते हैं । अतः दुष्कर तप की आवश्यकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

देहधारियोनी स्थिति अल्प छे अने पाप कर्म बहुत छे साथे साथे दुष्कर पणु छे. अने पापकर्म पड़ेला पणु बांधवाभां आवे छे. तेशी दुष्कर तपनी आवश्यकता छे.

संयत साधक साधना काल में कोई विशेष कर्मोर्जित नहीं करता है फिर उसे तप की क्या आवश्यकता है ? । यह भी एक प्रश्न है । इसका उत्तर ऋषि देते हैं; देहधारियों की जितनी स्थिति है कर्मों की स्थिति उससे कई गुना अधिक है । साथ ही सभी कर्म इसी भव के नहीं हैं पूर्व जन्म के अनंत कर्म आत्मा के साथ हैं, अतः उन सब के क्षय के लिए साधक दुःखप्रद तप की भी साधना करता है ।

टीका :—अस्या स्थितिः शरीरिणां बहु च पापं दुष्कृतं भवति ।

पूर्वं च वक्ष्यते पापं तस्मात् तपो दुष्करं महत् ॥ -अर्थ ऊपरवत् है ।

यज्जिज्ञाते पापकर्मणि, जुत्त-जोगस्स धीमतो ।

देसकम्मकस्यब्भूता जायंते रिद्धियो बहु ॥ १५ ॥

अर्थ :—शुद्धि-शीलयुक्त योगी साधक पाप कर्मों को नष्ट करता है । आंशिक रूप में कर्म क्षय होने पर अनेक ऋद्धियां=लब्धियां प्राप्त हो जाती हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

शुद्धि-शीलयुक्त योगी साधक पापकर्मनो नाश करे छे. आंशिक रूपभांथी कर्म क्षय अर्धं जवाथी अनेक रिद्धि-सिद्धि प्राप्त थतुं जय छे.

धीमान् साधक विधि पूर्वक योग-निग्रह करता है । मनादि योगों के संगोपन से आत्मा कर्मों का क्षय करता है । अशेष कर्म क्षय होने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है, किन्तु आंशिक रूप से कर्म क्षय होने पर साधक जंघाचार्यादि लब्धियां प्राप्त करता है ।

साधक की साधना का लक्ष्य ये हल्की फुल्की सिद्धियां नहीं हैं, ये तो दो पैसे के चमत्कार हैं । क्या साधक इतनी बड़ी साधना इन्हीं चमत्कारों के पीछे गुमा देगा ? नहीं नहीं; साधक की साधना चमत्कारों के लिए नहीं होती । पर हाँ, सच्ची साधनों के पीछे ये हाथ बांधे चली आती हैं ।

टीका :—योगे युक्तस्य धीमतः पापकर्माणि क्षीयन्ते ।

यह्न्यो ऋद्धयश्च जायन्ते कर्मभाक् क्षयभूताः ॥

साधना में लीन साधक पाप कर्मों का क्षय करता है । आंशिक रूप से कर्म के क्षय होने पर अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ उसे प्राप्त होती हैं ।

विज्जोसहि णिवाणेषु, वत्थु-सिक्खा मतीसु य ।

तवसंजमपयुत्ते.य विमहे होसि पब्बओ ॥ १६ ॥

अर्थ :—तप-संयम में प्रयुक्त आत्मा कर्मों का विमर्दन करने पर विषौषधि की गहराई में प्रवेश करता है । दृष्टिवाद के वास्तु पूर्व तथा शिक्षा एवं गति से उसका आश्वासन होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

तप-संयममां प्रयुक्त आत्मा कर्मोंनुं विमर्दन करवाथी विषौषधिना उंठाणुमां प्रवेश करे छे. दृष्टिवादाना वास्तु पूर्व अने शिक्षा तेम न गतिथी तेनो साक्षात्कार थाय छे.

पिछली गाथा में बताया गया है कि संयमशील साधक कर्म क्षय के हेतु तप और साधना करता है । किन्तु आशिक रूप से कर्म क्षय होने पर उसे लब्धियाँ प्राप्त होती हैं । उन्हीं लब्धियों में से कुछ यहाँ दी गई हैं । औषधविज्ञान में की गहराई में प्रवेश, अर्थात् ऐसी लब्धिप्राप्त साधक को औषधियों का अच्छा ज्ञान हो जाता है । साथ ही दृष्टिवाद के वास्तु पूर्व तक उसे ज्ञान होता है । अथवा वास्तु भवन निर्माण कला का ज्ञान होता है । साथ ही वह साधक शिक्षा शास्त्र में और गति में निपुण होता है । किसी की गति के आधार पर उसका इतिहास जान लेता है अथवा चारों गतियों का विशिष्ट स्वरूप वह जानता है ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं :

टीका :—कश्चित् तपःसंयमप्रयुक्तस्य विमर्दो विरोधो भवति, तदा विषौषधिनिपानेषु दृष्टिवादवस्तुशिक्षागतिषु च तस्य प्रत्ययः ।

तप और संयम में प्रयुक्त साधक को साधना में कुछ विमर्द विरोध स्खलना होती है तब विद्या औषधि निपान गहराई दृष्टिवाद वस्तु शिक्षागति में उसका प्रत्यय (विश्वास) साक्षात्कार होता है । शुद्ध की ओर बढ़ने वाला साधक भाव धारा की मंदता के कारण शुभ में रुक जाता है तभी उसे ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । पर शुद्ध की ओर बढ़ने वाला इन सिद्धियों के व्यामोह में कभी नहीं फँसता है ।

प्रोफेसर ज्ञानिग लिखते हैं जिसमें साधुत्व और आत्मसंयम हैं वहाँ चमत्कार जसी बूटी आदि में भ्रष्टा भी है । वह गति के उपयोग में पूर्व ज्ञान का उपयोग करता है और संघर्ष को वह पूर्व ज्ञान वस्तु पूर्व से समाप्त करता है ।

दुक्खं खवेति शुत्तप्पा पावं मीसे वि बंधणे ।

जधा मीसे वि गाहंसि विसपुप्फाण छद्दणं ॥ १७ ॥

अर्थ :—ये लब्धियाँ पाप में बन्धन रूप होती हैं । अतः युक्तात्मा इनके (लब्धियों के) द्वारा कभी दुःख का क्षय भी करता है । जैसे मिश्रित फूल ग्रहण करने पर कुशल व्यक्ति विष फूल छोड़ कर अच्छे फूलों को ग्रहण करता है । इसी प्रकार योग्य साधक लब्धियों के दुरुपयोग को रोक कर उनके सदुपयोग के द्वारा दुःख का ही क्षय करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

आ लब्धियो पापमां बंधन रूप छेय छे. तेथी युक्तात्मा तेओनी (लब्धियोनी) द्वारा क्यारेक दुःखनो क्षय पक्षु करे छे. जेवी रीते मिश्रित फूल लीधा पछी कुशल व्यक्ति जेरी फूलने छोडी सारां फूलोने ग्रहणु करे छे, तेवी न रीते योग्य साधक लब्धियोना दुरुपयोगने रोकने तेना सदुपयोग द्वारा दुःखनो क्षय करे छे.

तलवार शत्रु से रक्षा भी करती है और वही तलवार कभी अपना संहार भी कर सकती है । इसी प्रकार तप के द्वारा पाई हुई लब्धियाँ यदि शासन हित के उपयोग में आती हैं तो पुण्यरूपा हैं । अन्यथा शक्ति व्यक्ति को गर्वोदत भी बन सकती है और उसका दुरुपयोग भी हो सकता है । दुरुपयोग में गई हुई शक्ति पाप का ही बन्धन करती है । वन में सुन्दर स्वास्थ्यप्रद पुष्प भी होते हैं और विष पुष्प भी होते हैं, किन्तु कुशल माली विषपुष्पों को छोड़ कर अमृत

१ आत्मसाक्षात्कार के द्वारा प्राप्त दिव्य शक्ति लब्धि कहलाती है । जन साधारण जिसे चमत्कार कह कर चमत्कृत होता है किन्तु अध्यात्म साधना में यह बहुत नीचे की वस्तु है ।

२ सम्यक् श्रुत का बारहवां अंग दृष्टिवाद है । श्रुत साहित्य का विशालतम कोष जिसमें १४ पूर्वों का समावेश होता है । जिसे पाकर मुनि श्रुतकेवलपिद पाता है । जिसके द्वारा साधक को तत्त्वात्स्व के निर्णय में विशुद्ध दृष्टि प्राप्त होती है ।

पुष्प का ग्रहण करता है। उसी प्रकार आत्मज्ञान लब्धियों के द्वारा होनेवाली हानियोंसे बचे। लब्धि वह तलवार है जो यदि सीधी चली तो दुःखों का क्षय कर सकती है। शासन की रक्षा में किया गया लब्धि का उपयोग शासन को संकटों से बचाएगा, हजारों साधकों के जीवन और उनके समाधि की तथा प्रतिष्ठा की रक्षा करेगा। किन्तु यदि किसी से अपने पैर का प्रतिशोध लेने में लब्धि का प्रयोग किया गया तो गलत ढंग से किया गया वह प्रयोग विकास नहीं विनाश करेगा। अतः साधक लब्धि पाने के बाद उसके उपयोग में पूरी सावधानी रखे।

टीकाकार का मत इस तरह है :—

सुकृतेन च दुष्कृतेन च मिश्रमपि सत्कर्म बन्धने मुक्तात्मा साधुः पापं दुःखं क्षपयति यथा मिश्रेऽपि हिताहित-
मिश्रितेऽपि पुष्पाणां ग्राहे संग्रहे निश्चित पुष्पाणि धरात्मानि चयवन्ति।

सत्कार्य और असत्कार्य के द्वारा शुभाशुभ रूप मिश्रित कर्मों का बन्ध होता है। किन्तु शुभाशुभ अव्यवसायों के द्वारा कर्मों का बन्ध मिश्र होता है। कषाय की मन्द अवस्था में शुभ का बन्ध विशेष और अशुभ का बन्ध अल्प होता है। कषाय की तीव्रवस्था में यदि कषाय प्रशस्त कषाय है तो अशुभ के साथ आत्मा शुभ का भी बन्ध करता है। मन्द कषायी आत्मा देव गति का बन्ध करता है। किन्तु वहाँ भी वृत्तिजन्य दुःख तो मौजूद है और सम्यक्त्व आत्मा नरक में भी शान्तिका अनुभव करता है। वहाँ अशुभ के साथ शुभ का उदय है। किन्तु युक्त आत्मा अशुभ को छोड़कर शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर प्रवृत्त होता है। जैसे सम्मिश्रित हिताहित में से हंस बुद्धि मनुष्य हित का ही ग्रहण करता है। विष पुष्पों से मिश्रित पुष्प समूह में से कुशल साली अच्छे पुष्पों का ही खयन करता है।

प्रोफेसर शुब्रिंग कहते हैं कि:—जैसे अंजली में आए हुए फूलों में से जहरी पुष्पों को फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार बुद्धियुक्त आत्मा अशुभ कर्मों के असर को समाप्त कर देता है।

यहाँ हमें प्राचीन युग की सांस्कृतिक झाँकी दिखाई देती है। प्राचीन युग में शत्रु के संहार के लिए विषमय पुष्प तैयार किए जाते थे जिनके संघटते ही शत्रु मर जाए। साथ पितृ कन्या भी तैयार की जाती थी इसका अन्य अध्याय में उल्लेख है।

समस्तं च दयं चेव सममासज्ज दुल्लहं।

ण प्यमापज्ज मेधावी मम्मगार्हं जहारियो ॥ १८ ॥

अर्थ :—मेधावी साधक दुर्लभ सम्यक्त्व और दया को सम्यक् रूप में पा कर प्रमाद न करे, जैसे शत्रु के मर्म को पकड़ने के बाद शत्रु विलम्ब नहीं करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

शुद्धिमान् साधके दुर्लभ सम्यक्त्व आने ध्याने सम्यक् रूपमा प्राप्त करीने, प्रमाद करवो न जेछिये. जेभ पोताना शत्रुना भर्मस्थल ने जख्मी दीधा पछी शत्रु जरा पक्षु विलम्ब करतो नथी.

सम्यक्त्व और चारित्र्य-दया को पा कर साधक प्रमाद न करे। अप्रमाद के लिए यहाँ पर सुन्दर रूपक दिया गया है। जैसे युद्ध के मैदान में शत्रु का मर्म प्राप्त हो जाता है उसके बाद उसका वैरी एक क्षण भी विलम्ब नहीं करता। एक क्षण का विलम्ब ही विजय को पराजय में बदल सकता है। किन्तु वे गुप्त रहस्य हारती हुई सेना के हाथ में लग जाते हैं और उसका अविलम्ब उपयोग कर लिया जाए तो पराजय के आंसू के स्थान पर विजय की मुस्कान दौड़ जाएगी।

नेहवत्तिक्खण दीपो जहा चयति संततिं।

आयाण-बंध-रोद्धंमि तहण्णा भव-संतइ ॥ १९ ॥

अर्थ :—तेल और बत्ती (वाट) के क्षय होने पर जैसे दीपक दीपकलिका रूप संतति को क्षय करता है, उसी प्रकार आत्मा आदान और बन्ध का अवरोध करने पर भव परम्परा को क्षय करता है।

१-प्रशस्त राग की भाँति प्रशस्त द्वेष भी संभवित है। अन्याय के प्रति आनेवाला क्रोध प्रशस्त द्वेष है। स्वार्थ भाव को लेकर आनेवाला क्रोध अप्रशस्त द्वेष है।

सुजराती भाषान्तरः—

तेल અને વાટનો ક્ષય થયા પછી જેવી રીતે દીવો દીપકલિકા રૂપ સંતતિનો ક્ષય કરે છે તેવી જ રીતે આત્મા આદાન અને બંધનો અવરોધ કરીને ભવ-પરંપરાનો ક્ષય કરે છે.

દીપક મેં જ્યાં તક તેલ ઓર વર્તિકા મૌજૂદ હૈં દીપકલિકા કા પ્રવાહ ચાલુ હી રહેગા । ऊपर से बुझा देने पर भी अन्य ज्योति है । जैसे गर चुनः हममें उठे-रि-या आ जाएगी । उसका संपूर्ण क्षय तो तेल और वर्तिका (बत्ती) का क्षय ही है, उसी प्रकार कर्म का आदान और बन्ध जब तक समाप्त नहीं होते हैं तब तक भवसंतति का क्षय भी संभव नहीं ।

यहां भव परम्परा की बुद्धि में तेल और बत्ती का स्थान रखनेवाले दो शब्द आए हैं । आदान और बन्ध कर्मों को ग्रहण करना और उनके साथ बध्य होना, इस दृष्टि से आदान और बन्ध में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता है । किन्तु आदान कर्म बन्ध की प्रथम स्थिति है । राग चेतना या द्वेष चेतना के द्वारा आत्मा कर्मों को आकर्षित करता है । क्योंकि कर्म जड़ हैं, वे स्वयं आ धिपक नहीं सकते । उनको आकर्षित करने की विशिष्ट शक्ति अपेक्षित है । आत्मा के राग द्वेषात्मक स्पन्दन ही कर्मों का आदान है, जिसे 'भावकर्म' कहा जाता है । कर्म पहले आकर्षित होते हैं, फिर बन्ध होता है । निश्चय दृष्टि से वह आदान ही बन्ध है । आदान कारण है, और बन्ध कार्य है । अतः पहले आदान को ही समाप्त करना होगा । आदान का बटन बन्द होते ही बन्ध की विद्युत् क्षीण हो जाएगी । और दोनों के बन्द होते ही पंखे की गति अपने आप बन्द हो जाएगी । अतः यदि चलते हुए पंखे को रोकना है तो पहले बटन को रोकना होगा । यदि सीधे ही पंखे के पास पहुंच गए तो उसका वेग उंगली काट देगा । वेग को बन्द करने के लिये उसके पावर को बन्द करना होगा ।

निर्वाण शब्द जैन और बौद्ध दर्शन दोनों में मोक्ष के अर्थ में आया है और दीप निर्वाण से उसे उपमित किया गया है । फिर भी दोनों में अन्तर है । बौद्ध दर्शन मानता है कि तेल और बत्ती के क्षय होने पर दीपकलिका न ऊपर जाती है न नीचे, वहीं समाप्त हो जाती है । ऐसे ही वासना के समाप्त होने पर आत्मा भी समाप्त हो जाता है । बौद्ध दर्शन वासना के क्षय मानता है, और उसे निर्वाण बोलता है । जब कि जैन दर्शन वासना के क्षय के साथ भवपरंपरा का क्षय मानता है । किन्तु वासना के क्षय होने के बाद भी आत्मा उपस्थित रहता है । वह शुद्ध आत्मा लोकप्र में स्थित रहता है । आदान बन्ध निरोध को रोगोपशमन के रूपक से व्यक्त करते हैं ।

दोसादણે ઝિરુદ્ધમ્મિ સમ્મં સત્થાણુસારિણા ।

પુઘ્વાઉત્તે ય ઝિજ્ઞાણ લ્લયં વાહી ણિયચ્છત્તી ॥ ૨૦ ॥

અર્થ :—વ્યાધિ-ગ્રસ્ત માનવ દોષોં કે આગમન (ઉત્પત્તિ) કો રોક કર વૈદ્યક શાસ્ત્ર કે અનુરૂપ વર્તન કરતા હૈં ઓર પૂર્વ દોષોં કા પરિમાર્જન કરતા હૈં તો વ્યાધિ સે મુક્ત હોતા હૈં ।

બીમાર માણુસ દોષોની ઉત્પત્તિને રોકીને વૈદ્યક શાસ્ત્રના અનુરૂપ વર્તન કરે, અને પૂર્વ સંચિત દોષોનું પરિમાર્જન કરે તો વ્યાધિથી મુક્ત અને છે.

રોગ મુક્ત હોને કે લિએ ત્રીન વાતોં કી આવશ્યકતા હૈં । નર દોષોં કા આગમન રોકના, વૈદ્યક શાસ્ત્ર કે અનુસાર વર્તન ઓર પૂર્વ રોગ કા ઉપશમન । ત્રીનોં કે સદ્ગાત્ર મેં હી વ્યક્તિ રોગ રહિત હો સકતા હૈં । કર્મ વ્યાધિ કે ક્ષય કે લિએ મી ત્રીનોં વાતોં અપેક્ષિત હૈં । નર દોષોં કી પરંપરા કો રોકના, સમ્યક્ શાસ્ત્રાનુકૂલ વર્તન ઓર પૂર્વાર્જિત કર્મોં કા ક્ષય હોને પર આત્મા કર્મ વ્યાધિ સે મુક્ત હો કર નિર્વાણ પ્રાપ્ત કરતા હૈં ।

મજ્ઞં દોસા ધિસં વળ્હી મહાવેસો અણં અરી ।

ધણં ધર્મં ચ જીવાણં વિણ્ણેયં ધુવમેય તં ॥ ૨૧ ॥

અર્થ :—મદ્ય, વિપ, અગ્નિ, મહાવેશ ઓર ઋણ તથા શત્રુ હી આત્મા કે દોષ હૈં । જ્ય કિ ધર્મ હી તસકા ધ્રુવ ધન હૈં । એસા જાનના ચાહિએ ।

મદ્ય, વિપ, અગ્નિ, મહાવેશ અને ઋણ તથા શત્રુ જ આત્માના દોષો છે. જ્યારે ધર્મ જ તેનું ધ્રુવ ધન છે. એવું બાથુવું જોઈએ.

પૂર્વ ગાથા મેં સ્વાસ્થ્ય લાભ કે લિએ દોષાગમન કો રોકને કી વાત કહી ગઈ હૈં । યહાં આરંભક ઓર વૈદિક સ્વાસ્થ્ય કી ક્ષતિ પહુંચાને વાલે દોનોં પ્રકાર કે દોષ વતાએ ગએ હૈં । મદ્ય વેદ્ય ઓર આત્મા દોનોં કો ક્ષતિ પહુંચાતા હૈં । અગ્નિ, વિપ, મહાવેશ, ઋણ ઓર શત્રુ પ્રાયઃ શરીર કો ક્ષતિ ગ્રસ્ત કરતે હૈં ।

आत्मा का ध्रुव धन धर्म है । यह धर्म संप्रदायों से ऊपर रहने वाला आत्म-स्वभाव रूप धर्म है । क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है ।

कम्मायाणेऽवरुद्धं सस्मं मार्गानुसारिणा ।

पुब्बाउत्ते य णिज्जिण्णे खयं दुक्खं णियच्छती ॥ २२ ॥

अर्थ :—कर्म ग्रहण को रोक कर सम्यक् मार्ग का अनुसरण करने वाला आत्मा पूर्वजित कर्मों की निर्जरा करके समस्त दुःखों का क्षय कर देता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

कर्म-ग्रहणने रोकने सम्यक् मार्गनु अनुसरण करवावाणी आत्मा पूर्वजित कर्मोंनी निर्जरा करीने समस्त दुःखोंनी क्षय करी नाप्ते छे ।

२२ वीं गाथा में दिए गए दृष्टांत का यह गाथा निगमन (उपसंहार) करती है । व्याधि से मुक्त होने के लिए दोषों का अवरोध, वैद्यक शास्त्र के नियमों का पालन, और पूर्व बीमारी का निःकाशन आवश्यक है । उसी प्रकार यहाँ आत्मा कर्म-मुक्ति के लिए नवीन कर्मों के आगमन के हेतु रूप आश्रय का निरोध करना होगा । उसे सम्यक् रूप से या सम्यक्त्व समवेत चारित्र्य का मार्गानुसारी बनना पड़ेगा । ऐसा करने से आत्मा पूर्ववद्ध कर्मों को भी क्षय करता है और समस्त दुःखों से मुक्त होता है ।

कर्मादान और मार्गानुसारी जैन पारिभाषिक शब्द हैं । श्रावक व्रत लेने के बाद श्रावक को जिन हिंसात्मक व्यापारों को बन्द करना पड़ता है, उन्हें कर्मादान कहा जाता है । मार्गानुसारित्व सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व के वे गुण जो आत्मा को सम्यक्त्वामिमुख बनाते हैं उन्हें मार्गानुसारी के गुण कहे जाते हैं । जिनकी संख्या ३५ हैं । किन्तु यहाँ दोनों शब्द अपेक्षित अर्थ से भिन्न रूप में प्रयुक्त हुए हैं । कर्मादान का मतलब कर्मों के ग्रहण से है । राजा द्वेषाभिभूत आत्मा कर्मों को अपनी ओर आकृष्ट करता है वह कर्मादान है । मार्गानुसारी से मतलब चारित्र्य-मार्ग में वर्तमान आत्मा है । क्योंकि कर्म क्षय में विशिष्ट योगदान उसी का है । पूर्वोक्त मार्गानुसारित्व तो सम्यक्त्व के पूर्व की अवस्था है और यहाँ सम्यक्त्व समवेत मार्गानुसारित्व का निर्देश है । जिससे चारित्र्य ही विवक्षित है ।

पुरिसो रहमारुद्धो जोगाण सत्तसंजुतो ।

विपक्खं णिहणं णेइ सम्मविट्ठी तहा अणं ॥ २३ ॥

अर्थ :—विपक्षी को हनन करने योग्य शक्ति से संपन्न रथारुद्ध पुरुष शत्रु को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार सम्यग् दृष्टि अनंतानुबन्धी कषाय को समाप्त करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

विपक्षीने ढुषुवायोग्य शक्तिथी संपन्न पुरुष शत्रुनो नाश करे छे तेवीज रीते सम्यग् दृष्टि अनंतानुबन्धी कषायने समाप्त करे छे ।

शत्रु पर विजय पाने के लिए दो बातें अपेक्षित हैं । शक्ति और बचाव का साधन । आत्मा का शत्रु अनंतानुबन्धी चतुष्क है, क्योंकि अनंतानुबन्धी और मिथ्यात्व सहभावी हैं । एक के सद्भाव में दूसरा आ ही जाता है । जो कषाय सारे जीवन तक आत्मा को जलाना रहता है और उस आग की लपटों में दूसरों को भी झुलसाता है, जीते जीते जो कषाय अन्तर की आग में जलता है और मरने के बाद नरक की आग में पटकता है, वह कषाय है अनंतानुबन्धी । आत्मा सम्यक् दर्शन की शक्ति पाकर मिथ्यात्व शत्रु का संहार करता है । अरु यह अनंतानुबन्धी कातः संक्षिप्त रूप है ।

वह्नि-मारुय-संयोगा जहा हेमं विसुज्झती ।

सम्मत्त-नाण-संजुत्ते तहा पायं विसुज्झती ॥ २४ ॥

अर्थ :—जैसे अग्नि और पवन के प्रयोग से स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से युक्त आत्मा पाप से विशुद्ध होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ અગ્નિ અને પવનના સંયોગથી (મદદથી) સોનું નિર્મેળ અને છે તેમ જ સમ્યક્દર્શન અને સમ્યક્જ્ઞાન સાથે સંયોગી પાપ-વિશુદ્ધ અને છે.

• સમ્યક્ દર્શન और सत्यम् ज्ञान के द्वारा आत्मा कर्म-मुक्ति की राह पर आगे बढ़ता है । जब तक मिथ्यात्व है तब तक अज्ञान है । जो अमृत को ही जहर मान कर उससे घृणा करता है और जहर का अमृत मान कर पीता है वह दुःख के दावानल को नियंत्रण देता है ।

सम्यक् दर्शन के आने पर ही ज्ञान सम्यक् बनता है । अन्यथा ज्ञान तो मिथ्यात्व दशा में भी होता है । किन्तु उसका ज्ञान तत्व का शुद्ध रूप नहीं देखता । वह केवल वर्तमान रूप को ही देखता है । उसके अनंत अनंत भूत और अनंत अनंत भविष्य पर्यायों को स्वीकार नहीं करता है । अतः वह वस्तु को जानता हुआ भी नहीं जानता है । ऐसे तो मिथ्यात्वी भी गी को गौ और अश्व को अश्व देखता है । वह भी गाय को घोड़ा नहीं कहता । किन्तु सम्यक्स्वी जहाँ गाय में एक शाश्वत अनंत गुण, अनंत अतीत, अनागत पर्याय वाला आत्म-तत्त्व मानता है । आज निरीह दीन रूप में उपस्थित आत्मा एक दिन भाव बन कर चक्रवर्ती के सिंहासन पर भी बैठ सकता है ।

जीवादिसङ्ग्रहं समत्तस्त्वमप्यणो ।

दुरभिवेशमुक्तं सगमं ह्यु ह्येति सति जग्नि ।

जीवादि तत्वों पर श्रद्धा सम्यक्त्व है । वही आत्मा का निज रूप है । जिसके आने पर ज्ञान दुरभिवेश=हठाग्रह से मुक्त हो सम्यक् बनता है । प्रथम संग्रह कमी इन्द्र के सिंहासन पर भी बैठ सकता है, और कमी समस्त कर्म जंजीरों को तोड़ कर मुक्त भी हो सकता है । सम्यक् दर्शन ऐसा आत्म गाय में चक्रवर्ती और इन्द्र का अस्तित्व स्वीकार करता है, जब कि मिथ्यात्वी केवल उसे गाय के रूप में देखता है । अतः सम्यक् दर्शन पाते ही आत्मा दर्शन विशिष्ट की शक्ति पाता है जिसके द्वारा स्वप्न-पर का भेदविज्ञान कर सकता है । और वही पाप-विशुद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है ।

जहा आतवसंतसं वत्थं सुज्झइ धारिणा ।

सम्मत्तसंजुतो अप्पा तहा द्वाणेण सुज्झती ॥ २५ ॥

अर्थ :—जैसे धूप से तप्त वस्त्र पानी के द्वारा शुद्ध होता है । वैसे ही सम्यक्त्व से युक्त आत्मा ध्यान से शुद्ध होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ તડકાથી તપેલું વસ્ત્ર પાણીથી શુદ્ધ થાય છે. તેવીજ રીતે સમ્યક્ત્વથી યુક્ત આત્મા ધ્યાનથી શુદ્ધ અને છે.

धूप से तप्त वस्त्र पानी से शुद्ध होता है । पानी से तो कपड़ा मीगता है, फिर यह शुद्ध कैसे ? । धूप से पसीना आता है उसके द्वारा कपड़ा अशुद्ध हो आता है । मैला कपड़ा पानी से साफ हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व समवेत आत्मा ध्यान के द्वारा शुद्ध होता है । ध्यान के चार प्रकार हैं, जिसमें आर्त और रौद्र कर्म पाश को सुहृद करने वाले हैं । धर्म और शुद्ध ध्यान आत्म-विशुद्धि के लिए उपयोगी हैं । शुद्ध ध्यान के दो पद पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क केवल ज्ञान के हेतु हैं और शेष दो सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति और व्युत्पत्तिक्रियानिवृत्ति द्वारा आत्मा शैलेस्त्रीकरण अवस्था प्राप्त करता है । सर्व संवरशील आत्मा क्रिया रहित स्थिति में पहुंच कर ही पूर्ण निर्वाण को पाता है । आचार्य समन्तभद्र मल्लिनाथ प्रभु की स्तुति में कहते हैं :—

यस्य च शुद्धं परमतपोमि, ध्यानमनंतं दुरितमघाक्षीत् ।

तं जिनसिंहं कृतकरणीयं, मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥

जिनके शुद्ध ध्यान की परम तपोमि में अनंत पाप भस्म हो जाते हैं, उन कृतकृत्य निःशल्य जिनसिंह मल्लिनाथ प्रभु का मैं शरण ग्रहण करता हूं । प्रस्तुत स्तुति काव्य में भी शुद्ध ध्यान को आत्मशुद्धि का हेतु बतलाया गया है ।

कंचणस्स अहा धाऊ जोगेणं सुच्चप मलं ।

अणार्हप वि संताणे तवाओ कम्मसंकरं ॥ २६ ॥

अर्थ :—धातु के संयोग से स्वर्ण का मेल दूर होता है । इसी प्रकार अनादि कर्म सन्तान भी तप से नष्ट हो जाते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

એમ ધાતુ (તેજા)ના સંયોગથી સોનાનો મેલ નિકળી જાય છે તેમજ અનાદિ ઠમો પશુતપથી નષ્ટ અને જાય છે.

स्वर्णकार जब सोने को विशुद्ध करता है, वह आग में तपाने के पूर्व उसमें दूसरी धातु (तेजाब) मिलाता है जिसके द्वारा तपाने के बाद स्वर्ण में अधिक हीप्ति आती है और वह सुलायम हो जाता है। इसी प्रकार कर्म मेल आत्मा के साथ अनादि है। फिर भी तप के द्वारा कर्म मेल दूर हो जाता है और आत्मा विशुद्ध होता है। बहुधा प्रश्न किया जाता है कि आत्मा और कर्म का संयोग अनादि है फिर अनादि का अंत कैसे संभव है? उसके उत्तर में आचार्य ने सोने का रूपक दिया है। जैसे सोना और उसके मेल का संबन्ध अनादि है फिर भी मानव के प्रयत्न मेल को स्वर्ण से पृथक् कर सकते हैं, इसी प्रकार तपःशक्ति अनादि आत्म-मेल को दूर कर सकती है।

वत्थादिषु सुज्जेसु, संताने गहणे तथा ।

दिट्ठं तं वेसधम्मिस्सं, सम्ममेयं विभावय ॥ २७ ॥

अर्थ :—वत्थादि के शोधन में और कर्म संतान में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकभाव है। दृष्टांत एकदेशीय है। अतः उसका सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

ઠમોની ઉત્પત્તિમાં, અને વસ્ત્રોના શોધન (ધુલાઈ) નો દૃષ્ટાન્ત આપવામાં આવ્યો છે. આ દૃષ્ટાન્ત એકદેશીય છે. એથી તેનું સમ્યક્ રીતે ધ્યાન કરવું જોઈએ.

वस्त्रों की सफाई यह एक रूपक है और वह कर्म-संतान की विशुद्धि के लिए आयी है। यह दृष्टांत है और दृष्टांत एकदेशीय होता है। किसी के शान्त भिन्न मुख को चन्द्र की उपमा दी जाय तो उससे घर में प्रकाश नहीं हो जाएगा और ऐसी आकांक्षा भी पागलपन के सिवा और कुछ नहीं होगी। वहाँ तो चन्द्र की सौम्यता, शान्ति और सुधा ही विवक्षित है। महाकादम्प अर्हतर्षि भी हमकों के सम्बन्ध में निर्देश दे रहे हैं। ये एकधर्मी हैं, अन्यथा वस्त्रों की भाँति आत्मा को पानी से धो कर शुद्ध करने के लिए चल पड़ेंगे। क्योंकि पाप का रंग इतना हल्का नहीं है कि वह पानी से धुल जाए।

टीकाकार का मिल मत है—

વસ્ત્રાદિષુ શોધ્યેષુ શુદ્ધિ પ્રાપ્તિતથ્યેષુ સાર્થિતથ્યેષુ ચા તપશ્ચ સંતાને ષટ્ઠાદિભક્તવલ્લેખાં પિંચ્છાહને ચ દેવાધર્મિત્વં અપૂર્ણાનુદાનં बहुशो दृष्टमेतद्धर्मित्वं तु सम्यग् निःशेषं विभावयेत प्राकाश्यं नयेत् ॥

जो वत्थादि शुद्ध करने योग्य हैं, उनमें और कर्म-संतति के क्षय हेतु की जानेवाली षष्ठभक्तादि तप और आहार ग्रहण में देशधर्मित्व अर्थात् अपूर्ण अनुष्ठान देखे जाते हैं। किन्तु साधक उनकी अपूर्णता दूर कर सम्यक् प्रकार से उसका अनुष्ठान करे।

टीकाकार द्वारा प्रस्तुत अर्थ गाथा के हार्द से मेल नहीं खाता है। क्योंकि अर्हतर्षि ने पहले वस्त्र शोधन और स्वर्ण शोधन के दृष्टांत दिए हैं। दृष्टांत हमेशा एकदेशीय होते हैं। दो वस्तुओं में से कुछ विशेष साम्यता को देख कर एक वस्तु से दूसरी को उपमित किया जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि एक वस्तु के समस्त गुण दूसरी में ही हो। इसी तथ्य को बताने के लिए यह गाथा आई है।

आवज्जती समुग्धातो, जोगाणं च निरुंभणं ।

अनियट्ठी एव सेलेसी, सिक्खी कम्मक्खओ तथा ॥ २८ ॥

अर्थ :—आवर्जन-समुद्घात, अनिवृत्ति, योग-निरोध और शैलेसीकरण के द्वारा आत्मा कर्म-क्षय करके सिद्धि प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આવર્જન, સમુદ્ઘાત, અનિવૃત્તિ, યોગનિરોધ, શૈલેશીકરણ આત્મા ઠર્મ ક્ષય કરીને સિદ્ધ-મુક્તિ પ્રાપ્ત કરે છે.

शुद्ध ध्यान की परम तपोभि के द्वारा चार कर्म क्षय करके आत्मा केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त करता है। उसी का क्रम यहाँ बतलाया गया है, सर्व प्रथम आवर्जन किया होती है। उदयावलिका में अप्राप्त कर्मों की उदयावलिका में प्रक्षेपण करना आवर्जन किया कहलाती है। जब आयु अल्प हो और वेदनीय नाम गोत्र कर्म अधिक हों, उन्हें आयु की

सम स्थिति में लाने के लिए केवली प्रभु समुद्धात करते हैं। क्योंकि यदि आयु समाप्त हो जाय और वेदनीयोंदि की स्थिति अधिक हो तो पैसिरी स्थिति होजायगी, क्योंकि आयु के अभाव में आत्मा शरीर में रह नहीं सकता और कर्मक्षय नहीं हुए तो सकर्मक आत्मा सिद्ध कैसे होगा? ऐसी स्थिति में केवली भगवान समुद्धात करते हैं। जो अष्टसमय भावी होती हैं। आत्म-प्रदेशों को दंड, कपाट, मन्थान और अन्तःपूर्ति के रूप में आत्म-प्रदेशों को लोक व्यापी-बनाते हैं और चार समय में उसी क्रम से पुनः प्रदेशों को शरीरस्थ करते हैं। गृही क्रिया समुद्धात है। जैसे लीला ब्रह्म कैलासे से जल्दी सुख जाता है उसी प्रकार समुद्धात से आत्म-प्रदेशों को लोक व्यापी बना देने से वेदनीय आदि की स्थिति आयु के तुल्य हो जाती है^१। उसके बाद केवली क्रमशः काया, वचन और मनोयोग का निरोध करते हैं। स्थूल वचन योग से स्थूल काय योग का निरोध करते हैं। और स्थूल मन योग से स्थूल वचन योग का विरोध करते हैं। सूक्ष्म काययोग के द्वारा स्थूल मनोयोग का निरोध करते हैं। बाद में क्रमशः सूक्ष्म वचन योग से काय योग एवं सूक्ष्म मनोयोग से सूक्ष्म वचन योग का निरोध करते हैं और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति नामक शुद्ध ध्यान के चतुर्थ एव से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं। फिर शैलेशी निष्प्रकंप अवस्था को प्राप्त करता है। अनियंत्री जो मात्र मुक्ति प्राप्त किया बगर निवृत्त नहीं होता है। जिसे अनियंत्री गुण श्रेणी भी कहते हैं। उसके बाद क्रिया रहित सर्व संवर रूप शैलेशी अवस्था आती है। इस अवस्था में पंचह्रस्वाक्षर उच्चारण काल तक आत्मा देह में ठहर कर आत्मा देहमुक्त हो सिद्ध होता है।

टीका :—तस्य फलं उच्यते यथा आपद्यते कर्मप्रदेशानां समुद्धातः स्फोटनकल्पः योगानां रूपवाङ्मनःकर्म-रूपाणां निरोधः अनिवृत्तिरपुनर्भवः शैलेशीयोगनिरोधरूपावस्था सिद्धिनिर्वाणं तथा कर्मक्षयः ॥

पूर्व गाथा में बताया गया है, कि साधक अपूर्ण अनुष्ठान न करे। अपितु साधना को पूर्ण करे। पूर्ण साधना का प्रति फल वहां बतला रहे हैं। जैसे कि कर्म-प्रदेशों का समुद्धात, जिसे स्फोटनकल्प भी कहा जाता है शरीर, वाणी और मन रूप योगों का निरोध अनिवृत्ति अर्थात् पुनः न होने वाली योगनिरोध रूप शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर आत्मा कर्म-क्षय रूप सिद्धि तथा निर्वाण प्राप्त करता है।

णावा व वारिमज्झंसि, खीणलेवो अणाउलो ।

रोगी वा रोगणिमुक्को, सिद्धो भवति णीरओ ॥ २९ ॥

अर्थ :—जल धारा के बीच में रही नौका के समान कर्म लेपरहित अनाकुल आत्मा सिद्ध होता है। रोगी रोग से निर्मुक्त होने पर आनन्द पाता है। ऐसे ही आत्मा भव-ध्रमणों की व्याधि से मुक्त हो कर आनन्द पाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

पाण्डुना प्रवाहनी अंदर रहेल छोडीनी जेम उर्भमण-रहित आत्मा सिद्ध अने छे. रोगी रोगशी मुक्त यथाथी आनंदीत थाय छे, तेवीज रीते आत्मा अवअमणुना रोगशी मुक्त थधने आनंद अनुभव छे.

नौका अथाह सागर में तैरती है। उसके नीचे असंख्य जलराशि रहती है, फिर भी नौका में एक बूंद भी नहीं रहता। इसी प्रकार मोह मुक्त आत्मा संसार में नौका के सदृश रहता है। अनंत अनंत कर्म बासनाएँ उसके चारों ओर रहती हैं। क्योंकि कर्म द्रव्य तो संसार में सर्वत्र व्याप्त है, सिद्ध शिला पर भी कर्म प्रदेश है। किन्तु वे कर्मनिर्मुक्त होते हैं। आत्मा रोगमुक्त व्यक्ति की भांति असीम आनन्द का अनुभव करता है।

पुव्वजोगा असंगत्ता काऊ वाया मणो इ वा ।

एगत्तो आगती चेव कम्माभावा ण विज्जती ॥ ३० ॥

अर्थ :—[सिद्धस्थिति में] पूर्व [संसारी दशा] के देह वाणी और मन रूप से पृथक् एक ही आत्म द्रव्य रहता है। कर्मजन्य भावों का वहां अभाव है। आत्मा के ज्ञाधिक सम्यक्त्व केवल ज्ञान के बाद दर्शन और अनंत सुख रूप और सत्त्वप्रमेयत्वादि पारिणामिक भाव ही वहां रहते हैं। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भावों का वहां अभाव है। साथ ही वहां भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव का भी अभाव है। आगम में सिद्ध प्रभु नोभव्यामध्य है कहा गया है। क्योंकि सिद्ध स्थिति पा चुके हैं। अतः अब भव्यत्व अवशेष ही कहाँ रहा ?।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

(સિદ્ધની સ્થિતિમાં) પહેલા (સંસારી દશા) ના દેહ વાણી અને મન જન્મભાવોથી બુદ્ધિ એકજ આત્મ-
દ્રવ્ય રહે છે. કર્મ જન્મ ભાવોનો ત્યાં અભાવ હોય છે. આત્માના સાચિક સમ્યક્ત્વ, કેવલ જ્ઞાન, કેવલ દર્શન અને
અનંત સુખ અને સત્વરામેયતત્વ આદિ પરિણામિક ભાવોજ ત્યાં હોય છે. ઔદયિક, ઔપશમિક અને ક્ષયોપશમિક
ભાવોનો ત્યાં અભાવ હોય છે. સાથેજ ત્યાં લઘ્યત્વરૂપ પરિણામિક ભાવનો પણ ત્યાં અભાવ હોય છે. આગમમાં
સિદ્ધ પ્રભુનો અન્યાઅવ્ય છે, તેમ કહ્યું છે. કારણકે તે સિદ્ધસ્થિતિ પામેલા છે. તેથી હવે લઘ્યત્વ અવશેષજ ક્યાં
રહ્યો, ઉપશમિક આદિ અન્યાત્વ ભાવત્યાન્યત્ર કેવળ સમ્યક જ્ઞાન દર્શન સિદ્ધત્વેભ્યઃ.

टीका :—पूर्वयोगेनासंगतानि भवन्ति; कायो वाङ्मन इति वैकान्तेन कर्माभाषादिह लोकागतिर्न विद्यते ।

सिद्ध दशा में योगों का अभाव होता है । क्योंकि कर्मागमन का मुख्य हेतु योग ही है । योगों के सङ्गात में ही कर्म जाते हैं । ग्यारहवें से तेरहवें शुभ स्थान तक केवलयोग ही हैं । अतः ईर्ष्यापथिक क्रियः हैं । सकषायाकषाययोः सांपरा-
मिकेर्षापथयोः ॥-तत्त्वार्थसूत्र अ. ६, सू. ५,

प्रस्तुत गाथा में मुक्तात्मा के पुनरागमन का निषेध किया है, क्योंकि भवपरम्परा का हेतु कर्म है और कारण के अभाव से तज्जन्म कार्य का भी अभाव है ।

परं णावग्गहाभावा, सुद्धी आवरणकखया ।

अतिलक्षणसम्भावा निश्चो सो परमो ध्रुव ॥ ३१ ॥

अर्थ :—सिद्धात्मा लोकप्र में स्थित है । उससे आत्मा आगे नहीं जा सकता; क्योंकि उपर अवग्रह स्थान का अभाव है । समस्त आवरण के क्षय होने पर परम ध्रुव में अवस्थित है । अस्ति-लक्षण से सद्भाव शील है और वह परम नित्य और शाश्वत है ।

कर्मभुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोकान्त तक जाती है । आत्मा लोकाग्र से उपर क्यों नहीं जा सकता इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया है । यद्यपि आत्मा ऊर्ध्वगति-धर्मी है, फिर भी उसकी गति धर्मास्तिकाग्र सापेक्ष होती है । धर्मास्तिकाग्र लोकव्यापी होता है । अतः उसके अभाव में आत्मा लोकाग्र से ऊपर नहीं जा सकता । सुख के प्रतिबन्धक समस्त आवरण क्षय हो चुके हैं । अतः सिद्धात्मा परम सुखी है । नैशेषिक दर्शन मुक्ति को आनन्द शून्य मानते हैं । कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र भी कहते हैं—“न संविदानन्दमयी च मुक्तिः” ।

सुखसाधनप्रतिमत्पदीयैः । अन्ययोग-व्यवच्छेदिका ८ गाथा के द्वितीय वर्ण से वैशेषिक दर्शन के उक्त मत का खंडन किया गया है । क्योंकि सुख प्रतिबन्धक मोहनीय कर्म है । उसका वहां अभाव है । प्रतिबन्धक के अभाव में सुख विद्यमान है । हां; वह सुख पार्थिव नहीं, अपार्थिव है ।

साथ ही सिद्धात्मा में अस्तित्व का सङ्काव है; क्योंकि बौद्ध दर्शन आत्मा संतति का सर्वथा उच्छेद ही निर्वाण मानता है। जैसे दीपक कलिका का जब तक प्रवाह है तब तक उसमें जलन भी है। वह जलन तभी समाप्त होगी जब दीप-निर्वाण हो जाय। किन्तु जैन दर्शन मोक्ष में आत्मा का उच्छेद नहीं, उसका सङ्काव मानता है; उसकी विभावदशा-जग्य विकृतियाँ समाप्त होती हैं। सर्वथा आत्मा नहीं। यदि आत्मा ही समाप्त हो जाय तो फिर साधना किस लिए? अतः सिद्धिप्राप्त आत्मा शाश्वत रूप में स्थित रहता है।

टीका :—नावाग्रहाभावाज्ज्ञानदर्शनावरणक्षयाच्च परंति परमं सुखी भवति पुरुषः, ध्रुवं असंशयं स नित्यः परम-
श्चास्त्युत्कलक्षणसद्भावात् । अर्थं गतम् ।

दृश्यतो खित्ततो चैव कालतो भाषतो तद्वा ।

निष्ठाणिश्वं तु विष्णोयं संसारे सव्यदेहिणं ॥ ३२ ॥

अर्थ:—संसार की समस्त देहधारी आत्माओं को द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से तिल और अनिल जानना चाहिए ।
गुजराती भाषान्तर:—

સંસારનાં દરેક શરીરધારી આત્માઓને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને સાવથી નિત્ય અને અનિત્ય જાણવા જોઈએ.

निध के समस्त पदार्थ सार्वत्रिक रूप में मिले हैं और पर्याय परिवर्तन की अपेक्षा मिल भी हैं। वाचक उमास्वाती भी कहते हैं—“उत्पादव्यवधौव्ययुक्तं हि सत्।” तत्त्वार्थ० अ. ५-सू. २८

हर पदार्थ प्रतिक्षण उत्पत्ति और विलय में परिवर्तित हो रहा है। किन्तु उसके परिवर्तन का यह नर्तन ध्रुव के धुरी पर ही अवस्थित है। आचार्य सिद्धसेनदिवाकर भी कहते हैं :—

उत्पज्जन्ति विभंति भावा णियमेण पज्जवणयरस ।

इवविट्ठयस्स सत्त्वं सया अणुत्पन्नमविणट्ठ ॥-सन्मतितर्क अ. १ गा. १०

पर्याय नय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी होता है। किन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टि पदार्थ अनुत्पन्न और अविनष्ट देखती है। इस ध्रुव सिद्धान्त में सिद्धिस्थित आत्मा भी उत्पाद और व्ययशील है। ध्रुव तत्त्व का प्रतिपादन तो पूर्व गाथाओं में वर्णित है। किन्तु द्रव्यक्षेत्र काल और भाव जन्य स्थूल परिवर्तन देहधारियों में ही परिलक्षित होते हैं। मुक्त आत्मा में नहीं।

मुक्तात्माओं में सूक्ष्म परिवर्तन है। स्वभावस्थित आत्मा भी निज गुणों में रमण करता है। यह रमणता भी सूक्ष्म परिवर्तन की परिचायिका है। साथ ही सिद्ध प्रभु अनंत उच्च पर्यायों को युगपत् जानते हैं। जाता और जेय कथंचित् अभी भी है, अतः जेय का परिवर्तन ज्ञान और ज्ञाता में परिणति होता है। समस्त द्रव्य उत्पाद-व्यय-धौव्य युक्त है। उनका पर्याय परिवर्तन सिद्धात्माओं का पर्याय परिवर्तन है।

गंभीरं सत्त्वओमहं सत्त्वभावविभावणं ।

ध्वण्णा जिणाहितं मग्गं सम्मं वेदंति भावओ ॥ ३३ ॥

अर्थ :—गंभीर सर्वतोभद्र, सदा सब के लिए कल्याणकारी, समस्त भावों का प्रकाशक, अन्तर की गुफाई को प्रकाशित करने वाले सर्वज्ञ निह्पित धर्म को जो सम्यक् प्रकार से अनुभव करते हैं या जो उसे सम्यक् प्रकार रूप में पहचानते हैं वे आत्माएँ धन्य हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

गंभीर शीतलबोणा, इमेशने भाटे अधानुं कल्याण करनारा, अधीज्ज नतना आवोना प्रकाशक, अन्तरनी शुद्धायेने प्रकाशित करनार सर्वज्ञ द्वारा निह्पित धर्मने सम्यक् प्रकारची जे ओणये छे. अथवा जे तेने सम्यक् रूपभा ओणये छे ते आत्माओ धन्य छे.

एवं से बुद्धं—गतार्थः ।

नवमं महाकासवज्जयणं

इति महाकाश्यप-अर्हतर्षिप्रणीतं नवमं अध्ययनं समाप्तम्

दशम अध्ययन

तेतलिपुत्तअज्झयणं

तेतलिपुत्त-अर्हतर्षिप्रोक्तं

प्रस्तुत अध्याय में अर्हतर्षि तेतलिपुत्त स्वयं अपनी आत्म-कथा बोलते हैं। उनके जीवन के उत्थान-पतन की यह सजीव कहानी है। वे स्वयं अमाल्य मंत्री थे। स्वर्णकार की पुत्री पोड्डिला पर अनुराग हुआ और उसके साथ पाणिग्रहण भी हुआ। समय के प्रवाह में राग का रस धुल गया और वही पोड्डिला उनके लिए अभिषेक बन गई। तभी सती साध्वी सुव्रता शिष्याओं के साथ तेतलिपुर में आती है। पोड्डिला पति का प्रेम सम्पादन के लिए उनसे मंत्र लेना चाहती है, किन्तु साध्वी ने जब इसे मुनि-मर्यादा के बाहर कह कर उसे करने से इनकार कर दिया तब वह भी वरिष्ठ की ओर बहती है। तेतलिपुत्त उसे इस शर्त पर आज्ञा देते हैं, कि यदि वह देव बने तो उन्हें वीतराग के धर्म की ओर मुड़ने की प्रेरणा दे। पोड्डिला उसे स्वीकार करती है। दीक्षित होकर संयम का यथाविध पालन कर वह स्वर्ग में दिव्य रूप प्राप्त करती है और प्रतिज्ञा के अनुरूप वीतराग के धर्म की ओर मोड़ने को आती है।

इधर अमात्य तेतलिपुत्र राजा कनकध्वज से सम्मान और सम्पत्ति पा कर थिलाल में डूब रहे थे। अतः विवश हो कर पोष्टिलदेव को राजा और परिजन को सेतलिपुत्र से विमुख करना पड़ा। इधर मंत्री विष पान, कूप-पान और अग्नि-स्नान द्वारा प्राण देने की उद्योग हो जाते हैं। पर वे जब उसमें सफल नहीं होते तो जीवन के प्रति की आस्था हिल उठती है। और वे श्रद्धा विहीन बन जाते हैं। तब पोष्टिल देव संसार की भयानकता का चित्र उनके सामने रखते हैं तब स्वयं अमात्य बोल उठते हैं कि भीत व्यक्ति के लिए प्रव्रज्या श्रेयस्कर है। तभी पोष्टिल देव यह कह कर चल देते हैं, कि तुम्हारे विचार सत्यभूत बने।

इधर तेतलिपुत्र विचारों की गहराई में डुबकी लगाते हैं। जाति-स्मरण ज्ञान पा कर उन्हें अपने पूर्व जन्म-महा विदेह में वरिष्ठ ग्रहण और पूर्व के ज्ञान की स्मृति हो जाती है और वे वहीं दीक्षित होते हैं। पूर्व का ज्ञान भी स्मृतिपटल पर आ जाता है। और कुछ क्षणों में अपूर्व करण गुण श्रेणी और शुद्ध ध्यान पा कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। यह कहानी ज्ञातापुत्र में विस्तृत रूप में दी गई है। प्रस्तुत सूत्र में उसका कुछ अंश ही दिया है। परिवार से तिरस्कृत हो वह अश्रद्धावादी बनता है। उसी प्रसंग का चित्र यहाँ दिया गया है। कुछ अंश ज्ञातासूत्र से पृथक् भी है।

इसमें कुछ तथ्य रामने आते हैं। यह वर्णन उस समय का है जब उन्हें केवल ज्ञान ही नहीं, जातिस्मरण भी नहीं हुआ था।

ये जातिस्मरण या स्वयं दीक्षित होते हैं। जो कि प्रत्येक दुर्द्धों की स्वाग विशेषता है।

महा व्रतों की संख्या नहीं दी गई है। अतः यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि यह घटना किस तीर्थकर के शासन काल की है।

को कं ठावेइ अण्णत्थ संगाई कम्माई इमाई ?।

अर्थ :—कौन किसको रोकता है ? मेरे इन कर्मों के अतिरिक्त मुझे कौन रोक सकता है ?।

गुजराती भावान्तर :—

ओशु ओने रोडी शडे छे ? भारा आ डमोनी अतिरिक्त भने ओशु अटकावी शडे छे ?

आत्मा अपने निज स्वभाव में आने के लिए छटपटाता है। उसे अपने निज रूप में आने के लिए कौन रोक सकता है ? मानव अपने दोषों का उत्तरदायित्व दूसरे पर डेलता है। किन्तु जैन-दर्शन कहता है कि अपने बन्धन और मुक्ति का विभाता तू स्वयं है। तू स्वयं ही अपनी वृत्तियों के द्वारा बन्धता है और उनसे मुक्त होने की शक्ति तुझमें ही है। बाहरी शक्ति न तुझे बांध सकती है, न मुक्त कर सकती है।

प्रस्तुत सूत्रवाक्य में अर्हतर्षि अपने जीवन का रहस्य बतला रहे हैं—मित्र और बन्धु जनों। मैं ने दोष दिया कि वे मुझे संसार के बीच से निकलने नहीं देते, किन्तु तथ्य यह है कि मेरे कर्मों ने ही मुझे बांध रक्खा है।

टीका :—कः कं स्वस्थाने नाम गोत्रादिलक्षणं स्थापयति नान्यथ स्वकीयानीमानि कर्माणि। तेतलिपुत्रार्हतर्षिणा भाषितमित्यत्रैव प्रवेशनीयम्, श्रद्धेयमित्यादिवाक्यानां पूर्वगतेनासंबद्धत्वात्।

टीकाकार का मत कुछ भिन्न है। कौन किसको नाम गोत्रादि लक्षण रूप पर स्थापित करता है ?। ये हमारे अपने कर्म ही वहाँ स्थापित करते हैं। यहाँ पर तेतलिपुत्र अर्हतर्षि बोले ऐसा वाक्य जोड़ना चाहिए, अन्यथा श्रद्धेय आगे आने वाले वाक्यों से प्रस्तुत वाक्य सम्बद्ध नहीं रहेगा। प्रोफेसर शुब्रिंग इसे दूसरे ढंग से लिखते हैं:—मनुष्य आज जिस स्थिति में है उसे वहाँ तक लाने वाला कौन है ?। स्थिति तो उसे लाई नहीं, क्योंकि उस स्थिति में तो वह स्वयं अभी उपस्थित हैं। उसके कार्य ही उसे इस स्थिति में लाए। इस प्रकार का अन्तिम भाग इसे स्पष्ट करता है। जब कि अर्हतर्षि तेतलिपुत्र बोलते हैं कि भयभीत व्यक्ति को दीक्षित होना चाहिए। जो दूसरे की कृपा है उसे छिपने को तैयार रहना चाहिए। जो घर पहुँचने की उत्सुकता रखता है उसे स्वदेश की ओर प्रयाण करना चाहिए।

सज्जेयं खलु भो समणा वदेत्ती, सज्जेयं खलु

माहणा, अहमेगो असज्जेयं वदिस्सामि।

सेतलिपुत्तेण अरहता इसिणा बुद्ध्यं ॥

अर्थ :—भ्रमण वर्ग बोलता है कि श्रद्धा करना चाहिए। ब्राह्मण वर्ग जोर-शोर से पुकार कर कहता है कि श्रद्धा करो। किन्तु मैं अकेला कहूँगा कि श्रद्धा नहीं करना चाहिए। इस प्रकार तेतलिपुत्र अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तरः—

अमलुवर्ण कहे छे के अद्धा राखवी ज्येधमे, आकाशु वर्ण पुकारी पुकारीने कहे छे के अद्धा राखो, परंतु हूँ ओकही कडीश के अद्धा राखवी न ज्येधमे, ओ प्रभाणु तेतलिपुत्र अर्हतर्षि ओदया।

समस्त संप्रदायों श्रद्धा में जीती हैं। समस्त पंथ और मतों की जड़ श्रद्धा है। यदि पंथ में से श्रद्धा निकल गई तो सारा सम्प्रदाय-वाद तारा के पत्तों का डेर हो जाएगा। इसी लिए श्रमण-संस्कृति और ब्राह्मण-संस्कृति में श्रद्धा का महत्व दिया गया है—“सद्धा परमदुल्लहा”।

चत्तारि परमंगणि दुल्लहाप्पीह जेतुणो ।

माणुसत्ते सुई सद्धा संजमग्गि य वीरियं ॥

—उत्तरा० अ० ३ गाथा १

दूसरी ओर ब्राह्मण संस्कृति ने भी श्रद्धा का नारा हुंकार दिया है—“मंगलानां विनयः”।

“यो यच्छ्रद्धः स एव सः” के रूप में श्रद्धा का आग्रह सुनाई देता है।

अर्हतर्षि तेतलिपुत्र का प्रस्तुत वाक्य तब का है जब कि वे सामाजिक वातावरण से ऊब चुके थे। अपमान से तब उनका मन थोड़ा उठा—दुनियां श्रद्धा के गीत गाती हैं ऋषि और मुनि भी श्रद्धा के लिए कोलते हैं। किन्तु मैं कहता हूँ कि दुनियां के इन संबन्धों पर कोई विश्वास न करे। क्योंकि ये संबन्ध स्वार्थ के धागे से बंधे हैं। इसके उदाहरण में वे अपनी ही कहानी कह रहे हैंः—

सपरिजणो त्ति णाम मम अपरिजणो त्ति को मे तं सहहिस्सति? । सपुत्तं पि णाम मम अपुत्ते त्ति को मे तं सहहिस्सति? । एवं समित्तं पि णाम मम असित्तं त्ति को मे तं सहहिस्सति? । सवित्तं पि णाम मम अविं त्ति को मे सहहिस्सति? । सपरिग्रहं पि णाम मम अपरिग्रहे त्ति को मे तं सहहिस्सति? । दाण-माण-सक्कारोचयारसंगहिते त्ति को मे तं सहहिस्सति? ।

अर्थः—“परिजन के साथ होते हुए भी मैं परिजन परिवार रहित हूँ” ऐसा कहने पर कौन श्रद्धा करेगा? पुत्र होने पर भी मैं पुत्र रहित हूँ, तो मेरे इस कथन पर कौन विश्वास करेगा? इसी प्रकार मित्र और स्नेही जनों के साथ होते हुए भी मुझे कौन मित्र विहीन मानेगा? मेरे पास धन होने पर भी मेरी धनहीनता पर कौन श्रद्धा करेगा? परिग्रह होने पर भी मेरी अपरिग्रहता को कौन सच मानेगा? दान, मान, सत्कार, उपचार या उपकार से युक्त होने पर मुझे इन सब से पृथक् कौन स्वीकार करने को तैयार होगा?।

गुजराती भाषान्तरः—

पोतानां सगा-व्हावांगो साथे होवा छतां पणु हूँ सगा-व्हावां ने नोकर-चाकर रहीत छुं ओम कहुं तो ते कोणु साथुं मानशे? (श्रद्धा करशे), पुत्र होवा छतां पणु हूँ पुत्ररहित छुं ओम कहुं तो मारा ओ कथन पर कोणु विश्वास करशे? ते ओ प्रभाणु मित्र अने स्नेहि साथे होवा छतां कोणु पणु मने मित्रविहीन मानशे? मारी पासे धन होवा छतां पणु मारी गरीबाध पर कोणु श्रद्धा करशे? (कोणु साथुं मानशे?) परिग्रह होवा छतां पणु मने अपरिग्रही कोणु उल्लेशे? दान, मान, सत्कार, उपचार अथवा उपकारથી युक्त होवा छतां पणु मने ओ अधाधी पृथक् स्वीकारवा कोणु तैयार थशे?

त्याग का एक वह भी रूप है जहाँ बाहर में विलास और वैभव के प्रसाधनों के रहते हुए भी आत्मा अन्तर से अलित रहता है। यह है अन्तस्व्यांगी बहिस्संगी। जिसे वैदिक संस्कृति में देह में रहते हुए ‘विदेह’ कहा जाता है और जैन संस्कृति में ‘भावचारित्री’ कहा गया है। पीता जिसे ‘स्थित-प्रज्ञ’ के नाम से पहचानती है। और जैन आगम जिसे ‘अलित पद्म’ कहता है।

जहा पोमं जले जायं नोवलिप्यइ वारिणा ।

एवं अलितं कामेहिं तं वयं वूम माहयं ॥ —उत्तरा. अ० २५ गाथा २७

कमल जन में पैदा होता है, मरने में रहता है और उसके चारों ओर जलधारा होने पर भी वह जल कण से अलिप्त रहता है। इसी प्रकार कुछ आत्माएँ जिनके चारों ओर भोग और वासना का सागर हिलोरे मारता रहता है, उस वातावरण में रह कर भी वे उससे पृथक् रहती हैं। वे ही विनिष्ठ आत्माएँ हैं। जो सागर के किनारे बैठे हैं और कहते हैं कि हम सूखे हैं तो इसमें आश्चर्य क्या होगा? किन्तु उसकी अतल गहराई में भी जो डुबकी लगा कर भी जो सूखा निकल आता है वही चमत्कारी कहलाएगा।

स्वजन-परिजन के बीच रह कर भी जो इन सब से अलग अलग रहता है। पुत्र है, पर पुत्र का ममत्व उसके दिल को नहीं हुआ है, परिग्रह है, लक्ष्मी के पायल की झङ्कार है, धन है, पर धन का मद नहीं है। किन्तु साधारण जन उस स्थिति पर सहसा विश्वास नहीं करेगा। कांटों की राह पर चलने वाले को वह साधु मान सकता है। किन्तु फूलों की सेज पर सो कर भी कोई साधु हो सकता है यह उसे स्वीकार न होगा। क्योंकि उसकी आँखें इसके लिए अभ्यस्त नहीं हैं। इस लिए उसका विश्वास न करना स्वाभाविक ही है।

कमी ऐसा भी होता है जब कि भरा-पूरा घर होता है, लाखों की जायदाद होती है, सैन्ही जन, परिजन सब कुछ होता है, किन्तु सागर के बीच भी आदमी प्यासा होता है। पुत्रों और मित्रों के बीच भी वह अकेलापन महसूस करता है। उसकी धनीभूत पीढा बोल उठती है कि कहने को तो सब कुछ है, पर मेरा अपना कोई नहीं है। व्यथा और कष्टना से भीगी जिसकी जीवन-कहानी है। भरे भुवन में जिसकी आँसुओं से भीगी आँखें पोंछने वाला कोई नहीं है। तेतलिपुत्र के पूर्व जीवन की कहानी इन्हीं व्यथा और दर्द के धागों से बुनी हुई है। उन्हीं के शब्दों में पढ़ेंगे। किन्तु हाँ! इस व्यथा में उन्होंने निराशा के आँसु नहीं बहाए, अपितु दुनियाँ से अनासक्ति का बोध पाया है।

टीका :—अध्वेयं खलु भो भ्रमणा वदन्ति ब्राह्मणाश्च एकोऽहं अध्वेयं वदित्वा, सपरिजनमपि नाम मां दृष्ट्वा अपरिजनो बहुमस्मीति को मे तच्छब्दिष्यति न कश्चिदिति एवमेव सपुत्रं सखिसं सपरिग्रहं दान-मान-सत्कारोपचार-संग्रहीतम्। अर्थ उपर बताया जैसा ही है।

तेतलिपुत्रस्य स्वजन-परिजने विरागं गते को मे तं सदहिस्सति?। जाति-कुल-रूप-विणतोययार-सालिणी पोद्विला मूसिकारधूता मिच्छं विण्णडिबन्ना को मे तं सदहिस्सति?। कालकर्मणीतिसन्ध-विसारदे तेतलिपुत्ते विसादं गते त्ति को मे तं सदहिस्सति?। तेतलिपुत्तेण अमञ्जेण गिहं एविसित्ता तालपुडके विसे खात्ति ते त्ति से वि य पडिहते त्ति को मे तं सदहिस्सति?।

अर्थ :—तेतलिपुत्र के स्वजन परिजन उनसे छट हो गए। इस बात पर कौन विश्वास करेगा? श्रेष्ठ जाति कुल में जन्मी हुई रूपवती, विनय और उपचार की साकार प्रतिमा सी मूसिकार-स्वर्णकार की लडकी पोद्विला मिथ्याभिनिवेश में पड़ गई। मेरे इस कथन पर कौन भला विश्वास करेगा?। काल-कर्म से नीति-शास्त्र-विशारद तेतलिपुत्र विषाद में डूब गया, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा?। तेतलिपुत्र मंत्री ने घर में प्रवेश कर के तालपुट विष खा लिया, किन्तु वह विष भी उनके लिए विकल हो गया। कौन मेरी इस बात पर विश्वास लाएगा?

गुजराती भाषान्तर :—

तेतलिपुत्रना सगा-वडावांओ ने परिजनो तेनाथी रीसार्थ गया। आ बात ओपर कोधु विश्वास करशे? उच्च वर्णुमां उत्पन्न थयेदी रूपवती, विनय अने उपचारनी साकार प्रतिमा जेवी मूसिकार-स्वर्णकारनी पुत्रि पोद्विला मिथ्याभिनिवेशमां पडी गर्ध। भारा आ कथन ओपर कोधु विश्वास करशे? कालकर्मथी नीतिशास्त्र विशारद तेतलीपुत्र विषादमां डूबी गया, भारा आ कथन ओपर कोधु श्रद्धा करशे? तेतलीपुत्र मंत्री पोताना घरमां प्रवेश करीने तालपुट ओर आर्धलीधु, परंतु ते ओर पधु तेने भारे विक्षण थर्ग गथुं, भारी आ बात ओपर कोधु विश्वास करशे?

टीका :—तेतलिपुत्रस्य स्वजनपरिजनो विरागं गतः जातिकुलविनयोपचारशालिनी पोद्विला मूसिकारधूता मिथ्या विप्रतिपक्का काल-कर्म-नीति-विशारदतेतलिपुत्रो विषादं गतः। तेतलिपुत्रामात्येन सता गृहं प्रविश्य तालपुटं नाम विषं खादितं तत् तत् प्रतिहतं। टीकार्थ उपरवत् है।

तेतलिपुत्र अपने आप को अश्रद्धावारी बताते हैं। उसके पीछे उनकी जीवन-कहानी है। तेतलिपुत्र से उनके माता पिता स्वजन परिजन सब कोई छट हो गए। तेतलिपुत्र पोद्विला से अति सेह था। जो कि सुन्दर रूपवती और विनम्र थी।

किन्तु वह मिथ्याभिनिवेश में पड़ गई—दूसरे के बहकावे में आ गई। परिणामतः तेतलिपुत्र के हृदय में गहरा आघात लगता है और वह घर जा कर खड़े हो लेता है, किन्तु वह आग की ज्वाला के लिए मत्त बन कर आया। चाहने पर भी तेतलिपुत्र नहीं मर सका। मौत को निमंत्रण दिया फिर भी वह नहीं आई। पर वह जीवन से ऊब चुका था। अतः मौत के लिए दुबारा फिर प्रयास करता है।

तेतलिपुत्रेण अमघ्णेण महालयं रुक्खं वुरुहित्ता पासे छिण्णे तद्वा वि ण मए, को मे तं सदहिस्सति ? । तेतलिपुत्रेण महति-महालयं पासाणं गीवाए वंधित्ता अत्थाहाए पुक्खरीणिए अप्पा पक्खिस्से तत्थ वि य ण थाहे ल्हे को मे तं सदहिस्सति ? । तेतलिपुत्रेण महति-महालयं कट्टरासिं पलीवेत्ता अप्पा पक्खिस्से से वि य से अगणिकाए विज्झाए, को मे तं सदहिस्सति ?

अर्थ :—मंत्री तेतलिपुत्र विशाल वृक्ष पर चढ़ कर फांसी लगाता है फिर भी वह नहीं मर सका। उसका पाश टूट गया। कौन भेरे इस वचन पर विश्वास करेगा ? । तेतलिपुत्र बड़े बड़े पत्थर गले में बांध कर अथाह जल वाली पुष्करिणी में अपने आप को पटकता है। किन्तु वह अथाह में भी थाह पा गया। कौन इस बात पर विश्वास करेगा ? इसके बाद तेतलिपुत्र लकड़ी की विशाल चिता बना कर उसमें कूद पड़ता है। किन्तु वह आग की ज्वाला भी बुझ गई। कौन इस बात पर भरोसा करेगा ?

गुजराती भाषान्तर :—

मंत्री तेतलिपुत्र मोटा विशाल वृक्ष ऊपर चढ़ीने हांसो द्ये छे छतां पणु ते मरी शकता नथी. तेनो हांसो टूटी गयो. छणु भारा आ वचन ऊपर विश्वास करशे ? तेतलिपुत्र मोटा मोटा पत्थरो गणाभां गांधीने विशाल जणवाणी पुष्करणीभां पोताने पछाडे छे. परंतु ते विशाल जणसभूडभां पणु ते थाह (तरी गयो) पाभी गयो छेणु आ वात ऊपर विश्वास करशे ? ते पछी तेतलिपुत्र लाकड़ानी विशाल चिता बनावीने तेभां डूटी पडे छे. परंतु ते आगनी जवाणा पणु भूजाई गई. छेणु आ वात पर श्रद्धा करशे ?

टीका :—तेनैव नीलोत्पलमवलगुलिकातसीकुसुमप्रकाशोऽसिः क्षुरधारो निपातितः, सोऽपि च, 'तस्यासिखले'ति अभ्यपुस्तकस्य पाठः, तेनैव तथापि च न मृतः । तेनैव भयातिमहान्तं वृक्षमधिरुह्य च्छिन्नपात इत्यपूर्णकथा । तथापि च न मृतः । तेनैव भयातिमहान्तं पाषाणं ग्रीवायां बद्ध्वा तस्यां पुष्करिण्यामात्मा प्रक्षिप्तस्यापि स्थाहो लब्धस्तेनैव भयातिमहान्तं काष्ठराशिं प्रदीप्यात्मा प्रक्षिप्तः सोऽपि तस्याग्निकाये विज्ज्ञातः । सर्वमेतत् को मे श्रद्धास्यति ? । टीकार्थ ऊपरवत् है ।

विशेष में यहां टीकाकार बताते हैं नील कमल मवल गुलिका भैस या पाडे के सींग की कठिन गांठ और अलसी के फूल की भौंति प्रकाशवती तलवार से भी उसने अपने ऊपर प्रहार करना चाहा। किन्तु वह प्रयास भी निष्फल रहा।

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में यह पाठ नहीं है, किन्तु टीकाकार कहते हैं कि वृत्तरी पुस्तक का पाठान्तर यहां प्राप्त है। क्योंकि शातासूत्र में यह पाठ उपस्थित है।

साथ ही तेतलिपुत्र की पेड़ पर चढ़ कर फांसी लगाने की घटना यहां दी गई है। किन्तु पूरी घटना व्यक्त नहीं होती। वृक्ष पर चढ़ने के साथ ही “पासे छिण्णे” पाठ आ जाता है। जिससे लगता है कि कुछ छूट गया है। यहां पर ‘जाव’ शब्द आवश्यक था। शातासूत्र में श्रद्धेय आदि वाक्यों में यह घटना नहीं दी गई है, किन्तु आत्मघात के प्रयत्नों में पूर्ण रूप से दी गई है। जो कि नीचे दी जा रही है:—

१ प्रस्तुत पाठ में ऐसा बतलाया गया है कि मूषिकार धूता स्वर्णकार की पुत्री पोहिला भी मिथ्याभिनिवेश में आ गई। अर्थात् बहकावे में जा कर तेतलिपुत्र को छोड़ कर चली गई। किन्तु तथ्य यह है कि इस घटना के कई वर्ष पूर्व स्वयं तेतलिपुत्र ही पोहिला से विमुख हो चुका था। शातासूत्र की कहानी इस तथ्य को स्वीकार करती है—‘त तेणं पोहिला मन्नया कयाई तेतलिपुत्तरस अणिट्ठा पूजाया यावि होत्था जेच्छास्य तेतलिपुत्ते पोहिलाए नाम ममनि सवणभाए किं पुण दरिसणं वा परिमाणं वा’ :—ज्ञाता-धर्मकथांग ॥ अ. १४ ५. ६ । एक दिन तेतलिपुत्र के लिए पोहिला अनिष्ट-अमान्य हो गई। वह उसका नाम तक नहीं सुनना चाहता था। फिर देखने की बात क्या ? । फिर बहक गई उसका कोई स्थान ही नहीं है। किन्तु बात यह है कि पोहिला साध्वी के पास दीक्षित हुई थी। इसी को तेतलिपुत्र का आजुल मन मिच्छ विप्पडियघा कह रहा है। दुःखी मानव दुःख के क्षणों में सब को धाद करता है।

तप्यं तेतलिपुत्ते असोगवर्णिना तेणेव उवागच्छद् उवागच्छत्ता पासं भविष्य बंधति बंधिता रुक्मं दुरुहति
दुरुहिता पासं रुक्मे बंधति बंधिता अप्पारं मुयति तत्थ वि य से रज्जू छिन्ना ।—ज्ञाताधर्म-कथांगसूत्र १०२ ।

तिरस्कृत मंत्री तेललिपुत्र मौत के लिए हर संभव प्रयत्न करता है । वृद्ध पर फंदा डाल कर झूल जाता है । पत्थर बांध कर कुहे में कूदता है । धू धू करती हुई पिता प्रज्वलित करके उसमें कूदता है, किन्तु वह भाग भी बुझ जाती है ।

तएणं सा पुट्टिला मूसियारधूता पंचधण्णाइं सखिखणिताइं पवरवत्थाइं परिहिता अंत-
लिखलपडिवण्णा एयं चयासी । आउसो रहितो आयाणिहि पुरओ विच्छिण्णे गिरिसिहरकंदरप्पवासे
पिटुओ कंपेमाणेव्व मेयिणितलं साकहुंतेव पायवे णिक्कोरेमाणेव्व अंवरतलं सव्वतमोरासिव्व पिंडिते
पञ्चकलमिथ सयं कतंते भीमरवं करेंते महावारणे समुट्ठिण वा ।

अर्थ :—बाद में वह स्वर्णकार की पुत्री पोछिला छोटी छोटी पंटिकाओं से युक्त पंच वर्णीय वस्त्र पहन कर आकाश में खड़ी होकर इस प्रकार बोली—यह समझो कि तुम्हारे समक्ष गिरि शिखर और कंदरा से विच्छिन्न होता हुआ प्रपात करना है । पृथ्वी तल को कंपित करता हुआ और वृक्षों को उखाड़ता हुआ आकाश को फोड़ता पिंडीभूत तम राशि-घनीभूत अंधकार के सदृश प्रत्यक्ष महाकाल—सा शब्द करता हुआ महा गजराज सामने खड़ा हुआ है ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર:—

પછીથી તે સોનીની પુત્રી પોદિલા નાની નાની જાળરીથી બનાવેલ પાંચ રંગનું વસ્ત્ર પહેરીને આકાશમાં ઊભી રહીને આવી રીતે બોલી-ધારોકે તમારી સમક્ષ શીખર અને ખીણથી જુદું પડતું પ્રપાત ઝરણું છે. પાછળ પૃથ્વીના તળિયા કંપિત કરતો અને વૃક્ષોને ઊભેડી મુકતો આકાશને તોડતો પિંડીભૂત જેમ રાશિ ધનીભૂત અંધકારની જેમ પ્રત્યક્ષ મહાકાલની જેમ અવાજ કરતો ગજરાજ સામે ઊભો છે.

टीका :—ततः सा पोट्टिला भूसिंकारदुहिता पंचवर्णानि सखिनखिनिकानि प्रवरवस्त्राणि परिधाय देवीभूतेति
ज्ञाताधर्मकथानां चतुर्दिशं तैत्तलिज्ञातमनुसृत्याहार्यन्तिरिक्षप्रतिपञ्चैषमवादीद्-यथायुष्मैत्तैत्तलिपुत्र एहि तावदाजानीहि
यत् पुरतो विस्तीर्णो गिरिशिखरकंदरप्रपातो पृष्ठतो कंपमानमिव मेदिनीतलं संकृष्यमाणेव पादपः निष्फोटयन्निवाम्बरतलं
सर्व-तमो-राशीव पिबितः प्रत्यक्षमिव स्वयं कृतान्तः भीमरत्नं कुर्वन् महावारणः समुत्थितः ।

टीकाः—स्वर्णकार की बेटी पोष्टिला छोटी छोटी घंटिकाओं वाले वज्रों को पहन कर आकाश में स्थित हो कर तैतलिपुत्र को सम्बोधन कर कें बोलती है—यह पोष्टिला पहले तैतलिपुत्र की पत्नी थी। किन्तु तैतलिपुत्र को उस से विरक्त हो जाने पर वह सुप्रता साध्वी के पास दीक्षित होने को तत्पर हो रही थी। तब तैतलिपुत्र ने उससे कहा था अगर तुम देव बनो तो मुझे वीतराग के धर्माभिमुख बनाना। उसी वचन में बद्ध हो कर पोष्टिल देव तैतलिपुत्र को प्रबुद्ध करने के लिए पहले प्रयास करते हैं। उसमें सफल न होने पर राजा कनकध्वज राजा परिषद् और तैतलिपुत्र के परिवार को उस से विरक्त कर देते हैं। उस अपमान से क्षुब्ध होकर तैतलिपुत्र आत्म-हत्या के अनेकविध प्रयत्न करते हैं जो कि पहले उन्हीं के मुख से सुन चुके हैं। उन समस्त प्रयत्नों की निष्फलता से तैतलिपुत्र श्रद्धाविहीन बनते हैं। तब पोष्टिलदेव पोष्टिला के रूप में उसी के वज्रों में आकाश में स्थित हो तैतलिपुत्र को बोलते हैं। श्री ज्ञातासूत्रमें इसका अनुसंधान अविकल रूप से उपलब्ध है। टीकाकार उसी की ओर संकेत करते हैं। शेष ऊपरवत् है। श्रीज्ञातासूत्र में प्रस्तुत पाठ निम्न रूप में मिलता है।

ततेणं से पोहिलदेवे पोहिलारूवं चिडच्चति चिडच्चित्ता तेतलिपुत्तरस्स अदूरं सामंसे ठिष्ठा एवं वयासी हं ओ तेतलिपुत्ता पुरतो पवाण पिट्ठओ हसियभयं दुदधो अचक्खुक्कासे मज्झेसरणि वरिखयंति ।-जातासूत्र १०२ ।

श्रीज्ञातासूत्र में पोट्टिल वेव अदूर सामंत (न अति निकट न अति दूर) स्थित है । जब कि “इसि भासियाई” में आकाश में स्थित हैं । साथ ही यहाँ पाठ काव्यात्मक है जब कि ज्ञातासूत्र में केवल वर्णनात्मक है । बाण वर्ण का वर्णन आगे दिया है ।

उभओ पासं चकखुणिवाए सुपयंड-धणु-जंत-विण्णमुक्का पुंखमेत्ता वसेत्ता धरणिप्पवेसिणो सरा
णिपतंति इयवह-जाला-सहस्स-संकुलं समंततो पलितं धगधगेति सञ्चारणं अचिरेण य बालसूद-
गुंजद्धपुंजनिक्कपकासं जिहयाइ इंगालभूतं गिहं आउसो तेतलिपुत्ता । कसो वयामो ?

अर्थ :—पलक मात्र में दोनों ओर से प्रचंड धनुष से छूटे हुए पृथ्वी के वक्ष में सम्पूर्ण प्रवेश करने वाले बाण बरस रहे हैं। जिनके पिछले हिस्से पर लगे हुए पंख मात्र दिखाई पड़ रहे हैं। आग की सहस्रों ज्वालाओं ने सारा वनप्रदेश जल रहा है। धू धू करती हुई लप उठती रही हैं। और शीघ्र ही उदीयमान सूर्य के सदृश आरक गुंजा (चिरसीटी) के अर्ध भाग की राशि की प्रभागादृश लाल अंगार बना हुआ घर जल उठेगा। आयुष्यमान तेतलिपुत्र। ऐसा होने पर हम कहाँ जाएँ ?

गुजराती भाषान्तर :—

क्षुब्धरमां अने वायुओथी प्रचंड (महाक्षय) धनुषभांथी छूटेलां पृथ्वीना साधणमां (वक्षमां) पुरेपुरा प्रवेश करनारा बाण वरसी रह्या छे. जेना पाछणना बाण ओपर लगावेला पीछां न देखाई रह्या छे. आगनी सहस्र ज्वालाओथी आभुं वन जाणी रह्यु छे. धू धू करती ज्वालाओ छडी रह्यी छे अने तरतज्ज ओगता सूर्यनी भाङ्क लावणर्णना अर्धभागनी राशिनी जेम जाल ताणुभाथी यनेधुं घर यणी (सजणी) छडशे. छे आयुष्यवान तेतलीपुत्र! आम थशे लारे आपखे क्यां नर्धशुं ?

टीका :—उभयतःपार्थ बहुनिपाते सुप्रचण्डधनुर्वत्र विषमुक्ता पुंखमात्रावशेषः धरिणिप्रवेशिनःसरा निपतन्ति । हुत-वह-ज्वाला-सहस्रसंकुलं समंततः प्रदीप्तं धगधगिति शब्दायते सर्वारण्यं अचिरेण च बालसूर्यगुञ्जार्द्धपुंजनिकर-प्रकाश-ज्ञापत्यंगारभूतं गृहमायुष्यमस्मितलिपुत्र क वयामः ? । टीकार्थ उपरवत् है। ज्ञातासूत्र में यह पाठ कुछ भिन्न रूप में आता है।

गामे पलित्ते रथे श्रियातिस्त्रे पलित्ते गामे श्रियातिआउसो तेतलिपुत्ता कओ वयामो ।-ज्ञातासूत्र १०२ ।

ग्राम के जलने पर मनुष्य वन की ओर जाता है। और वन के जलने पर ग्राम की ओर जाता है। हे आयुष्यमान तेतलिपुत्र हम कहाँ जाएँ ? । यहां 'कओ वयामो' पाठ अशुद्ध है। 'क वयामो' होना चाहिए।

पोटिल देव कह रहे हैं कि महाकाल के बाण चारों ओर बरस रहे हैं। सारा वन भी प्रलयंकर आग में झुलस रहा है। और घर भी उसी आग की लपटों का मेट होने वाला है। फिर हम कहाँ जाएँ ? ।

ततेणं से तेतलिपुत्ते अमच्छे पोटिलं मूसियारधूतं एयं वयासी पोटिले एहि ता आयाणाहि भीयस्स खलु भो पव्वजा अभिउत्तस्स सवहणकिच्चं मात्तिस्स रहस्सकिच्चं उक्कंठियस्स देसगमणकिच्चं पिचासियस्स पाणकिच्चं लुहियस्स भोयणकिच्चं परं अभिउंजिउं कामस्स सत्थकिच्चं खंतस्स वंतस्स गुत्तस्स जित्तिदियस्स एत्तो ते एकमवि ण भवइ ।

अर्थ :—बाद में अमात्य तेतलिपुत्र मूसिकारपुत्री पोटिलाने को इस प्रकार बोला—“पोटिले यह तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा, कि भयवस्तु मनुष्य की दीक्षा संभव है। अमियुक्त व्यक्ति आत्म-हत्या कर सकता है। मायाशील व्यक्ति का रहस्य गुप्त कार्य होता है। देशभ्रमण के लिए उत्कंठित व्यक्ति की देश-यात्रा होती है। पिपासित का पान करना, क्षुधित का भोजन करना, दूसरे को विजित करने की कामना वाले का शस्त्र कार्य अर्थात् शस्त्रविद्या का अध्ययन संभव है। किन्तु क्षान्त दान्त त्रिगुणियों से गुप्त जितेन्द्रिय के लिए प्रपातादिक कोई भी मय संभव नहीं है।

गुजराती भाषान्तर :—

पछी अमात्य तेतलिपुत्र मूसिकारपुत्री पोटिलाने आवी रीते ओख्योः—पोटिली ! आ तारे स्वीकार करवुं पड्छें छे अयत्रस्त मानवीनी दीक्षा संभव छे. आवा गुणोवाणी व्यक्ति आत्महत्या करी शके छे. मायाशील व्यक्तिनुं रहस्य गुप्तकाम होय छे. देशाटनना भाटे छेउठावान् मानवीनी देशयात्रा थाय छे. तरसीयानुं पान करवुं, लुप्प्यानुं भोजन करवुं, जीवने एतया भाटेनी छेउठावानना शस्त्रकार्य ओटले शस्त्रविद्यानुं अध्ययन संभव छे पणु क्षान्त दान्त तणु गुप्तिओथी गुप्त एतेन्द्रिय भाटे प्रपातादिक कोई पणु लयसंभव नथी.

टीका :—ततः स तेतलिपुत्रामात्यः पोटिलां मूसिकारदुहितरं एवमवादीद् यथा—पोटिले ! एहि तावदाजानीहि यल्लोके भीतस्य जनस्य खलु भो प्रव्रज्याहिता अभियुक्तस्य हितं प्रत्ययकरणमध्यपरिश्रान्तस्येत्युक्तं, ज्ञातुरभ्याहार्यम्, वहनकृत्यं, मायिनो रहस्यकृत्यमुत्कंठितस्य स्वदेशगमनकृत्यं, क्षुधितस्य भोजनकृत्यं, पिपासितस्य पानकृत्यं, परं पुरुषमभियुक्तुकामस्य शस्त्रकृत्यं क्षान्तस्य तु दान्तस्य गुप्तस्य जितेन्द्रियस्यैतासामेकमपि न भवति । त्ति तेतलिपुत्रमध्ययनम् । टीकार्थ उपरवत् है।

प्रस्तुत पाठ में छूटे हुए कुछ विशेष पाठ ज्ञातासूत्र से लिए गए हैं। ज्ञातासूत्र में निम्न पाठ विशेष हैं। “आउरस्स मेसज्जं अभिजुत्तस्स पच्चयकरणं अट्ठाणपरिसंतस्स वाहनकिच्चं तिरिउकामस्स पवहनकिच्चं परं अभियोजितुकामस्स सहाय-किच्चं।” रोगमुक्ति के लिए आतुर व्यक्ति का औषध लेना, अभियुक्त व्यक्ति जिस पर अभियोग लगाया गया है ऐसे व्यक्ति को दोष रहित हो, दूसरे का विश्वास संपादन करना भी आवश्यक है। दूसरे पर स्वयं विजय पाने के लिए किसी शक्तिसंपन्न व्यक्ति की सहाय लेना भी आवश्यक है।

प्रोफेसर शुब्रिंग भी लिखते हैं कि ‘अभिजुत्तस्स वहनकिच्चं’ पाठ अपूर्ण है। “सवहनकिच्चं” पाठ का “स” निश्चित वेश गमन के अर्थ से संबन्धित है।

इसके पहले के प्रकरण से ऐसा ज्ञात होता है कि तेतलिपुत्र के हृदय पर गहरी चोट लगी थी। पोष्टिला व्यंग्य भरे शब्दों में प्रश्न करती है साथ ही वह भीचस्स पवज्जा के साथ उसे संयम मार्ग में प्रेरित करती कि “तुम्हारे मुँह से ही तुमने संयम स्वीकार किया है।” इससे प्रेरित हो कर तेतलिपुत्र जातिस्मरण ज्ञान पा कर दीक्षित होते हैं और केवल ज्ञान भी पाते हैं। विशेष विवरण ज्ञातासूत्र से जान सकते हैं। यह स्वतंत्र प्रकरण है, कहीं सीमित तो कहीं विस्तृत है। ज्ञातासूत्र की कहानियाँ अन्य बातों में मौलिकता रखती हैं। किन्तु पोष्टिला का देवी रूप में वर्णन ही छोड़ देते हैं। जब कि इति-भासियाई सूत्र में “तल्लिकलपडिवक्के” कह कर उसका देवी रूप प्रतिपादित किया है।

कविभाषित सूत्रकार बोलते हैं—तेतलिपुत्र पोष्टिला को महत्व पूर्ण संदेश देते हैं। भयभीत व्यक्ति प्रयत्न ले सकता है। किन्तु उसका कार्य उतना ही सामान्य है जितना कि एक पिपासित का पानी पीना और बुभुक्षित का भोजन करना। जिसकी अन्तरात्मा में क्षमा, दया और कृपा का सागर लहरा रहा है वह ऐसा नहीं कर सकता है। जहाँ भय है वहाँ कातरता और क्या कार्य भी कभी साधना के पथ पर चल सकता है? संयम के लिए अन्तर्मन में वैराग्य की धारा बननी चाहिए। और भय कभी भी साधना के पथ को प्रशस्त नहीं बना सकता। संगार के नन्हें नन्हें शूलों को देख कर ही जो सहम गया वह अपमान और निराकार के शूल को कैसे सहन करेगा? साधना के नज्वादपि कठोर मार्ग पर कैसे कदम बढ़ा सकता है। एस “मग्गो त्ति वीरस्स” वह कायरों का नहीं है; वीरों का मार्ग है।

एवं से बुद्धे० गतार्थः ॥

तेतलिपुत्तीयं नाम अज्झयणं
तेतलिपुत्राख्यं दशमं अध्ययनं समाप्तम्

एकादश अध्ययन

मंखलीपुत्र-अर्हत्तर्षिभोक्तं एकादशमध्ययनम्

सिद्धान्तं वव आणञ्चा अमुणी संखाप अणञ्चा एसे तातिते। मंखलीपुत्तेण अरहता इसिणा बुद्धयं।

अर्थः—वीतराग की आज्ञा प्राप्त करने के लिए लौकिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला शिष्ट जन अमुनि हो जाता है। किन्तु लौकिक ज्ञान का अध्ययन छोड़ कर अध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला मुनि जायी-रक्षक होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

वीतरागनी आज्ञा प्राप्त करवा माटे लौकिक ज्ञानने प्राप्त करवावाणो शिष्ट मनुष्य अमुनि थर्छ जय छे, परंतु लौकिक ज्ञाननु अध्ययन छोडीने आध्यात्मिक ज्ञानने प्राप्त करवावाणो मुनि त्रायी अटले रक्षक थाय छे,

मुनि अध्यात्म का शोधक है। वह वीतराग धर्म का पथिक है। आध्यात्मिक ज्ञान के लिए लौकिक शास्त्रों—‘मिथ्या सूत्रों’ का अध्ययन करना व्यर्थ है। जब तक स्व का अध्ययन नहीं है तब तक पर का अध्ययन किस काम आएगा?।

आगम में आता है कि मुनि स्व समय और पर समय का ज्ञाता बने। स्व और पर की व्याख्या साम्प्रदायिक घेरे में बंधे रहने मात्र से नहीं है। हम ऐसी व्याख्या करके स्व और पर के साथ उचित न्याय नहीं कर सकेंगे। अपितु साम्प्रदायिक खाद्यों को अधिक चौड़ी करेंगे।

साम्प्रदायिकता के स्थिर स्वार्थियों ने गीता के एक श्लोकार्थ की गलत व्याख्या देकर समाज में साम्प्रदायिकता फैलाई है। वह है: “स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।” यहाँ स्व का मतलब असुक्त संप्रदाय में बंधे रहना नहीं है। स्व धर्म का अर्थ आत्म-धर्म है और पर धर्म का अर्थ देह-धर्म है। साधक के लिए स्व धर्म आत्म धर्म में ही रहना श्रेयस्कर है। देह धर्म में जाना उसके लिए भयावह होगा। इसी प्रकार स्व समय और पर समय का आत्म धर्म पर समय से मतलब अनात्म-देह धर्म ही लिया गया है।

आत्मा को समझे बिना देह की ओर झुकने वाला साधक तथ्यतः देहाध्यास में पड़ कर पतन की राह लेगा। अतः साधक पहले आत्मसिद्धान्त को समझे, फिर जड़ वाद की समझे। कोरा जड़ वाद कौनो भयानक विगीषिका ले आता है, बीसवीं सदी में जीने वाला उससे अपरिचित नहीं है। दो दो महा मुद्द जड़ वाद की ही देन है। साथ ही जड़ वाद को समझना भी आवश्यक है, क्योंकि जड़ के बिना अकेले चैतन्य का ज्ञान ही नहीं हो सकता। किन्तु पहले आत्म वाद को पूरी तरह समझ लें, आत्म-परिणति में स्थित हो जाएँ, फिर जड़ को देखें। ज्ञान की पूर्णता पर पहुँचने और चरित्र में स्थित होनेके लिए स्व और पर दोनों सिद्धान्त का ज्ञान होना आवश्यक है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं:

चरणकरणव्यहाणा ससमयपरसमयमुक्कवावारा।

चरणकरणस्स सारं निच्छयसुखं गयणंति ॥

जो केवल चरण करण आचार के नियमोपनियम में रह कर ससमय और पर समय के ज्ञान से पृथक् रहने वाला साधक यथार्थतः चरण करण के सार को भी शुद्ध रूप में पहचानता नहीं है।

टीका:—अज्ञाय लौकिकं ज्ञानमधिगम्य शिष्ट जन इवेति वा स्वेति वा भवत्यमुनिः परंवज्ज्ञात्वा लौकिकं ज्ञानमना-धित्वाध्यात्मिकं संत्येयावधायैव स एव मुनिस्त्वायी भवति। टीकार्थ उपरवत् है।

प्रस्तुत मंखलीपुत्र जैन आगम में प्रसिद्ध आजीवक मत संस्थापक मंखलीपुत्र गौशालक से भिन्न है। गौशालक भ० महावीर का सम कालीन था जब कि ये मंखलीपुत्र भ० नेमिनाथ के युग के हैं। इसका आधार उपसंहार की निम्न गाथा है—

पत्येयबुद्धमिसिणो वीसं तित्थे अरिदुनेमिस्स।

पासस्स य पणस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥

से एज्जति वेदति खुब्भति घट्टति फंदति चलति उदीरेति तं तं भवं परिणमति ण से तात्ती से णो एज्जति णो वेदति णो खुब्भति णो घट्टति, णो फंदति, णो चलति, णो उदीरेति णो तं तं भावं परिणमति से तात्ती तात्तिणं च खलु णत्थि सज्जणा, वेदणा, खुब्भणा, घट्टणा, फंदणा, चलणा, उदीरणा, तं तं भावं परिणामे। तात्ती खलु अप्पाणं च परं च चाउरंताओ संसारकंताराओ तात्तीति ताई।

अर्थ:—जो मुनि परिषदों को देख कर कंपित होता है, उसमें दुःख का ये वेदन करता है, संवित द्रव्यादि से संघटन करता है, स्पंदित करता है, कषायजन्य तद्भावों में परिणत होता है, वह त्रायी-रक्षक नहीं है। परंतु जिस साधक को परिषद सामने आने पर न कंपकंपी छूटती है, न जो दुःख का वेदन करता है, जिसे क्षोभ, संघटन, स्पंदन, चलन, उदीरण भी नहीं है और तत् तद् भावों में जो परिणत भी नहीं होता है वही त्रायी-रक्षक मुनि है। क्योंकि त्रायी रक्षक मुनि में ये एज्ज वेदन आदि कोई भी भाव नहीं होते हैं। ऐसा त्रायी मुनि ही अपने आप की तथा अन्य आत्माओं को चतुरान्त चार दिशा ही जिसका अन्त है ऐसे संसार रूप वन से रक्षण करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

जे मुनि परिषदने जेधने धुजे छे, तेभां दुःखनुं ते वेदन करे छे, संवित द्रव्यादिथी संघटन करे छे, तेने स्पंदित करे छे, कषाय जन्य तद् तद् भावोभां परिणत थाय छे ते त्रायी रक्षक नहीं। परंतु जे साधकने परिषद सामने आवतां भीड़ लागती नहीं, ने दुःख पणु पामता नहीं; जेने क्षोभ, संघटन, स्पंदन, चलन, उदीरण पणु नहीं जेने पछी तद्भावोभां परिणत पणु जे नहीं थतां ते ज त्रायी अटले रक्षक मुनि छे। कश्छुके त्रायी रक्षक मुनिभां आ अज्जन वेदन आदि कोई पणु लाय होता नहीं। जेवा त्रायी मुनि ज स्वयं पोताने तथा अन्य आत्माओने चतुरान्त-चार दिशा ज जेनो अंत छे, जेवा संसाररूप वनथी रक्षण करे छे।

साधना का पथ फूलों का नहीं कांटों का है। कदम कदम पर कष्टों का सामना करना पड़ता है। कष्ट के शूलों को देख कर जिसकी आत्मा कांप उठती है उसका हृदय दुःख का वेदन कहने लगा और वह कष्ट से बचने के लिए इधर उधर मार्ग खोजता है तो वह संयम मार्ग से भटक जाता है। सही अर्थों में वह अपनी आत्म-परिणति और पर का रक्षक नहीं हो सकता है।

यह उत्सर्ग मार्ग है। साधक परिमर्हों के साथ संघर्ष करता हुआ भी राम भाव को कायम रख सकता है। तब तक उत्सर्ग-मार्ग पर ही चलता रहे। किन्तु यदि उत्सर्ग में मन की समाधि भंग होते देखे तो वह अपवाद का अवलंब भी ले सकता है। इसीलिए त्रिकरण त्रियोग से हिंसा के त्यागी भुनि को भी अपवाद मार्ग में पहाड़ी आदि विकट मार्ग से गुजरने पर हुए पैर के फिसल जाने पर वृक्ष लता आदि का अवलंबन ले कर उतरने की अनुज्ञा दी है।

इसीलिए साधक वृक्षादि को स्पर्श करके भी अनाचार का भागी नहीं होता। अपवाद अनाचार नहीं है। दोनों में उतना ही अंतर है जितना उतरने और गिरने में। सीढ़ी द्वारा उतर कर भी उसी भूमि पर आते हैं और गिर कर भी वहीं आते हैं। किन्तु उतरने में मही सखामत रहते हैं जब कि गिरने में दृढ़ी-पक्षी चूर्ण हो जाता है। अतः अपवाद उतरना है, और अनाचार गिरना है।

यहां उत्सर्ग मार्ग का विधान है:

टीका :—त्रायी तु कीदृश इत्युच्यते यः पुरुषः एजति वेदांति क्षुभ्याति घटति स्पन्दति चलति उदीरयति तं तं भावं परिणमति न स त्रायी। य स न एजति यावत् परिणमति स त्रायी। त्रायिणा च खलु नास्त्येजनं वेदनं शोभनं घटनं स्पन्दनं चलनं उदीरणं तं तं भावं परिणामः। त्रायी खल्व्वात्मानं च परं च चतुरान्तात् संसारकांतारात् त्रायीति। टीकार्थ उपरवत् है।

असंमूढो उ जो नेता मग्गदोसपरक्कमो।

गमणिज्जं गतिं णाउं जणं पावेति गामिणं ॥ १ ॥

अर्थ :—मार्गदर्शक पुरुषार्थी कुशल नेता लक्ष्य और गति का परिज्ञान कर के मनुष्य अपने ग्राम में रहे हुए लोगों को मिल सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

मार्ग देखाउनार पुरुषार्थी कुशल नेता लक्ष्य अने गतिनुं परिज्ञान (छोय तो न) करीने मनुष्य पीताना गाममां नरुध धारेवा मनुष्यने भणी शके छे।

लक्ष्य पर पहुंचने के लिए कुशल नेता का सहयोग आवश्यक होता है। यदि नेता कुशल है तो भयानक वन में भी पगबंदी खोज लेता है। पुरुषार्थ वादी नेता लक्ष्य और गति का संतुलन रखता है। लक्ष्य को दूरी के अनुपात में यदि गति में तेजी हो तभी नेता राही को प्राग तक पहुंचा सकता है।

अपरिचित वन प्रदेश में यदि हमें गुजरना है तो उसके लिए एक कुशल नेता आवश्यक है। साधना के क्षेत्र में प्रगति करने के लिए भी एक कुशल नेता की आवश्यकता है। किन्तु वह असंमूढ हो, पथ की बाधाओं को देख कर भयभीत न हो। साथ ही जित पथ से गुजरना है उसके मोड़ों में भी वह परिचित हो। साथ ही वह एक दृष्टि अपने साथी की गति पर भी रखे और एक दृष्टि उसकी लक्ष्य पर रहे। दोनों का संतुलन रहने पर ही लक्ष्य पर पहुंच सकता है।

टीका :—असंमूढस्तु यो नेता मार्गदोषात् कुमार्गदोषं वर्जयेत् पराक्कमो यस्य स तथा। सन्मार्गेण अजन् हि गमनीयां गतिं ज्ञात्वा तां प्राप्यति। टीकार्थ उपरवत् है।

सिद्धकम्मो तु जो वेज्जो सत्थकम्मो य कोविओ।

मोयणिज्जातो सो वीरो रोगा मोतेति रोगिणं ॥ २ ॥

अर्थ :—शत्रु (शत्रु) कर्म में कुशल सिद्धहस्त वीर वैद्य मोचनीय (साध्य) रोग से रोगी को मुक्त करता है। सिद्धहस्त वैद्य के हाथ में रोगी अपने आप को रोग मुक्त मानता है। अन्ध्यात्म के कुशल चिकित्सक के पास पहुंचने पर साधक अनादि वासनाओं की व्याधियों से विमुक्त हो जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

शस्त्रकर्ममां कुशल सिद्धहस्त वैद्य साध्य रोगी रोगीने मुक्त करे छे। उमडे सिद्धहस्त (अनुसंधी) वैद्यना हाथमां रोगी स्वयं पीताने रोगमुक्त माने छे। अन्ध्यात्मना कुशल चिकित्सकनी पासे पहुँचतां साधक अनादि वासनाओंनी व्याधियोंनी विमुक्त थर्ध जाय छे।

टीका :—सिद्धकर्मणि तु यो विद्याः शस्त्रकर्मणि कोविदः। स वीरो ह सन् रोगिणं मोचयति मोचनीयात् रोगात्।

१ से तत्त्व पथलमाणे स्वल्पाणि वा शुक्लाणि वा गुम्माणि वा लवाओ वा व वह्निओ वा तणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय उतरेज्जा - आचारांग०।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं। शिष्ट कर्म विद्याएँ शास्त्र निर्दिष्ट कर्म किया से युक्त कोविद व्यक्ति मोक्षनीय रोग से रोगी को मुक्त करता है। परंतु टीकाकार द्वारा निर्दिष्ट अर्थ उचित नहीं लगता।

संजोष जो विद्याणं तु द्रव्याणं गुणलाघवे ।

सो उ संजोग-णिष्कणं सर्वं कुण्ड कारियं ॥ ३ ॥

अर्थ :—जो द्रव्यों के गुण और लाघव के विधान का संयोग करता है वह संयोग-निष्पन्नता सभी कार्यों को पूर्ण करती है।

गुजराती भाषान्तर :—

जे द्रव्योंना गुणु अने लाघवने विधानो संयोग करे छे ते संयोग प्राप्ति अध्याय कार्योने पूर्ण करे छे।

कार्य संपन्न करने के लिए साधक को पहले द्रव्यों के गुण का ज्ञान आवश्यक है। उसके विधान नियमों में जो कुशल है उसके विधि विधानों की जो कुशलता पूर्वक संयोजना करता है वही कार्य में सफल होता है।

टीका :—यस्तु द्रव्याणां गुणलाघवे विधानं योजयति तृणमिव तानि गणयति स सर्वं संयोगनिष्पन्नं कार्यं करोति।

जो द्रव्यों के गुण लाघव में विधान की योजना करता है अर्थात् द्रव्यों के गुण लाघव में विधानानुकूल कार्य करता है, द्रव्यों को तृणवत् गिनता है वह सत्यतः संयोग निष्पन्न कार्य करता है।

विज्ञोपचारविण्णता, जो धीमं सत्तसंयुतो ।

सो विज्ञं साहस्यस्यः क्षमं कुण्ड साहस्यं ॥ ४ ॥

अर्थ :—प्रज्ञाशील साधक विद्या और उपचार का विज्ञाता है और शक्तिसंपन्न है तो वह विद्या की साधना कर के तुरन्त ही अपना कार्य करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

जे प्रज्ञाशील (समर्थ) साधक विद्या अने उपचारनो ज्ञानकार होय अने शक्तिवान होय तो ते विद्यानी साधना करीने निश्चय वगर पोतानुं कार्य करी शके छे।

सिद्धि के लिए दो बातें अपेक्षित हैं। साध्य और उसकी साधना का परिज्ञान और उसके लिए अपेक्षित आत्म-बल का सद्भाव। इसके अभाव में साधना अधूरी रहेगी। वह सिद्धि के शीर्ष को छू न सकेगी।

टीका :—विज्ञोपचारविज्ञाता विज्ञोपचारे कोविदो यो धीमान् सत्तसंयुतो भवति स विद्यां साधयित्वा तत्क्षणं कार्यं करोति।

यहां विद्या की साधना का रहस्य बतलाया गया है। उसकी सिद्धि के लिए उसके उपचार सत्व की आवश्यकता रहती है। किन्तु यहां विद्या का अर्थ केवल भौतिक मंत्र-तंत्रादि की साधना न ले कर आत्म-विद्या ही अभिप्रेत है। और वह है ज्ञान-साधना। ज्ञान के लिए 'विद्या' शब्द आता है।

णिवर्त्ति मोक्षमगमस्स, सम्मं जो तु विजाणति ।

राग-दोषे गिराकिम्मा से उ सिद्धिं गमिस्सति ॥ ५ ॥

अर्थ :—जो मोक्ष-मार्ग की स्वरूप रचना सम्यक् प्रकार से जानता है, वह आत्मा राग-द्वेष को समाप्त कर सिद्ध स्थिति को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

जे मोक्षमार्गना स्वरूपनी रचना सारी रीति जाले छे ते आत्मा राग अने द्वेषनो नाश करी सिद्ध स्थितिने प्राप्त करे छे।

आत्म-विमुक्ति के लिए सर्व प्रथम मोक्ष का स्वरूप-ज्ञान आवश्यक है। उसके अभाव में मोक्ष के दिवानों ने अपने शरीर को भी कटवा लिए हैं। परन्तु इतने कष्टों के बावजूद भी आत्मा मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकी, क्योंकि उसमें सम्यग् दर्शन का अभाव है। जब तक राग और द्वेष की आग नहीं बुझ जाती तब तक मोक्ष की मंजिल दूर रहेगी। फिर चाहे कितना भी देह-दंड क्यों न किया जाए।

एवं से बुद्धे ० । गतार्थे ।

मंखलीपुत्तनाम अज्झयणं

इति मंखलीपुत्र-अहतरिपिप्रोक्तं एकादशं अध्ययनं समाप्तम् ।

द्वादश अध्ययन

याज्ञवल्क्यअर्हतर्षिप्रोक्तं
लोकेषणानाम द्वादशाध्ययनम् ।

मन की वृत्तियाँ आत्मा को चंचल बनाती हैं । मानव का मन वृत्तियों के द्वारा ही गतिशील होता है । वृत्तियाँ कभी शुभ होती हैं कभी अशुभ । वृत्ति ही व्यक्ति का निर्माण करती है । मानव मन को लक्ष्मण की ओर पेरित करके वाली दो वृत्तियाँ हैं—एक है लोकैषणा और दूसरी वित्तैषणा । मैं कुछ हूँ, जनता मुझे कुछ समझे, यह लोकैषणा है । अपनी अहंवृत्ति के पोषण के लिए मानव साधन के रूप में वित्त को अपनाता है । इन्हीं वृत्तियों का विश्लेषण प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है ।

आणञ्चा जाच ताव लोएसणा, ताव ताव वित्तैसणा, जाव ताव वित्तैसणा ताव ताव लोएसणा, से लोएसणं च वित्तैसणं च परिणणाए गो-पहेणं गच्छेज्जा, णो महापहेणं गच्छेज्जा । जणवकेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

अर्थ :—साधक को यह जानना चाहिए कि जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है । जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैषणा है । साधक लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग कर गो-पथ से जाय, महापथ से न जाय । ऐसा याज्ञवल्क्य अर्हतर्षि बोले ।

गुजराती भाषान्तर :—

साधके समजवुं जेधंजे के ज्यां सुधी लोकेषणा छे त्यां सुधी वित्तैषणा छे. ज्यां सुधी वित्तैषणा छे त्यां सुधी लोकेषणा छे. साधके लोकेषणा आने वित्तैषणानो त्याग करी गोपथथी जवुं जेधंजे आने महापथथी न जवुं जेधंजे जेभ याज्ञवल्क्य अर्हतर्षि बोल्या.

मानव मन को दो तरह की भूख है—संपत्ति और प्रसिद्धि । जब तक प्रसिद्धि की कामना है तब तक उसके लिए संपत्ति की आवश्यकता रहेगी । क्योंकि संपत्ति से प्रसिद्धि खरीदी जा सकती है । कुछ व्यक्ति संपत्ति खर्च करके कीर्ति खरीदते हैं । और एक बार प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद उसका उपयोग संपत्ति के अर्जन में करते हैं । अतः लोकैषणा और वित्तैषणा दोनों सगी बहनें हैं । एक के सञ्चाय में दूसरी आ ही जाती है ।

साधक लोकैषणा और वित्तैषणा के मर्म को छुए । उसके अन्तरंग में प्रवेश करने पर उसे असली तथ्य हाथ लग जाएगा । और वह दोनों का परिज्ञान करके उनका परित्याग करे ।

एक महत्त्वपूर्ण बात और कही गई है । साधक गोपथ से जाए, किन्तु महापथ से नहीं ।

जीवन जग के दो पथ हैं । पहला है अधिक से अधिक अर्जन करे और अधिक से अधिक खर्च करे । विलास और वैभव के प्रसाधन अधिक रूप में एकत्रित किए जाय, अपनी आवश्यकताएँ अधिक बढ़ाए और उनकी पूर्ति के लिए अधिक सम्पत्ति जुटाए । दूसरा पथ है सीमित आवश्यकता और सीमित साधन । जैन-संस्कृति पहले सिद्धान्त में विश्वास नहीं करती, क्यों कि जितनी ही आवश्यकताएँ बढ़ाएंगे उसके लिए उतने ही संघर्ष बढ़ेंगे । क्योंकि इच्छाएँ असीमित हैं जब कि साधन सीमित हैं । जीवन है तो उसकी आवश्यकताएँ भी रहेगीं । किन्तु वे अनियन्त्रित न हों । जैनसाधक गोपथ से जाएगा, महापथ से नहीं । उसकी आवश्यकता यदि एक ही वस्त्र से पूर्ण हो जाती है तो वह दूसरे वस्त्र के लिए प्रयत्न नहीं करेगा और प्रयत्न का अभाव हुआ तो याचना और उसके अभाव के खेद से भी बचेगा ।

यही सिद्धान्त उद्दस्थ के लिए भी है । यदि एक ही मकान से उसका काम चल जाता है तो वह दो मकानों के लिए लोभ में न गिरे । यदि सत्य हिंसा से ही उसका काम चल जाता है तो वह हिंसा के क्षेत्र का विस्तार नहीं करे । दया और कृपा के क्षेत्र में श्रावक महापथ से जाएगा किन्तु आरंभ और हिंसा के क्षेत्र में गोपथ से ही जाएगा ।

टीका :—यावद् यावल्लोकैषणा लोकसंबन्धत्वात् तावद् वित्तैषणा लोक इति तद्विपरीतश्रालापको द्रष्टव्यः । आणञ्च त्ति आज्ञापति हितासंबद्धत्वात् पूर्वगताध्ययनस्य टिप्पणत्वाच्चानादत्तं । स मुनिलोकैषणं च वित्तैषणं च परिज्ञाय त्यक्त्वा गोपथा गच्छेज्ज महापथा राजमार्गेण सद्यथा कार्यं तदुच्यते ।

जहां जहां लोकैषणा लोकसंबंध है वहां वहां वित्तैषणा लोभ है । इसीप्रकार यहां विपरीत आलापक भी जानना चाहिए । आणञ्च का अर्थ आज्ञाय आज्ञा के लिए होता है । किन्तु यहां वह असंबद्ध है । साथ ही पूर्व गत अध्ययन का

टिप्पण होने के कारण अप्राप्त है। ग्यारहवें अध्यायन में 'आणव' पद आया है संभव है उसी की अनुश्रुति में यहां भी आणव पद दे दिया गया हो। शेष अर्थ ऊपरवत् है।

तं जहा-जहा कवोता य कर्विजला य गाओ चरन्ति इह पातरासं ।

एवं मुनी गोयस्यपविष्टे णो आलये णो वि व संजलेज्जा ॥ १ ॥

अर्थ :—जैसे कपोत कवूतर कर्पिजल पक्षीविशेष और गौ प्रातः भोजन के लिए वन में घूमते हैं इसी प्रकार गौचरी में प्रविष्ट मुनि गौवत् भिक्षा करे, परंतु स्वादिष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए किसी गृहस्थ की प्रशंसा न करे। और भिक्षा न मिलने पर वह कुपित भी न होए।

गुजराती भाषान्तर :—

जेवी रीते कपोत-कवूतर, कर्पिजल-पक्षीविशेष अने गाय प्रातःक्षणों को भोजन प्राप्त करवा भाटे वनमें दूरे छे, तेवीन रीते गौचरी भाटे गयेला मुनिने गायनी माइक भिक्षा भइलु करवी जेधजे. परंतु स्वादिष्ट पदार्थोंनी प्राप्ति भाटे तेले जीजानी प्रशंसा पलु नहि करवी जेधजे अने भिक्षा न भणे तो तेले क्रोधायमान पलु थवुं न जेधजे.

पहले कहा गया है कि साधक लोकैषणा और वित्तैषणा का त्याग करे; वह गोपथ से जाए, महापथ से नहीं। उसी गोपथ पर चलता हुआ मुनि भिक्षा के लिए जाता है। किन्तु उसका मन अनाकुल होना चाहिए। कपोत कर्पिजल और गौ जब अपना अपना भोजन ढूंढने निकलते हैं तब उनके मन में न तो कोई आकुलता रहती है किसी प्रकार की दौड़-धूप शान्त गति से अपने अपने भोजन का शोध करते हैं। मुनि भी भिक्षा के समय समचित्त रहे। स्वादिष्ट पदार्थों का आकर्षण उसके मन की मटकए नहीं। रास्ते में सेठ का भवन आया, उसमें भी वह जाता है, वहां से स्वादिष्ट आहार प्राप्त हुआ तो झोली में डाल कर आगे बढे और एक गरीब का घर आये तो वहां भी प्रवेश करे और उसकी रुखी रोटी भी उसी झेह के साथ स्वीकार करे। पर यदि कभी झोली खाली भी रह गई तो भी मन की झोली को न खाली होने दे; मन की झोली तो प्रेम और श्रद्धा से भरी रहे।

टीका :—गावः प्रातरासं चरन्ति, इह इति स्थाने इवेति युक्ततरमिव दृश्यते। एवं मुनिगौचर्यां प्रविष्टः स्वाहामे सति नाल्पेन न मुदा लेपेन नापि चालामे क्रोधेन संजलेज्ज ।

गौ प्रातः भोजन के लिए चरती है। इसी प्रकार मुनि गौचरी के लिए जाता है। अभीप्सित वस्तु मिल जाने पर उसके मुख पर अल्प भी मुस्कान की रेखा न खींचे और वस्तु नहीं मिलने पर वह क्रोध से जले भी नहीं। गाथा में इह पद आया है उसके स्थान पर इव पद उपयुक्त लगता है।

पंचवणीमकसुखं जो भिक्षवं एसणाए एसेज्जा ।

तस्स सुलब्धा लाभो हण्णाए विपमुक्कदोसस्स ॥ २ ॥

अर्थ :—दोषों (कर्मों) के हनन के लिए विशेषतः मुक्त आत्मा मुनि पंच वनीपक-याचक-अतिथि कृपण कीर्ण ब्राह्मण कुँकुर कुत्ता भ्रमणों से शुद्ध अर्थात् उनके लिए विघ्न न बनता हुआ निर्दोष भिक्षा को गवेषणा पूर्वक ग्रहण करे।

गुजराती भाषान्तर :—

दोषो, कर्मोनी नाश करवा भाटे विप्रमुक्त आत्मा मुनि पंचवनीपक, याचक, अतिथि कृपण, गरीब, ब्राह्मण, कुँकुर, कुत्तरो, भ्रमणुथी शुद्ध अर्थात् तेने भाटे विघ्न न बनतो निर्दोष आहारने गवेषण। पूर्वक भइलु करे.

पूर्व गाथा में साधक के लिए अनाकुल मन से भिक्षाचरी का निर्देश किया गया था। यहां भिक्षा शुद्धि के संबंध में निर्देश है। मुनि भिक्षा के लिए किसी घर में प्रवेश करता है यदि उसके सामने अतिथि कृपण कीर्ण दुर्बल कुत्ता ब्राह्मण और अन्य तैर्थिक धमण जो कि वनीपक कहलाते हैं; उपस्थित हों तो मुनि लौट जाए। अन्यथा भविक गृहस्थ मुनि को भिक्षा देते हुए अन्य को नहीं देगा। और इस प्रकार अन्य याचक निराश लौट जाएंगे। “मिस्सि मे सव्वभूयेसु” का उद्घाता यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि उसकी झोली भर जाए और दूसरे खाली हाथ लौटे।

१ समणं साद्वर्णं वा वि विवर्णं वा वणीमगं । तमतिकम्पं न पविसे न चिद्धे न कलुकासयो ।

पक्खिसेहिंते व विण्णे वा ततो तम्मिं णयत्तिंते । उवसंके भत्तपाणद्वणं व संजते ॥

—दशवैकालिक अ० ५ उ. २ गाथा १०१-१२

टीका :—पंच वनीपका अतिथि-कृपण-कुकुर-श्रवणाः तैः शब्दां दोषवारितां भिक्षां च पृष्यैषते तस्य हननदोष-विप्रमुक्तस्य लाभः सुलब्धो भवति । गतार्थः ।

पंथाणं स्वसंबद्धं फलावप्तिं च चिन्तये ।

कोहातीणं विचारकं च अप्यणो य परस्स य ॥ ३ ॥

अर्थ :—मुनि रूपसंबद्ध पंथ और फलावृत्ति का विचार करे । स्व और पर के क्रोधादि के विपाक का भी चिन्तन करे । अर्थात् भिक्षा के लिए जाते समय जिन शासन और मुनिरूप को हमेशा सामने रखे । उसी के अनुरूप फल की आवृत्ति चाहे । साथ ही वह स्व और पर किसी के लिए भी क्रोध का निमित्त न बने ।

गुजराती भाषान्तर :—

मुनि रूप-संबद्ध पंथ अने इणप्राप्तीनो विचार करे. स्व अने परनुं क्रोधादिना विपाकनुं पणु चिन्तन करे. अर्थात् भिक्षा भाटे जाती वभते जैनशासन अने मुनिरूपने हमेशा सामे राखे. तेने अनुग्रह इणनी आवृत्ति चाहे. साथे साथे ते स्व अने पर क्रोध ने भाटे पणु क्रोधनुं निमित्त न अने.

पूर्वगाथा में बताया गया है कि भिक्षार्थी मुनी पंच वनीपकों से शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे । उसका हेतु यहाँ पर दिया गया है । मुनि भिक्षा लेते समय अपने मुनिरूप और शासन के प्रतिष्ठा की सुरक्षा करे । क्रुधा से आक्रान्त मन में दीनता को प्रवेश न करने दे । दीनता दिखा कर भिक्षा लेना मुनि रूप और शासन की प्रतिष्ठा को समाप्त करना है । साथ ही यदि पंच वनीपक याचक जहाँ खड़े हैं, वहाँ प्रवेश करने पर संभव है कि अपने लाभ के प्रति विघ्न कारक जान कर वे मुनि के ऊपर क्रोधित हो जाय और वे संघर्ष तक के लिए भी तैयार हो जाएं । परिणामतः मुनि के मन में भी क्रोध आ सकता है । अतः समभाव का उपासक मुनि स्व और पर को कषाय के निमित्तों से दूर रखे ।

टीका :—पथं मार्गान्तं रूपसंबद्धमनुरूपं फलावप्तिं च चिन्तयेत् कामक्रोध-मान-माया-लोभान्तं पिण्डैषणाथामनु-भूतानां चात्मानं परं चाधिकृत्य विपाकम् ।

जाणवकीय णाम अज्झयणं

साधक जिन शासन के अनुरूप फलप्राप्ति का चिन्तन करे तथा पिण्डैषणा आहार की गवेषणा के समय अनुभूति में आए हुए क्रोध मान माया लोभ आदि के विपाक का चिन्तन करे, क्योंकि कषाय के अशुभ विपाक का चिन्तन उसे कषाय से मुक्त करेगा ।

इति याज्ञवल्कीयाध्ययनं द्वादशं समाप्तम्



भयाली-अर्हतर्षि प्रोक्त

भयाली-णाम

त्रयोदश अध्यायन

ऐसा माना जाता है कि एक का विकास दूसरे का विनाश ही ले कर आता है। किंतु यदि मेरा उत्थान से दूसरे का पतन बनता है तो वह मेरे लिए कदापि प्राप्ति नहीं होगा। जिसमें सबका हित है, सबका श्रेय है वही मुझे प्राप्ति होगा। यह सर्वोदय की ऊर्जस्व भाव-धारा आज के पांच सौ वर्ष पूर्व आचार्य समन्तभद्र की वाणी में सुनाई देती है।

‘सर्वोदयमिदं शासनं तवैतत्’। शताब्दियों नहीं सहस्राब्दियों के भी पूर्व भयाली अर्हतर्षि के मुख से भी यह सर्वोदय की पवित्र वाणी सुनाई देती है।

किमर्थं नात्थि लावण्यं ताप ? भेतंज्जेण भयालेणा अरहता इसिणा बुद्धं :—

णोऽहं खलु भो अभ्यणो विमोयणदुताए परं अभिभविस्सामि

मा णं मा णं से परे अभिभूयमाणे ममं खेव अहिताए भविस्सति ॥

अर्थ :—तुम्हारा लावण्य क्यों नहीं है ? इसके उत्तर में भैतार्य भयाली अर्हतर्षि बोले—मैं अपनी विमुक्ति के लिए दूसरे को पराजित नहीं करूंगा। नहीं नहीं; वह पराजित व्यक्ति मेरे ही लिए अहित-कर्ता बनेगा।

गुजराती भाषान्तर :—

तभारुं धावण्य शा माटे नथी ? तेना उत्तरमां भैतार्य भयाली अर्हतर्षि बोल्या : हुं पोतानी विमुक्ति माटे भीजने पराजित नहीं करूं. ना, ना, ते पराजित व्यक्ति व आपणे माटे अहित-कर्ता बनशे.

विश्वव्यवस्था में एक की विजय दूसरे की पराजय बन कर आती है। एक की मुस्कान दूसरे के लिए आंसू ले कर आती है। व्यक्ति अपने विकास के लिए दूसरे का विनाश करना है। किन्तु भयाली अर्हतर्षि कहते हैं कि मैं अपनी विजय के लिए दूसरे को पराजित नहीं कर सकता। दूसरे की चिंता भस्म पर अपने लिए सहल नहीं चुन सकता। क्योंकि दूसरे की पराजय में मेरा ही अहित छिपा हुआ है। दूसरे के बढ़ते हुए आंसू मुझे भी चैन से नहीं रहने देगे। अतः दूसरे के हर्ष में मेरा हर्ष है और दूसरे के दुःख में ही मेरा सुख है।

टीका :—किमर्थं त्वया लावण्यं मैत्री (नास्ति) न क्रियते इति बलात् प्रतिबोधितोऽपि संस्तं कंचिच्छ्रावकं प्रति-भाषितं नाहं खलु भो आत्मनो विमोचनायां परमभिभविष्यामि । मा भूत् स परोऽभिभूयमानो ममैवाहिताय पापकर्म-विपाकायेत्युक्तप्रकारेणक्षिप्तश्रावकस्याध्यवसायः ।

किसी श्रावक को बलात् प्रतिबोध देते हुए किसी ने पूछा कि तुम सौन्दर्य से मैत्री क्यों नहीं करते हो ? अर्थात् तुम सौन्दर्यशाली क्यों नहीं बनते ? इसके उत्तर में वह बोला कि अपनी मुक्ति के लिए दूसरे को पराजित नहीं करूंगा। क्यों कि वह दूसरा पराजित होता हुआ भी मेरे अहित का निमित्त न बन जाए। अर्थात् पाप कर्म के विपाकरूप में उदय न हो इस प्रकार अक्षिप्त श्रावक का अध्यवसाय है।

आताणाए उ सज्जेसि, गिहिवूहणतारए ।

संसारवाससंतानं कहं मे हंतुमिच्छसि ? ॥ १ ॥

अर्थ :—दूसरा अभिभूत होने वाला व्यक्ति संसार में रहे हुए गृहस्थ कहे जानेवाले तारकों-श्रावकों से पूछता है कि तुम मुझे क्यों सारना चाहते हो ?

गुजराती भाषान्तर :—

हार भासवावाणी भील व्यक्ति संसारमां रडेला गृहस्थ कहेवाला तारको-श्रावकोने पूछे छे ते तमे भने शा माटे भारी नाभववा छिछो छे ?

श्रावक गृहस्थ है यद्यपि उसकी भी जिम्मेदारियां हैं। इसे उन्हें निभाते हुए उसे चलना है। अतः वह हिंसा नहीं करता है। अपितु उसे हिंसा करना पड़ता है। फिर भी उसकी मर्यादा है। जीवन-यापन के लिए आवश्यक रूप में अनिवार्य हिंसा के लिए ही वह मुक्त है, किन्तु बनावट और सजावट के लिए होने वाली हिंसा के लिए वह मुक्त नहीं है। साथ ही

वह पंचम गुण स्थानवर्ती है, अतः वह भी केवल अपने ही हित को लेकर नहीं चल सकता। अपने हित के लिए दूसरे के हित में खिलवाड़ नहीं कर सकता। मुनि अपने अभ्युदय के लिए हर प्रकार से किसी को अनिष्ट नहीं पहुंचा सकता तो श्रावक भी इसमें आंशिक रूप से अवश्य ही बड़ है।

क्या मुनि के द्वारा होनेवाली हिंसा ही बंध रूप है? श्रावक सर्वथा मुक्त है? मुनि त्रिकरण त्रियोग से हिंसा का प्रत्याख्यान है तो श्रावक भी द्विकरण त्रियोग से हिंसा का प्रत्याख्यान है। जो श्रावक लाउञ्जरीकर से होने वाली हिंसा से मुनि के महाजनों का पहरेदार बना रहता है और बोलता है उपाश्रय में इलेक्ट्रिक का तार भी नहीं आना चाहिए तो क्या वह श्रावक अपने भवनों को एअरकंडीशन कराने के लिए स्वतंत्र है? दिन और रात अनावश्यक रूप से जलने वाली इलेक्ट्रिक बत्ती और श्रूव लाइट से होने वाली हिंसा से भी बचने का प्रयत्न नहीं कर सकता?

हिंसा कहीं भी हो वह अशुभ ही है। भाग कहीं पर भी बैठ कर खाई जाए लहर अवश्य ही देगी। हिंसा का पाप उपाश्रय में लगता है और अन्वय वह पुण्य बन जाता है वह अपूर्ण राज्य है तो जंगल उपाश्रय में ही हो सकता है यह भी राज्य का एक ही अंश है। धर्म और कर्म का संबंध ईंट और चूने के साथ नहीं है, क्योंकि वह तो बसता है आत्मा की वृत्तियों में।

श्रावक भी शृंगार-प्रसाधनों के पीछे होने वाली हिंसाओं से बचे। चमकीले चमड़े के बूट सादे नूटों की अपेक्षा अधिक हिंसा से निर्मित है। अतः यदि श्रावक सादगी से काम चलावे तो वह महारंभ से बच सकता है। प्रस्तुत गाथा का यही हार्द है।

टीका:—सर्वेषां संसारावासे शान्तानां तुष्टानां गृही श्रावको यदि वा गृहिणां श्रावकानां अस्मरतः प्रशंसाप्रियः कर्मोपादानाय भूत्वा तैः प्रत्युक्तः कथमिति कुतोऽर्थे हेतुमिच्छसीति।

आत्मरत गृहस्थ श्रावक संसारावस्था में प्रशंसाप्रिय हो कर भी सभी शान्त संतुष्ट गृही श्रावकों के लिए कर्मोपादान का कारण बनाता है। तो भी वे गृही श्रावक उसे कहते हैं। क्यों मुझे मारना चाहते हो? यहां टीका स्पष्ट नहीं है।

जर्मन विद्वान प्रोफेसर शुर्बिन्ग इस संबंध में भिन्न मत रखते हैं—जिसे अपनी शक्ति पर गर्व है वह पार्थिव जीवन में सत्य उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होता। साथ ही वह झूठे प्रदर्शन से लब्धित भी नहीं होता।

संतस्तु करणं गच्छिष्यति नास्ततो करणं भवे।

बहुधा दिष्टं इमं सुष्ठु नास्ततो भवसंकरो ॥ २ ॥

अर्थ:—विद्यमान वस्तु कभी की नहीं जाती है और असत् वस्तु तो कभी की ही नहीं जाती। अथवा विद्यमान वस्तु का करण (कारण) नहीं है। क्योंकि अपने करण के द्वारा ही कार्यरूप में आई है। असत् वस्तु का कोई करण नहीं होता। बहुधा यह भली भांति देखा गया है कि भवसांकर्य असत् नहीं है।

गुजराती भाषान्तर:—

विद्यमान वस्तु आरे पक्षु कराती नथी. अने असत् वस्तु तो आरेय उत्पन्न थती न थती. अथवा विद्यमान वस्तुनुं करण (कारण) नथी, कारण के आपणा करणद्वारा न कार्य रूपमा आवी छे. अने असत् वस्तुनुं कोई कारण नथी छेतुं. बहुधा आ सारी रीते जेवायुं छे. के अब सांकर्य असत् नथी.

दर्शन के क्षेत्र में सांख्यदर्शन सत् वादी है जब कि बौद्ध और वैशेषिक दर्शन असत् वादी है। सांख्य दर्शन कहता है कि विश्व में सत् विद्यमान वस्तु ही की जाती है, असत् नहीं। घट मिट्टी के रूप में पहले ही से विद्यमान है। कुम्भकार के कुत्वाल हाथ उसको मूर्त रूप देते हैं। यदि कुम्भकार यह दावा करता हो कि वही असत् का भी निर्माता है तो जरा उससे यह कह बीजिए कि आकाश का भी एक घट बना दे। वह कहेगा कि यह असंभव है। इसका मतलब सत् की ही उत्पत्ति हो सकती है।

बौद्ध और वैशेषिक दर्शन असत् वादी है। उनका विश्वास है कि असत् की ही उत्पत्ति होती है। विद्यमान वस्तु का करना क्या है? साथही एक दूसरा भी प्रश्न है, कि यदि घट मिट्टी में ही उपस्थित है तो दिखाई क्यों नहीं देता? यह प्रत्यक्ष

विरोध है। साथ ही यदि घट मिट्टी में पहले से ही उपस्थित है तो कुंमकार की आवश्यकता ही क्या है और उसको खरीदने के लिए पैसे देने की ही क्या आवश्यकता है ?।

दार्शनिक जगत् का एक सिद्धान्त है कि असत् का कभी उत्पादन नहीं होता है और सत् कभी नष्ट नहीं होता है। 'नास्तो जायते भावः नाभावो विद्यते सत्तः।' असत् कभी किया नहीं जा सकता और सत् भी नहीं किया जाता। क्यों कि वह तो विद्यमान है ही। कृत का करना ही क्या है ? किन्तु यह निश्चित देखा गया है कि भव अंकुर असत् नहीं है, क्यों कि भव-परंपरा सहेतुक है। उसके पीछे कर्म वर्गण है जो कि भव परंपरा का मुख्य हेतु है।

टीका:—सा ब्राह्मणरतिः शान्तस्य कारणं नास्ति शांते न एवं करोतीत्यर्थः। किन्तु नाश्वतो हिंसकस्य कारणं भवेत् नाशयतस्तु भवः शंकरः संसारहिंसनं भविष्यति तद् बहुधा सुदृष्टं गृहभिः।

वह ब्राह्मणरति आत्म-परिणति में रमणता ज्ञान व्यक्ति के लिए करणीय नहीं है; क्यों कि शान्तव्यक्ति स्वात्मपरिणति में लीन रहता है। हिंसक व्यक्ति के लिए विनाश ही कार्य है, विनाश के द्वारा वह आत्मा भव शंकर अर्थात् भविष्य में भी संसार में भ्रमण-करता है ज्ञानियों ने अनेकों बार ऐसा देखा है।

संतमेतं श्रमं कर्म दारेणेतेन वद्वियं।

निमित्तमेतं परो पत्थ मज्झ मे तु पुरे कडं ॥ ३ ॥

अर्थ:—यह उपस्थित कर्म भवपरंपरा के द्वार के रूप में उपस्थित है। दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है। मेरे शुभाशुभ विपाक के लिए तो मेरे पूर्व कृत कर्म ही उत्तरदायी हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

आ उपस्थित कर्म भव-परंपराना द्वारना रूपमा उपस्थित छे, भीखुं तो मात्र निमित्तारूप छे. मारा शुभा-शुभ विपाक भाटे तो मारा पूर्व करेला कर्म न नवाणदार छे.

भवपरंपरा कार्य है तो कर्म उसका कारण है। क्यों कि कारण के अभाव में कार्य संभव नहीं है। सुख और दुःख का जो भी विपाकोदय है उसका मूल उपादन तो आत्मा स्वयं है। दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है। कृति दो प्रकार की होती है। पहली शेर की और दूसरी कुत्ते की। कुत्ते पर जब कोई लाठी प्रहार करता है तब वह लाठी पर भौकता है पर लाठी वाले पर नहीं। किन्तु शेर को जब गोली लगती है तब वह बंदूक पर नहीं बल्कि बंदूकधारी पर ही वार करता है।

अज्ञानी मनुष्य जब कभी विपत्ति से ग्रसित होता है तो वह अशुभोदय के निमित्त बनने वाले व्यक्ति पर ही आक्रोश करता है। उसे ही समाप्त करना चाहना है किन्तु ज्ञानसंपन्न आत्मा विपत्ति के बुरे से बुरे क्षणों में भी दूसरे पर रोष नहीं करता। क्यों कि वह जानता है कि शुभ और अशुभ विपाक कर्मजन्य हैं। दूसरा तो निमित्तमात्र है। दूसरा कोई यदि सुख या दुःख दे सकता है तो उसका कोई नियामक नहीं रहेगा। फिर अकृत कर्म का भी फल भोगना पड़ेगा। साथ ही अपने सुख और दुःख दूसरे व्यक्ति के हाथ में चला जाएगा। फिर आत्मा की स्वतंत्र शक्ति ही क्या रही ? अतः जैनदर्शन कहता है कि तू अपना विधाता स्वयं है क्यों किसी के सामने भीख मांगता है ? यदि तेरे शुभोदय है तो तुझे मिल कर ही रहेगा। फिर दूसरे के सामने मिडगिडाने से फायदा ही क्या है ? अशुभोदय में दूसरा वेदना नहीं दे सकता। हमारा ही अशुभ कर्म वेदना लेकर आया है। दूसरा तो निमित्त मात्र है। गीता भी कहती है "निमित्तमात्रं भव तन्मयाधिन्।" सब अपनी अपनी नियत गति पर चल रहे हैं। हम तो उसके निमित्त मात्र ही बन सकते हैं।

टीका:—हिंसितं पुरुषं त्वेवं शांतं जवाधायुक्तं कर्म एतेन दारेण प्रकारेणोपस्थितं भवति यथा मायैव पुरः पूर्वभवे यत् कृतं तस्य स परोऽत्र निमित्तमात्रविपाककारयितैव भवतीति।

१ जे संत वायदेसे सकोलया भणति संखण ।
संखाय असत्वाप तेसि सब्जे वि ते सखा ॥
तेउ भयणो वणीया सम्मदसणमणुचरं होति ।
जे भव-दुक्ख-विमोक्खं दोवि पूरा न पाडेंति ॥
नत्थि पुढवि विसिद्धो धबोसि अं तेण जुज्झइ जणो ।
जं पुण घडोत्ति पुर्वं ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥

आचार्य सिद्धसेनदिवाकर:—संमतिप्रकरण ५०-५१-५२।

जिसकी हिंसा की गई है वह पुरुष भी अपने आप को इस विचार से शांत कर सकता है कि इस रूप में उदय में आया हुआ कर्म एक दिन मैं ने ही पहले पूर्व भव में किया है। दूसरा तो केवल विपाकोदय में निमित्त मात्र है। प्रोफेसर शुब्रिन्ग् भी कहते हैं कि :-

दूसरे को हानि पहुंचाने वाला अनिष्ट कर्म उसके जीवन में विविध परिणाम लाता है। जिसको आघात लगा है वह भी अपने पूर्वकृत कर्मों को भोग रहा है। प्रहार करने वाला तो अपराधी है ही, किंतु जिस पर प्रहार किया गया है वह भी एकदम निर्दोष है ऐसी बात नहीं है। उसने भी पहले हिंसा द्वारा कर्म एकत्रित किए थे, प्रहार कर्ता तो शांत पड़े अनुदीरित कर्मों को एक नई दलचल देता है। वही उदीरणा है।

मूलसेके फलुप्यप्ती मूलघाते हतं फलं ।

फलस्थी सिचती मूलं फलघाती न सिचती ॥ ४ ॥

अर्थ :- मूल के लीकने से फल की क्षति होती है। मूल नष्ट करने पर फल नष्ट हो जाता है। फलस्थी मूल का सिंचन करता है। फल को नष्ट करने वाला मूल का सिंचन नहीं करता है।

गुजराती भाषान्तर :-

जाड़ना मूलने पाण्णी पावाथी इणनी उत्पत्ति थाय छे. मूलनो नाश करता इण पशु नाश पावे छे. इलार्थी मूलनुं सिंचन करे छे, इणने नष्ट करवावाणो मूलनुं सिंचन करतो नथी.

टीका :- प्रस्तुत गाथा वज्रियपुत्र अर्हत्तर्षि भाषित द्वितीय अध्ययन में आ चुकी है।

लुप्यती असत् अं अत्थि, नासंतं किंचि लुप्यती ।

संताती लुप्यती किंचि, नासंतं किंचि लुप्यती ॥ ५ ॥

अर्थ :- जिसका जो कर्म होता है वही लुप्त हो सकता है। किन्तु असत् का लोप नहीं हो सकता है। विद्यमान में किंचित् वस्तु का लोप होता है, किन्तु असत् में से किंचित् भी लोप नहीं हो सकता है।

गुजराती भाषान्तर :-

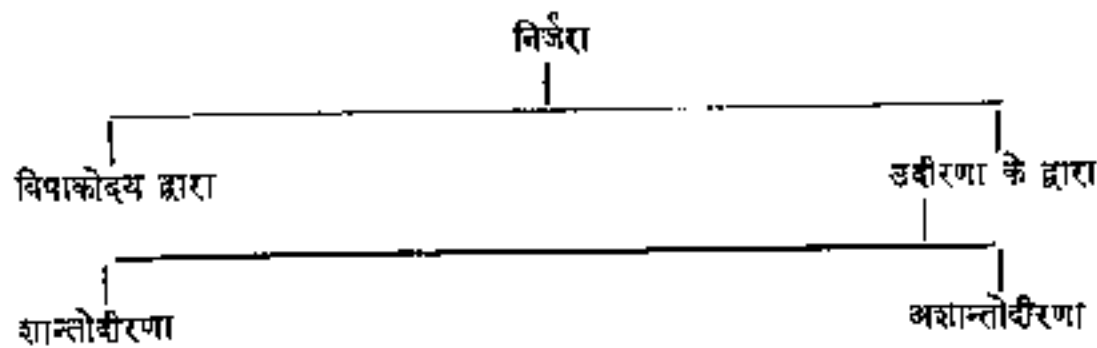
जेनुं जे कर्म होय छे ते न लुप्त अर्ध शक्य छे. परंतु कर्म न न होय तो तेनो लोप अर्ध शक्यो नथी. वस्तु होय तो न अशक्य तेनो लोप अर्ध शक्य छे. परंतु असत्मां तो अशक्य पशु (कोईपशु बभते) लोप अर्ध शक्यो नथी.

अथवा जो कर्म उदयावलिका में आता है वह क्षय होता है। जो आत्मा उदित कर्मों को शांत भाव से भोगता है वह कर्म क्षय करता है। किंतु कर्मोदय के क्षणों में जो अशान्त हो उठता है वह कर्म का क्षय नहीं करता। यद्यपि उदयावस्था में आये हुए कर्मों को तो वह क्षय करता है। किन्तु नए कर्मों का पुनः बन्धन कर लेता है। जो कि पूर्व के कर्मों के अनुपात में कई गुना अधिक होते हैं। शांति कर्मों का क्षय करती है और अशांति कुछ भी क्षय नहीं करती।

टीका :- यस्य यदस्ति कर्म तद् विपाकेन लुप्यते यदशान्तं उदीरितं कर्म भवति तस्य न किंचिल्लुप्यते उदीरणावशादेव शान्तात् कर्मणः किंचिल्लुप्यते किंचिन्न, शान्तेरसंक्षिप्तत्वात् विपाकात् पूर्वं तु न लुप्यते शान्तं कर्म।

टीकाकार का मत कुछ भिन्न है। जिसका जो कुछ है वह कर्म विपाक से लुप्त होता है। जो कर्म अशान्तरूप में उदीरित होता है उसका अल्प रूप में भी नहीं लुप्त होते। उदीरणा के द्वारा भी कुछ कर्म लुप्त होते हैं। कुछ लुप्त भी नहीं होते, उसका कारण है विपाकोदय के समय यदि आत्मा शान्त रहा तो वह कर्म क्षय करता है। असंक्षिप्त विस्तृत होने से शान्त कर्म उदीरणा में नहीं आए हुए कर्म विपाकोदय के पूर्व नष्ट नहीं हो सकते।

कर्म दो रूप से क्षय होता है—एक विपाकोदय से और दूसरा उदीरणा के द्वारा। कर्म जब सहज रूप में विपाक काल समाप्त होने पर उदय में आकार क्षय हो जाता है, वह विपाकोदय है; देर से उदय में आने वाले कर्मों को जब कभी आत्मा जिस प्रक्रिया द्वारा शीघ्र उदय में ले आता है, उसे उदीरणा कहा जाता है। उदीरणा के भी दो रूप हैं—पहली शान्त उदीरणा और दूसरी अशान्त उदीरणा। शान्त उदीरणा में आत्मा कर्म क्षय करता है। अशान्त उदीरणा में आत्मा कर्मों का विशेष बन्धन करता है। निम्न लिखित चार्ट उसे समझाने में सहायक होगा :-



प्रोफेसर शुब्रिग प्रस्तुत गाथा की व्याख्या मिल रूप में करते हैं। उनके विचार से गाथा के पूर्वार्द्ध में कर्म के स्वरूप का वर्णन है। जब कि उत्तर भाग में भौतिक सम्पत्ति की चर्चा की गई है। क्योंकि दोनों एक दूसरे से संबन्धित हैं। कर्म का क्षय होने से आत्मा का सांसारिक रूप समाप्त हो जाता है। अर्थात् आत्मा की अशुभ पर्यायें लुप्त हो जाती हैं। अथवा विद्यमान कर्म अल्प रूप में नष्ट हो जाता है। किन्तु उदय उदीरणा रहित शान्त कर्म नष्ट नहीं होता।

लोप विद्यमान का ही होता है। अविद्यमान का लोप नहीं हो सकता। आत्मा के साथ कर्म है तभी उसका लोप हो सकता है। सब वस्तु में से कुछ का लोप हो सकता है, सम्पूर्ण का नहीं। आत्मा की कुछ विभाव जन्म पर्यायें नष्ट हो सकती हैं और ऐसे तो प्रति क्षण पर्याय परिवर्तन होता ही है। किन्तु पर्याय के नाश के साथ साथ द्रव्य नष्ट नहीं होता।

‘अत्थि मे’ तेण देति; ‘नत्थि मे’ तेण वेइ मे।

जइ से होजा, ण मे देजा; णत्थि से, तेण वेइ मे ॥ ६ ॥

अर्थ :—हां में यदि वह कुछ देता है तो ना में भी कुछ दे ही जाता है। यदि उसके पास कुछ है और वह नहीं दे रहा है तो कम से कम इन्कार तो देता है। अथवा एक व्यक्ति देता है, क्योंकि उसके पास कुछ है। दूसरा देता है किन्तु, उस वस्तु पर वह अपना अधिकार नहीं मानता है; यदि अधिकार रखे तो वह दे ही नहीं सकता और अधिकार नहीं मानता है; इसी लिए तो वह देता है।

गुजराती भाषान्तर :—

हजारमां जे ते कांछि आपे छे तो नकारमां पखु कांछि आपतो जय छे. अने कदाय तेनी पासे होय अने ते आपतो नथी तो ओछाभां ओछुं नकार तो आपसे ज; ओक व्यक्ति कांछि आपे छे कारण छे तेनी पासे कांछि छे. बीजे आपे छे परंतु ते वस्तु पर पीतानी अधिकार छे ओम मानतो नथी. अने जे अधिकार राखे तो ते छे शकतो नथी. अधिकार नथी ओम सभजे छे ओटखे तो ते आपे छे.

हमने किसी से कुछ याचना की, वह यदि कुछ देता है तो उसके पीछे कुछ अस्तित्व है। उस व्यक्ति के पास भी वस्तु का सद्भाव है और मेरे शुभोदय का योग है, अतः वह देता है। यदि वस्तु उसके पास मौजूद है, फिर भी वह इन्कार करता है, तो भी कोई बुरी बात नहीं होगी। हां में वह कुछ देता है तो ना में भी कुछ दे ही जाता है। कम से कम नहीं तो देता ही है और अपने अनुदार स्वभाव का परिचय देता है, साथ ही हमें आत्मनिरीक्षण का भी एक अवसर देता है।

१. दान के अन्दर चार वृत्तियां काम करती हैं—एक व्यक्ति देता है कुर्सी के लिए। हजार दे कर बदले में दस हजार मान लेना चाहता है। पर यह दान नहीं, एक प्रकार का सौदा है। इसमें दाता ऊंचा है और लेने वाला नीचा। दाता स्वतंत्र है वह चाहे तो हजारों दे सकता है और न चाहे तो एक नया पैसा भी नहीं दे। यह बिलालेखों का दान है। पर विज्ञापन की यह वृत्ति दान की पवित्रता को समाप्त करती है। लेबनान का प्रसिद्ध विचारक खलील जिब्रान कहता है :—

There are those who give a little of much which they have and they give it for recognition and their hidden desire makes their gifts unwholesome.

जो व्यक्ति अपनी विशाल सम्पत्ति में से कुछ भाग देता है वह भी इसलिए कि उसकी ख्याति हो। उसकी यह छिपी हुई कामना उसके दान को अधिव बना देती है।

२. दूसरा देता है स्वर्ग में सीट रिजर्व कराने के लिए। उसकी धारणा यह रहती है की ओ कुछ यहां पर दिया जाएगा वह सहस्र गुणित होकर स्वर्ग में मिलेगा।

३. तीसरा एक व्यक्ति है वह कुछ इसलिए देता है कि समाज गत विषमता दूर हो । एक ओर सम्पत्ति के ढेर लगे हुए हैं तो दूसरी ओर खड़े हैं । एक ओर भवनों की पंक्तियाँ हैं, तो दूसरी ओर सिर ढकने के लिए झोपड़ी तक नसीब नहीं होती है । यह विषमता समाज के अस्वस्थता की प्रतीक है । अपनी सम्पत्ति का हिस्सा देकर वह व्यक्ति समाज की इन विषमताओं को दूर करना चाहता है ।

४. चौथा व्यक्ति इसलिए देता है कि उसकी धारणा यह है कि सम्पत्ति मेरी थी ही कब ? । जब दुनियाँ को पहली आँखों देखा था तब कुछ भी नहीं था और जब दुनियाँ से छिदा लेने तब भी कुछ मेरे साथ नहीं जाएगा । यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है । फिर तेरा तुझको देने में क्या लगता है मुझे ? ।

पहले दो लोभी हैं — एक कीर्ति का, दूसरा स्वर्ग का, तीसरा भी सम्पत्ति पर अपना अधिकार नहीं छोड़ता है, जब कि चौथा सम्पत्ति पर अपना अधिकार भी नहीं मानता है । प्रस्तुत गाथा में दो वृत्तियों का वर्णन है । एक देता है तो दूसरा अपना अधिकार भी दे देता है ।

प्रोफेसर शुक्तिप्रस्तुत अभिप्राय से संमत हैं । वे लिखते हैं कि एक देता है, क्योंकि उसके पास कुछ है । दूसरा देता है, क्योंकि वह उस पर अपनी मालिकियत नहीं रखता है । यदि वह किसी वस्तु पर अपनी मालिकियत रखे तो मुझे वह वस्तु कमी नहीं देगा, किन्तु वह उस वस्तु पर अधिकार नहीं रखता, इसलिए मुझे दे देता है ।

टीका :—यत्कारणं भिक्षादिमार्गितस्य किञ्चिदस्ति तेन मम ददाति । यत् कारणं नास्त्यस्ति किञ्चित् तेनापि मम ददाति । स्वधनस्थानं गीकारात् । यदि स्वस्य त्वत् यदि स्वधनमंगीकृत्यात् ततो मम न दद्यात् । नास्त्यस्येति नांगीकरोति तस्मान्मम ददातीत्येवमनयोः श्लोकयोरर्थः सम्यग्गत इत्याशास्व ।

उसके पास कुछ है, इसीलिए वह भिक्षा के समय मुझे कुछ देता है । कोई कारण नहीं है फिर भी यदि वह मुझे देता है, क्योंकि वह अपनी संपत्ति पर अपना अधिकार ही नहीं समझता है । शेष पूर्ववत् है । विशेष में टीकाकार बोलते हैं कि दोनों श्लोकों का अर्थ हमने ठीक ठीक समझ लिया है ऐसी आशा करते हैं ।

मैत्रेयभगवद्गीता-नाम अष्टमोऽध्यायः इति मैत्रेयभगवद्गीताप्रोक्तं चतुर्विंशोऽध्यायः

बाहुक-अर्हतर्षि प्रोक्त

चतुर्विंश अध्ययन

साधना में निष्ठा का महत्व है, क्रिया का नहीं । क्रिया शुभ है, पर उसके पीछे अशुभ निष्ठा काम कर रही है तो क्रिया अपवित्र हो जाएगी । एक वैद्य भी किसी बहान का हाथ पकड़ता है और एक मुंडा भी कभी बुरे विचारों से प्रेरित होकर किसी स्त्री का हाथ पकड़ लेता है । क्रिया में साम्य है, किन्तु भाव में भेद है । इसीलिए दोनों के परिणाम में भी भेद है धर्म क्रिया में बसता है या भाव में ? कभी वह क्रिया में रहता है तो कभी भाव में रहता है, किन्तु सही अर्थों में धर्म का निवास-भूमि विवेक है । क्रिया, भावना और विवेक तीनों का इस अध्ययन में निरूपण किया गया है ।

युक्तं अयुक्तं जोगं ण प्रमाणमिति बाहुकेण अरहता इति वाच्यं ।

अर्थ :—युक्त बात भी यदि अयुक्त विचार के साथ है, तो प्रमाण स्वरूप नहीं है । इस प्रकार बाहुक अर्हतर्षि ने कहा है ।

गुजराती भाषान्तर :—

सारी बात पक्ष में असत्य विचारों के कारण होती तो प्रमाणस्वरूप नहीं उठेगा। आम बाहुक अर्हतर्षि ने उद्धृत ।

ક્રિયા શુદ્ધ છે, કિંતુ યદિ ઉસકે પીછે વિચારધારા અશુદ્ધ છે તો સારી ક્રિયા અશુદ્ધ હોગી । પશ્ચિયોં કે લિધે દાના ઢાલના કરુણા પ્રેરિત કાર્ય માના જાતા છે । કિંતુ એક શિકારી મીં દાને વિચેરતા છે, કિંતુ ઉસકે પીછે ઉસકી ભાવના અશુભ છે । અતઃ શુભ ક્રિયા મીં પુણ્ય બંધન ન હોકર પાપ બંધક હો જાતી છે ।

अप्पाणिया खलु भो अप्पाणं समुक्कसिया ण भवति बद्धचिंथे णरवती अप्पाणिया खलु मो य अप्पाणं समुक्कसिय समुक्कसिय भवति बद्धचिंथं सेट्ठी ।

अर्थ :—अपने द्वारा राजा अपने आप को कसने पर बद्धचिन्ह नहीं कहलाता । किन्तु एक सेठ अपने द्वारा अपने को कसने पर बद्धचिन्ह कहा जाता है ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

પોતાનાથી પોતાને કસવાથી રાજા બદ્ધચિન્હ નહીં કહેવડાવે. પરંતુ એક સેઠ પોતાનાથી પોતાને કસવાથી બદ્ધચિન્હ કહેવે છે.

एक व्यक्ति एक कार्य करता है उसका परिणाम ठीक आता है । तो दूसरा व्यक्ति भी वही काम करता है तो उसका परिणाम विपरीत आता है । एक सम्राट यदि फटा हुआ वस्त्र पहनता है तो भी वह फटेहाल नहीं कहलाता । किन्तु उसके इस कार्य से उसके लिए सादगी का आदर किया जाता है । जब कि एक सामान्य गृहस्थ फटा हुआ वस्त्र पहने तो वह फटेहाल कहा जाएगा, दूसरी ओर यदि एक लक्षाधिपति अधिक बोलता है तो उसकी एक वाक् उदारता समझी जाती है । । एक गरीब यदि कोई योग्य बात भी बोले तो बाबाल कहा जाता है । । किया एक होने पर भी व्यक्ति की स्थिति-भेद से क्रिया के परिणाम में भी भेद हो जाता है ।

टीका :—युक्तमयुक्तयोगं न प्रमाणम्—आत्मना खलु भो आत्मानं समुत्कृष्योक्तमय्य न भवति बद्धचिह्नो राजलक्षण-संयुक्तो नरपतिरात्मानं समुत्कृष्टं नावश्यं तस्य सर्वपूजितत्वात् तद्वत् विश्वमानितस्य श्रेष्ठिनः स्ववेशविशिष्टस्य ।

यदि कोई योग्य वस्तु भी किसी अयोग्य के साथ है तो वह ग्राह्य नहीं है । राज-चिन्ह से युक्त राजा के लिए अपने आप को उत्कृष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो पूज्य है ही । इसी प्रकार विश्वमान्य सेठ भी स्ववेश में विशिष्ट है, किन्तु उसे अपने अनप को उत्कर्षशील बनाने की आवश्यकता है ।

एवं चेव अणुयोये जाणह खलु भो समणा माहणा गामे अदु वा रण्णे अदु वा गामेणोऽपि रण्णे अभिणिस्सिषय इमं लोणं परल्लोणं पणिस्सप दुहओ वि लोके अपट्ठित्ते अकामए वाहुए मत्तेति अकामए चरए तवं अकामए कालमए णरकं पत्ते अकामए पव्वहए अकामत्ते चरत्ते तवं अकामत्ते कालगत्ते सिद्धि-पत्ते अकामए ।

अर्थ :—यह अनुयोग इस प्रकार समझना चाहिए - ग्राम में वन में या दोनों के मध्य में रहते हुए भ्रमण और ब्राह्मण इस लोक के लिए अभिनिःसृत हैं, और परलोक में प्रनिःसृत होते हैं । दोनों लोकों में अप्रतिष्ठित हैं, क्योंकि दोनों ही अशा-श्वत हैं । अकामक-कामना रहित बाहुक ने अकाम तप किया । अकाम मृत्यु से मर कर पूर्व कर्म के वशीभूत हो कर नरक में गया । बाद जब मनुष्य लोक में जन्म लेकर निष्काम वीक्षा ग्रहण करता है, निष्काम तप करता है, सभी ओर निष्काम साधन करके निष्काम सिद्धि प्राप्त करता है ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

આ અનુયોગ આવી રીતે સમજવો જોઈએ : ગામડામાં અથવા વનમાં અથવા બંનેના વચ્ચે રહેતા સાધુ અને બ્રાહ્મણ આ લોકમાંથી નિકળે છે, અને પરલોકમાં પ્રતિષ્ઠિત થાય છે, પણ તે બંને લોકમાં અપ્રતિષ્ઠિત થાય છે કેમકે બંને અશાશ્વત છે.

અકામ=કામનારહિત બાહુક અકામ તપ કર્યું અને અકામ મૃત્યુથી મરીને તે પૂર્વ કરેલા કુકર્મોને વશ થઈને નરકમાં ગયો. પછી બ્યારે મનુષ્યલોકમાં જન્મ લઈને નિષ્કામ દીક્ષા ચલાવે છે, નિષ્કામ તપ કરે છે, બધી બાબતે નિષ્કામ સાધના કરીને નિષ્કામ સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરે છે.

जो क्रिया किसी स्थान पर योग्य रहती है वही क्रिया किसी स्थान पर अयोग्य भी हो जाती है, सेठ और राजा के उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। उसका अनुयोग यहाँ बताया गया है। श्रमण और ब्राह्मण कभी गाँव में रहते हैं और कभी वन में साधना करते हैं। और साधक कभी गाँव में ही विचरण करता रहता है। वह कहीं भी रहे उसका लक्ष्य साधना में रहना चाहिए। उसकी साधना आत्म-मुक्ति के लिए है। यदि वह इस लोक की भौतिक साधना में गिरता है या परलोक और देवलोकों के लिए साधना करता है तो दोनों में अप्रतिष्ठित होता है, क्योंकि दोनों ही अशाश्वत हैं। साधक के हृदय में न इस लोक की कामना ही, न परलोक देवलोक आदि की वासना ही। क्योंकि उसके लिए यह लोक भी परलोक है। अतः वह परलोक को भी लक्ष्य में रख कर कभी साधना नहीं करे।

टीका :—हे श्रमणा ब्राह्मणा ! चानुयोगे सस्युक्तस्य हेतुं यदि पृच्छस्यर्थं स्वमेव जानीत शत्रु भो यथा ग्रामे वा वन्ये वा केवले ग्रामे नस्वर्ग्ये यदि कश्चिदिमं लोकं अभिनिश्चयते सेवते परं वा लोकं देवलोकं प्रणिश्चयते न तत्सारवदुभयो-
र्लोकयोः प्रतिष्ठितत्वाद्वाशाश्वतत्वात् । एष मुक्तोपायानामनुक्तयोगः तदेवोदाहरति । यथा अकामको बाहुको मतः स्मृतः मुक्तकामो ह्यकामकस्तपश्चरते चरितवान् अकामकः कालगतः पूर्वकर्मवशात्सरकं प्राप्तः मनुष्यलोकोपपन्नो कामकः प्रव्रजित-
स्तपश्चरितवान् कामतः सिद्धिप्राप्तः सर्वत्र कामकः सकामस्तद्वत् केवलं किं सिद्धिं प्राप्तः ? इति प्रश्नः; नेत्युत्तरं ।

यदि श्रमण ब्राह्मण अनुयोग से मुक्त बात का हेतु जानना चाहते हों तो ऐसा समझें। ग्राम अथवा वन में अथवा केवल वन में यदि कोई इस लोक की सेवा करता है अथवा परलोक अर्थात् देवलोक की उपासना करता है उसकी साधना अनुचित है। क्योंकि दोनों लोक अशाश्वत हैं। वह युक्त योगियों का अयुक्त योग है। उसे ही सोदाहरण बतलाते हैं। जैसे बाहुक अकामक माना गया है। उसने अकाम तप किया और अकाम मृत्यु से मरकर पूर्वकर्मवशात् वह नरक में उत्पन्न हुआ। मनुष्यलोक में उत्पन्न होकर सकाम चरित्व लेता है, सकाम तप करता है और सकाम मृत्यु प्राप्त कर सिद्धि प्राप्त करता है। सर्वत्र अकामक सकामक की भाँति है। अकेला कैसे सिद्धि प्राप्त करता है? यह प्रश्न है। किन्तु इसका उत्तर नहीं है।

शब्द एक ही है, किन्तु उसके पीछे रही हुई भावना में भेद होने से शब्द के अर्थ में बहुत बड़ा भेद हो जाता है। अकाम साधना एक शब्द है, किन्तु उसी को एक स्थान पर नरक प्राप्ति का हेतु बतलाया गया है। दूसरी ओर वही अकाम साधना आत्मा को निर्वाण भी प्राप्त करा सकती है।

अकाम साधना का एक वह रूप है जहाँ आत्मा बिना अन्तःप्रेरणा के किसी बाहरी दबाव विशेष से प्रेरित होकर तप करता है। जैन परिभाषा में इसे 'अकाम निर्जेरा' कहा गया है। जिस आत्मा को विवेक दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है उसे अपने साध्य का बोध नहीं है। ऐसी साधना आत्मा को सही लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकती। महावीर ने पावापुरी के अन्तिम उपदेश में कहा था :—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसी विसावया ।

कामेव पर्यमाणा अकामा जंति दोगाई ॥

लक्ष्य हीन साधना 'अकाम निर्जेरा' कहलाती है। जो कभी नरक का हेतु भी हो सकती है। वह बाहर से निष्काम भले ही हो, किन्तु उसके अन्तर में काम की ज्वाला रहती है। अकाम का दूसरा अर्थ होता है कामना रहित; अर्थात् फलासक्ति रहित निष्काम साधना, जिसमें न स्वर्ग के रंगीन स्वप्न हों न नरक की आग से बचने की अकांक्षा हो; ऐसा निष्काम तप मोक्ष का हेतु होता है। अकाम का पहला रूप जैन परम्परा में व्यवहृत है। दूसरा रूप गीता को निष्काम साधना के अधिक निकट है।

सकामय पब्वहय सकामय चरते तवं सकामय कालगते णरगं पत्ते, सकामय चरते तवं सकामय कालगते सिद्धिं पत्ते सकामय ।

अर्थ :—जो साधक कामना के साथ प्रव्रजित हुआ है और कामना को लक्ष्य में रख कर ही तपश्चरण करता है और सकाम मृत्यु प्राप्त कर नरक को प्राप्त करता है। दूसरी ओर सकाम तप करके अर्थात् स्वेच्छा से तप कर के और सकाम मृत्यु अर्थात् इच्छित अन्तिम मृत्यु प्राप्त कर आत्मा सिद्ध-स्थिति को प्राप्त करता है।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

જે સાધક વાસનાયુક્ત છતાં પ્રવર્જિત થયો હોય અને કામનાને મનમાં રાખીને તપશ્વરણ કરતો હોય, તે અકામ મૃત્યુ પ્રાપ્ત કરીને નરકમાં જાય છે. બીજા બાણ સકામ તપ કરીને અર્થાત્ પોતાની ઉચ્છાથીજ તપ કરીને અને સકામ મૃત્યુ એટલે કે અન્તિમ મૃત્યુ પ્રાપ્ત કરીને આત્મા સિદ્ધપદવીને પ્રાપ્ત કરે છે.

અકામ કી હી માતિ સકામ શબ્દ મી દો અર્થો મેં વ્યવહાર હૈ । પહ્લા અર્થ હૈ જિસ સાધક કે અન્તર્મન મેં વાસના કી ચિનગારી નહીં બુઝી હૈ ઓર उसी वासना और उसके प्रसाधनों को सहस्र गुणित रूप में पाने के लिए जो साधना करता है, किन्तु वह वासना की चिनगारी समय पाकर ज्वाला का रूप ले सकती है और वही ज्वाला नरक की ज्वाला के रूप में परिणत भी हो सकती है । सकाમ तप का दूसरा अर्थ है - स्नेच्छा से किया गया तप, जिसमें बाहरी दिखाव न हो । परिस्थिति या पराधीनता के कारण भूला रहना तप है अवश्य, किन्तु उसकी गणना अकाम तप में है । किन्तु जिसके पीछे विवेक की मशाल जल रही है, साधक की अन्तरात्मा तप की प्रेरणा दे रही है, ऐसा स्नेच्छित आरम साधना का हेतु बन सकता है और नर तप सिद्धिस्थिति की प्राप्ति का साधन कारण भी बनता है ।

સકામ ઓર અકામ સાધના દોનોં મોક્ષ હેતુક હો સકતી હૈ, યદિ વસકે પીછે સદુદ્દેશ્ય કામ કર રહા હૈ । અન્યથા દોનોં હી નરક કે મી હેતુ હૈ । અતઃ કિયા કા બાહરી રૂપ અન્તઃશુદ્ધિ કા માનદંડ નહીં હો સકતા । અપિતુ વસકે પીછે રહી હુઈ અન્તર્માર્ચના કિયા કી શુદ્ધતા ઓર અશુદ્ધતા કા માનદંડ હોતા હૈ ।

एवं से बुद्धे । मतार्थः ।

वाङ्मनामज्झयणं समत्तं

इति वाङ्म-अर्हतर्षि-प्रोक्तं चतुर्विंशं अध्ययनम्

મધુરાજ-અર્હતર્ષિ પ્રોક્ત

સાત નામક પંચદશ અધ્યયન

કોઈ મી આત્મા દુઃખ નહીં યાહતા, ફિર મી દુઃખ કા નિમગ્ન વહી સ્વયં લેતા હૈ । દુઃખ બહુરૂપિયા હૈ । વહ વિભિન્ન રૂપો મેં આતા હૈ । કમી વહ શાન્તિ કે રૂપ મેં આતા હૈ । ઊપર સે સુખ કા રૂપ દિખાઈ લેને વાલા કાર્ય કમી કમી અપને અન્તર મેં અશાન્તિ કી આગ લેકર આતા હૈ । ભૌતિક સુખ હસી પ્રકાર કા સુખ હૈ । વસકે હર કદમ કે સાથ દુઃખ બંધા હુઆ હૈ । દુઃખ કી ડરીરણા કૌન કરતા હૈ ? હસી પ્રશ્ન કા સમાધાન પ્રસ્તુત અધ્યાય કરતા હૈ ।

સિદ્ધિઃ । સાતાદુઃખેણ અભિભૂતે દુઃખ્ણી દુઃખ્ણં ડરીરેતિ, અસાતાદુઃખેણ અભિભૂત દુઃખ્ણી દુઃખ્ણં ડરીરેતિ ? સાતાદુઃખેણ અભિભૂત જાવણો અસાતાદુઃખેણ અભિભૂત દુઃખ્ણી દુઃખ્ણં ડરીરેતિ । સાતાદુઃખેણ અભિભૂતસ્સ દુઃખ્ણો દુઃખ્ણં ડરીરેતિ, અસાતાદુઃખેણ અભિભૂતસ્સ દુઃખ્ણો દુઃખ્ણં ડરીરેતિ । સાતાદુઃખેણ અભિભૂતસ્સ દુઃખ્ણો દુઃખ્ણં ડરીરેતિ । પુચ્છાય ય યાગરણં ચ ।

અર્થ :—સાતા દુઃખ સે અભિભૂત આત્મા દુઃખ કી ડરીરણા કરતા હૈ ? યા અસાતા દુઃખ સે અભિભૂત દુઃખી આત્મા દુઃખ કી ડરીરણા કરતા હૈ ? સાતા ઓર અસાતા દુઃખ સે અભિભૂત આત્મા દુઃખ કી ડરીરણા નહીં કરતા । સાતા દુઃખ સે અભિભૂત દુઃખી આત્મા દુઃખ કી ડરીરણા કરતે હૈ, અસાતા દુઃખ સે અભિભૂત દુઃખી આત્મા દુઃખ કી ડરીરણા કરતે હૈ । પૃચ્છા ઓર હસકા વ્યાકરણ અર્થાત્ પ્રશ્ન ઓર વસકે ઉત્તર યહાં દિય ગયે હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

શાન્તિના દુઃખથી અભિભૂત આત્મા દુઃખની ઉદીરણા કરે છે કે અશાન્તિના દુઃખથી દુઃખી આત્મા દુઃખની ઉદીરણા કરે છે ? શાન્તિ અને અશાન્તિના દુઃખથી દુઃખી આત્માઓ દુઃખની ઉદીરણા કરે છે અશાન્તિના દુઃખથી અભિભૂત દુઃખી આત્માઓ દુઃખની ઉદીરણા કરે છે પ્રશ્ન તથા તેના ઉત્તર અહીં આપવામાં આવેલ છે.

संसारस्थ आत्माएँ दुःखी हैं तो प्रश्न उठता है कि दुःख को निमन्त्रण कौन देता है ? साता दुःख से दुःखी आत्मा दुःख को निमन्त्रण देता है अथवा असाता दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उद्दीरणा करती है। दुःख दो रूप से आता है—एक सुख के द्वारा दूसरा दुःख के द्वारा। आत्मा जब सुख में पागल बनता है, तब दुःख को निमन्त्रण देता है; अति सुख दुःख में परिवर्तित हो जाता है। रावण और दुर्योधन सुख से ही पागल थे। उनका सुख ही दुःख लेकर आया। दूसरी ओर दुःख कभी असाता के द्वारा भी आता है। असाता के उदय में जब व्यक्ति धैर्य को खो बैठता है और निमित्त पर आक्रोश करने लगता है तब वह उस दुःख के साथ दूसरे दुःख को निमन्त्रण देता है।

यहाँ ही प्रश्न है कि सुख में पागल बनी व्यक्ति दुःख को निमन्त्रण देता है या दुःख में पागल बने व्यक्ति दुःख को निमन्त्रण देते हैं ?

पहला प्रश्न एक वचन में है, फिर वही प्रश्न बहुवचन में दुहराया गया है; एक वचन के लिए इनकार कर दिया गया है, क्योंकि एक ही व्यक्ति संसार में साता या असाता दुःख से दुःखी नहीं है। बहुवचन में पूछे गए प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि साता दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख की उद्दीरणा करता है। पर यह विषय अस्पष्ट है, क्योंकि क्या असाता दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख की उद्दीरणा नहीं करता ?

टीका :—शातं सुखं तस्मादुत्पद्यं दुःखं शातं दुःखं किं तेनाभिभूता अशाता दुःखेनाभिभूतो दुःखी दुःखं उद्दीरयतीति पृच्छा नशात् दुःखेनाशात् दुःखेनेत्युत्तरं। उद्दीरणाहेतोः निःसारत्वादित्यर्थः संभाव्यते। अपरा पृच्छा यथा किं दुःखी शातं दुःखेनाभिभूतस्तोताशात् दुःखेनाभिभूतस्य परस्य दुःखिनो दुःखमुद्दीरयतीति शाताभिभूत इत्युत्तरं दुःखिनोऽभिभवपूर्वसुखी भावात्। पृच्छा च व्याकरणेति प्राचीनटिप्पणी।

शात अर्थात् सुख। उससे उत्पन्न होने वाला दुःख शात दुःख है।

१ प्रश्न :—शात दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उद्दीरणा करता है अथवा अशात दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उद्दीरणा करता है ?

उत्तर :—शात दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख की उद्दीरणा नहीं करता। क्योंकि उद्दीरणा का हेतु निर्बल है। इस प्रकार अर्थ की समावना की जाती है।

२ प्रश्न :—दुःखी व्यक्ति दूसरे किसी शात दुःख से अभिभूत दुःखी व्यक्ति के दुःख की उद्दीरणा करता है अथवा अशात दुःख से दुःखी की ?

उत्तर :—शाताभिभूत व्यक्ति के दुःख की उद्दीरणा करती है। क्योंकि वर्तमान में वे दुःख का अनुभव कर रहे हैं, किन्तु पहले वे सुखी थे। पृच्छा और व्याकरण प्रश्न और उत्तर यह प्राचीन टिप्पणी है।

प्रोफेसर जार्जिंग् इस विषय में अपना भिन्न मत रखते हैं। सब दुःख शात दुःख से यह अर्थ समझा जा सकता है कि विषयप्रियता से जन्म लेने वाला दुःख यही लिया गया है। यहाँ प्रश्नवाचक कृदन्त नहीं है। यहाँ प्रश्न और उत्तर दिए गए हैं।

१. जो शारीरिक या मानसिक नाराजगी प्रगट करता है यह मानसिक प्रियता या अप्रियता का परिणाम है। (वह ज्यादा उपयोगी नहीं है।)

२. जिसे इस प्रकार का प्रत्याघात लगता है, वह पूरी तरह से दुःख से आवृत है।

३. इस दुःख को हम कर्म का असर कह सकते हैं। गद्य का मूल लेख नवम अध्ययन की ही भांति कर्म फिलोसोफी के अनुरूप है।

जो कर्म अशान्त अस्पन्दन शील हैं, वे ही उदय में आते हैं। अतः उन्हें उद्दीरित करने की आवश्यकता नहीं है।

संतं दुःखी दुःखं उद्दीरेद्। असंतं दुःखी दुःखं उद्दीरेति। संतं दुःखी दुःखं उद्दीरेद्। साता-दुःखेण अभिभूतस्य उद्दीरेति णो असंतं दुःखी दुःखं उद्दीरेद्। मधुरायणेण अरहता इसिणा सुखं।

अर्थ :—प्रश्न :—दुःखी व्यक्ति शान्त बाधा रहित दुःख की उद्दीरणा करता है या अशान्त दुःख की ?

उत्तर :—दुःखी व्यक्ति शान्त दुःख की ही उद्दीरणा करता है। क्योंकि उद्दीरित की उद्दीरणा निरर्थक है।

શાંત દુઃખોં સે હી અભિભૂત વ્યક્તિ કે કર્મોં કી ઉદીરણા હોતી હૈ । અશાન્ત દુઃખી દુઃખ કી ઉદીરણા નહીં કરતા । ક્યોંકિ કર્મ કી ઉદીરણા સે હી તદ્દુઃખી હુઆ હૈ । અતઃ પિત્ર તે ઉદીરણા તા કોઈ પણ હી નહીં ઉઠતા, એસા મધુરાજ અર્હતર્ષિ બોલે ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

પ્રશ્ન :— દુઃખી વ્યક્તિ શાન્ત આધારહિત દુઃખની ઉદીરણા કરે છે કે અશાન્ત દુઃખની ?

જવાબ :— દુઃખી વ્યક્તિ શાન્ત આધારહિત દુઃખની જ ઉદીરણા કરે છે. કારણકે ઉદીરિત ઉદીરણા નિર્થક છે.

શાંત દુઃખોથી જ અભિભૂત વ્યક્તિના કર્મોની ઉદીરણા થાય છે. અશાન્ત દુઃખી દુઃખની ઉદીરણા નથી કરતો. કારણ કે કર્મની ઉદીરણાથી જ તે દુઃખી થયો છે, તેથી ફરીથી ઉદીરણાના કોઈ પ્રશ્ન જ ઉપસ્થિત થતો નથી. એમ મધુરાજ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

કર્મ પ્રવેશ આત્મા કે સાથ બદલે હોતે હૈ । કુલ કાલ તક નિશ્ચલ પડે રહતે હૈ । उन्हें 'શાન્ત કર્મ' कहा जाता है । शान्त કર્મ હી શાન્ત દુઃખ હૈ । उसी के संबन्ध में यहाँ प्रश्नोत्तर किए गए हैं ।

પ્રશ્ન :—જિનકે કર્મ શાન્ત ઔર નિશ્ચલ અવસ્થા મેં પડે હુએ હૈં એસા આત્મા મી ભવિષ્ય કી અપેક્ષા સે દુઃખી હૈ, વહ શાન્ત દુઃખ કી ઉદીરણા કરતા હૈં યા અશાન્ત દુઃખ કી ? । અર્થાત્ નિશ્ચલ કર્મ કી ઉદીરણા હોતી હૈં યા ચલિત કર્મ કી ? ।

ઉત્તર :—શાન્ત દુઃખ કી હી ઉદીરણા હો સકતી હૈં । ક્યોંકિ જો કર્મ ચલિત હો તુકે હૈં, ઉદીરણા મેં આ તુકે હૈં, ડનકી ઉદીરણા હી કયા હોગી ? ।

શાંત દુઃખ ઔર અશાંત દુઃખ કી ઉદીરણા કા પ્રશ્ન પહેલે ચર્ચા ગયા હૈં उसका ही उपसंहार करते हुए मधुराज अर्हतर्षि कहते हैं—शान्त दુःख से अभिभूत आत्मा के कर्मों की उदीरणा होती है । अशान्त दुःखी दुःख की उदीरणा नहीं करता ।

ટીકા :—પુનઃ પૃચ્છા યથા — કિં શાન્તે આધારહિતં દુઃખં દુઃખી ઉદીર્યત્યુત્તરશાન્તમ્ ? ઇતિ । શાન્તમેવેત્યુત્તરમુદીરિતસ્યોદીરણાઃ, નિર્થકત્વાત્ । ગતમર્થમ્ ।

दुःखेण खलु भो अप्यहीणेण जीए आगच्छंति हृत्थच्छेयणां पादच्छेयणां एवं गधमज्जयणं गमयणं जेयध्वं जाध सासतं निव्वाणमभुधगता चिदंति णवरं दुक्खाभिलाषो ।

અર્થ :—દુઃખ સે અવિમુક્ત આત્મા સંસાર મેં પુનઃ આતા હૈં ઔર उनका हस्त-छेदन होता है, पाद-छेदन होता है । शेष नवम अव्ययनवत् समझना चाहिए, यावत् शाश्वत निर्वाण प्राप्त करते हैं विशेष वहाँ जीव की सकर्मक दशा को दुःख का मूल बताया गया है । यहाँ दुःख युक्त आत्मा का निरूपण है ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

દુઃખથી મુક્ત ન થયેલો આત્મા સંસારમાં ફરીથી આવે છે અને તેના હાથ કપાય છે, પગ છેદાય છે. નવમા અવ્યયન મુજબ સમજવું જોઈએ શાશ્વત (હંમેશનું) મૃત્યુ પ્રાપ્ત કરે છે. વધુ ત્યાં જીવની સકર્મક (કર્મસાથેની) દશાને દુઃખનું મૂળ કહેવાયું છે. અહીં દુઃખથી ભરેલ આત્માનું નિરૂપણ છે.

पावमूलमणिध्वाणं संसारे सच्चदेहिणं ।

पावमूलाणि दुक्खाणि पावमूलं च जम्मणं ॥ १ ॥

અર્થ :—સંસાર કે સમસ્ત દેહ-ધારિયોં કા અનિર્વાણ ભવ-ભ્રમણ કા મૂલ પાપ હૈં ઔર સમસ્ત દુઃખોં કી સૃષ્ટિ મી પાપમૂલક હી હૈ, જન્મ એવં ચ શબ્દ સે ગ્રાહ્ય મૃત્યુ પાપમૂલ હૈં ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

સંસારના દરેક દેહધારીઓનું ભવભ્રમણનું મૂળ પાપ છે અને દરેક દુઃખની સૃષ્ટિ પણ પાપજ છે. જન્મ એવા શબ્દથી અહણ કરાયેલું મૃત્યુ પાપનું મૂળ છે.

मिलाइ अध्ययन २ गाथा ७ । केवल मोह शब्द विशेष है ।

संसारे दुक्खमूलं तु पावं कम्मं पुरेकडं ।

पावकम्मणिरोधाय सम्मं भिक्खू परिव्वप ॥ २ ॥

अर्थ :—संसार में दुःख का मूल पूर्वभव कृत पाप है । कर्म के निरोध के लिए सिद्ध सम्यक् प्रकार से विचरण करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

संसारमा दुःखनु भूण पडेवा (पूर्व) करेवा पाप छे. पापकर्मना अटकाव करवा माटे साधु सारी रीते आचरण करे.

सभावे सति कंदस्स ध्रुवं वल्लीय रोहणे ।

बीजं संबुज्जमानंमि अंकुरस्सेव संपदा ॥ ३ ॥

अर्थ :—वृक्ष के स्कंध का सद्भाव होने पर लता उस पर अवश्य ही चढ़ेगी । बीज के विकसित होने पर अंकुरों की संपदा अवश्य आएगी ।

गुजराती भाषान्तर :—

वृक्षना पला(डाग्रीओ)नो सहभाव होवाथी वेखो तेना छपर अवश्य चढे. बीजना वधवाथी अंकुरो जरुर फूटथे.

लता का स्वभाव ऊपर चढ़ना है । यदि उसे वृक्ष-स्कंध का आश्रय मिल जाता है वह ऊर्ध्वमुखी होकर प्रगति करती है । बीज में दल-चल आना अंकुर संपत्ति का हेतु है । यदि पाप का स्कंध है तो दुःख की लता उस पर जरुर आरोहण करेगी और बीज है तो उसके विकसित होने पर नए अंकुर आवेंगे ही ।

टीका :—स्कंधस्यैव सति स्वभावे ध्रुवं निःशंकं बह्यारोहणं भवति । बीजे समुज्जमानेऽप्यंकुरस्सेव संपद् भविष्यति । गतमर्थम् ।

सभावे सति पावस्स ध्रुवं दुक्खं पसूयते ।

पासतो मट्ठिया पिंडे णिवत्ती तु घडादिणं ॥ ४ ॥

अर्थ :—पाप का सद्भाव होने पर निश्चित ही उसमें से दुःख की उत्पत्ति होगी । मृत्तिका पिंड के अभाव में घटादि की रचना संभव नहीं । मृत्पिंड है इस लिए घटादि उत्पन्न हो सकते हैं । पाप है इसलिए दुःख की सृष्टि है ।

गुजराती भाषान्तर :—

पापनु अस्तित्व (हाजरी) होवाथी थोडकस तेमांथी दुःखनी उत्पत्ति थरे. माटीन न होय तो घडा वगैरे बनाववानुं न बनथे नही.

दर्शन के क्षेत्र में पदार्थों की उत्पत्ति के संबन्ध में दो प्रकार की विचार-धाराएँ हैं । प्रथम वह है जो कारण में कार्य का सद्भाव मानती है । इसे हम सत्कार्यवादी के नाम से पुकारते हैं । दार्शनिक जगत् सांख्यवादी दर्शन कहता है । उसका तर्क है कि कार्य अपने कारण में सत् रूप से उपस्थित है । किन्तु निमित्त उसको मूर्त रूप देता है । यह दर्शन कार्य और कारण में समेद मानता है । कारण में कार्य पहले से ही उपस्थित है, पर वह अव्यक्त रूप में है । पट तंतु में उपस्थित है, वह अव्यक्त रूप में था; किन्तु तंतुओं के संयोग से व्यक्त हो गया । यदि पट तंतुओं में था ही नहीं तो आया कहाँ से ? क्योंकि असत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती ।

दूसरी ओर असत् कार्यवादी नैयायिक दर्शन है । इसका अपना पक्ष है । कारण और कार्य दो भिन्न वस्तुएँ हैं । कारण से कार्य होता है । दोनों पूर्वापरवर्ती हैं । अतः दोनों में भेद भी निश्चित है । तन्तुओं से पट बनता है, तो तंतु एक भिन्न वस्तु है और पट एक स्वतंत्र वस्तु है । लज्जा-निवारणादि जो कार्य पट से हो सकता है, वह तन्तुओं से नहीं हो सकता । यदि पट में तन्तु पहले से ही विद्यमान हैं तो फिर वह हमें दिखाई क्यों नहीं देता और उससे शरीराच्छादनादि किया क्यों नहीं होती ? साथ ही तंतु में पट मौजूद है ही तो वस्त्र-निर्माण की प्रक्रिया ही व्यर्थ जाएगी ।

जैन दर्शन दोनों के समन्वय में विश्वास रखता है, क्योंकि वह एकान्त का उपासक है । सत्कार्य-वाद की अपेक्षा कहा जा सकता है कि मृत्तिका के पिंड में क्या प्रकृति रूप में मौजूद है । आकृति का वहाँ अभाव है । इसी प्रकार अज्ञा अशुभ वृत्ति है दुःख उसी में मौजूद है । किन्तु उसका सद्भाव मानना ही होगा, भले ही वह अव्यक्त रूप से ही क्यों न हो ? । अतः दुःख के मूलोच्छेद के लिए आत्मा को पाप प्रवृत्ति का ही मूलोच्छेद करना होगा ।

सभावे सति कंस्स जहा वल्लीय रोहणं ।

बीयातो अंकुरो चेध दुक्खं वल्लीय अंकुरा ॥ ५ ॥

अर्थ :—जैसे कंद के सद्भाव में ही लता पैदा होती है और बीज से अंकुर फूट पड़ते हैं, उसी प्रकार पाप रूप लता से दुःख अंकुरित होते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

जेवी रीते ऊँ छोय तो न येव पेदा थाय छे अने भीजथी अंकुर फूटे छे तेवी न रीते पाप रूप येवथी दुःख अंकुरित थाय छे.

जहां कंद होगा वहां लता अवश्य होगी और बीज को मिट्टी और पानी का सहयोग मिला तो उसमें से अंकुर फूट पड़ेंगे । इसी प्रकार जहां पाप की उपस्थिति है वहां दुःख की लता अवश्य ही पैदा होगी ।

पावघाते हतं दुक्खं, पुप्फघाण जहा फलं ।

विद्धाण मुद्धसूर्देण कतो तालस्स संभवे ? ॥ ६ ॥

अर्थ :—जैसे फूल को कुचल देने पर फल स्वतः नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार पाप को नष्ट कर देने से दुःख भी समाप्त हो जाता है । सूई के द्वारा ताड़ के ऊर्ध्व भाग को बिंध दिया जाए फिर ताड़ वृक्ष का विनाश निश्चित ही है ।

गुजराती भाषान्तर :—

जेवी रीते फूलने डबडी जायतां इत जते न नाश भवे छे तेवी रीते पापने नाश करेतां दुःख पोतानी भेणे न नष्ट थाय छे. सोईथी ताड़ना आउने छेपवा आउने वीधी देवाथी ताड़ने नाश थया वगर रहे नही.

टीका :—पावघाते हतं दुक्खं यथा फलं हतं पुप्फघाते कृते । कुतस्सालफलस्य संभवो विद्धायां सस्यां मूर्धसूर्च्या हते तालपादपस्य शिखरे तालफलानि हुमस्याग्रे पच्यन्ते इति प्रसिद्धं ।

पाप के नष्ट कर देने पर दुःख उसी प्रकार से नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कि फूल को नष्ट कर देने पर फल । यदि ताड़ के शिखर भाग को बिंध दिया जाय तो ताड़ का फल कभी नहीं पैदा हो सकता, क्योंकि ताड़ फल वृक्षाग्र पर ही पकते हैं जो कि प्रसिद्ध है ।

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।

फलत्थी सिंचण मूलं, फलघाती न सिंचति ॥ ७ ॥

अर्थ :—जड़ के सिंचन करने पर फल प्राप्त होता है और मूल पर प्रहार करने से फल स्वतः नष्ट हो जाता है । फलार्थी फूल को सींचता है फल-घातक मूल का सिंचन नहीं करता है । विशेष देखिए अध्ययन २ गाथा ६ ।

गुजराती भाषान्तर :—

मूलनुं सिंचन करवाथी इणनी प्राप्ति थाय छे अने मूल पर प्रहार करवाथी इण स्वतः नाश पावे छे. इधने याहनार मूलने सींचे छे, इणघातक मूलनुं सिंचन करतो नथी. वधारा भाटे छुओ अध्ययन २ गाथा ६.

दुक्खतो दुक्ख-घाताय, दुक्खावेत्ता सरीरिणो ।

पडियारेण दुक्खस्स दुक्खमण्णं णिबंघई ॥ ८ ॥

अर्थ :—दुःख की अनुभूति करते हुए दुःखामिभूत देहधारी दुःख का विघात चाहते हैं । किन्तु एक दुःख के प्रति-कार करने पर दूसरे दुःख का निबन्धन कर लेते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

दुःखना अनुसव करवावाणा दुःखथी पीडित प्राणी दुःखना नाश भाटे धिच्छा रावे छे, अने ओउ दुःखनो नाश करेतां भील दुःखोने नीतरे छे.

दुःखवेदन शील आत्मा दुःख-मुक्ति के लिए प्रति क्षण प्रयत्नशील रहता है । किन्तु होता यह है कि एक दुःख से मुक्त होने के लिए किया गया उपचार नए दुःख का द्वार बन जाता है । आज प्रायः यही होता है । एक बीमारी को दवाने के लिए डॉक्टर इन्जेक्शन देता है वह पूर्ण रूप से दबती भी नहीं है कि दूसरी बीमारी के अंकुर फूट निकलते हैं ।

आध्यात्मिक दृष्टि भी बताती है, कि अज्ञानाभिभूत आत्मा एक दुःख से मुक्त होने की चेष्टा करती है तभी वह शतशः दुःखों की नई परम्परा के द्वार खोल देता है। अज्ञानवेदनीय से मुक्त होने के लिए वह हिंसात्मक उपचार करता है फलतः कर्मों की नयी जंजीरों से पुनः आवद्ध हो जाता है।

टीका:—दुःखितो दुःखवातार्थमन्यं कंचिच्छरीरिणं पुरुषं दुःखीकृत्वा वेदनां प्रापयित्वा एकस्य दुःखस्य प्रतिकारेणान्यद् दुःखं निबध्नातीति विरोधः।

दुःखी व्यक्ति दुःख-नाश के लिए किसी अल्प शरीरधारी पुरुष को दुःख का दाता मान कर उसे वेदना देकर एक दुःख का प्रतिकार करना चाहता है, किन्तु उस के द्वारा दूसरे दुःख का बन्धन करता है, किन्तु यह विरोध है।

दुःखं मूलं पुरा किञ्चा, दुःखमासज्ज सोयती।

गहितमि अणे पुर्वि अदइत्ता ण मुञ्चइ ॥ ९ ॥

अर्थ:—आत्मा दुःख के बीज को पहले बोता है, फिर दुःख को प्राप्त करने के बाद शोक करता है। पहले ऋण लिया है तो उसको लौटाए बिना वह मुक्त नहीं हो सकता है।

गुजराती भाषान्तर:—

आत्मा दुःखना बीजने पड़ेलां पावे छे अने पछी दुःख प्राप्त करे छे अने शोक करे छे. पड़ेलांनुं ऋण आधी छे तो पछी ते यूँक्या पड़ेलां मुक्त थर्छे शक्तो नथी.

आत्मा मन के क्षेत्र में हजारों बीज प्रति क्षण डाल रहा है। किन्तु वह भुलकड़ माली है जो बीज डाल कर फिर उस पर ध्यान नहीं देता है। किन्तु बीज डाला है तो वह अवश्य ही एक दिन विशाल वृक्ष बन कर तैयार होगा, विष वृक्ष के कट्ट फल जब उसके सामने आते हैं तब वह हाय हाय करता है, रोता और तड़पता भी है। किन्तु एक बार ऋण लिया है तो उसको लौटाए बिना मुक्ति नहीं है।

आहारत्थी जहा बालो, वण्ही सर्पं च गेण्हती।

तहा मूढो सुहत्थी तु, पावमणं पकुब्बती ॥ १० ॥

अर्थ:—यदि बुभुक्षित बालक आग और सर्प को पकड़ता है तो वह संकट को ही निमग्नण देता है। इसी प्रकार सुख चाहने वाला अज्ञानी आत्मा नए पाप करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

जे भूँयो (अज्ञानी) आणक जे आग के सर्पने स्पर्श करे तो ते आइतने ज नोतरे छे. तेवी ज रीते सुख भेणववा भाटे कोशिश करनार अज्ञानी आत्मा नवा पापो करे छे.

नन्हा बालक यदि अनार का दाना समझ कर अंगारों को खाना चाहे तो वह कष्ट ही पाएगा। बूढ़ा पिढारे को देखता है और सोचता है इसमें अवश्य ही मोदक होंगे और वह अपने दांतों से पिढारे को कुतर कर उसमें प्रवेश करता है। वह जाता तो है लड़खड़ा खाने, परन्तु स्वयं सौंप का मस्य बन जाता है। इसी प्रकार अज्ञान के अन्धकार में भटकता हुआ आत्मा सुख मानकर जिसको अपनाता है वही उसके लिए कष्ट दायी बन जाता है और वह सुख की मृग-सृष्णा में दौड़ता हुआ अगणित पापों को एकत्रित कर लेता है जो कि दुःख के बीज होते हैं।

पावं परस्स कुब्बंतो हसती मोहमोहितो।

मच्छो गलं मसंतो वा विणिघातं ण पस्सती ॥ ११ ॥

अर्थ:—जब मोह-मोहित आत्मा दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता है, उस समय आनन्द का अनुभव करता है। मच्छी आटे की गोली गले में उतारती हुई आनन्द पाती है, किन्तु उसके पीछे छिपी हुई अपनी मौत को वह नहीं देखती है।

गुजराती भाषान्तर:—

ज्यारे मोहमुग्ध आत्मा बीजने (नुकसान पहुँचाववा) भाटे पाप करे छे ते समये तो ते आनंद अनुभव छे. जेम भाछवी पकड़वाना आंकडा उपरना दोटनी गोणी गणामा उतारता आनंद पावे छे, परंतु तेनी पाछण छुपायेवी पोतानी मौतने ते जेतो नथी.

प्राचीन काल में धीवर लोग मछली पकड़ने के लिए एक प्रकार का कांटा बनाते थे, और उस पर आटे की गोली लगा देते थे। जब वह कांटा पानी में डाला जाता तो आटे को खाने के लिए मछली आती थी, किन्तु ज्यों ही वह गोली को निगल जाना चाहती त्यों ही आटे में छिपा हुआ आटा उसके गले को बिंध देता। इसी प्रकार मोह युक्त आत्मा स्वजन परिजन के लिए अनीति और अत्याचार के द्वारा सम्पत्ति का संग्रह करता है। किन्तु भोला मानव उसी भूखी मछली की भांति है जो आटे को देखती है, कांटे को नहीं। वह व्यक्ति सम्मुख रहे हुए आनन्द को ही देखता है किन्तु उस क्षणिक आनन्द के पीछे आने वाली दुःख की परम्परा को नहीं देखता है।

पच्युष्णणरसे भिद्यो मोहमल्लपणोल्लितो ।

दिसं पावति उक्कंठं चारिमज्जे च वारणा ॥ १२ ॥

अर्थः—मोहमल से प्रेरित आत्मा वर्तमान भोग के आनन्द में लुब्ध होता है और पानी में रहे हुए हाथी की भांति वह मोह-मोहित आत्मा दीप्त उत्कंठा अथवा उत्कृष्ट उत्तेजन को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तरः—

मोहभी मल्ल (पहेलवान) थी प्रेरित आत्मा लोभना तात्कालिक आनन्दमां लुब्ध थाय छे, अने पाखीमां रहेवा हाथीनी माझ मोह-मोहित आत्मा हीस उत्कंठा अथवा उत्कृष्ट उत्तेजनाने प्राप्त करे छे।

मोह-युक्त व्यक्ति केवल वर्तमान के सुख में आनन्द मानता है। भविष्य में होने वाले कष्ट परिणामों की ओर से आँख मूंद लेता है। जिस प्रकार हाथी पानी में रह कर मद-मस्ह हो जाता है, उसी प्रकार मोह के कीचड़ में फँस कर आत्मा अधिक मोहान्ध हो जाता है।

परोवघाततल्लिच्छो दप्प-मोह-मल्लदुरो ।

सीहो जरो दुपाणे वा गुण-दोसं न विदती ॥ १३ ॥

अर्थः—दर्प रत्न मोह मल्ल से उत्पन्न करी हुई, स्थिति दूसरे के घात में आनन्दित होता है। जैसे वृद्ध सिंह उन्मत्त हो कर विवेक खो बैठता है और निर्बल प्राणियों की हिंसा करता है। इसी प्रकार मोहोन्मत्त मानव गुण-दोष का विवेक भूल जाता है।

गुजराती भाषान्तरः—

दर्पभी मोहमल्लथी उद्धत थयेली व्यक्ति भीलना मुकसानमां आनन्द पाये छे, जेवी शीते वृद्ध सिंह उन्मत्त अनीने विवेक ओर्ध असे छे अने निर्बल प्राणीओने नाश करे छे, तेवी ज शीते मोहोन्मत्त मानवी गुणदोषनो विवेक भूली अय छे।

मोह विवेक की ज्योति को बुझा देता है, मोह-मदिरा है, जो पीता है उसे पागल बना देता है। उसका मन अहंकार के मद से मत हो उठता है। अहंकारी व्यक्ति अपने में बहुत बड़ी शक्ति मानता है और दूसरे को सदैव निर्बल मानता है। जब कभी उसके अहं पर ठेस लगती है वह भूखे भेड़िए की तरह उस पर दूट पड़ता है।

जैसे विक्षिप्त वृद्ध व्याघ्र दुष्प्राण दुर्बल प्राणियों का संहार करता है इसी प्रकार मोह-मत्त मानव विवेक भूल कर दूसरों के व्याघात के लिए तत्पर हो जाता है।

टीकाः—परोवघातपरो दर्पमोहमल्लैरुद्धो उद्धतो गुणदोषान् न विदति। यथा वृद्धः सिंह उद्धाने गतः प्राणिनो हन्ति विवेकमकृत्वा यदि वा यथा सिंह एकस्मिंशाभ्ययनकथितः परं जिघांसते। गतमर्थम्।

विशेष इक्कीसवें अध्यायन में भी सिंह का रूपक आया है कि किसी प्राणी के शिकार में वह किस प्रकार अपने प्राण खो देता है।^१

सघसो पावं पुरोकिञ्चा दुक्खं वेदेति दुम्मती ।

आसत्तकंठपावो(सो) वा मुक्कधारो दुहट्ठिओ ॥ १४ ॥

अर्थः—पूर्व कृत पाप के बन्दीभूत हो कर दुर्बुद्धि आत्मा दुःख का अनुभव करते हैं। आकंठ पाप में आसक्त रहने वाला कष्टों और विपदाओं की धारा में अपने आप को छोड़ देता है।

गुजराती भाषान्तर:—

पूर्व जन्मों में कहेલા पापने वश भईने दुर्भुद्धि आत्मा दुःખनो अनुभव ले छे. गाढ़ पापमें आसक्त रहेनार कष्ट अने विपत्तिना प्रवाहमें स्वयं पोताने नाभी दे छे.

आत्मा स्व-वश हो कर पाप करता है। पाप-प्रवृत्ति के लिए उसे दूसरा कोई प्रेरित नहीं करता है। किन्तु उसकी अशुभ परिणति ही उसे उस ओर प्रेरित कर देती है। वह चाहे तो दुर्वासनाओं को रोक सकता है। किन्तु उसकी स्वार्थ बुद्धि उसे ऐसा करने से रोकती है। परिणामतः वह दुर्वासना के प्रवाह में बह जाता है और पाप-कर्म का बन्धन कर लेता है। किन्तु उसके प्रतिफल भोगने में वह स्वतंत्र नहीं है। वह चाहे या नहीं चाहे, किन्तु उसको फल भोगने के लिए तैयार रहना ही होगा।

पापं जे उपकुब्धंति, जीया सत्ताणुगामिणो ।

बहुती पायकं तेसि अणग्गाहिस्स पा अणं ॥ १५ ॥

अर्थ:—सुखेच्छु आत्माएँ सुख के लिए पाप करते हैं, किन्तु जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण बढ़ता ही जाता है वैसे ही सुखार्थी आत्मा का पाप भी बढ़ता जाता है।

गुजराती भाषान्तर:—

सुख आह्वानार आत्माओ सुख भोगवा भाटे पाप करे छे. पणु केवी रीते करण देवावाण। पर दररोण देवुं वधतुं न जय छे; तेण प्रभाणु सुखार्थी आत्मानुं पाप पणु दररोण वधतुं जय छे.

आत्मा अनन्त युग से सुख के लिए परिश्रम करता है। उस स्वार्थी जन्य सुख की प्राप्ति के लिए जघन्य से जघन्य कृत्य भी करता है। अतः उसकी पाप परम्परा सुरसा के मुँह की भांति बढ़ती ही जाती है। वह एक ऐसा ऋणी है जो ऋण लेता ही जाता है। अथवा लौटाता भी हो तो एक हजार लौटाता है और दस हजार पुनः ले आता है। तो वह कब ऋणमुक्त हो सकता है ?

अणुबद्धमपस्संता पच्चुप्पणगवेसका ।

ते पच्छा दुक्खमण्णंति गलुच्छिन्ना मसा जहा ॥ १६ ॥

अर्थ:—जो केवल वर्तमान सुख को ही खोजते हैं किन्तु उस से अनुबद्ध फल को देखने से इनकार कर देते हैं, वे (आत्माएँ) बाद में उसी प्रकार से दुःख पाते हैं—जैसे कि गला विधी हुई मछली।

गुजराती भाषान्तर:—

जेओ इत्त वर्तमान सुखने न शोधे छे परंतु तेथी अनुबद्ध (तेने साथे जेडायेला) इणने भाटे बाणो विचार करता नथी, ते आत्माओ-गणुं बिधायेली भाछली केवी रीते पाछणधी दुःખी थाय छे-तेवी न रीते दुःખी थाय छे.

कुछ आत्माएँ वर्तमान तक सीमित होती हैं, अतीत अनागत से उपेक्षित होते हैं। वर्तमान सुख पर उनकी दृष्टि होती है। किन्तु उस सुख के साथ बंधी हुई दुःख की परम्परा को वे नहीं देखते। आँख मूंद लेने मात्र से ही कष्ट के कांटे नष्ट नहीं हो जाते हैं। मछली केवल आटे को देखती है किन्तु उसके पीछे छिपे हुए कांटे को नहीं देखती। इसीलिए तो वह भोली मछली अपना गला छिदवा लेती है।

आताकहाण कम्माणं, आता भुंजति जं फलं ।

सम्हा आतस्स अद्वाप, पायमादाय वज्जप ॥ १७ ॥

अर्थ:—आत्मा ही कर्मों का कर्ता है और आत्मा ही उसका भोक्ता है। अतः साधक आत्मा के अभ्युदय के लिए पाप को छोड़ दे।

गुजराती भाषान्तर:—

आत्मा न कर्मोंनो कर्ता छे अने आत्मा न तेनो बोक्ता छे; भाटे साधके आत्मानी आवाही भाटे पाप करवानुं न छोड़ुं जेधओ.

जैन दर्शन कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों प्रकार की शक्तियां आत्मा में स्वीकार करता है । दूसरा कोई आत्मा को बांध नहीं सकता । तो विद्वत् की कोई भी शक्ति आत्मा को मुक्त भी नहीं कर सकती है । जब आत्मा की सोई हुई चेतना जागृत होगी और अपनी शक्ति का उसे परिज्ञान होगा तो एक क्षण में जंजीरों को तोड़कर मुक्त हो जाएगा ।

सन्ते जग्मे पश्यन्ति वाहि-सोग-जरादओ ।

नासंते ब्रूते वण्ही तरुच्छेत्ता ण छिंदसि ॥ १८ ॥

अर्थ :—जन्म के सद्भाव में व्याधि, जोर और वार्धक्य आदि लक्षणों पैदा होती हैं । जन्म का अभाव होने पर समस्त लक्षणों समाप्त हो जाती हैं । यदि आग में जलने योग्य वस्तु का अभाव है तो आग जलाएगी किसे ? । अथवा यदि आग का अभाव है तो वह जलाएगी भी नहीं और यदि वृक्ष काटने वाले का अभाव है तो अकेली कुल्हाड़ी वृक्ष को नहीं काट सकती ।

गुजराती भाषान्तरः —

જન્મની હયાતીમાં વ્યાધિ, શોક અને ઘડપણ આદિ ઉપાધિઓ આવી પડે છે. જન્મ-પ્રાપ્તિનો અભાવ થતાં સમસ્ત ઉપાધિઓ નષ્ટ થઈ જાય છે, જે આગમાં બળતાણુ ન જ હોય તો આગ બાળશે કોને ? અથવા જે આગનો અભાવ હોય તો તે બાળશે પણ નહીં અને જે વૃક્ષ કાપવાવાળો જ ન હોય એકલી કુહાડી વૃક્ષને કાપી શકતી નથી.

मानव जन्म तो चाहता है कि व्याधि और उपाधि दो नहीं, यह किन्तु असंभव है, क्योंकि जन्म स्वयं उपाधि है। यह तो वैसा ही हुआ, जैसे कोई आग तो चाहता है किन्तु उसकी उष्णता को नहीं चाहता है। उष्णता को समाप्त करने के लिए आग को ही समाप्त करना होगा। यदि वृक्ष को काटने से बचना है वृक्ष के काटने वाले को ही समाप्त-दूर करना होगा। फिर हजारों कुल्हाड़ियाँ क्यों न पड़ी हों, वृक्ष के एक अंश को भी नहीं काट सकती। यदि जन्म-जन्म व्याधियों से बचना है तो जन्म से ही बचना होगा। आदमी मौत से डरता है और जन्म से प्यार करता है। किन्तु यदि मौत से बचना है तो जन्म से ही बचना होगा। जहाँ जन्म है वहाँ मौत अवश्य है। आत्मा सराग वृत्ति से हट जाए, क्योंकि वीतराग दशा आने के बाद जन्म भी समाप्त हो जाता है और मौत पहले ही मर जाती है।

दुःखं जरा य मच्छू य, सोगो माणावमणणा ।

जम्भधाते हुता होती, पुष्पधाते जहा फलं ॥ १९ ॥

अर्थ:—दुःख जरा (बुढ़ापा), शोक, मान और अपमान ये सब उसी क्षण समाप्त हो जाते हैं जब जन्म समाप्त हो जाता है। जैसे पुष्प के नष्ट कर देने पर फल खतः नष्ट हो जाता है।

गुजराती भाषान्तरः —

દુઃખ, ઘડપણ, શોક, માન અને અપમાન આ બધું તેજ ક્ષણે નાશ પામી જાય છે કે જ્યારે જન્મનો જ છેડો આવી જાય છે. જેવી રીતે ફક્તનો નાશ થતા ફળ આપોઆપ જ નાશ પામે છે.

जन्म, मृत्यु, मानापमान सभी दुःख ही हैं। किन्तु ये जन्म के पैर से बंधे हुए हैं। जन्म के समाप्त होते ही सभी समाप्त हो जाएंगे।

पत्थरेणाहतो कीचो, खिपं डसह पत्थरं ।

सिगारि ऊसरं पृष्प, सरूपति व मग्गति ॥ २० ॥

तहा बालो दुही बल्युं, बाहिरं णिवत्ती भिसं ।

दुष्कल्पपत्ति-विणालं तु सिगारि व्य ण पप्पति ॥ २१ ॥

अर्थ :—पत्थर से आहत कुम्भा पत्थर को ही काटने दौड़ता है । किन्तु जब सिंह को बाण लगता है तब वह बाण को छोड़ कर बाण के उत्पत्ति (छुटे हुए) स्थल पर क्षपटता है । इसी प्रकार अज्ञान झील आत्मा कष्ट के आने पर बाहरी वस्तु पर आक्रोश करता है । किन्तु सिंह के सदृश दुःखोत्पत्ति के हेतु को नष्ट करने का प्रयास नहीं करता है ।

गुजराती भाषान्तरः —

પતથરથી ઘવાયેલો ફૂતરો પતથરને જ બટકું લરવા દોડે છે. પરંતુ જ્યારે સિંહને બાણ લાગે છે ત્યારે તે બાણને છોડીને બાણ જ્યાંથી છુટ્યો હોય તેજ જગ્યા પર હુમલો કરે છે. તે જ પ્રમાણે અજ્ઞાનશીલ આત્મા કદ

आवतां अहारनी वस्तुषोने न ऋपुषो दे छे, परंतु सिंहीने जेम दुःखनी उत्पत्तिना असब कारणने नष्ट करवा प्रयत्न करतो नही.

विश्व के समस्त पदार्थ कार्य कारण के रूप से विमान हैं। जब किसी कार्य को समाप्त करना है तो प्रजाशील विचारक उसके कारण को समाप्त करता है। कारण के समाप्त होने पर कार्य अपने आप ही समाप्त हो जाएगा। यदि विष फल नहीं चाहते हैं तो पहले उसके विषैले पुष्प को ही समाप्त कर देना होगा। फूल नष्ट होने पर फल नष्ट हो ही जाएगा। यदि पंखे को बंद करना है तो पहले बटन को दबाइए। पंखा स्वतः बंद हो जाएगा। किन्तु यदि सीधे पंखे को हाथ लगाया तो अंगुली ही कट जाएगी। अतः विचारक वर्ग कारण और कार्य की सृष्टि को बन्द करने के लिए पहले कारण को रोकता है। कुत्ते को कोई मारता है तो वह मारने वाले को नहीं पत्थर को ही काटता है। किन्तु शेर पर कोई बाण छोड़ता है तो वह बाण पर नहीं बाण चलाने वाले पर लपटता है। ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में इतना ही अंतर होता है। अज्ञानी आत्मा पर जब कभी दुःख आता है तब वह बाहरी निमित्तों को दुःख का मूल हेतु मान कर उस पर आक्रोश करता है, मूल पर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं है। जब कि विवेक शील आत्मा पत्तों पर नहीं मूल पर ही आघात करता है।

टीका :—पाषाणेनाहतः किवः पक्षिविशेषः क्षिप्रं पाषाणं दशति मृगारिः=सिंह उषरं प्राप्य शरदस्पत्तिस्थानमेव मार्गति किमसिंहो निरर्थकं कुरुत इति भावः।

टीकार्थ :—पत्थर से आहत किव पक्षिविशेष क्षीघ्र पत्थर को काटता है जब कि सिंह बाण के उत्पत्ति स्थान को खोजता है। किंच सिंह निरर्थक करता है, यह भाव है।

टीकाकार का कहना है, कि किव पक्षिविशेष का नाम है। जब कि अन्य स्थान पर किव अर्थात् कृपण अथवा क्लिन्न अर्थात् कुत्ता ग्रहण किया गया है। किव पक्षी को पत्थर मारने का विशेष संबन्ध नहीं आता है। क्योंकि पक्षी तो आहत पत्ते ही उड़ जाता है। श्वान वृत्ति प्रसिद्ध है वह पत्थर मारने वाले को नहीं पत्थर को ही काटता है।

टीका :—तथा तेनैव प्रकारेण बालो दुःखी दुःखपीडितो बाहिरं वस्तु मृशं निन्दति, नतु दुःखोत्पत्तिविनाशो प्राप्नोति सिंह इवेति हे पदे अतिरिक्ते। गतार्थः।

वणं वर्णिह कसाय य अणं जं या वि दुट्टितं।

आमगं च उव्वहंता दुक्खं पावंति पीवरं ॥ २२ ॥

अर्थ :—व्रण अग्नि और कषाय तथा और भी जो दुष्ट कार्यों को करके बीमारियों को होते हुए व्यक्ति महान दुःख प्राप्त करते हैं।

गुजराती भाषान्तरः —

मणु, अग्नि अने कषाय तथा भीज पणु दुष्ट कार्यों करीने जिमारीने बहोरी बेवाबाणी व्यक्ति महान दुःखने प्राप्त करे छे.

सुखेच्छु व्यक्ति भोग और वासना में ही आनन्द देखता है। किन्तु वे ही भोग रोग का निमंत्रण बन कर आते हैं। तब वह व्यक्ति शरीर से पुष्ट रह कर भी मनःशक्ति और स्वास्थ्यशक्ति से क्षीण होकर दुःख और अशान्ति का अनुभव करता है।

टीका :—व्रण-अग्नि-कषायान् व्रणं चामगं ति रोगं च यद् वाप्य अन्यद् दुःस्थितं तदुद्वहन्तोऽनुभवन्तः पीवरं महद् दुःखं प्राप्नुवन्ति मानुषाः।

अर्थ :—व्रण, अग्नि, कषाय और रोग तथा अन्य दुःखों का अनुभव करते हुए मनुष्य महान दुःख को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तरः —

मणु, अग्नि, कषाय अने रोगने प्राप्त करीने तथा अन्य दुःखेनो अनुभव करता मनुष्य महान दुःखने प्राप्त करे छे.

वण्ही अणस्स कम्मस्स, आमकस्स वणस्स य।

णिस्सेसं घायिणं सेयो, छिण्णो वि रहती दुमो ॥ २३ ॥

અર્થ :—અગ્નિ ચાર પ્રકારની હોતી છે—ઋણની આગ, કર્મની આગ, બીમારીની આગ અને વનની આગ । દુઃખની જડ સંપૂર્ણ રૂપે હી નષ્ટ કરનાં વાહિયે, ક્યોંકિ ઝગર સે કાટ જાલને પર મી વૃક્ષ ફિર સે ડગ આતા હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

અગ્નિના ચાર પ્રકાર છે: ઋણની આગ, કર્મની આગ, બિમારીની આગ અને વનની આગ. દુઃખની જડ સંપૂર્ણપણે નાશ કરવી એઈએ, કારણકે ઉપરથી કાપી નાખવા છતાં વૃક્ષ ફરીથી ઉગી નીકળે છે.

ચાર પ્રકારની આગ છે—ઋણની આગ મી એક પ્રકારની આગ હી હૈ, જો હિમાલય મેં મી મનુષ્ય કો જલાતી રહતી હૈ । કમી ઋણ દાતા હસે વચનોંની આગ સે મૂનતા હૈ । પર મેં વાલક મૂલ્યની આગ મેં જલતે હૈ, વિન-રાત મેદનત કર કે કુલ્લ કમાતા હૈ; વર્ષ મર રૂબન કા પસીના કર કે કમાયા ગયા પૈસા સેઠ એક હી દિન મેં લે જાતા હૈ । અતઃ ઋણની આગ દૂર રહ કર મી મનુષ્ય કે તન ઓર મન દોનોંનોં કો જલાતી હૈ । કર્મની આગ આત્મા કે દિવ્ય ગુણોંનોં મક્ષ કર ઢાલતી હૈ । વહી કર્મની આગ તો નરકની જ્વાલા કા હેતુ બનતી હૈ । વેદના અર્થાત્ બીમારીની આગ મી એક આગ હૈ તો વનની મી એક આગ હૈ ।

દુઃખની લતા કો જડ મૂલ સે ઉઘાડ કેંકના વાહિયે । ક્યોંકિ આપે કાટે હુએ વૃક્ષ મેં સે મી નઈ નઈ કોંપલે નિકલ આતી હૈ ।

ટીકા :—વળિહસ્ત તિ વક્ત્રેઃ કર્મકર્મણઃ શામકસ્ત તિ રોગસ્ય વ્રણસ્ય ચ નિઃશેષં વાતિનાં યથાસંસ્કર્યં નિવારયિતુર્દા-તુશ્ચિકિત્સકસ્ય ચ શ્રેયઃ આનન્દો ભવતિ ગતમિતિ વક્ત્રવાદીમિ તુ કાલેન પ્રત્યાગમિષ્યન્તિ યથા મુમશ્ચિલ્લોઽપિ પુનરાસેહતિ ।

અર્થ :—અગ્નિ, ઋણ, કર્મ, રોગ ઓર વ્રણ કો સંપૂર્ણ નષ્ટ કરને વાલે કો આનન્દ મિલતા હૈ ઓર કમશઃ અગ્નિ બુજાને વાલા, ઋણદાતા ઓર ચિકિત્સક કો શ્રેય મિલતા હૈ । વહ ઠીક હૈ, કિન્તુ અગ્નિ આદિ સમય પા કર પુનઃ લૌટ સકતે હૈ ।

માસ-ચ્છણ્ણો જહા વળી, ગૂઢકોહો જહા રિપૂ ।

પાપકર્મં તદા લીળં, દુઃખસંતાનસંકટં ॥ ૨૪ ॥

અર્થ :—મસ્માચ્છાદિત અગ્નિ ઓર નિગૂઢ કોધી શત્રુ જૈસે છિપા ઘાત કરતા હૈ, હસી પ્રકાર પાપ કર્મ મેં દુઃખની પરંપરા ઓર સંકટ છિપે રહતે હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

રાખોડીમાં ઢાંકેલો અગ્નિ અને કોધી શત્રુ જેવી રીતે છૂપો હુમલો કરી શકે છે; તે જ પ્રમાણે પાપકર્મમાં દુઃખની પરંપરા અને સંકટ છૂપાયેલા રહે છે.

પ્રત્યક્ષ આગ સે મસ્માચ્છાદિત આગ અધિક મથંકર હોતી હૈ । યદિ શત્રુ કે વેષ મેં આતા હૈ તો હતના મુરા નહીં હોતા જિતના કિ મિત્ર કે વેષ મેં આયા હુઆ શત્રુ । હસકા આઘાત ગહરા હોતા હૈ, ક્યોંકિ મિત્ર કે વેષ મેં આએ હુએ શત્રુ કો હમ જહવી સે પહચાન નહીં સકતે । હસી પ્રકાર પાપ જબ કટુ રૂપ મેં આતા હૈ તબ વહ શીઘ્ર હી પહચાના જા સકતા હૈ । કિન્તુ મુલ્ય કે રૂપ મેં આયા હુઆ પાપ મિત્ર કે રૂપ મેં આયા હુઆ શત્રુ હૈ । ઓર દુઃખ એક ચતુર બહુરૂપિયા હૈ, જો હમેશા મુલ્ય કે હી રૂપ મેં આતા હૈ । જનતા હસકા સ્વાગત કરતી હૈ, કિન્તુ પીછે સે વહ દુઃખોં ઓર સંકટોંની પરંપરા હોલ જાતા હૈ ।

ટીકા :—યથા વક્ત્રિર્મસ્માચ્છલ્લો વા યથા રિપુર્ગૂઢશ્લેષો વા તથા લીળં ગૂઢં પાપકર્મં દુઃખસંતાનસંકટં ભવતિ । ગતાર્થઃ ।

પર્તિધનસ્ત વળિહસ્ત, હદામસ્ત વિસસ્ત ય ।

મિચ્છત્તે યાત્રિ કમ્મસ્ત, દિત્તા બુદ્ધી દુહાવહા ॥ ૨૫ ॥

અર્થ :—અગ્નિ કો જબ પ્રચુર ઇંધન પ્રાપ્ત હો જાતા હૈ ત્રિષ જબ હદામ હો જાતા હૈ ઓર કર્મ જબ મિચ્છાત્વ મેં પ્રવેશ કરતા હૈ તો ત્રિનોં પ્રવંઢ હો જાતે હૈ । હસ અભિષ્ટદિ કા પરિણામ આત્મા કે લિપ્ દુઃખ રૂપ હી હોતા હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

અગ્નિને જ્યારે પ્રચુર ઇંધન (અળતણુ) પ્રાપ્ત થાય છે; ત્રિષ જ્યારે સર્વત્ર (શરીરમાં) ફેલાઈ જાય છે; અને કર્મ જ્યારે મિચ્છાત્વમાં પ્રવેશ કરે છે ત્યારે ત્રણે ઘણા અયંકર થઈ જાય છે. આવી રીતે તેઓની અભિષ્ટદિનું પરિણામ આત્મા માટે દુઃખરૂપ થઈ જાય છે.

इंधन प्राप्त अग्नि शीघ्र शान्त नहीं हो सकती । विष जब शरीर के हर एक अवयवों में प्रवेश कर जाता है तब उसको दूर करने की शक्ति न तो वैद्य की पुष्टियाँओं में होती है, न डाक्टरों के इंजेक्शनों में । इसी प्रकार कर्म जब मिथ्यात्व मोह के साथ बंधता है तब वह शीघ्र स्थिति और अशुभ विपाक को लेकर आता है । शीघ्र ही उससे मुक्ति पा जाना संभव नहीं । इसीलिए मिथ्यात्व को समस्त पापों में प्रथम स्थान प्राप्त है । हिंसा का पाप निकृष्टतम है, किन्तु फिर भी हिंसा से हिंसा का विश्वास अधिक बुरा होता है । हिंसा का विश्वास मिथ्यात्व है ।

धूमहीणो य जो वण्ही, छिण्णादाणं च जं अणं ।

मंताहतं विसं जं ति, धुयं तं खयमिच्छती ॥ २६ ॥

छिण्णादाणं धुवं कम्मं, झिज्जते तं तहाहतं ।

आदित्त-रस्सि-तत्तं च, छिण्णादाणं जहा जलं ॥ २७ ॥

अर्थ :—धूमहीन अग्नि, आदान अर्थात् लेना बन्द कर दिया गया है ऐसा ऋण और मंत्राहत विष जिस प्रकार निश्चित ही समाप्त होजाता है उसी प्रकार जब कर्म का आदान अर्थात् ग्रहण वा आश्रय जब समाप्त हो जाता है तब कर्म भी निर्ज-रित हो जाता है । जैसे सूर्य की प्रखर किरणों से पानी तप्त होता है, किन्तु जब किरणों का साहचर्य छूटता है तब वह प्रकृ-तिस्थ हो कर स्वाभाविक शीतलता प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार कर्म के संयोग से आत्मा विभाव दशा में आकुल होकर परिभ्रमण करता है । किन्तु कर्म का साहचर्य छूटते ही वह स्वभाव में स्थित हो कर सहज रूप को प्राप्त कर लेता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

धुमाडावगरनो अग्नि, आदान अर्थात् लेवुं पंथ करी देवाभां आव्युं छे तेवुं नश्यु, अने मंत्रथी नाश पाभेलुं ओर जेपी रीते निश्चित (अवश्य) न नाश थर्ध जय छे ते न प्रभाषे ज्यारे कर्मनुं आदान अर्थात् ग्रहण अथवा आश्रय ज्यारे समाप्त थर्ध जय छे त्वारे कर्म पणु निर्जरित थर्ध जय छे. जेपी रीते सूर्यना प्रखर किरणोधी पाणु तपी ठीके छे परंतु ज्यारे किरणोनो संपंध छूटी जय छे त्वारे ते हमेश मुज्यनुं थर्ध स्वाभाविक शीतलता प्राप्त करी छे छे, ते न प्रभाषे कर्मना संयोगथी आत्मा विभावदशाभां आकुल थर्धने परिभ्रमण करे छे. परंतु कर्मनुं सानिध्य (संपंध) छूटतां न ते हमेश मुज्य (अस्सव रूप) नुं थर्धने सहज रूपने प्राप्त करी छे छे.

जिस आग में से धुआं समाप्त हो जाता है वह आग शीघ्र ही समाप्त हो जाती है । ऋणी यदि ऋण लेना बन्द कर दे फिर यदि वह अल्प मात्रा में भी ऋण चुकाता रहे तो वह ऋण-मुक्त हो जाएगा । इसी प्रकार आत्मा जब कर्म का ग्रहण करना बन्द कर देता है तो वह एक दिन अवश्य ही कर्म-मुक्त हो जाता है । किन्तु उसके लिए आत्मा के साथ कर्म का साहचर्य समाप्त होना चाहिए । पानी जब तक चूल्हे पर रहेगा तब तक वह गर्म होता ही रहेगा । अथवा जब तक सूर्य-किरणों का पानी के साथ संयोग है तब तक पानी की उष्णता दूर नहीं हो सकती है । पानी में शीतलता लाने के लिए उष्णता के बाहरी संयोगों को दूर करना ही होगा । इसी प्रकार आत्मा को स्वभावस्थ बनाने के लिए विभाव दशा से मोड़ना होगा ।

तम्हा उ सव्वदुक्खणं, कुज्जा मूलविणासणं ।

बालगाहिं ध्व सप्पस्स, विसदोसविणासणं ॥ २८ ॥

अर्थ :—अतः साधक सभी दुःखों के वैसे ही जड़ मूल को समाप्त करे । जैसे कि सपेरा साँप के विष-दोष को दूर कर देता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

तेथी साधक अधा दुःखोनो मूलनो तेवी न रीते नाश करे, जेपी रीते सापनो मदारी सापना ओर(नी ओथणी) रूपी होवने ठाढी नांणे छे.

साधक आत्म-शान्ति के लिए अशान्ति के मूल को ही समाप्त करे । साधना के क्षेत्र में शरीर को मारने का सहत्त्व नहीं है, मारना ही है तो उन वृत्तियों को मारे, जिनके द्वारा आत्मा अशुभ की ओर जाता है और पाप कर्मों में लिप्त होता है । वही अशान्ति की जड़ है । सपेरा साँप को नहीं उसके जहर को निकाल देता है । फिर सर्प एक भयंकर जन्तु नहीं, बल्कि कौड़ा का एक सुकोमल प्रसाधन हो जाता है । सर्प बुरा नहीं है, बुरा है उसका जहर । सर्प को मारना भी गलत होगा । इसी

प्रकार साधक को-शरीर को नहीं-उसके विष को याने वासना को मारना है। अनुचित वृत्ति को मारना है। सोमल विष है, किन्तु उसे मार दिया जाए, अर्थात् पका दिया जाए तो वही अमृत बन जाएगा। इसी प्रकार अशुभ वृत्ति समाप्त हुई तो यही स्वर्ग है और यही मोक्ष है। म० महावीर की भाषा में कहा जाए तो:—

अप्या नई वैतरणी अप्या मे कूडसामली ।

अप्या कामदुहा धेणू अप्या मे नंदणं वणं ॥ -उत्तरा० अ० २० भा० २६ ।

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशात्मली वृक्ष (काली सेमल) दोनों ही हैं। किन्तु भूलो नहीं, कामदुहा धेनु भी मेरी ही आत्मा है। और देवों की रमणीय भूमि नन्दन-वन भी मैं ही हूँ। बाहर कहाँ खोज रहे हो? यदि खोजना है तो अपने आप में खोजो। वही सब कुछ है!।

एवं से सिद्धे धुद्धे० । गतार्थम् ।

मधुरादपिज्ञानमज्झयणं

मधुराजर्षिभाषित पंचदशाध्ययनम्

—००—

सोरियायण-अर्हत्तर्षि-भाषित

षोडश अध्ययन

अष्ट कौन है? जिसके पास वैभव है। विशाल अश्लिकाओं में सौन्दर्य नाचना है। सौन्दर्य के पायल के झंकार से जिसका मन झंकृत होता रहता है। भारतीय संस्कृति योग में नहीं, त्याग में विश्वास करती है। उसने योगियों के नहीं, त्यागियों के सामने गस्तक झुकाया है।

जिसका मन और इन्द्रियों पर शासन है वही महान् है। पदार्थों का चंचल सौन्दर्य जिसके मन को चलित नहीं बनाता है, वही पुरुषोत्तम है। इन्द्रियों का दमन और उसके साधन का प्रस्तुत अध्ययन में निरूपण है।

सिद्ध० । जस्स खलु भो विसयायारा ण य परिस्सवन्ति इदिया वा दवेहिं से खलु उत्तमे पुरिसे त्ति सोरियायणेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

अर्थ:—जिसके इन्द्रियों का वेग द्रवित वस्तु की तरह विषयाचार की ओर नहीं दौड़ता है वही आत्मा श्रेष्ठ है। इस प्रकार सोरियायण अर्हत्तर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तर:—

जेना इन्द्रियोनुं ध्यान (आकर्षण) प्रवाही पदार्थनी जेम विषयोना उपबोगनी तरङ्ग होइतुं नथी ते ज आत्मा श्रेष्ठ छे. जे प्रभाये सोरियायण अर्हत्तर्षि गोल्या.

जो इन्द्रियों का गुलाम है वह दुनियाँ का गुलाम है। इन्द्रियों पर जय पाने वाला साधक विश्व-विजयी है। पानी का स्वभाव है डलकाव की ओर बहना। ऐसे ही इन्द्रियों का स्वभाव है विलय की ओर दौड़ना। किन्तु जिसके पास ज्ञानाकुश है वह इन्द्रियों पर स्वामित्व पा सकता है।

टीका:—यस्य खलु भो इन्द्रियाणि विषयाचारा न परिस्सवन्ति द्रवैस्त्वि स खलु भवत्युत्तमः पुरुषः । गतार्थः ।

तं कहमिति? मणुण्णेषु सद्देषु सोय विसयपत्तेसु णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्जेज्जा णो विणिवायमावज्जेज्जा । मणुण्णेषु सद्देषु सोत्तविषयपत्तेसु सज्जमाणे, रज्जमाणे, गिज्जमाणे सुमणो आसेवमाणे विषयवहतो पावकम्मस्स आदाणाए भवति । तम्हा मणुण्णासु सद्देषु सोय-विसय-पत्तेसु णो सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा णो गिज्जेज्जा णो सुमणो अण्णे अवि एवं रुवेसु, गंधेसु, रसेसु, फासेसु एवं विचरीएसु णो दुसेज्जा ।

अर्थ :—परिखण (बहाव) किस प्रकार होता है । इसके उत्तर में अर्हतर्षि बोलते हैं कि श्रोत्र विषय प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में साधक आसक्त न हो, अनुरक्त न हो, और न उन मधुर शब्दावली में गूढ़ ही हो । उन शब्दों के द्वारा साधक अपनी स्वभाव स्थिति में व्याघात का भी अनुभव न करे । श्रोत्र विषय प्राप्त शब्दों में आसक्ति, विरक्ति और गूढ़ता की अनुभूति करता हुआ सुमनशील सुन्दर मन वाला श्रमण मन से उनकी आसेवना करता हुआ, उसकी मधुरिमा के रस प्रवाह में बहता हुआ पाप कर्म को ग्रहण करता है । अतः साधक श्रोत्र विषय प्राप्त मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में आसक्त—न हो, अनुरक्त न हो और न उसमें लालची ही हो । इसी प्रकार सुमनशील श्रमण रूप गंध रस और स्पर्श में मन को आकर्षित करने वाले अंश पर रागानुभूति न करे और विपरीत अमनोज्ञ रूपादि पर द्वेष न करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

ते परिखवणु (प्रवाह) कछ रीते थाय छे ? तेना जवाजभां अर्हतर्षि ओक्षे छे छे जान तरङ्ग आवेदा भीडा शब्दोभां साधक आसक्त न थाय, अनुरक्त न थाय अने ओ मधुर शब्दावलीभां पखु मोहित न थाय. ते शब्दो द्वारा साधक पोताना स्वभावभां व्याघात पखु अनुभव न करे. सांख्यवा आवेदा शब्दोभां आसक्ति, अनुरक्ति अने वाक्यनो अनुभव करता करता सुमनशील सुन्दर मनवाणा श्रमण मनशी तेभां रस छेता तेनी मधुरिमाना रसप्रवाहभां बढेता पाप कर्मोने ग्रहण करे छे. आथी साधक सांख्येवा भीडा अने मधुर शब्दोभां आसक्त न रहे, अनुरक्त न रहे, अने तेभां वाक्य पखु न थाय. ओ प्रमाणे सुख श्रमण रूप, गंध, रस अने स्पर्शभां मनने आकर्षित करवावाणा पदार्थ उपर लोभी अने नर्दी तेमज विपरीत पदसीकल पर द्वेषादि करे नर्दी.

आत्म-साधना में तीन साधक की इन्द्रियों के आकर्षण से परे रहने के लिए संकेत किया गया है । पदार्थों का एक रूप मधुर होता है । पदार्थों का एक रूप मधुर होता है । दूसरा कटु । मन की स्थिति कुछ ऐसी है कि वह मधुर रूप पर आकर्षित होता है और कटु रूप पर द्वेष-भाव रखता है । यह आसक्ति ही कर्मबन्ध का मूल हेतु है । अन्यथा केवल पदार्थ को देखना और जानना मात्र कर्मबन्ध का हेतु नहीं है, क्योंकि आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है । वही जानने की शक्ति भी रखता है । आत्मा नहीं जानेगा तो क्या पत्थर जानेगा ? ज्ञान कभी भी बन्ध का कारण नहीं हुआ है, किन्तु उस पदार्थ को देखने के बाद यह संकल्प आया—यह सुन्दर है, यह असुन्दर है; इन्हीं में रागानुभूति और द्वेषानुभूति के बीज निहित हैं । अतः इन्द्रियाकर्षक वस्तु पर न साधक की अनुरक्ति—हो न विपरीतरूपा पर विरक्ति ही । आत्मा की यह स्थिति बन्ध हीन होगी ।

टीका :—सद् परिखवणं कथमिति पृच्छा । मनोज्ञेषु, शब्देषु, रूपेषु, गंधेषु, रसेषु, स्पर्शेषु श्रोत्र-चक्षु-नासा-तालु-त्वग्विषयप्राप्तेषु न सजेत न रज्येत न गृभ्येत नाभ्युपपद्येत न विनिघातमापद्येत । मनोज्ञेषु शब्दादिषु श्रोत्रादिविषयं प्राप्तेषु सजमानो रज्यमानो गृह्यमानोऽभ्युपपद्यमानः सुमताः सद्भिप्रायवान्स्थानासेवमानो विप्रवहृतः पापकर्मणो भवत्यादानाय तत्कर्मदिदातीत्यर्थः । तस्मात् तेषु मनोज्ञेषु प्रागुक्तेषु न सजमानित्यादि न सुमता इत्याद्युक्तपापकर्मणा न दुष्येत । गतार्थः ।

साधक इन्द्रियों को साधे । मारना अलग चीज है और साधना अलग है । घोड़े को साधा जाता है मारा नहीं जाता । विषय-गामी घोड़े को मोड़ कर प्रशस्त पथ की ओर प्रेरित करना ही कुशल चालक का कार्य है । कुशल साधक विपश्चामी इन्द्रियों को प्रशस्त पथ की ओर मोड़े । मारना है तो मन को मारे । इन्द्रियाँ तो अनेक बार मारी गई हैं । उन्हें मारने से तो कोई मतलब नहीं निकलता है ।

दुर्वंता इंदिया पंच, संसाराण सरीरिणं ।

ते खेव गियमिया संता, जेज्जाणाए भवंति हि ॥ १ ॥

अर्थ :—देहधारियों की दुर्दन्ति बनी हुई पाँचों इन्द्रियाँ संसार का हेतु बनती हैं । वे ही संयुत होने पर मोक्ष का हेतु बन सकती हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

शरीरी भानवनी, अज्येय अनेकी पांचे इन्द्रियो संसारनी हेतु अने छे. ते ताये थया पछीज मोक्षनो हेतु अनी शके छे.

इन्द्रियाँ अपने आप में न मोक्ष का हेतु हैं, न संसार का । क्योंकि वे तो जड़ हैं । उनके पीछे रही हुई सुमाद्युम

भावना ही मोक्ष और संसार का हेतु होती है। आत्मा जब इन्द्रियों पर शासन करता है तब इन्द्रियां मोक्ष-हेतुक बनती हैं और जब इन्द्रियां ही आत्मा पर शासन करती हैं तब वे भव-हेतुक होती हैं।

दुर्वर्ते इंदिय पंच, रागवोसपरंगमे ।

कुम्भो विव स अंगाई, सए वेहम्मि साहरे ॥ २ ॥

अर्थ :—राग और द्वेष चेतना में प्रवृत्त पांचों इन्द्रियां दुर्दान्त बनती हैं। अतः बाहरी आघात की आशंका होते ही जैसे कछुआ अपने अवयवों का संगोपन कर लेता है उसी प्रकार साधक आश्रम की ओर प्रवृत्त इन्द्रियों का संवरण करे।

गुजराती भाषान्तर :—

राग અને દ્વેષ ચેતનામાં પ્રવૃત્ત થયેલી પાંચે ઇન્દ્રિયો અજોય અને છે. માટે બહારના આઘાતની આશંકા થતાં જ જેવી રીતે કાચબો પોતાના અવયવો સંકોચી લે છે તેવી જ રીતે સાધક આશ્રમ (ઉચ્છેદન) તરફ પ્રવૃત્ત ઇન્દ્રિયોનું સંવરણ કરે.

अप्रशस्त पथ की ओर प्रवृत्त इन्द्रियों का साधक किस प्रकार संवरण करे इसका सुन्दर रूपक प्रस्तुत गाथा में है। कछुआ जब तक अपने आप को सुरक्षित मानता है तब तक वह चलता रहता है, किन्तु जब उसे खतरा का अनुभव हुआ वह अपने अवयवों को समेट लेता है। साधक भी ऐसा ही करे। इन्द्रियाँ स्वाध्याय आदि प्रशस्त पथ में जाएं तो उन्हें जाने दे। किन्तु जब वह अप्रशस्त पथ की ओर जाने लगे तो उन्हें अविलम्ब ही संवृत कर ले।

चण्ही सरीरमाहारं जहा जोपण जुंजती ।

इंदियाणि य जोय य तहा जोने विथाणसु ॥ ३ ॥

अर्थ :—जैसे अग्नि आहार और शरीर को यथास्थान पर जोड़ती है। वैसे ही इन्द्रियां बाहरी पदार्थों को आत्मा से जोड़ती हैं और योग को सक्रिय बनाती हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે અગ્નિ, આહાર અને શરીરને પોતપોતાના સ્થાન પર બેઠી દે છે, ઇન્દ્રિયો બહારના પદાર્થોને આત્મા સાથે બેડે છે, તે જ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયો જ યોગને સક્રિય બનાવે છે.

अग्नि के द्वारा पक्क अन्न शरीर के लिए उपयोगी हो सकता है। अथवा उदरगत अग्नि खाए हुए भोजन का पाचन कर के शरीर के विभिन्न अवयवों को शक्ति प्रदान करती है। इसी प्रकार इन्द्रियां और योगत्रय अर्थात् मनोयोग, वचनयोग और काययोग पदार्थों को आत्मा तक पहुंचाते हैं। इन्द्रियाँ पदार्थ और आत्मा का योग करती हैं।

परोक्ष ज्ञान युक्त आत्मा पदार्थों को इन्द्रियों के ही माध्यम से जानता है। अतः परोक्ष ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष होता है। शब्द-रूपादि-रूप में परिणत द्रव्यों को आत्मा तक पहुंचाने का काम इन्द्रियों का है।

टीका :—वह्निः परिणाम-तेजः शरीरमाहारं ति आहारेण यथा युनक्ति योगेन कारणेन तथा योगान् विजानीही-न्द्रियाणि तत् प्रयोगोश्च युजत इति श्लोकस्योत्तरार्धस्य शंकनीयोऽर्थः ।

जैसे जठराग्नि आहार को शरीर में परिणत करती है, क्योंकि खाद्य पदार्थ को शरीर के लिए उपयोगी बनाने वाली अग्नि है इसी प्रकार योगों को सक्रिय बनाने वाली इन्द्रियां हैं। उनके प्रयोगों को वह जोड़ती हैं। इस पर श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ टीकाकार की दृष्टि में संदेहास्पद है।

पंचं से बुद्धेः । गतार्थः ।

सोरियायण-गामज्झयणं ॥

इति सोरियायण-अर्हत्तर्षि-भाषितं बोद्धव्याध्ययनम् ।

विदु अर्हंतर्षि प्रोक्त सप्तदश अध्ययन

“सा विद्या या विमुक्तये” एक ऋषि की पट्ट बाणी विद्या का लक्ष्य बता रही है। जो मानवीय चेतनाओं को बंधन से मुक्ति की ओर ले जाए, अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाए, देह की संकीर्णताओं से उपर उठा कर आत्मा के विराट रूप का साक्षात्कार कराए और स्वार्थ, संप्रदाय तथा मिथ्यामिनिवेशों के घेरे को तोड़ने की पुनीत प्रेरणा दे वही विद्या है। इंग्लिश विचारकों की दृष्टि में ज्ञान का ध्येय है कि The great end of education is to discipline of the mind. विचार शक्ति को विकसित करना ही शिक्षा का महान् उद्देश्य है। विद्या और विज्ञान की व्याख्या आप प्रस्तुत अध्ययन में पाएंगे।

**इमा विज्ञा महाविज्ञा सब्वविज्ञाण उत्तमा ।
जं विज्जं साहसत्ताणं सब्वदुक्खण मुच्चति ॥ १ ॥**

अर्थ :—वह विद्या महाविद्या है और समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है, जिस विद्या की साधना करके आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ते विद्या महाविद्या छे अने समस्त विद्याओंमां श्रेष्ठ छे, जे विद्यानी साधना करीने आत्मा समस्त दुःखोथी मुक्त थई जय छे.

शिक्षा जीवन में नई रोशनी देती है। शिक्षा और साक्षरता में बहुत बड़ा अंतर है। विशाल साहित्य राशि को पढ़ लेना केवल साक्षरता है। साक्षरता शिक्षा नहीं, आधुनिक शिक्षा का शरीर है। शिक्षा वही है जो मानव को बंधन से मुक्ति की ओर लेजाए। वह बंधन फिर विचार, समाज, प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता का ही क्यों न हो बंधन अपने आप में बंधन ही है। वह मानव की बुद्धि, मन और चेतना को सीमित कर देता है। और यही अविद्या है। अहंता और समता के छद्म घेरों को तोड़ कर मानव मन को जो विराट बनाती है वही विद्या है। जो ज्ञान आत्मा की शान्ति-पिपासा को न बुझा सके, उसकी दुःखपरंपरा को समाप्त न कर सके वह ज्ञान नहीं अज्ञान है। आत्मा को दुःख से मुक्त करे वही ज्ञान है।

**जेण बंधं च मोक्खं च जीवाणं गतिरायति ।
आयाभावं च जानाति सा विज्ञा दुक्खमोयणी ॥ २ ॥**

अर्थ :—जिसके द्वारा आत्मा के बन्ध और मोक्ष गति और अगति का परिज्ञान होता है और जिसके द्वारा आत्म-भाव का अवबोध होता है वही विद्या दुःख से विमुक्त करने में सक्षम है।

गुजराती भाषान्तर :—

जेनी द्वारा आत्मभावना बन्ध, मोक्षगति अने अगतिनुं परिज्ञान थाय छे अने जेनी द्वारा आत्मभावनुं ज्ञान थाय छे ते जे विद्या दुःखोथी मुक्त करवाभां समर्थ छे.

रोटी का सवाल हल करना विद्या का लक्ष्य नहीं है। रोटी की विद्या तो पशु संसार बिना सीखे ही जानता है। विद्या का लक्ष्य है कि वह मानव को मानव बना दे। दूसरे शब्दों में आत्मा को अपनी पहचान करा दे। जिसके द्वारा आत्मा अपना परिज्ञान कर सकता है वही विद्या विमुक्ति की ओर ले जा सकती है आत्म-भाव का परिज्ञाता जब अपनी शुद्ध स्थिति का अभाव पाता है। तब वह बंधन को महसूस करता है और अगले क्षण मुक्ति की राह लेता है। जिसके द्वारा आत्मा परिश्रम का हेतु शोधता है। वही विद्या दुःख-विमोचक है।

टीका :—यथा बंधं च मोक्खं च जीवाणं गत्यागतावात्मभावं च जानाति सा विद्या दुःखमोचनी । इयं विद्या भवति महाविद्या भवति सर्वविद्यानामुत्तमा, या विद्यां साधयित्वा सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते । गतार्थः ।

टीकाकार ने गाथा के क्रम में परिवर्तन किया है। दूसरी के बाद प्रथम गाथा का होना अन्वय की दृष्टि से बे उचित मानते हैं।

विदुषा अरहता इतिहासं कुर्वते —

समं रोग-परिणामं, ततो तस्मिन् विनिश्चितं ।

रोगोऽसह-परिणामं, जोगो रोगविनिश्चितं ॥ ३ ॥

समं कर्मपरिणामं ततो तस्मिन् विमोक्षणं ।

कर्म-मोक्ष-परिणामं, करणं च विमोक्षणं ॥ ४ ॥

अर्थ :—विदु अर्हति इस प्रकार कहते हैं, रोग मुक्ति के लिए सर्व प्रथम रोग का परिज्ञान होना चाहिए । तत्पश्चात् उसका निदान हो । साथ ही रोग के औषध की भी पहचान चाहिए । तभी उसके रोग की चिकित्सा संभवित है । यही बाल कर्म विमुक्ति के लिए भी है । पहले सम्यक् रूप से कर्म का परिज्ञान हो, बाद में उसके विमोक्ष का ज्ञान अपेक्षित है । कर्म और मोक्ष का परिज्ञान और उसका आचरण आत्मा को मुक्त बना सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

विदु अर्हति आ प्रभासुं कहे छे के रोगभी मुक्त थवा भाटे सर्व पहेलां रोगनुं पूर्ण ज्ञान करी ते पछी तेनुं निदान थाय. साथे साथ रोग-नाशक औषधना गुणधर्मनुं ज्ञान होवा जेध अ, त्यारे ज रोगनी चिकित्सा करी शक्य. आ ज बात कर्म-विमुक्ति भाटे पणु अगत्यनी छे. पहेला कर्मनुं ज्ञान सारी रीते करी देवा जेध अ, पछी तेनो विमोक्ष अहे छुटकारो भेणववानुं ज्ञान सदैवरूप छे. कर्म अने मोक्षनुं उदु ज्ञान अने तेनुं आचरण आत्माने मुक्त अनावी शके छे.

रोगोपशमन के लिए सर्व प्रथम यह आवश्यक होगा कि व्यक्ति को इस बात का अनुभव हो, कि मेरे देह में किसी प्रकार का रोग है । उसके बाद दूसरा कदम होगा रोग की पहचान का । रोग है तो वह कौन-सा है ? साथ ही रोग के औषध का भी ज्ञान अपेक्षित है । कर्म से विमुक्ति के लिए भी चार बातें आवश्यक हैं । सर्व प्रथम यह विश्वास कि “कर्म है, कर्म से मोक्ष हो सकता है । कर्म और मोक्ष का स्वरूप विज्ञान और उस ज्ञान को जीवन में आचरण । जिसे यही अनुभूति नहीं है कि मैं बीमार हूँ, वह आरोग्य की ओर बढ़ ही कैसे सकता है और जिसे यह अनुभूति नहीं है कि मैं कर्म से बद्ध हूँ वह मुक्ति की राह पर कदम नहीं रख सकता है । साथ ही उसे यह भी विश्वास होना चाहिए कि आत्मा और कर्म पृथक् हो सकते हैं । यही विश्वास आत्मा को इस दिशा में प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करेगा । बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य इसी से कुछ मिलते-जुलते हैं । पहला दुःख है और दूसरा दुःख का हेतु है । तीसरा ज्ञान दुःखों का अन्त संभव है और हानोपाय दुःखों के अन्त करने का उपाय है ।

समं ससह-जीवं च, पुरुषं वा मोहघातिनं ।

सहोद्धरणजोगं च, जो जानाति स सल्लहा ॥ ५ ॥

अर्थ :—जो समत्व और सशल्य जीव को जानता है और दूसरी ओर विगत मोह-पुरुष को जानता है और सत्य को नष्ट करने का योग जानता है वही शल्य को नष्ट करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

जे भर्मस्थान अने सशल्य छवने जाले छे अने भील जालु वीतराग पुरुषने पणु जाले छे अने शल्यने नष्ट करवाना उपाय जाले छे ते ज शल्यने नष्ट करे छे.

साधक एक ओर शल्य युक्त आत्मा को देखता है जिसके अन्तरतम की गुरुधियां दुर्बल हैं जो न अपने प्रति स्पष्ट हो सकती हैं, न दूसरे के प्रति । दूसरी ओर मोह मुक्त पुरुष को देखता है जिसकी अन्तर्गुधियां खुल चुकी हैं, उसका सरल निश्चल हृदय साधक को आकर्षित करता है । साधक उन्हें देख कर अपने अन्तर्मन की गूढ़ ग्रन्थियों को निकाल कर निष्कपट हृदय से आलोचना करता है । निःशल्य साधक के मन, वचन और कर्म में एक-रूपता आती है । शल्य नष्ट करने की साधना है ही निःशल्य बनती है ।

टीका :—समं सशल्यजीवं च पुरुषं वा मोहघातिनं गुरुं शल्योद्धरणजोगं च जो जानाति स शल्लहा । गतमर्थम् ।

बंधनं मोयणं चेत तदा फलपरंपरं ।

जीवाण जो विजाणाति, कर्माणं तु स कम्महा ॥ ६ ॥

अर्थ :—आत्मा के बन्धन और मोक्ष को तथा उसके फल की परंपरा को जो जानता है वही कर्म-शृंखला को तोड़ सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

आत्माना बन्धन अने मोक्षने तथा तेना इणनी परंपराने जे जाले छे ते जे कर्मनी सांकण (गेडी) ने तोडी शके छे.

आध्यात्मिक पथ में आगे बढ़ने के लिए बन्ध और मोक्ष का ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है । वे कौन से हेतु हैं जिनके द्वारा आत्मा कर्म-बद्ध होता है ? । जब तक उन हेतुओं का परिज्ञान नहीं होगा तब तक आत्मा बन्ध से मुक्त नहीं हो सकता । अतः बन्ध क्या है, द्रव्य बंध क्या है और भाव बंध क्या है ? इसका परिज्ञान सर्वप्रथम अपेक्षित है । आत्मा का साराग स्पन्दन भाव बंध है जिसके द्वारा कर्म द्रव्य आकर्षित होते हैं । सिद्धान्त ऋकवर्ती आचार्य नेमिचंद्र बोलते हैं, कि:—

बज्जदि कम्मं लेण दुचेवणभावेण भावबंधो सो कम्माइपदेसाणं अप्णोण्ण-पवेसणं इदरो ।—द्रव्यसंग्रहगाथा ३२ ।

आत्मा की वह दुश्चेतन परिणति जो कर्म-बन्ध का हेतु है वही भाव बंध है । क्योंकि उसी के द्वारा तो द्रव्य कर्म आत्मा से निपक सकते हैं । कर्म और आत्मप्रदेशों का लोह पिंड में अग्नि प्रवेशवत् एक दूसरे में प्रवेश होना ही द्रव्य-बंध है ।

कर्म क्या है ? उसका बंध क्यों होता है ? और उससे मुक्ति कैसे संभव है ? इतना जान लेने के बाद ही आत्मा कर्मों को नष्ट कर सकता है ।

सावज्जजोगं निहिलं विदित्ता तं चैव सभं परिजाणिङ्गणं ।

तीतस्स गिंदयः जमुत्तिगतत्त सावज्जवृत्तिं तु ज सद्देज्जा ॥ ७ ॥

अर्थ :—सावद्य योग को निखिल रूप में जान कर उसका सम्यक् प्रकार से परिज्ञान कर के अतीत की निन्दा के लिए उपस्थित आत्मा सावद्य वृत्ति पर श्रद्धा न करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

सावद्य योगने संपूर्ण इपथी जालीने तेनुं ज्ञान भेजवी अतीत ओटये अनी गयेवानी निंदा भाटे प्राप्त थओइआ आत्मा सावद्य वृत्ति पर श्रद्धा न करे.

साधक सावद्य योग का विवेक करे । प्रथम चरण में सावद्य योग जान लेने के बाद द्वितीय चरण में उसके परिज्ञान के लिए कहा गया है । आगम में परिज्ञा के दो प्रकार बताए हैं—ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा । ज्ञ-परिज्ञा के द्वारा साधक सावद्य प्रवृत्ति को जाने और प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा उसका प्रत्याख्यान करे । अतीत काल में जो सावद्य योग की प्रवृत्ति हुई है उसके लिए आलोक्यना के लिए तत्पर रहे । क्योंकि वर्तमान सावद्य योग का ही त्याग हो सकता है । अतीत का नहीं, उसके लिए तो पश्चात्ताप ही संभव है । किन्तु सावद्य वृत्ति की श्रद्धा का त्याग अवश्य करे, क्योंकि हिंसा से हिंसा का विश्वास अधिक पतन करता है ।

सज्झायज्जाणोचगतो जितप्पा संसारवासं बहुधा विदित्ता ।

सावज्जवृत्तीकरणे टितप्पा निरवज्जवित्ती उ समाहरेज्जा ॥ ८ ॥

अर्थ :—स्वाध्याय-ध्यानरत जितेन्द्रिय आत्मा संसार वास को सर्व प्रकार से जान कर स्थितात्मा सावद्य प्रवृत्ति के कार्य में निरवद्य वृत्ति को स्वीकार करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

स्वाध्याय अने ध्यानमां तन्मय, अने इन्द्रियों पर कानु भेजवेल आत्मा सांसारिक जवनने दरेक रीते जालीने स्थितात्मा थछ सावद्य प्रवृत्तिना कार्यमां निरवद्य वृत्तिने स्वीकारे.

स्वाध्याय भी एक तप है । स्वाध्याय के माध्यम से साधक अतीत के महा पुरुषों से मिलता है । उनके दर्शन और चिंतन का साक्षात्कार करता है और वह जीवन और जगत् को पहचानता है । जितेन्द्रिय साधक सब दूर स्व का ही अध्ययन करता है । पार्थिव संसार में अपार्थिव का दर्शन करता है । विध्व-व्यवस्था का सही दर्शन उसे स्वाध्याय के द्वारा ही होता है ।

किसी पुस्तक या ग्रन्थ का पारायण कर जाना स्वाध्याय नहीं है । वह तो केवल वाचन ही है । किन्तु उसके साथ जब आत्मा का स्वरूप-दर्शन पाता है विश्व-व्यवस्था का अनुबंध कैसे बिगाडा ? उसके प्रभेजक कौन से तत्व हैं ? इन सबका अनुचितन ही स्वाध्याय है ।

स्वरूप में लीन हो जाना ध्यान है । वृत्तियों को बहिर्मुखता से मोड़ कर अन्तर्मुख बना देना; आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करना ध्यान है । स्वाध्याय और ध्यान साधक का जीवन और जगत् का सही दर्शन कराते हैं । स्वरूप दर्शन

के बाद साधक स्वरूप स्थिति में लीन होता है। फिर पररूप पौष्टिक सौन्दर्य उसकी अन्तर्बुद्धि को चंचल नहीं बना सकता है। स्वात्म-परिणति में स्थित साधक सावद्य प्रवृत्ति से मुक्त हो जाता है। निज रूप में लीन साधक पररूप में जाएगा ही नहीं। फिर हिंसा का वहां अवकाश ही कहाँ?। यही गीता का स्थिति-प्रज्ञ-दर्शन है। जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो चुकी है उसे इन्द्रियां और मन की विकारात्मक दशा चलित नहीं कर सकती—यही स्थितप्रज्ञता है।

परकीय-सध्य-सावज्ज-जोर्ग, इह भज दुश्चरियं पायरे ।

अपरिसेसं गिरचज्जे ठितस्स णो कप्पति, पुणरपि सावज्जं सेविसस ॥

अर्थ :—परकीय दृष्टि सभी सावद्य योग है। यह ज्ञान लेने के बाद साधक दुश्चरितता का संपूर्ण रूप से वर्जनकरे। निरवद्य स्थिति में स्थित आत्मा को पुनः सावद्य वृत्ति में जाने की कल्पना तक नहीं करता है। अर्थात् ऐसा करना अनुचित है।

टीका :—परकीय सर्वसावद्ययोगं दुश्चरितं इहाय नाचरेत् । अपरिशेषं सर्वथा निरवद्ये चरिते स्थितस्य न कल्पते । पुनरपि सावद्यं सेवितुम् । गतार्थः । एतानि गद्यपद्यानि विदुनामनुरूपेर्भाषितमिति दृश्यते । पूर्वगतास्तु तृतीयादयः श्लोकाः शेषभाषितानां कल्पेन तद्विवरणत्वाद् गद्यानुबद्धव्याः ।

ये गद्य-पद्य विदु अर्हंतर्षि भाषित हैं ऐसा दिखाई देता है, किन्तु पूर्व अध्ययनों में तीसरे या अन्य श्लोकों में शेष रूप में कहे गये श्लोकों के अनुसूप उसका विवरण रहता है। अतः गद्य में उसका अनुबन्ध होता है।

निज रूप में सावद्य योग का परित्याग आवश्यक है। प्रस्तुत गद्या में सावद्य योग की परिभाषा दी गई है। आत्मा की स्वभाव दशा से परे समस्त प्रवृत्ति परकीय है और परकीयता ही सावद्यता है। आत्मा जब स्वभाव दशा से हट कर परभाव में जाता है वही बंध सराग वृत्ति और पर में स्व का आभास ही अज्ञान की जड़ है। आत्मा का स्व में स्थित होना ही चारित्र्य है। दर्शन ज्ञान चारित्र्य की परिभाषा देते हुए आचार्य कहते हैं कि:—

दर्शनं तत्त्व-विनिश्चितिः आत्म-विनिश्चये बोधः ।

स्थितिरात्मनि चारित्र्यं कुत एतेभ्यो भवति बंधः ॥

आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती व्यवहार चारित्र्य और निश्चय चारित्र्य का भेद बतलाते हुए कहते हैं कि:—

असुहायो विणिबत्तो सुहे पविस्सिय जाण चरिसं ।

वद समिति गुत्ति रुवं व्यवहारया हु जिण भास्वियं ॥ —द्रव्यसंग्रह गाथा ४५

अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति चारित्र्य है। जो कि व्यवहार नय से व्रत समिति और गुत्ति रूप है। ये जिनेश्वर के वचन हैं। आचार्य निश्चय चारित्र्य का निरूपण करते हुए कहते हैं कि:—

बहिरब्धन्तर-किरिया-रोहो भव कारणपणासट्ठे ।

णपणिस्सज्जे जिणुसं तं परमं सम्म चारिसं ॥ —द्रव्य-संग्रह गाथा ४६ ।

भव-परस्पर के हेतु को नष्ट करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर समस्त प्रकार की क्रियाओं का अवरोध ही जिनोक परम सम्यक् चारित्र्य है।

स्वरूप स्थिति प्राप्त साधक सावद्य वृत्ति से विरक्त हो ही जाएगा। निरवद्य वृत्ति में स्थित आत्मा के लिए पुनः सावद्य में आना उसके कल्प की सीमा के बाहर की बात है। आत्मा सावद्य से निरवद्य की ओर प्रगति करता है, किन्तु पूर्ण निरवद्य स्थिति में पहुँचने के पश्चात् सावद्य में नहीं लौट सकता है। पूर्ण निरवद्य स्थिति में पहुँचने के पश्चात् व्रत-मर्यादा भी पीछे छूट जाएगी। किन्तु इसका अर्थ यह न होगा, कि वह अव्रत में ही लौट जाएगा। एक आचार्य आत्मा की स्वरूप स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।

त्यजेत्तान्पि संग्राह्य परमं पदमात्मनः ॥ —समाधिशतकम् ।

साधक अव्रत से व्रत में आता है और उस परम स्थिति को पा लेने के बाद व्रत को भी छोड़ देता है। स्व स्थिति पा लेने के बाद व्रत का भी बंधन क्यों?।

एवं से जुद्धे ० । गतार्थः ।

इति विदुअर्हंतर्षिप्रोक्तं सप्तदशं विद्याअध्ययनम्

अष्टादश अध्ययन

मच्छेदी मानव पाप की ओर कदम बढ़ाता है। विवेक-धृष्टता ही पाप का पहला कदम है। पाप की कल्पना प्रारम्भ से जो व्यक्ति-मनुष्य की भाँति होती है, जो कि चलने में तो बहुत ही सुन्दर लगती है, किन्तु अन्त में अफीम की ही तरह कटु होती है। पाप का उपाय सुनाया है, किन्तु मनुष्य मानता है। पाप के जगिधर मानव को मृत्यु के गोद में भी शान्ति से नहीं सोने देते हैं। पश्चिमी विचारक चॉल्टर स्कॉट बोलते हैं कि:—

When we think of death, a thousand sins, which we have trodden as worms beneath our feet, rise up against us as fanning serpents.

“जब हम मृत्यु का स्मरण करते हैं तो हजारों पाप जिन्हें हम कीड़े-मकोड़े की तरह पैरों के नीचे मसल चुके हैं, हमारे विरुद्ध जगिधर सर्प की भाँति खड़े होते हैं। पाप का डंक बिच्छू से अधिक तीखा और सर्प से भी अधिक घातक होता है।” प्रस्तुत अध्ययन में पाप से पीछे हटने की प्रेरणा है।

सिद्धि। अयते खलु भो जीवो वज्रं समादियति से कहमेतं?। प्राणातिवापणं जाव परिगहेण अरति-जाव मिच्छा दंसणसल्लेणं वज्रं समाइत्ता हत्थच्छेयणाहं, पायच्छेयणाहं जाव अणुपरियट्ठंति णवमुद्देसगमेणं।

प्रश्न:—जो आत्मा पाप का सेवन करता है वह संसार में परिभ्रमण करता है, वह कैसे?

उत्तर:—प्राणातिपात, यावत् परिग्रह और अरति यावत् मिथ्या-दर्शन-शल्य के द्वारा आत्मा पाप का उपार्जन करता है। पश्चात् उसके प्रतिफल में हस्तच्छेदन पादच्छेदनादि नवम उद्देशकवत् असीम दुःखों का अनुभव करता हुआ परिभ्रमण करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

प्रश्न:—जे आत्माजे पाप कर्तुं होय ते संसारमां परिभ्रमणु करे छे ते देवी रीते?

जवाब:—प्राणातिपात हिंसाशी ब्रह्मने परिग्रह अने अरतिशी ब्रह्मने मिथ्या दर्शन सुधीना शल्यशी आत्मा पापनुं संपादन करे छे; पाछणथी तेनुं इण भणे छे, हस्तनुं छेदन, पाणनुं छेदन वगेरे असह्य दुःखो तेनो अनुभव करतो ते संसारमां इयां करे छे.

प्याज खाकर इलाइची की डकार लेने की बात मिथ्या है। इसी प्रकार पाप करके सुख की कल्पना करना भी मिथ्या ही है। As you sow, so you reap 'जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे'। पाप परिणति का अशुभ विपाकोदय प्रस्तुत अध्ययन में बतलाया गया है। प्राणातिपात आदि सभी पाप हैं। अज्ञान के द्वारा मानव बहुत पाप अर्जित कर लेता है। यत्नाविवेक अमृत है तो अयत्ना अविवेक विष है जो कि साधक की साधना को दूषित कर देता है।

टीका:—अयते त्यक्तयत्नः खलु भो जीवः पुरुषो वज्रं हिंसां समाददाति। कथमेतत्? प्राणातिपातादिना रत्यरतिभ्यां मायाया मिथ्यादर्शनशल्येन वज्रं समादाय हस्तच्छेदनादीनि प्रत्यनुभवमानाः संसार-सागरमनुपरिवर्तन्ते जीवा यथोक्तं नवसाध्ययने। शतार्थम्।

टीकाकार 'वज्र' का अर्थ वज्र करते हैं और वज्र से हिंसा का अभिप्राय निकालते हैं। जो कि उचित नहीं जान पड़ता है। वज्र इन्द्र का एक विशेष आयुध है। इसका दूसरा अर्थ है वज्र जैसी कठोर खील।—अर्द्धमागधीकोष पृ० ३२४

जे खलु भो जीवो णो वज्रं समादियति से कहमेतं?। वरिसवकृष्णेण अरहता इसिणा सुइत्तं। प्राणातिवातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं सोइंदियणिग्गहेणं णो वज्रं समज्जिणित्ता हत्थच्छेयणाहं, पायच्छेयणाहं जाव दोमणस्साहं वीतिवत्तिता सिवमचल-जाव चिट्ठंति।

प्रश्न:—जो आत्मा पाप का उपार्जन नहीं करता है उसका जीवन कैसा होता है?

उत्तर:—वरिसव कृष्ण अर्हतर्षि बोले—पाप से उपरत आत्मा प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से विरक्ति ओत्रेन्द्रिय विषय के निग्रह के द्वारा पाप का वर्जन करके हस्तच्छेदन पादच्छेदन यावत् दुर्मनता आदि दुःखसमूह को व्यतिक्रान्त करके शिव अचल रूप आत्म-स्थिति को प्राप्त करता है।

१ 'वज्र' का दूसरा अर्थ है अवयव पाप, अर्द्ध मागधी कोष मा० ४, पृ० ३२५ वज्र का यही अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत है।

गुजराती भाषान्तरः—

प्रश्नः—जे आत्मा पाप करतो ज नथी तेनुं छवन डेवुं होय छे ?

जवाबः—वरिसव कृष्ण अर्हतर्षि ओइया—पापशी विरक्त थओवा आत्मा ऊन, नाड अने आभना विषयोनी त्याग तेना निमलद्वारा करी शके छे, अने तेथी छस्तछेदन पादछेदनशी लछिने मानसिक उलेश सुधीता दुःख-समूहने ओणंगी जर्ध मुक्तिना स्थानने प्राप्त करे छे.

पाप से विरक्त आत्मा दुःख का अन्त करता है । असत् विचार पाप की भूमि है । पुण्य का संबन्ध जैसे हृदय से है वैसे ही पाप का संबन्ध भी हृदय से ही है । असत्संकल्पों से दूर रहने वाला पाप और उसके प्रतिफल से बचता है ।

टीकाः—यः खलु भो जीवो वज्रं न समाददाति । कथमेतत् ? अस्यास्तु पृच्छाया उत्तरादविद्योजनीयात्वाद् ऋषिनाम अयत्त इत्यादि प्रथमवाक्यमनुसारमिदं । उत्तरं तु यथा प्राणातिपातादिविरमणेन श्रोत्रादीन्द्रियनिग्रहेण वज्रं असमर्ज्य इत्यादिच्छेदनानि व्यतिपत्य शिवं स्थानमभ्युपगतास्मिद्वन्ति । मतार्थः ।

सकुणी संकुप्यघातं च वेरत्तं रज्जुगं तदा ।

वारिपत्तधरो षेव विभागमि विहावण ॥ १ ॥

अर्थः—जैसे शकुनी पक्षी वज्र-सी तीखी चोंच से फल को छेद देता है । वैर भाव राज्य को विभाजित कर देता है और वारिपत्तधर-कमल पानी को अपने से दूर कर देता है । उसी प्रकार प्रबुद्ध आत्मा कर्म और आत्मा को पृथक् कर देता है । अर्थात् पाप परिणति का परित्याग कर के आत्मा को शुद्ध में स्थित कर देता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

जेम शकुनी पक्षी वज्र जेपी तीक्ष्ण आंथथी इणने छेदे छे, वेरभाव राज्याना लाग पाडी दे छे अने पाणीमां जन्म पामेव कमल, पाणीने पोतानाथी दूर करी दे छे. तेवी ज रीते प्रबुद्ध आत्मा कर्म अने आत्मानुं पृथक्करवुं करे छे. अर्थात् पापना परिणामनो त्याग करी आत्मानी शुद्ध स्थितिमां स्थिर करी दे छे.

पहले बताया गया है कि सावधवृत्ति आत्मा की विभाव दशा है और वह भव-परम्परा की हेतु भी है । उसका प्रत्याख्यान करने वाला साधक “पर” से हट कर “स्व” में स्थित हो जाता है । यहां तीन उदाहरण देकर उस विषय को स्पष्ट किया गया है । पक्षी अपनी तीक्ष्ण चंचु के द्वारा फल को छेद देता है और कभी कभी गुठली तक को भी मेद देता है । फिर वह उग नहीं सकती । राज्य-नायकों का आपसी वैर विरोध राज्य को टुकड़े टुकड़े कर देता है और जैसे कमल जल में पैदा होकर भी जल से अलग रहता है और अपने पत्र पर से जल बिन्दुओं को पृथक् कर देता है, उसी प्रकार प्रबुद्ध आत्मा अनादि कर्म पुद्गलों को आत्मा से पृथक् कर देता है । आचार्य कुमुदेन्दु इसके लिये सुन्दर रूपक देते हुए कहते हैं किः—

अन्तः सदैव जिन ! यस्य विभावसे स्वं भव्यः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।

एतत् स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि, यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥

— कल्याणमंदिरस्तोत्र श्लोक १६

हे ज्योतिर्मय देव । जिस देह-मंदिर में आप विराजित हैं, फिर भव्यात्मा अपने देह का परित्याग क्यों करते हैं ? इसके उत्तर में आचार्य स्वयं बोलते हैं—कि सज्जन पुरुषों का यह कार्य है कि जहां वे रहते हैं, जिनके मध्यस्थ बनते हैं उनका संघर्ष खतम कर देते हैं । अतः अंतःस्थित प्रभु भी आत्मा और शरीर के अनादि संघर्ष को खतम कर देते हैं ।

साधक आत्मा शरीर और आत्मा का संघर्ष समाप्त कर के निज रूप में आ जाता है । यह निज रूप ही जिन रूप है ।

टीकाः—शकुनी चंचु(शंकु)प्रघातं तथा वारि-पात्रधरो वज्रं रज्जु च विभज्य विभावयेताम् । मतार्थः॥

प्रोफेसर शुत्रिण् कुछ भिन्न मत रखते हैं । उनका कहना है कि जैसे पक्षी अनुकूलता पा कर ही अपने चंचु का उपयोग करता है और पखाली पट्टे तथा रस्सी का उपयोग करता है, उसी प्रकार जो साधक अपने आप को वश में नहीं रखता है, उसे भी शान्ति के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ता है ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । मतार्थः ।

वरिसवणामज्जयणं ॥

इति वरिसव-अर्हतर्षिप्रोक्तं अष्टावृक्षाध्ययनम्

आरियायन अर्हतर्षिप्रोक्त उन्नीसवाँ अध्यायन

आर्य कौन है ? । क्या जिसने आर्य जाति में जन्म लिया है वह आर्य है । यदि ऐसा है तो आर्यत्व केवल जून में ही रह जाएगा । आचार और विचार उससे शून्य रहेंगे ! । वस्तुतः जिसके विचारों में आर्यता है, जिसके आचार संस्कारी हैं, वही व्यक्ति 'आर्य' कहने लायक है । यदि आर्यत्व को पૈत्रिक मान लिया गया तो साधन का कोई मूल्य न रह जाएगा ।

आचार की पवित्रता विचारों की पवित्रता पर अवलम्बित है और विचारों की पवित्रता महापुरुषों के सान्निध्य से सुरक्षित रहती है । एक कहावत है 'जैसा है संग वैसा रा' । ननुष्य जिसके साथ रहता है वैसा ही बन जाता है । एक पश्चिमी विचारक कहता है कि—

Tell me with whom thou art found
and I will tell thee where thou art

— महाकवि गेटे

मुझे बताइए कि आप के संगी-साथी कौन हैं और मैं बता दूंगा कि आप कौन हैं । आर्यत्व की परिभाषा और उसकी रक्षा के उपाय बताना ही इस अध्याय का उद्देश्य है ।

सव्वमिणं पुराऽऽरियमासि आरियायणेणं अरहता इतिणा बुद्धं ।

यज्जेज्ज अणारियं भावं, कम्मं सेव अणारियं ।

अणारियाणि य मित्ताणि आरियत्तमुचट्ठिए ॥ १ ॥

अर्थ :—पहले यहाँ आर्यत्व ही था; इस प्रकार आरियायण अर्हतर्षि बोले । साधक अनार्य विचार और अनार्य आचार का परित्याग करे । इसके लिए अनार्य मित्रों का भी साथ छोड़ दे और आर्यत्व में प्रवेश करने के लिए तैयार हो जाए ।

गुजराती भाषान्तर :—

જુના જમાનામાં અહીંયા આર્યત્વ જ હતું, આમ આરિયાયણ અર્હતર્ષિ બોલ્યા. સાધક અનાર્ય વિચાર અને અનાર્ય આચારનો ત્યાગ કરે. આ માટે અનાર્ય મિત્રોનો પણ સાથ છોડી દો અને આર્યત્વમાં પ્રવેશ કરવો. માટે તૈયારી કરો.

भारत पहले आर्य-भूमि थी । जिसके विचारों में आर्यत्व था, उसके आचार में आर्यत्व बोलता था । पर आज भारत से आर्यत्व विदा ले रहा है । भारतीय मानस में अनार्य विचार पनप रहे हैं । उसके कर्मों में अनार्यत्व की छाया है । आर्थिक और सामाजिक शान्ति के लिए मानव सब से पहले आर्य बने । अनार्य विचार और अनार्य कर्म का परित्याग करे । इसके लिए साधक अनार्य व्यक्तियों का साथ छोड़ दे । फिर चाहे वे उसके अभिन्न मित्र ही क्यों न हों । यदि साथी अनार्य है तो जीवन में अनार्य वृत्ति प्रवेश अवश्य करेगी । एक कॉलेजियन स्टूडेंट यदि मांसाहारी मित्र के साथ क्लबों में घूमता है तो निश्चित ही कुछ दिनों में मुर्गी के अंडों को वेजिटेबल के रूप में उसकी बुद्धि स्वीकार कर लेगी । अतः अनार्यत्व के परिहार के लिए साथी का आर्य होना आवश्यक है ।

आर्यत्व की परिभाषा देते हुए अर्धमागधी कोश में शतावधानी रत्नचंद्रजी यह लिखते हैं कि: "आरात् सर्वदेय-धर्मेभ्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यार्यः" ।

सभी निन्दनीय और अहितकारी कार्यों को छोड़ कर व्यक्ति और समाज के लिए हित-प्रद गुण प्राप्त करना ही आर्यत्व है । जिसके द्वारा सामाजिक शान्ति-भंग न हो वे समस्त कार्य आर्यत्व की सीमा रेखा के अन्दर आ सकते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

જે જણા અણારિય ણિશ્ચં કમ્મં કુવ્વંત અણારિયા ।

અણારિયહિ ય મિત્તેહિ સીવંતિ ભવ-સાગરે ॥ ૨ ॥

अर्थ :—जो अनार्य मानव हैं, वे अनार्य मित्रों के साथ मिल कर हमेशा ही अनार्य कर्म करते रहते हैं । वे अनार्य जन भव-सागर में दुःखों को प्राप्त करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

જે અનાર્ય માનવી છે તેઓ અનાર્ય મિત્રોને મળીને હંમેશા અનાર્ય કર્મો જ કર્યા કરે છે તેઓ અનાર્ય જન ભવસાગરમાં દુઃખોને પ્રાપ્ત કરે છે.

जिनका जीवन अनार्य है और जिनके मित्र भी अनार्य ही हैं। अनार्य मित्र की प्रेरणा अनार्य कर्म की ही ओर ले जाएगी। किन्तु ये अनार्य कर्म उन्हें संसार कष्ट के सागर में डाल देते हैं।

संधिजा आरियं मग्गे, कम्मं जे वा वि आरियं ।

आरियाणि य मित्ताणि, आरियन्तस्सुत्तहिण । ३ ॥

अर्थ :—इसी लिए मानव आर्य मार्ग और आर्य कर्म को ग्रहण करे। आर्य साथी की खोज करे और आर्यत्व के लिए तत्पर रहे।

गुजराती भाषान्तर :—

भाटे मानव, आर्यभार्ये अने आर्यकर्मने सहसु करे, आर्य मित्रना शोधभांण रहे अने आर्यत्व भाटे कोशीश करे।

आर्यत्व के लिए सर्वे प्रथम आर्योपदिष्ट आर्यमार्ग की खोज करे। उसके आर्यत्व का परिरक्षण करे, अन्यथा आर्यत्व की ओर मैं यदि कहीं अनार्यत्व पनप रहा है तो वह ले डूबेगा।

महामुनि चित्त-चक्रवर्ती सम्राट् महादत्त को कहते हैं कि ठीक है, निदानकृत तप के कारण तुम आर्य मुनिधर्म को नहीं अपना सकते तो आर्यधर्म तो स्वीकार कर सकते हो।

जह तं सि भोगे चहुं असत्तो भज्जाह कम्माह करेहि शयं ।

धम्मे द्विओ सव्वपथाणुकंपी तो होहिसि देवो इओ विउब्बी ।—उत्तरा. अ. १३ गा. ३२

सम्राट् । यदि तू भोगों को त्यागने में अपने आप को असमर्थ पा रहा है तो कम से कम आर्यकर्म तो अपना ही ले। धर्म में स्थित हो कर सर्व प्राणिमात्र पर कृपा की धारा बहाओ तो भी तुम देव तो बन ही सकते हो।

इसमें आर्य-कर्म की व्याख्या बहुत कुछ आ ही गई है। विश्व के प्राणिओं पर कृपा तथा प्रेम बरसाना उनके साथ आत्मीयता और बन्धुता जोड़ना 'आर्य-कर्म' है।

जे जणा आरिया णिच्चं, कम्मं कुब्बंसि आरियं ।

आरियहि य मित्तेहि, सुच्चंति भवसागरा ॥ ४ ॥

अर्थ :—जो जन आर्य हैं और सदैव आर्य मित्रों के ही साथ रहते हैं, तथा आर्य-कर्म करते हैं, वे ही भव-सागर से मुक्त हो सकते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

जे जोओ आर्य छे अने हमेशा आर्यमित्रोना समागमभां ण रहे छे तथा आर्यकर्म करे छे, तेओ ण अव-सागरधी मुक्ता थई शई छे।

एक कहावत है कि "जैसा संग वैसा रंग"। इसी को किसी कवि ने कहा है: "कदली सीप भुजंग मुख, खाति एक गुन तीन। जैसी संगति बैठिए तैसाई गुन तीन"। खाति वक्षत्र का जल यदि केले का संग पाता है तो कपूर बनता है, यदि वह सीप में गिरता है ती मोती होता है और वही जल बिन्दु जब सर्प का साहचर्य पाता है तब विष का रूप पाकर प्राण घातक बन जाता है। कोयले के व्यापारी के हाथ काले हमेशा रहते हैं। इसके विपरीत अतारी के हाथ हमेशा खुशबू से महकते रहते हैं। पानी जब दूध का साथ करता है तो उसकी कीमत बढ़ जाती है। नदी की जल धारा से मिला हुआ तिनका सागर से आकर मिल जाता है। इसी प्रकार महापुरुषों का साहचर्य पाने वाला परमात्मा से जा मिलता है।

हजारों शिक्षा की अपेक्षा एक दलील श्रेष्ठ है, हजारों दलील की अपेक्षा एक दृष्टान्त दिल में जा बैठता है, किन्तु महापुरुषों का संग जीवन को बदलने के लिए हजारों दृष्टान्तों से भी अधिक सक्षम है।

आरियं णाणं साह, आरियं साहु दंसणं ।

आरियं चरणं साह, तम्हा सेवय आरियं ॥ ५ ॥

अर्थ :—आर्य का ज्ञान श्रेष्ठ है, आर्य का दर्शन श्रेष्ठ है और आर्य का चरित्र श्रेष्ठ है। अत एव सदैव आर्य की ही उपासना करनी चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

आर्यनुं ज्ञान श्रेष्ठ छे आर्यनुं दर्शन श्रेष्ठ छे, अने आर्यनुं चरित्र श्रेष्ठ छे, तेथी हमेशा आर्यनी ण उपासना करनी ओईओ।

जिस ज्ञान में आर्यत्व है वही सम्यक् ज्ञान है, जिस दर्शन में आर्यत्व है वही सम्यक् दर्शन है और जिस आचरण में आर्यत्व है वही सम्यक् आचरण है।

‘आर्य’ शब्द के प्राकृत में दो रूप मिलते हैं। पहला ‘अज’ और दूसरा है ‘आरिय’। आगम में ‘अज’ शब्द का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। साधु के लिए भी ‘अज’ शब्द का व्यवहार हुआ है।

अजो ह समणे भगवं महावीरे बहुणे समणे निगंथे

निगंथीओ य आभमंसेत्ता एवं वयासी ।-स्थानांग.; उपासक दशांग अ. २

महावीर भ्रमण निर्घन्थों को आर्य शब्दों से संबोधित करते हैं। आचार्य के लिए भी ‘अज’ शब्द बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है।

अज सुहम्मे समोसट्ठि ।-सुह. ध्रु. २ अ. १।

बाद के आचार्यों के लिए भी ‘अज’ शब्द काफी समय तक प्रयुक्त होता रहा है। अज संडिल, अज महागिरी, अज वडेर आदि अनेक आचार्यों के नाम के आगे भी यही ‘अज’ शब्द जुड़ा हुआ मिलता है। वही आर्यत्व यहां अपेक्षित है।

टीका :—किं रूपं तु तदार्यमिति आर्यं साधु ज्ञानादित्रयं तस्मादार्यं सेवस्व । गतार्थम् ।

एवं से सिद्धे बुद्धे णो इच्छत्थं पुणरपि हव्यं

आगच्छति त्ति वेमि । गतार्थम् ।

आरियायणज्जयणं

ऋषिभाषितेषु आरियायण-अर्हत्तर्षिप्रोक्तं एकोनविंशतितममध्ययनम्

उत्कलवाद

अर्हत्तर्षि प्रोक्त

वीसवीं अध्ययन

भारतीय दर्शन में कुछ दार्शनिक जडाहैतवादी हैं। जिनका विश्वास है कि विश्व में केवल अड तत्व ही काम कर रहा है। ये दर्शन कार प्रत्यक्ष-वादी होते जीवन और जगत् का रहस्य खोजने वाले। स्थूल आँखें कह उठीं कि जो कुछ सामने है वही सब कुछ है। स्थूल देह ही काम कर रहा है। इसके अतिरिक्त कहीं भी आत्म तत्त्व अवभाषित नहीं हो रहा है। अतः वे देहात्म-वादी ही रह गए हैं। देह के अतिरिक्त कोई आत्म-तत्त्व है ऐसा उनकी बुद्धि स्वीकार ही न कर सकी है।

यह देहात्म-वाद आत्म-तत्त्व का उच्छेद करता है। उसके विभिन्न रूप हैं। कोई अल्प रूप में तो कोई संपूर्ण रूप में आत्म तत्त्व का स्वीकार करता है। यही उत्कलवाद है। प्रस्तुत अध्याय देहात्म-वादियों की कहानी कहता है।

सिद्धि । पंच उत्कला पण्णात्ता, तं जहा-१ दंडुकले २ रज्जुकले ३ तेणुकले ४ वेसुकले ५ सञ्जुकले ।

अर्थ :—पांच प्रकार के उत्कल अर्थात् धर्म रहित चोर बतलाए गए हैं। दंड उत्कल, रज्जु उत्कल, स्तेन उत्कल, देश उत्कल और सर्व उत्कल।

गुजराती भाषान्तर :—

पांच प्रकारना उत्कल ओठले धर्म वगरना चोर छेवामां आव्या छे. दंड उत्कल, रज्जु उत्कल, स्तेन उत्कल, देश उत्कल, अने सर्व उत्कल.

स्थानांग सूत्र में पांच उत्कलों का निरूपण आता है। ‘पंच उत्कला पण्णात्ता तं जहा दंडुकले रज्जुकले० ।

ठा० सू० अ० ५ उ० ३।

प्रोफेसर शुब्रिग लिखते हैं कि यह संपूर्ण प्रकरण हेतुपूर्वक नहीं है। अतः असंगत लगता है। क्योंकि कि उसमें न तो ऋषि का नामोल्लेख है और न सुत्रालेख उद्देश्य ही बतलाया गया है। साथ ही जो भौतिकवाद यहाँ पर प्रतिपादित किए

गए हैं जब तक उनके परित्याग का सूचन नहीं किया जाता तब तक प्रस्तुत सूत्र में मूलभूत दृष्टि के साथ सामंजस्य नहीं बैठ सकता है। स्थानांग सूत्र में पंच उत्कल्यों का नामोल्लेख मिलता है। वहां पर उसका विस्तार नहीं है और न ऐसी परम्परा ही है। किन्तु टीकाकार मलयगिरि परम्परा के अभाव में उसके भावार्थ से इतना स्वल्प परिचय रखते हैं कि उत्कलति के साथ उत्कल को प्रस्तुत करते हैं। और बुद्धियति तथा रज्जु का रैय के साथ फिर से लिखते हैं। जो यथार्थतः कहा गया है वह निःसंदेह उत्कल है।

टीका:—उत्कटाः पंच प्रज्ञासाः, तद्यथा-दंडोत्कटो रज्जुत्कटः स्तेनोत्कटः देसोत्कटः सर्वोत्कटः। गतार्थः।

से किं तं दंडुकले। दंडुकले नार्म जेणं दंडविट्ठं तेणं आदिल्लमज्झवसाणाणं पण्णवणाए समुदय मेत्ताभिधाणइं णत्थि सरीरातो परं जीवोत्ति भयगत्तियोच्छेथं वदति, से तं दंडुकले।

अर्थ:—प्रश्न:—हे भगवन्! दंड उत्कट किसे कहते हैं?

उत्तर:—दंड-उत्कट उसे कहते हैं जिसके द्वारा आदि, मध्य और अन्त में रहे हुए की प्रकृति अर्थात् निरूपण की जाती है। यह समुदय मात्र अभिधान है शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। इस प्रकार जो भव-परंपरा के उच्छेद की बात कहता है वह दंडोत्कट है।

प्रश्न:—हे भगवन्! दंड उत्कट कोने कहेवाभां आवे छे?

उत्तर:—दंड उत्कट तेने कहे छे जेनाथी पूर्व, मध्य अने अन्तभां रहेवानुं निरूपण करवाभां आवे छे. आ समुदायात्मक नाम छे. शरीरथी कोठिणीजे आत्मा नथी. आ प्रकारे जे अवपरंपराना नाशनी बातो करे छे ते दंडोत्कट छे.

देहात्म वादी दर्शनकार देह में ही आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। उससे परे नहीं। जीवन क्या है? इसके उत्तर में वे यही कहते हैं कि मानव। तू कुछ नहीं पंच भूतों का समुदाय मात्र है। विराट् सागर ने कुछ जल कण दिए, अग्नि तत्व ने तुझे ऊष्मा दी, वायु ने तुझे प्राण दिये, वनस्पति तेरा आहार है, आकाश तेरा वितान है और पृथ्वी तेरी शय्या है। यही सब मिल कर तू है। इससे परे तेरा कुछ अस्तित्व नहीं है। देह के विकास के साथ तेरा विकास है और देह के विनाश के साथ तेरा विनाश है। देह के भस्म होने के बाद कौन है? क्या है? इसे आज तक कोई बता नहीं पाया है। शास्त्रों के नाम से जो कुछ लिख दिया गया है वे रंगीन कल्पना के महल हैं। स्वप्न के सुनहरे महलों से अधिक उनमें सचाई नहीं है। और ताश के महल से अधिक उनमें स्थिरता नहीं है। खाओ पियो और मौज करो।

चार्वाकदर्शनकार की वाणी बोलती है:

“यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः” ॥

“जब तक जीओ तब तक सुख से जीओ” इस में किसी के दो मत नहीं हो सकते। कोई भी दर्शनकार यह नहीं कहता है कि रोते रोते जीवन बिताओ। किन्तु किसी ने चार्वाक दर्शनकार से यह पूछा, कि सब कोई सुख से ही जीना चाहता है, किन्तु यह कैसे संभव है? पेट में तो चूहे कूदे और सुख की छांव में लेटे रहें। उसने कहा कि ऋण लाओ और घी पियो। यह भी ठीक है, पर ऋणदाता मांगने आएगा तो? “उसको उत्तर देगी तुम्हारी लाठी; घी खा पीकर पुष्ट बनो और जो पैसा मांगने आवे तो उससे लाठी से बात करो। दुबारा फिर कभी वह तुम्हारी तरफ देखेगा भी नहीं।” यह तो ठीक है, यहाँ पर तो लाठी फैसला कर देगी। पर एक दिन जीवन-लीला समाप्त होने पर जब हम रहाना होंगे तब कौन फैसला करने आएगा?

चार्वाक आचार्य बोले कि बस, यही तो तुम्हारा अज्ञान है। कैसा परलोक और कैसी दूसरी दुनिया। सब झूठे सपने हैं। वास्तव में देह की राख बनने के साथ देही की भी राख बन जाती है। फिर कौन आता है और कौन जाता है?

यह देहात्म-वाद ही है। जैन दर्शन इसे तज्जीव तच्छरीर वाद के नाम से पहचानता है। राजा प्रवेशी पूर्व जीवन में इसी वाद में विश्वास करता था।

यहाँ इसी देहात्म-वाद का निरूपण है। कुछ दार्शनिक दंड के दृष्टान्त से देहात्म-वाद से प्रतिपादित करते हैं।

१ संति पंच महद्भूता इह मेवोत्ति आहिता। पुटकी आज य तैज य तहा वाठ आतास पंचमा। एए पंच महद्भूता तेव्भो एवोत्ति आहिया। अह तेसिं विणासेण विणासो होइ देहिणो। स. ख. १ अध्ययन १ गाथा १५।

जैसे दंड के आदि मध्य और अन्त हैं, इसी प्रकार शरीर की आदि है, मध्य है और अन्त है। अथवा दंड के आदि मध्य और अन्त में रही हुई प्रस्थियों ही उसके विकास की हेतु हैं। इसी प्रकार शरीर के आदि मध्य और अन्त में रही हुई विशेष प्रस्थियों ही उसके विकास की हेतु हैं। इसके अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है।

इस प्रकार देह को ही सब कुछ मान लेने पर भव-परम्परा का स्वतः उच्छेद हो जाता है। क्योंकि देह हमारी आत्माओं के सामने ही चिता में भस्म हो जाती है। उससे परे दूसरा कोई तत्व नहीं है। फिर शुभाशुभ कर्म जैसी कोई वस्तु नहीं रहेगी। आत्म-तत्त्व को अस्वीकार करते ही पुण्य, पाप और साधना आदि समस्त क्रिया एक बिना की शून्य हो जाती है। उसका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है। इसीलिए देहात्मवाद समस्त अदृष्ट तत्वों को मानने से इन्कार करता है।

टीका :—दंडोष्कटो नाम यो दंडदृष्टान्तेनाद्य-मध्या-वसानानां प्रज्ञापनया समुदयमात्रं शरीरमित्येताभ्यभिधानानि व्याहरन् नास्ति शरीरात् परंजीवेत्येतेन प्रवादेन च भवगतियवच्छेदं वदति। गतार्थः।

प्रोफेसर शुब्रिंग लिखते हैं कि जो लकड़ी का दृष्टान्त देता है, लकड़ी का आरम्भ मध्य और अन्त बतलाता है, वह केवल समुदय मात्र है वह शरीर में आत्मा को भिन्न नहीं मानता है। अतः नष्ट जन्म रूप में पुनर्जन्म के व्यवच्छेद का प्रतिपादन करता है।

से किं तं रज्जुकले ? । रज्जुकले णामं जे णं रज्जुविट्ठतेणं समुदयमेत्तपण्णवणा ।

पंचमहाभूत-खंडमेत्तभिधानां; संसारसंसृतिवोच्छेदं वदति, से तं रज्जुकले ॥ २ ॥

अर्थ :—प्रश्न : रज्जुकल क्या है।

उत्तर :—रज्जुकल वह है जिसके द्वारा जो रज्जु के दृष्टान्त से समुदय मात्र की प्ररूपणा करता है। यह जीवन पंचमहाभूतों के स्कन्ध का समूह मात्र है। इस प्रकार जो संसार=संसृति परंपरा का उच्छेद करता है वह रज्जुकल है।

प्रश्न :—रज्जुकल शृं छे ?

उत्तर :—रज्जुकल शृं छे, जेना भारइत रज्जुना दृष्टान्तथी समुदय मात्रणी प्ररूपणां करे छे आ जीवन पांच महाभूतोंना स्कन्धनी समुह छे, आ रीते जे संसार परंपरातो उच्छेद करे छे, ते रज्जुकल छे।

कुछ दार्शनिक आत्मवाद के प्रतिपादन के लिए रज्जु का उपमान दिया करते हैं। रज्जु रस्सी क्या है ? भागों का समूह ही रज्जु है। इसके अतिरिक्त रस्सी का अस्तित्व ही कहाँ है ? इसी प्रकार जीवन क्या है ? पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच महाभूतों का समुदय (समूह) ही जीवन है। जब तक ये समवेत हैं तब तक ही जीवन है। घड़ी के छोटे बड़े सभी पुर्जे मिल कर चलते हैं सभी तक कहा जाता है कि घड़ी चलती है। उसमें से एक नन्ही-सी स्प्रिंग भी निकल जाती है तो घड़ी बन्द हो जाती है। इस प्रकार यह उत्कट वादी संसार संसृति का उच्छेद करता है। किन्तु उसके सामने हमारा यह तर्क है कि पंच महाभूत हैं, सभी तक जीवन है। तो मृत शरीर में कौन-सा तत्व कम हो गया ? वह क्यों नहीं खाता, क्यों नहीं बोलता ? आप कहेंगे कि वायु तत्व नहीं है, तो पंप से हवा भर दीजिए; वायु है फिर तो श्वास-प्रक्रिया चालू हो जानी चाहिए। यदि आप कहते हैं, कि तेज तत्व का अभाव हो गया है तो बिजली का करंट छोड़ दीजिए। फिर तो उसे चल देना चाहिए। बिजली के करंट से शव का चलना तो दूर रहा वह करवट भी नहीं बदलेगा। बिजली उसे जला भले ही डाले, पर उसमें जीवन नहीं डाल सकती है। फिर कौन सर गया ? कौन-सा तत्व निकल गया जिसके अभाव में आप उसे मृत घोषित करते हैं। शरीर के रूप में पृथ्वी तत्व उपस्थित है, पानी है ही, आकाश सर्वव्यापी है, फिर अभाव किस चीज का है ? आप कहेंगे कि वह सूक्ष्म प्राण वायु चला गया, जो कि समस्त जीवन शक्ति का केन्द्र था तो आप जिसे सूक्ष्म प्राण वायु मानते हैं वही हमारी दृष्टि से अतीन्द्रिय आत्मा है। जिसके अभाव में जीवन की क्रिया बन्द हो जाती है।

पर देहात्म-वादी इस मध्यान्ह के सूर्य की भांति चमकते हुए सत्य को स्वीकारने से इन्कार कर देते हैं।

टीका :—रज्जुकटो नाम रज्जुदृष्टान्तेन समुदयमात्रशरीरप्रज्ञापनया पंचमहाभूतस्कन्धमात्रं शरीरमित्येताभ्यभिधानानि व्याहरन् संसारसंसृतिव्यवच्छेदं वदति। गतार्थः।

से किं तं तेणुकले ? । तेणुकले णामं जे णं अणसत्थदिट्ठंतगाहेहिं सपक्खुम्भावणानिरप “मम ते पत”मिति परकरुणच्छेदं वदति, से तं तेणुकले ।

अर्थ :—प्रश्न : भगवन् ! तेणुकल=सेनोत्कट किसे कहते हैं ? ।

उत्तर :—स्तेनोक्त उसे कहते हैं, कि जिसके द्वारा अन्य शास्त्रों की दृष्टान्त गाथाओं से जो अपने पक्ष की सहायता में निरस्त रहता है। ये शास्त्र भरे हैं ऐसा कह कर दूसरे की कृपा को नष्ट करने वाली बात कहता है वह। स्तेनोक्त कहलाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

प्रश्न :—अगवन् ! तेष्कुछल=स्तेनोक्त कोने कहे छे ?

उत्तर :—स्तेनोक्त तेने कहे छे ते जेनाथी भील शास्त्रोनी दृष्टान्त—गाथाओधी जे पोताना पक्षना प्रतिपादन-भां छंभेशा तत्पर रहे छे. आ शास्त्र भारां छे आभ कहीने भीलनी करुणाने, नाश करनारी बात कहे छे ते स्तेनोक्त कहेवाय छे.

दूसरे की वस्तु का अपहरण स्तेनवृत्ति अर्थात् चोरी है। चोरी वस्तु की ही नहीं विचारों की भी होती है। दूसरे के साहित्य को अपने नाम से प्रकाशित कर देना यदि साहित्यिक चोरी है तो दूसरे के विचारों को तोड़-भरोड़ कर रखने, उसके वचनों का गलत आशय निकालना भी एक प्रकार की चोरी ही है।

कुछ देहात्म-वादी व्यक्ति दूसरों के सिद्धान्तों और गाथाओं को विकृत रूप में लेकर अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करना चाहते हैं। यह सब भोली जनता को भुलावे में डालने के तरीके हैं। तुम्हारे सुनि भी तो ऐसा कह कर विचारकों के विचारों को गलत रूप में रखते हैं। यह भी एक प्रकार की चोरी ही है।

जिन शास्त्रों से दूसरों के प्रति कृपा भाव समाप्त हो जाता है, हृदय से कोमलता के अंकुर मिट जाते हैं उन शास्त्रों को अपना कहना स्तेनोक्त है। देहात्मवाद अपने मिथ्या सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए कृपा शील महापुरुषों के वचनों का उपयोग करता है। सैतान भी अपना काम बनाने के लिए शास्त्रों की दुहाई देता है। साथ ही देहात्मवाद कोमलता के अंकुर को समाप्त कर देता है। क्योंकि आत्मा के अस्तित्व के सद्भाव में अहिंसा और दया का सद्भाव है।

टीका :—स्तेनोक्तो नाम यो अन्यशास्त्रदृष्टान्तमाहस्वरूपोऽज्ञाचनानिरतो ममैवदिति व्याहरन् करुणच्छेदम् षडिति। गतार्थः।

प्रोफेसर शुब्रिग मित्र मत रखते हैं : तीसरा उत्कट ऐसे ध्याज से रखने वाला है। अपना दृष्टिबिन्दु दृष्टान्त के साथ भार पूर्वक प्रस्तुत करना उसे प्रिय लगता है। दूसरे के मूल ग्रन्थों में से कुछ लेता है उसके लिए गर्वोक्ति कर सम भाव का उच्छेद करता है।

प्रश्न :—से किं तं देसुकले ?।

उत्तर :—देसुकले णामं जे णं अत्थिअ एस इति सिद्धे जीवरस अकसादिपहिं गाहेहिं देसुच्छेयं वदति, से तं देसुकले।

अर्थ :—प्रश्न :—प्रमो ! देशोक्त क्या है ?

उत्तर :—देशोक्त वह कहा जाता है जो आत्मा के अस्तित्व को मान कर भी आत्मा को अकर्ता आदि बताता है। वह आत्मा के एक देश का उच्छेद करता है, वह देशोक्त है।

गुजराती भाषान्तर :—

प्रश्न :—अगवन् ! देशोक्त शुं छे ?

उत्तर :—देशोक्त तेने कहे छे जे आत्माना अस्तित्वने भानीने आत्माने अकर्ता माने छे ते आत्माना ओछ देशनो नाश करे छे ते देशोक्त छे.

कुछ दार्शनिक आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के संबन्ध में मतभेद रखते हैं। आत्मा को मानते हुए भी सांख्य दर्शन उसे कर्ता नहीं मानता है। वह आत्मा को नहीं प्रकृति को कर्ता मानता है। यद्यपि जैनदर्शन भी शुद्ध निश्चय दृष्टि के अनुसार आत्मा को पुद्गलादि का कर्ता नहीं मानता है। फिर निश्चय दृष्टि भी स्वभाव परिणति का तो कर्ता मानती है। सांख्य दर्शन आत्मा के भोक्तृत्व रूप को तो स्वीकार करता है किन्तु उसके कर्तृत्व रूप को अस्वीकार करता है। यह देशोक्त कहलाता है।

टीका :—देशोक्तो नाम यो अस्ति न्वेष जीवेति सिद्धे सत्यकर्त्रादिकैर्ग्राहैर्जीवस्य देशोच्छेदमपूर्णच्छेदं वा चक्षति ।
मतार्थः ।

प्रोफेसर शुब्रिङ्ग लिखते हैं, कि चतुर्थ उत्कट उधार ली हुई दलीलों से आत्मा के अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है । शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर भी उसके समस्त गुणों को स्वीकार नहीं करता है ।

प्रश्न :—से किं तं सञ्चुकले ? ।

उत्तर :—सञ्चुकले णामं जेणं सञ्चतो सञ्चसंभवाभावा णो तच्चं सञ्चतो सञ्चहा सञ्चकालं च अतिथिस्ति सञ्चवर्द्धं चक्षति; से तं सञ्चुकले ।

अर्थ :—प्रश्न :—भगवन् ! सर्वोत्कट क्या है ?

उत्तर :—सर्वोत्कट उसे कहते हैं जो समस्त पदार्थ सार्थ को सर्वथा ही असत्य मानता है । सर्वथा सर्वकाल में पदार्थ सार्थ का अभाव है । इस प्रकार सर्व विच्छेद की बात करता है वह सर्वोत्कट है ।

गुजराती भाषान्तर :—

प्रश्न :—भगवन् ! सर्वोत्कट शुं छे ?

उत्तर :—सर्वोत्कट तेने कहे छे के जे अध्या पदार्थोंने हंमेशा असत्य माने छे, हंमेशा सर्वकालमां पदार्थोंने अभाव छे, आ रीते अधी विच्छेदनी बातो करे छे ते सर्वोत्कट छे ।

कुछ दार्शनिक सर्वोच्छेद-वादी होते हैं । वे आत्मा के गुण धर्मों में से एक को भी नहीं स्वीकार करते । जिस व्यक्ति को आत्मा पर विश्वास नहीं है वह परमात्मा पर भी विश्वास नहीं कर सकता है, क्योंकि आध्यात्मिक साधना का प्रथम सोपान आत्म-तत्त्व की स्वीकृति है । जिसे यह भी पता नहीं कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, वह साधना के क्षेत्र में क्या गति करेगा । पर सर्वोच्छेद-वादी आत्मा और उसके समस्त पर्यायों के अस्तित्व से इन्कार करता है ।

उद्धं पायतला अहे केसग्गमत्थका एस आता-पज्जवे कसिणे तय परियन्ते जीवे, एस जीवे जीवति । एतं तं जीवितं भवति, से जहा णामते दहेसु वीएसु ण पुणो अंकुरप्पत्ती भवति एवमेव दहे सरीरे ण पुणो सरीरुप्पत्ती भवति ।

अर्थ :—ऊपर से पद तल तक और नीचे से मस्तक के केशाग्र तक आत्मा के पर्याय है । शरीर की त्वचा पर्यन्त जीव है । यह जीव का जीवन है । उस को जीवित कहा जाता है । जैसे जले हुए बीजों में फिर से अंकुर नहीं निकल सकते; इसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

गुजराती भाषान्तर :—

ઉપરથી પગસુધી અને નીચેથી માથાના કેશાગ્ર સુધી આત્માનાં પર્યાય છે. શરીરની ત્વચા (ચામડી) સુધી જીવ છે, આ જીવનું જીવન છે. તેને જીવિત (ચેતન) કહેવામાં આવે છે. જેમ બીજામાં બીજામાં ફરીથી અંકુરો નથી નીકળી શકતા, તેવીજ રીતે શરીરનો નાશ થઈ જવાથી ફરીથી શરીરની ઉત્પત્તિ નથી થઈ શકતી.

इसी नास्तिक-वाद की विशेष व्याख्या दी गई है । अनात्मवादी दार्शनिक स्थूलग्राही होता है । वह यह कहता है कि पद तल से केशाग्र तक आत्मा है यही जीव है । देह के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई दूसरी स्वतंत्र वस्तु भी है ऐसा वह नहीं स्वीकार करता है । देहात्मवादियों के अनुसार भव-परम्परा संभव नहीं है । इसका हेतु वे इस रूप में देते हैं । बीज से वृक्ष पैदा होता है यह निश्चित सिद्धान्त है, किन्तु जब बीज ही जल गया तो अंकुर कैसे फूटेंगे ? इसी प्रकार अगले जन्म का बीज शरीर है । जब शरीर ही जल गया तो अगला जन्म कैसे संभव है ? ।

देह को बीज मानने वाले कुछ दार्शनिक ऐसा भी मानते हैं कि पुरुष मर कर पुरुष होता है और स्त्री मर कर स्त्री होती है । 'जैसा बीज वैसा फल' यह ध्रुव सिद्धान्त है । पंचम गणधर सुधर्म स्वामी भगवान् महावीर के परिचय में आने के पूर्व इसी फिलॉसॉफी में विश्वास रखते थे । भगवान् महावीर ने उनका समाश्रान करते हुए कहा था कि यह निश्चित है कि जैसा बीज होगा वैसा ही फल होगा । किन्तु बीज की व्याख्या में अन्तर है । स्थूल देह बीज नहीं है । बीज तो है देह में रहे हुए आत्मा के शुभाशुभ अव्यवसाय । वे ही बीज हैं और उन्हीं के अनुसृत आत्मा अगला जन्म पाता है ।

१. जो जीवे वि म याणइं अजीवे याणइ । जीवाजीवे अयाणतो कइं सोणादिइ संजम । -दशवै० अ० ४.

इह मेवेसं णो सण्णा भवइ के अहं आसी के वा इत्थं सुओ इह पेच्च भविरसामि । -आचारांग सूत्र ।

देहात्म-वादी स्थूल देह को ही बीज मानते हैं। परन्तु देह तो पित्त में भस्म हो जाता है अतः आत्मा बीज के अभाव में नया जीवन पा नहीं सकता।

टीका :—एतं नास्तिकवादमुदाहरति यथा-ऊर्ध्वं पादतलेऽधः केशाग्रमस्तकैशमपर्यायः कृत्स्नस्त्वक्पर्यन्तो जीवः। एष जीवो जीवति, एतज्जीवितं भवति यथा दग्धेषु बीजेषु न पुनरंकुरोत्पत्तिर्भवति, एवमेव दग्धे शरीरे न पुनः शरीरोत्पत्तिर्भवति। गतार्थः।

तम्हा इणमेव जीवितं; णत्थि परलोए, णत्थि सुकड-दुक्कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसे णो पञ्चायंति जीवा, णो फुसंति पुण्ण-पावा, अफले कल्लाण पावए, तम्हा एतं सम्मं ति भेमि। उद्धं पायतला अहे केसग्गमत्थगा एस आया प(जवे) क(सिने) तथा परितं ते एस जीवे, एसा मडे णो एतं तं से जहा णामते दहेसु बीजसु ण पुणो अंकुरोत्पत्ति भवति एवमेव दहे शरीरे णो पुणो सरीरुप्पत्ती भवति। तम्हा पुण्ण पावग्गहणा सुह-दुक्खसंभवाभावा शरीरं दहेसा पावकम्माभावा शरीरं डहेसा णो पुणो सरीरुप्पत्ती भवति।

अर्थ :—अतः यही जीवन है। पर लोक जैसी कोई वस्तु नहीं है। सुकृत और दुष्कृत कर्मों का कोई फल भी नहीं है। आत्मा पुनः आता भी नहीं है। पुण्य और पाप आत्मा को स्पर्श नहीं करते। पुण्य और पाप वस्तुतः निष्फल ही है। इस लिए मैं ठीक कहता हूँ कि ऊर्ध्व पाद तल से मस्तक के केशाग्र तक यही आत्मा है। यही त्वचा पर्यन्त जीव है। यह हस्तमलकवत् ज्ञात है। जैसे दग्ध (जली हुए) में पुनः अंकुरोत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार दग्ध शरीर से पुनः शरीरोत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः पुण्य पाप के ग्रहण करने से सुख-दुःख का अभाव है और शरीर को जला देने पर पाप कर्म का अभाव है। अतः शरीर और आत्मा को जला देने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति संभवित नहीं है।

गुजराती भाषान्तर :—

भाटे आ જ છવન છે, પરલોક એવી કોઈ વસ્તુ નથી. સુકૃત (સુકાર્ય) અને અકૃત (ખરાબ કરેલ) કર્મોતું કઈ પણ ફળ નથી. આત્મા અહિંયા ફરીથી આવતો પણ નથી. પુણ્ય અને પાપ આત્માને સ્પર્શ (અડકતાં) પણ નથી. પુણ્ય અને પાપ વસ્તુતઃ નીષ્ફળ જ છે. આથી હું ઠીક કહું છું કે ઉર્ધ્વ પગના તલીયાથી માથાના કેશાગ્ર (વાળના આગળના છેડા) સુધી આ આત્મા છે, આ ત્વચા (ચામડી) સુધી છવ છે, આ હસ્તામલકવત્ (હાથમાં રાખેલા આવળાની માફક) બેવાય છે જેમ બળેલા બીજોમાં ફરીથી અંકુરની ઉત્પત્તિ નથી થતી તેજ પ્રમાણે બળી ગયેલ શરીરથી ફરી શરીરની ઉત્પત્તિ થતી નથી. અતઃ પુણ્ય-પાપના અહણ કરવાથી સુખદુઃખનો અભાવ છે. અને શરીરને આળી નાખવાથી કર્મોનો નાશ થાય છે. અતઃ શરીર અને આત્માને આળી નાખવાથી ફરીથી શરીરની ઉત્પત્તિ થતી જ નથી.

देहात्म-वाद स्वीकार कर लेने के बाद पुण्य और पाप जैसी कोई वस्तु नहीं रहती है। क्योंकि पुण्य-पापदि कर्म चैतन्य से संबन्धित रहते हैं। क्योंकि आत्मा के शुभाशुभ अव्यवसाय ही पुण्य पाप के मूल हेतु हैं। देहात्म-वाद के सिद्धान्त में देह के भस्म हो जाने पर सब कुछ भस्म हो जाता है। फिर दूसरे तत्त्वों की संभावना ही कैसे होगी ?

टीका :—तस्मादिदमेव जीवितं नास्ति परलोको नास्ति सुकृतदुष्कृतकर्मणां फलवृत्तिविशेषः। न प्रत्यावाप्ति जीवा न स्पृशन्ति पुण्यपापे अफलं कल्याणपापकं। तस्मादेतत् सम्यग् इति ब्रवीमि यथोर्ध्वमित्यादि यावत् त्वक्पर्यन्तो जीवः। एष मृतो नैतज्जीवितं भवति। यथा नाम दग्धेषु बीजेष्वन्यांकुरोत्पत्तिर्भवति। एवमेवाऽदग्धे शरीरेऽन्यांकुरोत्पत्तिर्भवति। तस्मात्तपःसंयमाभ्यां मूले शरीरं दग्ध्वा न पुनः शरीरोत्पत्तिर्भवतीति। ||विहितपुस्तकानुसारेणाध्याहार्यम्। नास्तिकं प्रयुक्तं तस्मात् पुण्य-पापग्रहणात् कर्मलब्धसुखदुःखसंभवाभावाच्छरीरदाहं पापकर्माभावाच्च शरीरं दग्ध्वा न पुनः शरीरोत्पत्तिर्भवति। अकटाध्ययनम्।

यही जीवन है। परन्तु सुकृत, दुष्कृत और कर्म फल जैसा कोई तत्त्व नहीं है। आत्मा पुनः लौट कर नहीं आता है। पुण्य पाप आदि कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते हैं। अतः कल्याण अर्थात् पुण्य और पाप निष्फल हैं। इसी लिए मैं सम्यक् प्रकार से कहता हूँ कि त्वचा पर्यन्त ही जीव है। ऋषि देहात्मवाद का खंडन करते हैं कि, यह शरीर तो मृत है। अतः यह व्याख्या गलत है। ऐसा जीवन नहीं हो सकता। जिस प्रकार बिना जले हुए बीजों से दूसरे अंकुर फूट पड़ते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के नहीं जलने से दूसरे शरीर की उत्पत्ति हो जाती है। अतः तप और संयम के द्वारा मूल शरीर को जला देने पर पुनः दूसरे शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरी चिन्हित प्रति के अनुसार यहाँ यह पाठ अध्याहार्य

है। इस प्रकार नास्तिकवाद का खंडन किया गया है। अतः पुण्य पाप के ग्रहण से होने वाले कर्मजन्य सुख-दुःख का अभाव होता है और शरीर के जलने पर पाप कर्म का अभाव होता है, तभी स्वयं देही अतः पुनः शरीर को नहीं उत्पन्न करता है।

प्रस्तुत अध्ययन में देहात्मवाद का ही निरूपण है। सूत्र के शैली के अनुरूप ही अर्हतर्षि का नाम भी नहीं है। अतः सूत्र की शैली से इस अध्ययन की शैली भिन्न पड़ जाती है। साथ ही संपूर्ण अध्ययन देहात्मवाद चार्वाक-दर्शन के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर के रह जाता है। उसका प्रतिवाद नहीं करता है। प्रोफेसर शुमिग भी प्रस्तुत अध्याय की इन कमियों की ओर लक्ष्य खींचते हैं।

टीकाकार प्रस्तुत अध्ययन के अन्त में अन्य पुस्तकों का आधार लेकर देहात्मवाद का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि स्थूल देह तो चिता में राख की ढेर हो जाता है। किन्तु सूक्ष्म देह आत्मा के साथ रहता है। जैन दर्शन के अनुसार कर्मण्य शरीर भवस्व आत्मा के साथ सदैव रहता है। स्थूल आग उसे जला भी नहीं सकती है। और वही शरीर अन्य शरीर की उत्पत्ति का हेतु है। साधक तप और संयम के द्वारा सूक्ष्म देह को भस्म कर देता है, तो पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती।

एवं से युद्धे०। गतार्थः।

उत्कल-वाद नामकं विंशतितममध्ययनम्

गाहावती-पुत्र तरुण अर्हतर्षि प्रोक्त

इकीसवां अध्ययन

एक आगम का वाक्य है कि “जावन्ति अविज्ञा पुरिसा खवे ते दुक्खसंभवा”-मगवान महावीर। जब तक अज्ञान है तब तक दुःख रहेगा ही। साधक जीवन का लक्ष्य है अन्धकार से। प्रकाश की ओर आए अज्ञान से ज्ञान की ओर आना ही हमारी साधना का लक्ष्य है। ज्ञान जलती हुई मशाल है, उसके प्रकाश में हम प्रशस्त पथ की ओर आगे बढ़ते हैं। ज्ञान अनुभव की बेदी है। किसी अंग्रेजी विचारक ने ठीक कहा है कि Wisdom is to the soul what health is to the body आत्मा के लिए ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना शरीर के लिए स्वास्थ्य। गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि :-

यथैवांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ —श्रीकृष्ण-गीता।

हे अर्जुन ! जिस प्रकार जलती हुई अग्नि इंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार से ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान का व्यय सत्य है और सत्य ही आत्मा की भूख है।

The aim of knowledge is truth, and truth is need of soul-लेसिंग्।

अज्ञान जीवन की वह अंधेरी रात है जिसमें न चाँद है, न तारा। कन्फ्यूसस कहते हैं:-

Ignorance is night of the mind but a night without moon or stars.

प्रस्तुत अध्याय में तरुण अर्हतर्षि “गाथापतिपुत्र” अज्ञान से मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं।

सिद्धि। गाहं पुरा किंचि जाणामि सव्वलोकांसि गाहावतिपुत्तेण तरुणेण अरहता इसिणा बुद्धं।

अर्थ :- मैं पहले समस्त लोक में कुछ भी नहीं जानता था। इसप्रकार “गाथापतिपुत्र” तरुण अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तर :-

हू पड़ेला आ विशाख दुनियाभां कुंठ न जाणुतो न छतो. आ प्रभासे “गाथापतिपुत्र” तरुण अर्हतर्षि जोड्या.

प्रस्तुत अर्हतर्षि के संश्रय में तरुण विशेष महत्त्वपूर्ण संकेत देता है। उठता हुआ तारुण्य में युवक ‘गाथापतिपुत्र’ ने अपने जीवन को भोग से योग की ओर मोड़ दिया। जीवन के निर्बन्ध प्रवाह में हजारों युवक बह जाते हैं। जब गाथा-

पति पुत्र वह कुशल इजिनियर था कि जिसने उस प्रवाह की गति को दूसरी ओर मोड़ दिया। 'गाथापति-पुत्र' शब्द पारिवारिक संपन्नता का ध्वनि रखता है। जीवन के प्रांगण में प्रवेश करते हुए लक्ष्मी के पायलों की झंकार उसकी आत्मा को वासना से बांधने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु साधना की लहरों ने उन्हें बंधने नहीं दिया। इसीलिए आगमकार ने तद्वन विशेषण के साथ अर्हर्तर्षि का स्मरण किया है।

अण्णाणमूलकं खलु भो पुंस्वं न जानामि न पासामि नोऽभिसमावेमि नोऽभिसंबुज्जामि, नाण-मूलकं खलु भो इयानिं जानामि पासामि अभिसमावेमि अहिसंबुज्जामि ।

अर्थ :—पहले मेरा जीवन अज्ञान के अन्धकार में था, अतः पहले मैं नहीं जानता था, न देखता ही था, न मैं सम्यक् प्रकार से जानता ही था, न मुझे उसका अवबोध ही था। अब ज्ञान के प्रकाश से मेरी आत्मा आलोकित है। अतः मैं अभी जानता हूँ, देखता हूँ, पदार्थ सम्यक् अवबोध रखता हूँ, और उसका यथार्थ ज्ञान भी मैं रखता हूँ।

गुजराती भाषान्तर :—

हमेशा भुंधी भाई जीवन अज्ञानता अंधकारमां હતું, આથી પહેલાં હું બાણુતો ન હતો, બેતો ન હતો, ન હું સારી રીતથી બાણુતો હતો, ન મને સમબોધ હતી. પણ હવે જ્ઞાનના પ્રકાશથી મારો આત્મા પ્રકાશિત થયો છે. હવે હું બાણું છું, બેઉં છું, પદાર્થોનું સમ્યક્-સારીરીતે બાણું છું અને તેનું યથાર્થ જ્ઞાન પણ મને થયું છે.

अज्ञान वह अंधेरी रात है जिसकी कालिमा में हीरे की चमक और कंकर की बदरूपता एक समान हो जाती है। अन्धकार में पत्थर भी हीरा है और हीरा भी पत्थर है। दोनों का एक मोल है, एक तोल है। उजाले में परस्पर संभव है। असली और बनाबट हीरे का भेद प्रकाश ही बताता है; इसी लिए जहां अज्ञान है, वहां अन्धकार है और अन्धकार अपने आप में एक विपदा है।

टीका :—नाहं पुरा किंचिज्जानामि सर्वलोके-अज्ञानमूलं अज्ञानं कारणं यथा तथा खलु भो पूर्वं न जानामि न पश्यामि नाभिसमवेमि नाभिसंबोधामि। ज्ञानमूलं खलु भो इदानीं जानामि यावदभिसंबोधामि। गतार्थः।

अण्णाणमूलयं खलु मम कामेहिं किञ्चं करणिज्जं, नाणमूलयं खलु मम कामेहिं अकिञ्चमकरणिज्जं। अण्णाणमूलयं जीवा चाउरंतं संसारं जाव परियट्ठसि, नाणमूलयं जीवा चाउरंतं जाव वीयीवयंसि, तम्हा अण्णाणं परिवज्ज नाणमूलकं सब्बदुक्खाणं अंतं करिस्सामि, सब्बदुक्खाणमंतं किञ्चा शिवमचल जाव सासतं चिट्ठिस्सामि।

अर्थ :—ज्ञानविहीन अवस्था में मैं ने काम के वश में होकर कार्य किए हैं। ज्ञानमूलक अवस्था में मेरे लिये काम से प्रेरित होकर कोई भी काम अकरणीय है। उस ज्ञान विहीन आत्माएँ चातुरन्त संसार अरण्य में परिभ्रमण करते हैं। ज्ञानमूलक आत्माएँ चातुरन्त संसार की कंदीली राह को पार करते हैं। अतः अज्ञान का परित्याग करके मैं ज्ञान द्वारा समस्त दुःखों की परिसमाप्ति करूंगा और समस्त दुःखों का अन्त कर के शिव अचल यावत् शाश्वत स्थान को प्राप्त करूंगा।

गुजराती भाषान्तर :—

અજ્ઞાનાવસ્થામાં મેં કામને વશ થઈને ઘણા કાર્યો કર્યા છે. જ્ઞાનયુક્ત અવસ્થામાં મારે માટે કામથી પ્રેરિત થઈને કોઈ પણ કાર્ય અકરણીય (નકરવા યોગ્ય) છે. જ્ઞાન વગર આત્માઓ ચાતુરન્ત સંસારરૂપી અરણ્ય (ગહન રણ) માં ફેરે છે. જ્ઞાનમૂલક આત્માઓ ચાતુરન્ત સંસારના કાંટાવાળા રસ્તાને પાર કરે છે. અજ્ઞાનનો ત્યાગ કરીને હું જ્ઞાનદ્વારા બધાં દુઃખોની સમાપ્તિ કરીશ અને બધા દુઃખોનો અંત (નાશ) કરીને શિવ (કલ્યાણ) અચલ શાશ્વત સ્થાનને મેળવીશ.

जहां अज्ञान है वहां वासना है। ज्ञान विहीन आत्मा काम के इशारों पर नाचता है। जब कि ज्ञानी की इच्छाएँ उसके इशारों पर चलती हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है। एक वासना का गुलाम है, दूसरे के लिए वासना सेविका है। यही कारण है, कि वासना के संकेत पर कदम उठाने वाला आत्मा अपने हर कदम के साथ अशान्ति को निमग्नण देता है। उसका प्रत्येक कार्य भव-परम्परा की विपैली लता का एक बीज है। जहां ज्ञान है, वहां वासना का अभाव है, दुःखों का उपशमन है। ज्ञानी आत्मा के शाश्वत छल का वह सखा है और वह समस्त दुःख-परम्परा का मूलोच्छेद करके शिव शाश्वत आत्मस्थिति को प्राप्त करता है।

टीका :—अज्ञानमूलं खलु मम कामैः कृत्यं कारणीयम्, ज्ञानमूलं खलु मम कामैरकृत्यं अकारणीयम्। अज्ञानमूलं जीवाचातुरंतसंसारं परिवर्तन्ते, ज्ञानमूलं जीवास्तं व्यतिपत्तन्ति, तस्मादज्ञानं परिवर्ज्य ज्ञानमूलं सर्वदुःखानामन्तं करिष्यामि, कृत्वा शिवमचलं यावच्छाश्वतं स्थानमभ्युपगतः स्थास्यामि। गतार्थः।

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं ॥ १ ॥

अर्थ:—अज्ञान ही बहुत बड़ा दुःख है। अज्ञान से ही भय का जन्म होता है। समस्त देहधारियों के लिए भव-परम्परा का मूल विविध रूप में व्याप्त यह अज्ञान ही है।

गुजराती भाषान्तर:—

अज्ञान જ મોટું દુઃખ છે, કેમકે અજ્ઞાનથીજ ભયનો જન્મ થાય છે; અધા માનવીને માટે ભવપરંપરાનું મૂળ જુદા જુદા રૂપમાં વ્યાપી રહેલ આ અજ્ઞાન જ છે.

अज्ञान ही यथार्थ दुःख है। स्वप्न में एक व्यक्ति-सर्प देखता है और भयभीत हो कर भागता है। किन्तु तभी उसकी निद्रा भंग हो जाती है, उसका भय समाप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक अज्ञान की निद्रा है तब तक दुःख और भय अवश्य ही रहेगा।

मिमा बज्झंति पासेहिं, विहंगा मत्तचारणा ।
मच्छा गलेहिं सासंति, अण्णाणं सुमहद्भयं ॥ २ ॥

अर्थ:—अज्ञान के द्वारा ही हरिण, पक्षी और मत्त गजेन्द्र पाश में बंधते हैं, और मत्स्यों के कंठ विंधे जाते हैं, अज्ञान ही संसार का सब से बड़ा भय है।

गुजराती भाषान्तर:—

અજ્ઞાનને લીધે જ હરણ, પક્ષી અને મટ્ટોન્મત્ત હાથી પાશમાં બંધાય છે અને માછલીના કંઠ વિંધવામાં આવે છે. સંસારમાં અજ્ઞાન જ સૌથી મોટો ભય છે.

पूर्व गाथा में अज्ञान को ही दुःख का आद्य हेतु बतलाया गया है। प्रस्तुत गाथा उसी की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत करती है। एक शिकारी जब बंशी की मीठी तान छेड़ता है तब हरिण दौड़ता हुआ उसके पास चला आता है। संगीत की स्वर-लहरी में वह मुग्ध हो जाता है। और शिकारी के बाण संगीत में लीन हरिण के शरीर को विंध देते हैं। उस भोले हरिण को क्या पता था कि वह स्वर-लहरी उससे प्राण को ले बैठेगी!। आकाश में स्वच्छन्द उड़ान करने वाला पक्षी दाने को देख कर धरती पर लौट आता है। आने के साथ ही वह जाल में फंस जाता है। दूसरी ओर विशाल-काय गजराज उस कल्पित इस्तिनी के मोह में दौड़ता है और गहरे गर्त में गिर जाता है, जहां पर सात दिन तक भूखा रहने पर उसके सुदृढ़ दंतशूल जिसके बल पर वह अपने गूथ का आधिपत्य करता था और मानव जिसे देख कर कांप उठता था वे ही दंत फूर मानव द्वारा उखाड़ लिए जाते हैं। दूसरी ओर मोली मछली आटे की गोली खाने के लिए आती है। पर उसमें छिपा हुआ कांटा उसके कंठ को विंध देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का यह अज्ञान ही समस्त विडंबना का मूल है।

टीका:—अज्ञानवशान्मुगविहंगाः पक्षिणो मत्तचारणाश्च पक्षिर्बध्यन्ते। मत्स्या आसिनेभ्यः संसन्ति, अज्ञानं सुमहद् भयं भवति। गतार्थः।

जम्मं जरा य मच्चू य, सोको माणोवमाणणा ।
अण्णाणमूलं जीवाणं, संसारस्स य संतती ॥ ३ ॥

अर्थ:—जन्म, जरा और मृत्यु, शोक, मान और अपमान सभी आत्मा के अज्ञान से ही पैदा हुए हैं। संसार की विष-वेल अज्ञान के जल से ही सींची गई है।

गुजराती भाषान्तर:—

જીવને જન્મ, ઘડપણ, મરણ, શોક, માન અને અપમાન એ બધું આત્માના અજ્ઞાનને લીધે જ જન્મ પામ્યું છે. સંસારની ઝેરી વેલ અજ્ઞાનના જળથી જ સીંચવામાં આવી છે.

संसारी जीवों के लिए अनिवार्य जन्म, जरा और मौत के दुःख अज्ञान के ही कारण पैदा होते हैं। अपने ही अज्ञान के कारण मानव ऐसी समस्या पैदा कर केता है, फिर उसे शोक, मान और अपमान के जहरीले घूंट पीने पड़ते हैं। अज्ञान

का अर्थ ज्ञान का अभाव ही नहीं है, बल्कि अध्याय ज्ञान ही अज्ञान है। आत्मा परवस्तु में अपनी आत्मीयता का विस्तार करता है। जब उसका वियोग होता है तब शोक के सागर में डूबता है। 'पर' वस्तु में 'स्व' का अवबोध ही अज्ञान है, अन्यथा—ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वह कभी भी उससे पृथक् नहीं हो सकता है। किन्तु आत्मा की राग-द्वेषात्मक परिणतियाँ ही ज्ञान को अज्ञान में परिणत करती हैं।

अण्णाणेण अहं पुब्बं, दीहं संसारसागरं ।

जम्म-जोणि-भयावत्ते, सरंतो दुक्खजालकं ॥ ४ ॥

अर्थ :- प्रश्न :- अज्ञान के द्वारा ही मैं ने दुःख-जाल में फँस कर जन्म-योनि के भय रूप आवर्तशील दीर्घ संसार में भ्रमण किया।

गुजराती भाषान्तर :-

अज्ञानना कारणे अहं दुःख-जाले जन्म-योनिना भय रूप भयसावाणा दीर्घ (लांबा) संसार-सागरमां भ्रमती रहो छुं।

आत्मा का स्वरूप मुक्त और बंधनातीत है। फिर प्रश्न होगा कि शुद्ध स्वरूप मुक्त आत्मा संसार में परिभ्रमण क्यों करता है? इसका उत्तर है अज्ञान। सिंह का बच्चा सिंह का वीरत्व ले कर जन्म लेता है। किन्तु भेड़ के साथ रह कर वह अपने आप को भेड़ मान बैठता है और दिन रात भेड़ों के साथ घूमता है। गड़रिया भेड़ों के साथ उसे घुमाता है। भेड़ों को जब पीटता है तो कभी कभी दो चार डंडे सिंह शाबक पर भी जमा देता है। वह चीखता है और आगे जाने वाले भेड़ों में जा मिलता है। सिंह शाबक को वे डंडे इस लिए खाने पड़े कि उसे अपने निज रूप का पता नहीं है। सिंह जब तक अपने आप को भेड़ मानता रहेगा, गड़रिए के डंडे उस पर पड़ते ही रहेंगे। पर जिस क्षण उसको अपने निज रूप का भान हो जाता है, कि "मैं इधर उधर भटकने वाला और गड़रिये के डंडे से चलने वाला भेड़ नहीं हूँ; मैं घन का राजा हूँ"। इतना समझ लेने के बाद वह एक ही दहाड़ मारेगा तो सभी भेड़ें भाग खड़ीं होंगी। गड़रिए के हाथ से बंदा छूट कर गिर जाएगा और वह भाग कर घर का रास्ता लेगा।

आत्मा जब तक अपने आप को कूकर-शूकर के रूप में देखता रहता है तब तक उसके ऊपर दुःख और दारिद्र्य के डंडे पड़ते ही रहते हैं। जब तक वह अपने आप को गुलाम मानता रहेगा तब तक कठोर शालक का डंडा उसके मस्तक पर पड़ता ही रहेगा। किन्तु जिस क्षण आत्मा अपने वास्तविक रूप को जान लेता है कि कूकर-शूकर रूप मेरा नहीं है। देह भी मैं नहीं हूँ। मौत देह को मार सकती है मुझे नहीं। मेरा स्वरूप शुद्ध बुद्ध है। इस एक ही दहाड़ से समस्त विकारी परिणतियों की भेड़ें भाग खड़ी होंगी और वह स्वतंत्रचेता होकर स्वभाव परिणति का भोक्ता हो जायगा।

दीधे पातो पयंगस्स, कोसियारस्स बंधणं ।

किपाकभक्खणं चैव अण्णाणस्स पिदंसणं ॥ ५ ॥

अर्थ :- उत्तर :- पतंग का दीपक पर गिरना, और कोशिकार रेशमी कीड़े का बंधन और किपाक फल का भक्षण अज्ञान को ही प्रकट करता है।

गुजराती भाषान्तर :-

पतंगियानुं दिवापर पडनुं, अने कोशिकार=कोशेटा नामनुं रेशमी कीडानुं बंधन अने किपाक (जेरी) इणनुं भक्खणुं अने अधां धार्यो कर्ता प्रकट करेछे।

जलती हुई दीप-शिखा पर पतंग गिरता है और निष्ठुर दीपक उसकी राख बना देता है। रेशमी कीड़ा अपने ही रेशमी तारों से बंधता है और फिर उससे मुक्त होने के लिए छटपटाता है। मोला मानव जीव को मीठे लगने वाले किपाक फल को प्रेम से खाता है। किन्तु येही मीठे फल चार घंटे के अन्दर उसके रंग रंग में जहर फैला देते हैं और कुछ क्षण में ही उसका जीवन—दीप बुझ जाता है। ये कहानियाँ आत्मा के अज्ञान को ही अभिव्यक्त करती हैं।

१ दीकाकार कोशिकार को पक्षीविशेष मानते हैं। पर यह कोशिकार=कोशार अर्थात् रेशमी कीड़ा है। प्रस्तुत सूत्र के आठवें अध्ययन में भी यह पद आता है। "कोसारकीडेव कीडेव जहाइ बंधणं" आठवाँ अध्ययन।

टीका :—इपे पातः पतंगस्य कौशिकारः पक्षिणो बन्धनं किंपाकफलमक्षणं च त्रीण्येतान्यज्ञानस्य निबन्धनानि भवन्ति । गतार्थः ।

चितियं जरो दुपाणत्थं, दिट्ठो अण्णाणमोहितो ।

संभगगातलट्ठीउ, मिगारी णिधणं गओ ॥ ६ ॥

अर्थ :—अज्ञान में मोहित सिंह पानी में दूसरे सिंह को देख कर क्रोध में क्रोध पड़ता है । परिणामतः देह के भग्न होने पर मृत्यु को प्राप्त करता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

अज्ञानथी मोहान्ध थओखी सिंह पाणीमां भील सिंहने (चेतानोअ पडछायो) ओधने हुवामां हुटी पडे छे. परिश्रामे शरीर आंगवाथी भरए पामे छे.

अज्ञान के कटु परिणाम के रूप में पूर्व गाथा में कुछ उदाहरण दिए गए हैं । यहाँ पर भी अर्द्धतर्पि एक लोक प्रसिद्ध उदाहरण देते हैं । जो कि हितोपदेश में भी आया है । संक्षेप में वह इस प्रकार है :—

एक बार एक बृद्ध सिंह समस्त वन के हिरण और शृगाल वृन्द का संहार करने लगा । पशुओं की सभा ने एक दिन यह प्रस्ताव वनराज के सामने पेश किया कि उनके लिए प्रति दिन एक पशु भेज दिया जाए । ताकि पशुसृष्टि क्षीय ही समाप्त न हो सके । एक दिन एक शृगाल (सियार) की बारी आयी । उसने सोचा कि पीड़ा की जब को ही समाप्त कर देना चाहिए । वह जानबूझ कर ही कुछ देर से पहुँचा । बृद्ध सिंह ने क्रोधाक्रान्त हो तीव्र स्वर में पूछा, कि 'देर क्यों हो गई ?' चालाक शृगाल बोला कि 'मैं तो क्षीय ही आ रहा था, किन्तु राह में एक दूसरा सिंह मिल गया । उसने मुझे रोकते हुए पूछा कि कहाँ जा रहा है ?' मैं ने कहा कि 'मैं वनराज के यहाँ जा रहा हूँ ।' वह बोला कि 'वह तो बूढ़ा हो गया । वनराज तो मैं हूँ ।' सिंह इन शब्दों को सुनते ही आगबबूला हो गया । उसने कर्कश शब्दों में कहा कि 'कौन नया वनराज प्रकट है ? चलो, मुझे दिखाओ' मैं एक क्षण में ही उसके संहार पर आहूँ ।'

चतुर शृगाल आगे हो लिया । पीछे पीछे वनराज महोदय उमड़ते, फड़कते और एक ही प्रास में अपने प्रतिद्वन्द्वी को उतार जाने का स्वप्न देखते हुए चले जा रहे थे । शृगाल ने कुछ दूर जाकर झाड़ियों में झाँका और पूँछ हिला कर कहा कि 'यहाँ पर तो नहीं है । गया कहाँ ? मैं अभी देख कर बात कर के गया हूँ ।' ऐसा लगता है कि हमारे आने की भनक उसके कानों में पड़ गई और वह कहीं छिप गया है । आप के नाम को सुन कर ही सब के प्राण कांपते हैं ।' सिंह के अहंकार में नया बट आ गया । बोला कि 'शेखी तो खूब बधारी पर अब दुम दबा कर निकल गया । इस बूढ़े के पंजों में कितना बल है इसका बच्चा को पता नहीं है ! एक ही पंजे से चीर दूँगा ।'

झाड़ियों में इधर उधर घूम कर शृगाल लौट आया । वापस आकर खुशामद के शब्दों में बोला कि 'आप के डर से ऐसा छिप गया है, कहीं पता ही नहीं लग रहा है । पर आज उसे छोड़ना नहीं है ।'

उसी समय पात के कुएं के निकट जाकर सफलता के आवेग में चिल्लाया "मिल गया, मिल गया" । जाता कहाँ ? देखिए, इस कुएं में जा कर छिप गया है । आखिर जान सब को ही प्यारी होती है ।'

सिंह एक ही छलांग में कुएं के निकट आ गया । कुएं में झाँका तो खेर की-सी आकृति दिखाई दी । वह गर्जा कि 'कायर कहीं का, निकल बाहर, क्या कहा कि नहीं निकलूँगा ? पर आज तुम को मैं पाला तक भी नहीं छोड़ूँगा । छे अभी आया' ऐसा कह कर वनराज ने कुएं में छलांग मार ही दी । शृगाल मुस्करा दिया और कहा कि अपनी छाया को मिटाने चला और वनराज स्वयं ही मिट गया ।

टीका :—अज्ञानमोहितो बृद्धसिंहः कथामसिद्धो द्वितीयसिंह उदपाणत्थं दृष्टवान् संभगगात्रयष्टिर्निधनं गतो मृतः । गतार्थः ।

मिगारी य भुयंगो य, अण्णाणेण विमोहितो ।

गाहादंसाणिवातेण, विणासं दो वि से गता ॥ ७ ॥

अर्थ :—अज्ञान से विमोहित सिंह और सर्प पंजे की पकड़ और दंश के प्रहार से नष्ट हो गये ।

गुजराती भाषान्तर :—

अज्ञानशी मोहित सिंह अने साप पंजनी पकड़ अने ओकजीजना दंशशी अनेनो नाश थयो.

अर्हतर्षि एक के बाद एक अज्ञान की विनाशकता के चित्र दे रहे हैं। पूर्व गाथा में अज्ञानी सिंह की कथा का संकेत किया था। यहाँ पर भी सिंह और सर्प का उदाहरण दिया गया है।

सर्प के बिल के निकट सिंह सो रहा था। अचानक बिल में से सर्प निकला और उसने सिंह को डस लिया। इधर पीड़ा से उत्तेजित हो कर सिंह ने भी अपने लुकीले पंजों से सर्प को नोंच डाला। सर्प समाप्त हो गया। इधर सिंह के शरीर में विष फैलने लगा। कुछ देर के बाद ही उसने दम तोड़ दिया। मन का अज्ञान ही दोनों को ले बैठा। अज्ञानी आत्माएँ हिंसा और प्रतिहिंसा के द्वारा दोनों ही विनाश को प्राप्त करते हैं।

टीका :—सिंहश्च सुजंगश्चाज्ञानविमोहितौ ग्राहदंशनिपातेन द्वावपि विनाशं गताविति। का कथ्येति न ज्ञायते।

अज्ञान से विमोहित सिंह और सर्प ग्राह और दंश के निपात से दोनों ही विनाश को प्राप्त हुए। किन्तु यह कथा अज्ञात है।

सुप्रियं तणयं भद्रा, अण्णाणेण विमोहिता।

माता तस्सेव सोगेण, कुद्धा तं चेव खादति ॥ ८ ॥

अर्थ :—वह सुप्रिय की माता भद्रा अज्ञान से विमोहित बनती है। माता उसी शोक से कुद्ध होकर उसका भक्षण करती है।

गुजराती भाषान्तर :—

ते सुप्रियनी माता भद्रा अज्ञानशी मोह पाये छे, माता तेनाज शोकशी कुद्ध अनीने तेनुंज अक्षय करे छे.

अज्ञान के अन्धकार में भटकती हुई आत्मा कितने क्षण क्यों कर बालती है, इस के लिए कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। एक क्षण पहले जिसके अभाव से शोक में आकुल हो रहा था जब वही वस्तु सामने आ जाती है वह उससे नफरत करने लगता है। अब उसकी उपस्थिति ही उसके लिए असह्य हो जाती है। कितने हलके हैं मानव के सुख और दुःख। इंग्लिश का विचारक बोलता है:—

When you are sorrowful, look again in your heart, and you shall see that in truth you are weeping for that which has been your delight. —खलील जिब्रान।

जब तुम शोक में डूबे हुए हो तो अपने अन्तर में झाँको, तब तुम को ज्ञात होगा कि तुम उसी के लिए रो रहे हो जो एक दिन तुम्हारे प्रसन्नता का हेतु बनी हुई थी।

इससे बड़ कर अज्ञान क्या होगा? जिसके अभाव में रो रहे थे उसके सद्भाव में भी रोने लगे। पार्थिव पदार्थों का आकर्षण ही अजीब होता है। मनुष्य उसके अभाव में आकुल रहता है, उसके प्राप्ति को तड़प रहता है। पर जब वह वस्तु मिल जाती है तब वह आकर्षण उसमें नहीं रह जाता है। कभी कभी तो मनुष्य उससे घृणा भी करने लगता है। अर्हतर्षि मानव मन की इसी वृत्ति को कहानी द्वारा समझाते हैं।

माता भद्रा अपने प्रिय पुत्र के वियोग में इतनी विह्वल हो जाती है कि आत्म-हत्या कर लेती है। और वह अगले जन्म में सिंहीनी बनती है। जब उसी का पुत्र उसके सामने आता है तब कुपित हो कर पंजे से चीर कर उसका भक्षण कर जाती है।

यह अज्ञान की ही विडंबना है कि एक दिन भी जिसका वियोग नहीं सहन कर सकी थी, आज उसी का खून पीने में एक रोम में भी नहीं कंपकंपी छूटती है।

यह भद्रा कौन है और उसका पुत्र कौन है, इसका पता नहीं चलता है। किन्तु इसी रूप में सुकोशल और उसकी माता सहदेवी की कथा प्रसिद्ध है। नाम परिवर्तन के साथ यह वही कहानी है। कह नहीं जा सकती है।

टीका :—सुप्रियं तनुजं माता भद्रा नामाऽज्ञानविमोहिता, प्रतिबोधशोकेनात्मघातं कृत्वा ध्यात्री भूता। कुद्धा सत्यभिद्रुत्याऽस्वादीदिति। सुकोशलमासुसहदेवीकथा, सा तु किमिहाधिक्रियते न वेति शक्यते। गतार्थः।

विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं च ओयणं।

साहणं वा वि विज्जाणं, अण्णाणेण ण सिज्जति ॥ ९ ॥

अर्थ :—औषधियों की रचना, संयोग मिलाना और विधाओं की साधना, अज्ञान के द्वारा इन सभी कार्यों में सफलता नहीं मिल सकती है।

गुजराती भाषान्तर :—

दवांनी योजना, दर्दीनी लासतनो परिचय करी लेयो अने विद्यानी साधना के भीजुं गमे ते काम होय (यशु ते वस्तुनुं ज्ञान न होय तो) अज्ञानथी आ कोरपिषु कार्यमां सङ्गता नथी भणी शक्ती.

एक बीमारी के लिए सौ दवाएं होती हैं। कौन-सी औषधि किस रोगी को शीघ्र लाभ पहुंचा सकती है, इसका ज्ञान हुए बिना चिकित्सक की चिकित्सा सफल नहीं हो सकती।

संयोगों की संयोजना में भी ज्ञान की आवश्यकता रहती है। विश्व की प्रत्येक वनस्पति औषधि के लिये उपयोगी है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर संश्रमय है। किन्तु उसकी संयोजना का ज्ञान न होने के कारण असृत भी विष बन सकता है। स्वर और व्यंजनों के उन्ही अक्षरों से कमनीय कविता की सृष्टि हो सकती है। जब कि किसी के अपमान और तिरस्कार में भी वे ही अक्षर प्रयुक्त होते हैं। संयोजना में ही तो चमत्कार है। विद्याएँ सब कुछ उपलब्ध हैं, किन्तु साधना के परिज्ञान के अभाव में कभी सिद्धि नहीं मिल सकती। सफलता को असफलता में बदल देने वाला अज्ञान ही है।

टीका :—औषधानां विन्यासः, संयोगानां योजनं, मेवजानां मिश्रणं, विद्यानां च साधनं अज्ञानेन न सिध्यति, सिध्यति तु ज्ञानयोगेन।

विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं च जोयणं।

साहणं वा वि विज्जाणं, णाणाजोमेण सिज्झति ॥ १० ॥

अर्थ :—औषधियों का निर्माण तथा औषधियों की व्यवस्था, संयोगों की संयोजना, और विधाओं की साधना ज्ञान के द्वारा ही संभवित है।

गुजराती भाषान्तर :—

दवानुं निर्माण तथा दवा आपनानी योजना, संयोगनो ज्याल करी तेनो उपयोग अने विद्यानी साधना ज्ञान द्वारा न संभवित छे.

सफलता का द्वार ज्ञान है। साध्य की ओर कदम बढ़ाना है, किन्तु साधन का परिज्ञान नहीं है, तो वह साध्य तक पहुंच नहीं सकता है। जिसे गांव का नाम याद रह जाए परन्तु उसका रास्ता भूल जाए तो वह अपने लक्ष्य तक पहुंच नहीं सकता।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थम्।

गाथाचइजं नामज्झयणं समत्तं

गाथापति अर्हतर्षि प्रोक्त एकविंशतितमं अध्ययनं

—><—

द्गधाली-अर्हतर्षि-प्रोक्त

बाइसवां अध्ययन

भुक्ति का लक्ष्य बनाने वाला साधक बंधन को पहचाने। जो वासना से बंधा है वह पाश में बद्ध है। वासना से हटने के लिए प्रथमतः मन को अनुशासित करना होगा।

वासना से बचने के लिए साधकों ने नारी की भर्त्सना की है। कोई कवि तो उसे नागिन बता गए हैं। प्राचीन कवि का एक पक्ष है कि “नागिनी—सी नार जानी। पुरुष कवि नारी को नागिन” बना सकता है तो नारी कवियित्री पुरुष को नाग बना सकती है। वास्तव में न तो नारी नागिन है, न पुरुष नाग है। किन्तु मन में जो वासना पैठी है वही नागिन है। उसका डसा हुआ व्यक्ति कभी उठ नहीं सकता है।

नारी को नागिन बताना भारत की पवित्र सतियों का अपमान करना है ! । महिलाय भी तो नारी थे । नारी को नागिन कहनेवाले क्या तीर्थकरदेव का अपमान नहीं करते ? नारी ने पुरुष को पतन के गड्ढे में डाला है, तो क्या पुरुष नारी को कभी पतन की ओर प्रेरित नहीं किया है ? । सीता-सी सतियों की कहानी क्या कह रही है ? । इतिहास उठाइए तो नारी के चरित्रों से चमकते हुए चित्र आप को प्राप्त होंगे । नारी ने साधना से गिरते हुए साधक को ऊपर उठाया है । पुरुष को प्रतारण दे कर संयम के पथ पर स्थित करने वाली नारी ही है । राजमती का इतिहास इस बात का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है । हिन्दी के महाकवि बोल रहे हैं:—

नारी ! तुम केवल अज्ञा हो विश्वास रखत नग पद तल में ।

पीयूष स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में ॥ — जयशंकरप्रसाद कामासती

पुरुष विजय का भूखा है, तो नारी समर्पण की; पुरुष लड़ना चाहता है तो नारी लड़ जाना चाहती है । जीवन के क्षेत्र में नारी पुरुष का साथ देना चाहती है, वह पुरुष की प्रेरणा है, किन्तु इस दौड़ में वह अपनी मातृत्व को न भुल सकती है । क्यों कि ममता सगला और कष्टना की त्रिवेणी में नारित्व बढ़ता है । वह सत्ता और संपत्ति की प्यासी बनती है तो उसमें उसका मातृत्व लुप्त जाता है । प्रस्तुत अध्ययन में नारी के दोनों चित्र दिए गए हैं ।

सिद्धि । परिसादी कर्मे, अपरिसादिणो बुद्धा, तस्मात् खलु अपरिसादिणो बुद्धा नोवलिप्यन्ति रक्षणं पुण्यवरपत्तं च वारिणा, दग्धभालेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

अर्थ :—साधक कर्मों को पृथक् करे । कर्मों का परिशादन न करने वाले अबुद्ध होते हैं । कर्मों को पृथक् करने वाली प्रबुद्ध आत्माएँ कर्म रज से जैसे ही अलिप्त रहती हैं जैसे कि कमल पानी से । इस प्रकार दग्धभाल अर्हर्तर्षि बोले ।

गुजराती भाषान्तर :—

साधकोओ कर्मोंनु पृथक्करेणु करवुं. कर्मोंनु पृथक्करेणु न करनाराओ बुद्धिवगरनां होय छे. कर्मोंने पृथक् करवा पाणा प्रबुद्ध आत्माओ कर्म-रजशी तेवीअ रीते अलिप्त रहे छे जेभ के कर्मण पाणीशी. आ प्रमाणे दग्धभाल अर्हर्तर्षि बोल्या.

टीका :—परिशाति हिंसक कर्म अपरिशातिनो बुद्धाः, तस्मात् खलु परिशातिनो बुद्धा नो वलिप्यन्ते रजसा पुण्यवरपत्तिव वारिणा ।

कर्मों का परिशोधन और परिशातन करना हर एक साधक का जीवन लक्ष्य है । जिसने कर्मों का परिशातन किया वह आत्मा संसार में रह कर भी संसार मुक्त है । कमल-पत्रवत् अलिप्त रहता है ।

पुरिसादीया धम्मा, पुरिसप्पवरा पुरिसजेट्ठा, पुरिसकप्पिया पुरिसपज्जोविता पुरिससमण्णागता पुरिसमेव अभिउंजियाणं चिट्ठन्ति । से जहा णामते अरती सिया सरीरंसि जाता सरीरंसि वड्ढिया सरीरसमण्णागता सरीरं चेव अभिउंजियाणं चिट्ठन्ति । एवमेव धम्मा वि पुरिसादीया जाय चिट्ठन्ति ।

अर्थ :—पुरुषादि का धर्म है वह पुरुष प्रवर पुरुष ज्येष्ठ, पुरुषकल्पिक पुरुष प्रद्योतित पुरुष समन्वागत पुरुषों को आकर्षित करके रहता है । जैसे कि अलसिये अथवा ग्रंथि विशेष शरीर में पैदा होता है, शरीर से वृद्धि पाते हैं, शरीर में समन्वागत और शरीर में आकर्षित हो करके रहते हैं । इसी प्रकार धर्म आदि पुरुषादि को घेरे रहते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

पुरुषादिनो धर्म छे ते पुरुषप्रवर, पुरुषज्येष्ठ, पुरुषकल्पिक, पुरुषप्रद्योतित, समन्वागत पुरुषोंने आकर्षिने न रहे छे. जेवी रीते के अलसिया अथवा ग्रंथिविशेष (गांठ) शरीरमां पैदा थाय छे, शरीरने साथे वृद्धि पाये छे, शरीरमां समन्वागत अने शरीरमां आकर्षित अछने न रहे छे. ते न प्रमाणे धर्म आदि पण्य पुरुषादिने घेरीने रहे छे.

दग्धभाल अर्हर्तर्षि महाराज पार्श्वनाथ की परंपरा के प्रत्येक बुद्ध हैं । अतः पुरुषादानी महाराज पार्श्वनाथ के धर्म की प्रस्तावना कर रहे हैं । जिस प्रकार से महाराज महावीर के लिए श्रमण विशेषण आता है उसी प्रकार महाराज पार्श्वनाथ के लिए पुरुषादानी विशेषण आता है । भगवान पार्श्वनाथ के लिए पुरुषप्रवर आदि विशेषण दिए गये हैं ।

टीका :—धर्मा इति ग्रामधर्मा मैथुनाभिलाषाः ग्रामधर्माः पुरुषादिकाः पुरुषप्रवराः पुरुषज्येष्ठाः पुरुषमेवाधिकृत्य कल्पिताः प्रद्योतिताश्च पुरुषं समन्वागता भवन्ति । पुरुषमेवाभियुज्य पुरुषमेवेक्ष्यमाणास्तिष्ठन्ति, यया नामारती ति गन्धविशेषः स्याच्छरीरे जाता शरीरे वृद्धाः शरीरं समन्वागता शरीरमेवाभियुज्य तिष्ठन्ति ।

धर्म अर्थात् ग्रामधर्म विषयाभिलाषा पुरुषादिक पुरुषप्रवर पुरुषज्येष्ठ ऐसे पुरुष को लक्षित करके वे ग्रामधर्म कहे गए हैं । वे पुरुष के निकटवर्ती कहे गए हैं । वे ग्रामधर्म पुरुष को नियोजित कर के उसकी अपेक्षा करते हैं । जैसे अरति-ग्रंथि विशेष शरीर में पैदा होती है और शरीर में ही वृद्धि पाती है ।

टीकाकार का मत भिन्न है, वे धर्म से यहां पर ग्रामधर्म अर्थात् विषय की अभिलाषा लेते हैं ।

एवं गंडे बम्मीके धूमे रुक्खे वणसंडे पुक्करिणी गधरं पुठवीय जाता भाणियध्वा, उदगपुक्खले उदगं गेतज्जं ।

अर्थ :—इसी प्रकार गांड=ग्रंथि वाल्मिक स्तूप वृक्ष-वन खंड पृथ्वी में पैदा होते हैं, पृथ्वी में रक्षण पाते हैं और पृथ्वी से वृद्धि पाते हैं । पुक्करणी कुर्बों आदि पानी से संबंध रखते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

એ જ પ્રમાણે ગાંઠ (અન્થ) વાલ્મિક, સ્તૂપ, વૃક્ષ, વન-ખંડ પૃથ્વીમાં પેદા થાય છે, પૃથ્વીમાં જ રક્ષણ પામે છે ને પૃથ્વીમાં જ વૃદ્ધિ પામે છે. પુક્કરણુ વાવડી આદિ પાણી સાથે સંબંધ રાખે છે.

टीका :—एवं गंड स्फोटो शरीरे जात इत्यादि वाल्मीकः स्तूपो, वृक्षो वनखंडपृथ्वीकां जातः पुक्करिणी पृथिव्यां जाता पुक्करोदके जातः ।

से जहा गमते अगणिकाए सिया अरणीय जाते जाय अरणिं चेव अहिभूय चिद्वृत्ति एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया तं चेव ।

अर्थ :—जैसे अग्नि अरणी में पैदा होती है और अरणी का सहारा लेकर रहती है । इसी प्रकार धर्म पुरुषादि के आश्रित रहता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે અગ્નિ અરણીમાં પેદા થાય છે અને અરણીને આશ્રય કરીને જ રહે છે, તે જ પ્રમાણે ધર્મ પુરુષત્વાદિને આશ્રિત થઈ રહે છે.

जैसे आग अरणी के काष्ठ में व्यापक रूप में रहती है, इसी प्रकार धर्मपुरुषादानी महाराज पार्श्वनाथ के आश्रित रहता है ।

अथवा जैसे बीज में विराट वृक्ष समाया रहता है और अग्नि अरणी में समाई हुई रहती है इसी प्रकार मानव मन में वासना छुपी रहती है । कहा जाता है कि बालक निष्पाप रहता है । यह ठीक है, क्योंकि उसके मन में उस समय किसी प्रकार की वासना नहीं रहती है, फिर भी वासना के बीज तो वहां बीजूद ही रहते हैं । वे ही बीज समय पाकर विशाल रूप लेते हैं । वह बयस्क होता है तब सब प्रकार के छल प्रपंच सीख जाता है । उसकी वृत्तियाँ स्पष्ट हो जाती हैं । वृत्तियाँ मानव मन में सुप्त रहती हैं । अनुकूल संयोग को पाकर जागृत हो जाती हैं ।

टीका :—अग्निकायो अरण्याजातो अरणिमेवाभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्मास्तिष्ठन्ति ।

धिसेसिं गामणगराणं, जेसिं महिला पणाथि ।

ते यावि धिक्रिया पुरिसा, जे इत्थिणं चसं गता ॥ १ ॥

अर्थ :—वे ग्राम और नगर धिकार के पात्र हैं, जहां पर नारी शासिका है । वे पुरुष भी धिकार के पात्र हैं, जो नारी के वश में हैं ।

जो देश स्त्रियों का गुलाम है, सुरा और सुन्दरी ही जहां का जीवन-लक्ष्य है वह देश निश्चय ही पतन के कगारे पर है । जहां के जन-जीवन में वासना के दौर चलते हैं, जन-मानस पर स्त्रियों का शासन है, जहां के निवासी वासना के गुलाम बन चुके हैं, फिर उन्हें दूसरी गुलामियाँ को निमग्न-पत्र भेजने की आवश्यकता नहीं रहेगी । यहां पर अर्हत्तर्षि

जिस नारी के शासन की ओर श्रेष्ठ करते हैं, वह वासना का शासन है। लीबन के अध्ययन से यह मालूम होता है कि एक बार रोम में इतनी वासना बढ़ गई थी कि वहाँ का भक्त कलाकार प्रभु की मूर्ति बनाता था तब भी उसके लिए छवि वहाँ की सर्व श्रेष्ठ नर्तकी या वेश्या की रहती थी। इसी लिए रोम जैसा देश इतनी जल्दी पत्तन के गर्त में गिर गया।

स्त्री भी शासन कर सकती है, यदि उसमें योग्यता है। राज्य-व्यवस्था का उत्तरदायित्व निभाना भी एक कला है। अर्हर्तर्षि का उससे विरोध नहीं है। विरोध जनता के दिल और दिमाग में स्त्री और वासना के एकाधिपत्य से है। क्यों कि जो देश वासना का गुलाम है वह सारे विश्व का सचमुच गुलाम है।

टीका :—धिव् तेषां ग्राम-नगराणां येषां स्त्रियः प्रणयिकाः, ते चापि धिवक्ताः पुरुषा ये स्त्रीणां वंशगताः।
मतार्थः ॥ १ ॥

गङ्गाकुला सुदिव्वा व, भावका मधुरोदका ।

फुल्ला व पडमिणि रम्मा बालककंता व मालवी ॥ २ ॥

हेमा गुहा ससीहा वा, माला वा बज्जकप्पिता ।

सविसा गंधजुत्ती वा, अंतोदुद्धा व वाहिणी ॥ ३ ॥

गरन्ता मदिरा वा वि, योगकण्या व सालिणी ।

नारी लोगम्मि विण्णैया, जा होजा सगुणोदया ॥ ४ ॥

अर्थ :—नारी सुदिव्य कुल के गाथा के सदृश है, वह सुवासित मधुर जल के सदृश है, विकसित रम्य पद्मिनी के सदृश है और ब्यालाकान्त मालती के सदृश है।

वह स्वर्ण की गुफा है, पर उसमें सिंह बैठा हुआ है। वह फूलों की माला है, पर विष पुष्प की बनी हुई है। दूसरों के संहार के लिए वह विष मिश्रित गंध-पुटिका है। वह नदी की निर्मल जलधारा है, किन्तु उसके बीच में भयंकर भंडार है, जो प्राणपहारक है। वह मत्त बना देने वाली मदिरा है। सुन्दर योगकन्या के सदृश है। यह नारी है, स्वगुण के प्रकाश में यथार्थ नारी है।

गुजराती भाषान्तर :—

नारी सुदिव्य कुवनी कीर्ति जेवी छे; सुगंधयुक्ता मधुर जल जेवी छे, विकसित रम्य पद्मिनीनी जेवी छे
आम छतां ते सापथी विंटायेस मालती वेवडी जेवी छे.

ते स्वर्णुनी गुफा छे, परंतु तेमां सिंह बेडो छे. ते फूलोनी माला छे, परंतु ते जेरी पुष्पोनी अनेली छे.
जीलज्योना संहार मटे ते जेरमिश्रित गंधपुटिका छे. ते नदीनी निर्मल जलधारा छे. परंतु तेनी वयमां अयंकर
अमरो छे, जे प्राणुवातक छे. ते उन्मत्त अनावी देनार मदिरा छे. सुन्दर योगकन्या समान छे, जेने नारी
ठडेवाय छे. स्वगुणुना प्रकाशमां यथार्थ नारी छे.

टीका :—सुदिव्या भावका प्रेक्षणीया मधुरोदका पुष्पिता रम्येव पद्मिनी गङ्गाकुला मालतीव, ब्यालाकान्ता, हेम-
गुहेव ससीहा, मालेव बज्जकप्पिता, गन्धयुक्तिरिव सविषा, वाहिनीव नदी सेना वास्तुदुष्टा, मदिरिव गरान्ता, योगकन्या
स्त्रीरिव योगपरा शालिनी गृहिणी, एवं नारी लोके विज्ञेया भवेत् स्वगुणोदया प्रकटीकृता स्त्रीदोषाः ॥ २-४ ॥

नारी कठोरता और कोमलता का समन्वय है। अर्हर्तर्षि नारी के विविध रूपों का चित्रण करते हैं। नारी का बाहरी सौन्दर्य निरुपम है। वह सुवासित जल-धारा खिलती हुई पद्मिनी है। वह मालती भी है किन्तु उत पर सर्प लिपटा हुआ है। वह स्वर्ण गुफा-सी है उसका बाहरी आकर्षण बहुत ज्यादा है, किन्तु उसमें सिंह बैठा हुआ है।

यहां स्त्री के दोनों रूप बताए गए हैं। नारी पद्मिनी और मालती की माला के समान है। वह गुफा-सी है, जिसमें क्रूरता का साक्षात् रूप सिंह दहाड़ रहा है। सुशिक्षित और सदाचारिणी नारी सुवासित पद्मिनी के समान है। उसके जीवन और स्वभाव से शील की सूरभ फैल रही है। वह माता मानुभूमि-सी पवित्र है। वह पृथ्वी की मांति सर्वसदा है। पृथ्वी पर कोई गंदगी कर रहा है, कोई उसको खोद रहा है, कोई उसपर अशुभ के घवांके कर रहा है, फिर भी वह मौन हो कर सब कुछ सहन कर रही है। इतना ही नहीं, मनुष्य उसको खाद के बदले में गंदे पदार्थ देता है। किन्तु धरित्री उसके बदले में जीवन-दायी खाद्य पदार्थ देती है। यही माता का कार्य है। वह तिरस्कार और अपमान सहती है तथा उसके बदले में सेवा और प्यार करती है।

यदि नारी के हृदय में वासना है और वह असदाचार की ओर कदम रखती है तो वह सर्पको लिपटती हुई मालती है। वह असंस्कारी और अशिक्षित है तो वह उसी प्रकार भयंकर होगी जिस प्रकार स्वर्ण की गुफा में भीषण गर्जना करता हुआ सिंह।

उच्छ्रायणं कुलाणं तु, दम्बहीणाण लाघवो ।

प्रतिष्ठा सर्वदुःखघ्ना, निष्ठा अजिघाण य ॥ ५ ॥

गेहं वैराण गंभीरं, विप्रो सद्धर्मचारिणं ।

दुष्टासो अखलीणं च, लोके सूता किमंगणा ॥ ६ ॥

अर्थ :—असंस्कारी नारी कुल का नाश करती है, उसकी प्रतिष्ठा समाप्त करती है और दीन दुर्बलों का अनादर करती है। वह सब प्रकार के दुःखों की प्रतिष्ठा रूप है। अर्थात् समस्त दुःखों की जड़ है। वह आर्यत्व को भी समाप्त कर देती है। वह गंभीर जैसे की घर है। श्री सद्धर्मचारियों के लिए विघ्नभूत है।

गुजराती भाषान्तर :—

संस्कारहीन नारी कुलनो नाश करे छे, तेनी प्रतिष्ठानो नाश करे छे अने दीन-दुखणाओनो अनादर करे छे, ते अधा प्रकारना दुःखोनी प्रतिष्ठा रूप छे, अर्थात् समस्त दुःखोनुं मूल छे, ते आर्यत्वने भंग नष्ट करे छे, ते गंभीर वैरोनुं घर छे, संस्काररहित श्री सद्धर्मनुं आश्रय करनाराओ भटे विघ्न समान छे.

दुष्ट स्वभाव की नारी का यहाँ पर चित्रण दिया है। जिस नारी के स्वभाव में स्वार्थ, कठोरता और दुराचार है तो वह समाज और देश दोनों को ही नष्ट कर देती है। सुन्दर स्वभाव को नारी-कुल की इज्जत बढ़ाती है। वहाँ कुत्सित स्वभाव की नारी कुल की प्रतिष्ठा को समाप्त कर देता है। चेटक और कोशिक की महायुद्ध की ज्वाला में चिनगारी का काम करने वाली कौणिक की रानी पद्मा थी। उसी के स्वार्थ हृदय ने दोनों कुलों को युद्ध की ज्वाला में डकेला था।

स्वार्थिनी नारी पैसे को सम्मान देती है। अपने पारिवारिक जनों को भी वह पैसे के ही गज से नापती है। जो पैसेदार होता है उसका अधिक सम्मान करती है। उसका निकटतम पारिवारिक जन उसके आंगन में आया हो, पर यदि दुर्भाग्य से उसके पास संपत्ति नहीं है तो वह उसको आदर नहीं देगी। उसके स्वागत में भी मेदभाव करेगी। जिस नारी का स्वभाव क्षुद्र है उसके घर की शान्ति को वह नष्ट करेगी। सुन्दर स्वभाव की नारी घर को स्वर्ग बना देती है। सुंदर श्री स्वभाव की नारी स्वर्ग को भी नरक का रूप दे देती है। वह घर की आर्यता और पवित्रता को नष्ट कर देती है। कभी कभी वह परिवार के ही बीज गंभीर वैर की खाई खोद देती है। धर्मरत आत्माओं की शान्ति में वह विघ्नभूत भी बनती है। जब उसके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत हो जाती है तो वह दुष्ट अश्व की भांति बलवती हो कर बदला लेने पर उतारू हो जाती है।

पर यदि नारी अपने स्वभाव की सहज कोमलता और करुणा लिए रहती है तो वह देवी बनती है। इसीलिए आगम में श्री के लिए 'देवी' शब्द भी आया है। स्वभाव की दुर्जनन नारी में ही हो पुरुष में न हो ऐसी बात नहीं है। पुरुष तो कभी नारी से भी अधिक क्रूर बन सकता है और इसी लिए सातवीं नरक के द्वार को खटखटाता है। किन्तु यहाँ नारी का ही स्वभाव का वर्णन चल रहा है, इसलिए उसी के दुरे स्वभाव का चित्रण दिया गया है।

टीका :—कुलानां तूत्सादनं, दम्बहीनानां लाघवमनादरः सर्वदुःखाणां प्रतिष्ठा निष्ठा निधनं चार्यिकाणां वैराणां गंभीरं गुहं प्रहं सद्धर्मचारिणां विप्रो दुष्टाश्चो मुक्तखलिनः एवंश्रुता लोके किमंगना कुक्षी, लावभो अखलीणं बलवं ति पंचमषष्ठश्लोकयोः पदेषु लिंगविपर्ययः । गतार्थः ॥ ५-६ ॥

विशेषतः पांचवे और छठे श्लोकों में लिंग विपर्यय है।

इत्थिउ बलवं जत्थ, गामे सु णगरेसु धा ।

अणस्सवस्सं हेस्सं तं अप्पव्वेसुय मुंडणं ॥ ७ ॥

घिस्सेसि गामणगराणं सिलोगो ॥ ८ ॥

अर्थः—जिस ग्राम या नगर में स्त्रियाँ ही बलवती हैं बेलगाम घोड़े की हिनहिनाहट या अपवै दिनों में मुंडन के समान है। जहाँ पर स्त्रियों का शासन है वह ग्राम धिक्कार का पात्र है। प्रस्तुत अध्ययन का प्रथम श्लोक यहाँ भी वाच्य है।

जिस ग्राम और नगर में स्त्रियों का शासन है, जहाँ का विलासी पुरुष स्त्रियों का गुलाम है वह छोटा ग्राम हो या बड़ा नगर कभी भी प्रगति के पथ पर नहीं चल सकता है। वह नगर पौरुषहीन हो जाता है। वह बेलगाम के घोड़े की हिनहिनाहट की भाँति शब्द करता है। पर उसकी बाणी में पौरुष का तेज नहीं है। वह अपनी दिशा को बदल नहीं सकता उसके कार्य-कलाप वैसे ही होते हैं। जिस प्रकार से बिना पर्व का मुंडन।

स्त्रियाँ अपने स्वाभिमान और सदाचार की रक्षा में बलवती हों यह किसी भी देश के अपमान या कलंक की बात नहीं है। अपि तु कलंक की कहानी तब होगी जहाँ पर्दे में गुड़ियों-सी बनी नारियाँ अपने शील की रक्षा में असमर्थ होती हैं गुंडे और मक्वालियों के भय से घर के बाहर न निकल सकती हों। अपनी रक्षा के लिए जिनके पास आँसू की दो बड़ी बूंदों के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन न रह गया हो और जिस के देश कवि के लिए यह कहना पड़े किः—

“अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,

आँचल में है कूष और आँखों में पानी ॥” —यशोधरा-मैथिलीशरण गुप्त।

देश की यह हालत गौरव की नहीं, अपि तु रौरव की होगी। देश की नारियाँ शेरनी हों, उनकी आँखों में इतना तेज हो कि मक्वाली उनको देखकर ही कांप उठे। जिस दिन से भारत की रमणियों का यह तेज गया, उसी दिन यह देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा गया। क्योंकि कायर माता की संतान चूहों से भी डरती है। शेरनी का पुत्र ही शेर से खेल सकता है।

पर यहाँ पर अर्हतरि द्वारा किया गया स्त्रियों का विरोध यही अभिप्राय रखता है कि जहाँ का पुरुष-समाज बासना के दल दल में फँस कर स्त्रियों का गुलाम बन गया है वह देश कभी भी उन्नति नहीं कर सकता है।

टीकाः—यत्र तु ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्री बलवती तदनश्वस्य शुनादेर्हैषाशब्देन पर्यरहितेषु वा दिनेषु मुंडनमिव भवति। गतार्थः ॥ ७-८ ॥

धितेरि वाला प्रथम श्लोक यहाँ भी वाच्य है।

डाहो भयं हुता सातो विसातो मरणं भयं।

छेदो भयं च सत्थातो, वालातो दसनं भयं ॥ ९ ॥

अर्थः—अग्नि से जलने का भय है। विष से मरने का भय है। शस्त्र से छेदन का भय है। और सर्प से डसने का भय है।

गुजराती भाषान्तरः—

अग्निथी अणवानो भय छे, जेरथी भरवानो भय छे, शस्त्रथी आपवानो भय छे अने सर्पथी डरडवानो भय छे.

टीकाः—हुताशात् भयं दाहो, विषान्मरणं शस्त्राच्छेदो म्यालाद् दशनं। गतार्थः ॥ ९ ॥

चारों वस्तुएँ भयप्रद हैं। आग जलाती है, विष मारता है, शस्त्र छेदन करता है और सर्प डस लेता है। जो इन भयों पर विजय पाता है वही अभय हो सकता है। जिसने आत्मा की अमरता को यथार्थरूप से समझ लिया है वह शरीर की मृत्यु से कभी भी नहीं डर सकता और वह दुनियाँ की किसी भी शक्ति से नहीं डर सकता है।

संकीर्णीयं जं वत्थु, अपडिक्कारमेव य।

तं वत्थुं सुद्धु जाणेजा, जुजंसे जे गु जोइता ॥ १० ॥

अर्थः—जो वस्तु शंकास्पद है और साथ ही उसका प्रतिकार में भी शक्य नहीं है, उस वस्तु के उपभोग को उसका ठीक ठीक परिज्ञान होना चाहिए।

गुजराती भाषान्तरः—

जे वस्तु शंकास्पद छे, अने साथे साथ तेनो प्रतिकार पळु अशक्य छे, ते वस्तुनो उपभोग केनारने तेनुं ठीक ठीक जान छेवुं जेछे.

जीवन में ऐसे भी प्रसंग आते हैं जब कि संदेहास्पद वस्तु का उपयोग भी अनिवार्य हो जाता है। किन्तु उसके सेवन के समय बड़ी सतर्कता की आवश्यकता रहती है। सबसे पहले उस वस्तु को जानना होगा और साथही उसका परिणाम भी जानना आवश्यक होगा। यदि यह न जाना तो वह वस्तु विधात भी कर सकती है।

जब आवश्यकता देखता है तो वैद्य रोगी को सोमल भी देता है। किन्तु उसके परिणाम का परिज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। यदि परिणाम का ज्ञान है तो विष भी अमृत होगा और यदि परिणाम नहीं जाना तो अमृत भी विष का काम कर देता है। अतः उसके उपभोक्ता को सावधानी के साथ उसका उपयोग करना चाहिए।

टीका :—शंकनीयं च यद्वस्तु यथाप्रतीकारं तत् सुदु त्यक्तं जानीयात् यो युज्यमानानि युज्यमानानां वस्तूनां अनुयोजयित्वा भवति । गतार्थः ॥ १० ॥

जत्स्थितिं जे समारंभा, जेवा जे साणुबंधिणो ।

ते वत्थु सुदु जाणेज्जा, जेय सव्वविणिच्छय ॥ ११ ॥

अर्थ :—जहां पर जो समारंभ और जो सानुबंध है उस वस्तु को ठीक ठीक जाने वही परिज्ञान सभी पदार्थों के निश्चय में सहायक हो सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ज्यां जे समारंभ (ओठले हिंसारूपी ओशीश) अने सानुबन्ध (अनुसरण कर्ता) छे ते वस्तुने जे ठीक ठीक प्रमाणुमां जाणु तेनुं पुरे ज्ञान अथा पदार्थाना निश्चयमां महद्वगार थछं शंके छे.

जो समारंभ और अनुबन्धक कारण है सम्यग्-दर्शन-सेपन्न आत्मा उस समारंभ और अनुबन्ध का यथार्थ ज्ञान करे। श्रावक समारंभ करता नहीं है, किन्तु उसे करना पड़ता है। किन्तु कटु औषधि की भांति उसका सेवन करता है। जो कि उचित प्रमाण में होने से उसके लिए प्रगाढ़ बंध का हेतु नहीं होता है। श्रावक को जब आरम्भ के पथ से गुजरना पड़ता है तब वह महारंभ से न जाकर अल्पारम्भ का मार्ग चुनता है। वह महापथ से न जाकर गोपथ चुनता है।

टीका :—यत्र ये समारंभा ये वैतेषां सानुबन्धा भवन्ति । तानि वस्तूनि सुदु जानीयात् । नैतत् सर्वविनिश्चये नैतद्विज्ञाहिते अनादस्य निश्चयनीयम् ॥ ११ ॥

जहां ये आरम्भ हैं और जहां उसके सानुबन्ध होते हैं; साधक उन समस्त वस्तुओं को ठीक ठीक जाने। जिसे वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं है, वह संवर के स्थान पर आश्रय उपाजित करेगा। किसी भी प्रकार को निश्चय करने के पूर्व साधक अपनी विवेक दृष्टि खुली रखे। जब उसकी बुद्धि पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं है और उसकी बुद्धि का स्वार्थ और ममत्व ने घेर रखा है तब किसी भी प्रकार का निश्चय किया जाएगा वह दूषित निश्चय होगा।

जेसिं जहिं सुदुप्पत्ती, जेवा जे साणुगामिणो ।

विणासी अविणासी वा, जाणेज्जा कालवेयवी ॥ १२ ॥

अर्थ :—जिसके लिए जहां पर सुखोत्पत्ति है और जो जिसके अनुगामी है, कालविद् उसके विनाशी और अविनाशी रूप को अवश्य ही देखे।

गुजराती भाषान्तर :—

जेने भाटे ज्यां सुखनी उत्पत्ति थाय छे, अने जे जेना अनुगामी छे कालविदे तेना विनाशी अने अभर रूपने अवश्य जेनुं जेछंजे.

मानव के मन में सुख के लिए बहुत बड़ी प्यास है। अनन्त युग से ही वह सुख का अनुगामी है। कुछ वस्तुओं में वह सुख की उत्पत्ति देखता है और उस वस्तु का अनुगामी हो जाता है। विचारक देखेगा कि वह वस्तुजन्य सुख कितना स्थिरत्व लेकर आया है। पदार्थों में सुख की एक क्षणिक किरण आती है और उस सुख के पीछे विशाल दुःख की परम्परा खड़ी रहती है। सुख कुछ मिनटों के लिए आया किन्तु कितना विकराल है उसका क्षणिक रूप। अतः समयज्ञ शाश्वत सुख का शोधक बने।

टीका :—यत्र येषां समारंभाणां सुखोत्पत्तिर्भवति, ये वैतेषां सानुगामिनोऽनुगमसहिता विनाशिनो वा विपरीतं वा भवन्ति तान् जानीयात् कालवेदविद् । येदेतीह लौकिकं ज्ञानं ॥ १२ ॥

अर्थ :—जहाँ जिन समारंभों अर्थात् हिंसात्मक प्रयत्नों द्वारा सुख खोजा जाता है और जो उसके अनुगमनकर्ता होते हैं वे विनाश के पथिक हैं। अथवा वे विषय-गामी हैं। समयज्ञ तथा वेदज्ञ ऐसा जाने। यहाँ पर वेद से लौकिक ज्ञान अभिप्रेत है।

गुजराती भाषान्तर :—

जहाँ के समारंभों अर्थात् हिंसात्मक प्रयत्नों द्वारा सुख खोजा जाता है और जो उसके अनुगमनकर्ता होते हैं, वे विनाशना मार्गना मुसाहीर छे. अथवा ते विषयगामी छे. समयज्ञ तथा वेदज्ञ ऐसे जे तेंना अनुगमनकर्ता बौद्धिक ज्ञान अभिप्रेत छे.

सीसच्छेदे ध्रुवो मच्छु, मूलच्छेदे हतो दुमो ।

मूलं फलं च सर्व्वं च, जाणेजा सव्ववत्थुसु ॥ १२ ॥

अर्थ :—सीस के छेदन से सत्य निश्चित है। मूल के छेदन से वृक्ष का विनाश निश्चित है। इसी प्रकार सभी वस्तुओं में विचारक मूल और उसके फल का विचार करे।

गुजराती भाषान्तर :—

माथुं कापी नाप्पवाथी मृत्यु निश्चित छे. जड-भूणधी ज आड कापी नाप्पवाथी तेनो विनाश निश्चित छे. ते ज प्रमाथे अधी वस्तुओमां पुद्धिमान् भुण्ठे भूण अने तेना इणनो विचार करवो ज्येछथे.

किसी भी वस्तु के दो रूप होते हैं। एक उसकी जड़ और दूसरी उसकी शाखा। यदि किसी वस्तु को नष्ट करना है तो उसकी शाखा प्रशाखाओं नहीं बल्कि उसके मूल पर प्रहार करना होगा। यदि किसी वस्तु का विकास करना है तो भी उसके मूल का ही अभिसिंचन करना होगा। यदि दुःख को नष्ट करना है तो उसके लिए उसके निमित्त पर नहीं, उसके उपसदान पर प्रहार करना होगा। दुःख की जड़ अशुभ भाव कर्म को ही समाप्त करना चाहिए।

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।

सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा ज्ञाणं विधीयते ॥ १३ ॥

अर्थ :—जो स्थान शरीर में मस्तक का है और वृक्ष के लिए मूल का है, वही स्थान समस्त मुनि धर्मों के लिए ध्यान का है।

गुजराती भाषान्तर :—

देहमां माथानुं जेटलुं महत्त्व छे अने वृक्षने भूणनुं महत्त्व छे, तेहलुं ज स्थान समस्त मुनि-धर्मोने भाटे ध्याननुं छे.

शरीर में मस्तक का स्थान सर्वोच्च है और वृक्ष के लिए उसकी जड़ महत्त्व रखती है। साधना में वही स्थान ध्यान का है। वित्तवृत्तियों का निरोध ध्यान है। योगशास्त्र इसी ध्यान की धुरी पर केन्द्रित है। उमास्वाति भी तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान की परिभाषा देते हैं—

उत्तमसंहननसौकामचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९ सू० २७ ।

मन की बिखरी हुई किरणें जब किसी एक तत्त्व पर केन्द्रित हो जाती हैं तो उसकी शक्ति में प्रखरता आ जाती है। जब वह मन की संगृहीत शक्ति शुभ की तरफ अभसर होती है तभी वह आत्म-साधना का द्वार खोलती है। शुभ अवस्था ही अमण साधना का मूल है।

टीका :—नवमश्लोकादारभ्य परिसादिकम्मसेखाद्विभाषितं पुष्करपत्रोपमान्तमनुबध्यतेति व्यक्तं । दृग्भालाध्ययनम् । गर्दभालीयेत्यपरनामकम् ।

नवम श्लोक से लेकर परिषादि कम्म पर्यन्त ऋषि भाषित है। वह पुष्कर पर्यन्त अनुबध्य है जो कि व्यक्त है। इस प्रकार दृग्भालाध्ययन जिसका अपर नाम गर्दभालीय भी है समाप्त हुआ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थम् ।

ऋषिभाषितेषु दृग्भाली-गर्दभीयं द्वाविंशत्यध्ययनम् ।



रामपुत्र अर्हतर्षि प्रोक्त तेषीसवाँ अध्ययन

मानव अपने जीवन के लिए सौ सौ विचार रखता है । वकील बनना है उसके बाद यह करना है वहाँ जाना है । किन्तु कभी भी अपने मृत्यु के विषय में नहीं सोचता है । जोकि सृष्टि का अनिवार्य नियम है । मृत्यु से सब डरते किन्तु मृत्यु डरने की बदलने की वस्तु नहीं है । उससे हम अपना जीवन बदल सकते हैं । भारत के प्रधान मंत्री कहते हैं कि मृत्यु से नया जीवन मिलता है । जो व्यक्ति या राष्ट्र मरना नहीं जानते हैं वे जीना भी नहीं जानते हैं ।—जवाहरलाल नेहरू ।

जो मरना जानता है उसके लिए मौत भयंकर भी नहीं होती है । विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने जीवनदर्शन में ठीक ही कहा है:—

Death's stamp gives value to the coin of life,

making it possible to buy with life what is truly precious—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ.

जीवन के सिक्के को मौत की छाप मूल्यवान बना देती है । इसी लिए जीवन देकर वास्तव में मूल्यवान वस्तु खरीदना संभव हो जाता है । मृत्यु का सत्यदर्शन ही प्रस्तुत अध्ययन का विषय है ।

सिद्धि ॥ दुवे मरणा अस्सि लोए एवमाहिञ्जंति तं जहा—सुहमतं चेव दुहमतं चेव । रामपुत्तेण अरहता हसिणा बुद्धं ।

अर्थ :— इस लोक में दो प्रकार की मृत्यु बताई गई है । जैसे कि सुख रूप मृत्यु और दुःख रूप मृत्यु । राम पुत्र अर्हतर्षि इस प्रकार बोले ।

गुजराती भाषान्तर :—

આ લોકમાં મરણના બે પ્રકાર માનવામાં આવે છે: સુખરૂપી મૃત્યુ અને દુઃખરૂપી મૃત્યુ, રામપુત્ર અર્હતર્ષિ આમ બોલ્યા.

जन्म लिया हुआ प्राणी मरता है । सिद्धान्तों में मतभेद हो सकते हैं, परन्तु मौत में दो मत नहीं होते हैं । किन्तु मृत्यु की भी कला होती है । एक की मृत्यु दुनियाँ के लिए आशीर्वाद रूप बनती है जब कि दूसरे का जीवन भी अभिशाप होता है । जिसके जीवन में खुशबू है, वह जब मरता है तो कोटि कोटि हृदय रो पड़ते हैं । दूसरे भी एक प्रकार का व्यक्ति है जो कि जब अपनी जीवन लीला समाप्त करता है तब जनता के मुँह से सहसा निकल पड़ता है कि 'अच्छा हुआ, गांव की उपाधि दूर हो गई ।' ।

यहाँ पर जिन दो प्रकार की मृत्यु का निरूपण किया गया है एक सुख रूप मृत्यु और दूसरी दुःख रूप मृत्यु है । जिसका जीवन सुखमय रहा है जिसने अपने जीवन में शान्तिमय कार्य किया होगा, दूसरों के पथ में भी जिसने शान्ति के फूल बिछाए होंगे उसकी मौत भी सुखरूप होगी । इसके विपरीत जिसने दूसरे के जीवन में आग लगाई होगी और स्वयं भी जीवन भर उसी आग में जलता रहा होगा, अतः उसका जीवन दुःखमय है और उसकी मृत्यु भी कभी सुखमय नहीं होगी । आगम की परिभाषा में इसको 'पंडित मरण' और 'बाल मरण' का नाम दिया गया है ।

संतिमे य दुवे ठाणा अक्खाया मरणातिथा ।

अकाममरणं चेव सकाममरणं सहा । —उत्तरा० अ० ५ भाषा २

संसार में दो प्रकार के मानव होते हैं । एक तो वे हैं जो मौत को देख कर रोए, बिछाए और मर गए । दूसरे वे हैं, जिन्होंने मौत को देखते ही वीरता के साथ उसका स्वागत किया और अमय की प्रतिमा बन कर मौत की गोद में सो गए । स्थूलभाषा में दोनों ही मरे हैं । किन्तु चिन्तक की आंखों में एक को मौत ने मारा है और दूसरे ने मौत को मारा है । संसार के महापुरुष इसी अर्थ में मृत्युजेता हैं ।

टीका :— हे मरणे अस्मिंलोके एवमाख्यायते, तद् यथा-सुखमृतं चेव दुःखमृतं चैवान्न विजिहिं व्याख्यानं धवीमि ।
गतार्थः ।

प्रोफेसर श्रुतिग लिखते हैं कि मत और मृत में शब्द की कीड़ा है । जो कि जान बूझ कर ही रखे गए हैं ।

इमस्स खलु ममाइस्स असमाहितलेश्या असमाहितमनोवृत्तिकस्य गंडपलिघाह्यस्स गंडबंधणपलियस्स गंडबंधण-
पडिघातं करेस्सामि, अलं पुरेमरणं । तम्हा गंड-बंधण-पडिघातं करेस्सा णाणदंसणचरिस्साहं
पडिसेविस्सामि ।

अर्थ :—मैं असमाधित लेश्या वाला हूँ । अर्थात् मेरी लेश्या शुभ नहीं है । राग द्वेष की ग्रन्थि ने मुझे पराजित
कर रक्खा है । उस ग्रन्थि से मेरी आत्मा बद्ध है । अब मैं ग्रन्थि बन्धन को तोड़ फेंकूंगा । पहले मैं दुःख-मृत्यु अर्थात्
अकाम मृत्यु से मरा वही बहुत है । अब मैं ग्रन्थिच्छेद कर के ज्ञान दर्शन चारित्र्य की आराधना करूंगा ।

गुजराती भाषान्तर :—

हूँ अनुचित लेश्यावाणी छुं, ओठवे भारी लेश्या शुभ नहीं, राग-द्वेषनी ग्रन्थिओ भने पराजित बनाव्यो
छे, ते ज ग्रन्थिशी भारी आत्मा बंधायेव्यो छे, हवे हूँ ग्रन्थि बंधनने तोड़ीने डूँडी दृष्टि, पड़ेला हूँ दुःख मृत्यु
अर्थात् अकाम मृत्युथी मर्थो ते ज घातुं छे, हवे हूँ ग्रन्थिच्छेद करीने ज्ञान दर्शन चारित्र्यनी आराधना करीश,

अप्रशस्त लेश्या और राग द्वेष की परिणति ही दुःख मूलक मृत्यु के मूल हेतु हैं । एक कहावत है कि 'जैसी मति वैसी
गति' । जिसने अपने जीवन में जिसने अशुभ कर्म ही किए हैं, दूसरों की शान्ति भंग की है, अपनी शान्ति के लिए दूसरों को
हलाया है वह आत्मा कमी भी शान्ति पूर्वक नहीं मर सकती है । मृत्यु जीवन की परीक्षा का परीक्षा-फल है । अध्ययन और
उत्तर पुस्तिका के ही आधार पर परीक्षा-फल आता है । जिसके जीवन की उत्तर कापियाँ गलत हैं उसका परीक्षा-फल कमी
भी अच्छा नहीं आ सकता है ।

राग और द्वेष की ग्रन्थियाँ प्रगाढ़ हैं । आत्मा राग-द्वेषाग्नि में छुलस रहा है । मृत्यु की चखियों में भी मन के ज्वार
शान्त नहीं हुए हैं, इस अवस्था में मृत्यु सुन्दर नहीं हो सकती है । जिसका मन निर्वैर है वह मृत्यु की गोद में इस प्रकार
सोएगा मानो निद्रा की गोद में सोया है । जिसका मन उत्तर की जग्मि है छुलस रहा है वह शान्त निद्रा भी नहीं पा सकता
है । इस अवस्था में शान्त-मृत्यु उसके नसीब में कहाँ ! मृत्यु भी एक प्रकार की निद्रा है । उस निद्रा से आदमी जाग सकता
है जब कि इस महानिद्रा में सोनेवाला पुनः नहीं उठ सकता है । इतना ही तो अन्तर है दोनों में ।

मृत्यु के क्षणों में स्मृति स्वच्छ हो जाती है । सारा जीवन फिल्म की तरह उसके सामने आ जाता है । यदि जीवन
का इतिहास भलाई का इतिहास है तो मृत्यु के मुँह में पहुँचते हुए भी उसके मुख पर सन्तोष की रेखा रहेगी । उसके लिए
मौत मानो माँ की गोद रहेगी । मौत उसके लिए वॉरन्ट नहीं, मान पत्र ले कर आएगी । पर जिसके जीवन के इतिहास के
पन्नों पर बुराई के काले निशान पड़े हैं उसके लिए मौत मानो वॉरन्ट लेकर आई है । उसको देखते ही वह कांप उठता है ।

शान्तिपूर्ण नींद पाने के लिए चिन्ताओं को कोट की भाँति उतार कर खूँटी पर टांग देना चाहिए । इसी प्रकार
शान्तिपूर्ण नींद पाने के लिए बैर की गठरी को दूर करनी चाहिए । केवल निर्वैर मन ही शान्ति पा सकता है । इसीलिए
अधि बोलते हैं कि मैं आज तक अशुभ लेश्या और राग द्वेष की गठरी को सिर पर लेकर घूमता रहा हूँ । वह गठरी मौत
के समय भी मेरी छाती पर शिला की भाँति पड़ी है और मैं शान्ति पूर्वक मर भी नहीं सकता । अतः अब मैं उसको एक
ओर पटक कर मेरे निज-भाव, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना करूँगा ।

टीका :—इमस्स खलु ममीकारिणो असमाहितलेश्या असमाहितमनोवृत्तिकस्य गंड इति ग्रन्थ्यार्ये तेन परिघातितस्य
बाधितस्य बंधनपरिघातस्येति पाठः शंकराचार्यैव गंडबंधनपरिघातं करिष्यामि । अलं पुरोमतेन दुःखं मरणमिति तस्मात् तं
पूर्वोक्तं कृत्वा ज्ञान-दर्शनचरित्राणि प्रतिसेविष्ये । मतार्थः ।

गंड शब्द प्रंथी के अर्थ में आया है । तथा बंधन परिघात का पाठ शंकराचार्य है ।

प्रोफेसर शुबिन् लिखते हैं कि :—

'इमस्स करेस्सामि' बतलाता है कि वह सभी कठिनाइयों से दूर रहना चाहता है । आत्मा के बंधनों से भी दूर
रहना चाहता है और ऐसा लगता है कि दूसरा गंड शब्द निकाल देना चाहिए । गंड शब्द उत्तराध्ययन की टीका में ग्रन्थि
अर्थ में आया है । आचारांग सूत्र में भी यह शब्द आया है । किन्तु उसका अर्थ यहाँ ठीक नहीं लगता है । पलिघाह्य
शब्द यहाँ पर विशेष रूप से जोड़ने में आया है ।

नाणेणं जाणियं दंसणेणं पासित्ता संजमेणं संजसिय तवेण अट्टविहकम्मरयमलं विधुणित विसोहिय अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं श्रीतिवत्तिता सिवमयल-मरुय-मक्खय-मन्वा-याह-मपुणरावत्तियं, सिद्धिगतिणामधिज्जं ठाणं संपसे अणागतद्धं सासत्तं कालं चिट्ठिस्सासिप्पि ।

अर्थ :—ज्ञान से जान कर, दर्शन से देखकर और संयम से संयमित होकर तप से अष्टविध कर्मरज रूप मल को त्याग कर आत्मा को विशुद्ध बना कर अनादि अनन्त दीर्घ मार्गवाले चातुरन्त संसार की वन नीधि को पार कर शिव अवल अरु अरोगरहित अक्षय व्यावाध पुनरागमन निरपेक्ष, सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त करेगा और भविष्य में शाश्वत काल तक रहेगा ।

गुजराती भाषान्तर :—

ज्ञानथी जाणुने, दर्शनथी ओर्धये अने संयमथी संयमित थर्धने तपथी अष्टविध कर्म रज इपी भणने त्यज्जने आत्माने विशुद्ध अनादीने, अनादि अनन्त दीर्घ मार्ग वाणा चातुरन्त संसारनी वन मार्गने पार करीने शिव, अत्यल, अरुण=रोगरहित अक्षय, अव्यावाध पुनरागमन निरपेक्ष, सिद्धिगति नामना स्थानने पहुँचीश अने भविष्यभा अनन्त काल सुधी रहीश ।

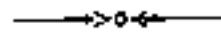
टीका :—ज्ञानेन ज्ञात्वा दर्शनेन दृष्ट्वा संयमेन संयम्य तपसाऽष्टविधकर्मरजोमलं विधूय विशोभ्यानादिकं भगवद्गुरुं दीर्घाध्वानं चातुरन्तसंसारकान्तारं व्यतिपत्य शिवमित्यादिविशेषितं सिद्धिगतिनामवेयं स्थानं संप्राप्तो अनागतध्वानं शाश्वतं कालं स्थास्यामीति प्रतिबोधितस्य कस्यचिद्व्यवसायः ।

आत्मा वाचना को मन में लिए अनन्त बार मरा है किन्तु सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र्य को लेकर यदि देह का त्याग करता है तो भव परम्परा की शृंखला को तोड़ देता है और शाश्वत शान्ति का पथिक हो जाता है ।

एवं से सिद्धे बुद्धे । गतार्थः ।

रामपुत्तीयज्ज्ञयणं

रामपुत्र-अर्हतर्षिप्रोक्तं प्रयोर्विशतितमं अध्ययनं



हरिगिरिअर्हतर्षि प्रोक्त-

चौबीसवाँ अध्ययन

विश्वरूपी रंग मंच पर आत्मा नए नए अभिनेय लेकर आता है । यद्यपि उसका स्वभाव ज्ञाता और द्रष्टा है, किन्तु वह स्वयं ही अभिनेता बन गया है और अभिनेता भी ऐसा जो रंग भूमि को निज भूमि मान बैठा है । यही मिथ्या विचार उसकी मंजिल को दूर धकेलता जाता है और उसका हर कदम पथ को बढ़ाता जाता है ।

जिस क्षण उसकी तंद्रा मंग होती है तब वह समझ लेता है कि मैं विश्व रंगमंच का अभिनेता नहीं, द्रष्टा मात्र हूँ । कषाय और वासना की गठरी सिरपर ले कर द्वार भटकना मेरा स्वभाव नहीं है । यह सारा नाटक ही गलत रूप से खेला जा रहा है । जिस क्षण आत्मा स्वरूप का बोध कर लेता है । उसी क्षण सारा दृश्य बदल जाता है । यही सब कुछ प्रस्तुत अध्ययन का विषय है ।

सब्बमिणं पुरा भव्वं इदंणि पुण अभव्वं । हरिगिरिणा अरहता इसिणा बुद्धं ॥

अर्थ :—पहले यह सब कुछ भवितव्यतापेक्ष था । अब भवितव्य भावी भाव से अनपेक्षित है । हरिगिरि अर्हतर्षि इस प्रकार बोले ।

गुजराती भाषान्तर :—

પહેલા આ બધાનો ભવિષ્યકાલ ઉપર જ આધાર હતો. હવે ભવિતવ્ય બાવી સાવથી અનપેક્ષિત છે. હરગિરિ અર્હતર્થિ એમ બોલ્યા.

આત્મા અનાદિ का यात्री है । यात्रा के पथ में इसने कहाँ कहाँ विधाम किया है । कितने रूप बदले हैं यह कौन कह सकता है ? । पहले जो रूप था वह रूप आज नहीं है और आज जो रूप है वह रूप कल रहेगा या नहीं कह नहीं सकते । कभी यही आत्मा देव बन कर स्वर्ग के सिंहासन पर बैठा है, तो कभी नरक की काल कोठरी में कैद भी रहा है । कभी इम में नष्टाया है तो कभी गन्दी नाले का कीड़ा बन कर कुलकुलाया है । जैनदर्शन आस्तिक दर्शन है । वह यह स्वीकार करता है कि आत्मा अपने पिछले जन्म में अनन्त रूप बदल कर आया है । अनन्त अनन्त जन्म और अनन्त बार की मौत को देख कर वह आया है । फिर किसका सौन्दर्य शाश्वत रहा । ।

टीका :—सर्वमिदं पुरा भाष्यं भवितव्यापेक्षमिवानीं पुनरभ्यर्धं भवितव्यानपेक्षं भवति ।

पहले भवितव्य के अनुरूप ही प्रवाह था । अब भवितव्य से अनपेक्षित होता है । अतीत में जो कुछ हुआ वह हमारे भवितव्य के अरूप था । अब वर्तमान हमारे भवितव्य के अनुरूप नहीं है । इसका अर्थ यह हुआ कि पहले हम नियतिवाद के अधीन थे । अब नियतिवाद से मुक्त हैं । यह भाव ठीक नहीं लगता है । तथ्य यह हो सकता है कि हम वर्तमान में जो कुछ भी है वह हमारे पूर्व कृत कर्म के अनुरूप है । अतीत में हमने जो कुछ किया है वर्तमान उसी के अनुरूप है । किन्तु भविष्य हमारे पुरुषार्थ पर अवलम्बित है । यदि अतीत हमारा निर्माता है तो भविष्य के निर्माता हम हैं । अतः हम जैसा बनना चाहते हैं वैसा बन सकते हैं ।

प्रोफेसर शुब्रिग् लिखते हैं कि, 'इसके पहले भी दुनियां थी, किन्तु मैं इसका क्षण-स्थायी रूप नहीं जानता था, किन्तु अब मेरे लिए इस के प्रति अल्प भी आकर्षण नहीं है । संसार स्वभाव का ज्ञान मुझे है । फिर भी मेरी आत्मा ज्ञान आधि में रमण करती है । संसार की प्रियता मुझ लेकर आती है किन्तु साथही उसकी विरुद्ध दिशा भी मेरे सामने रहेगी । क्योंकि उसका सुख शाश्वत नहीं है । दुनियां उसके हानि और लाभ के साथ संसार की निरसीमता को प्रकट करेगी । गणेश के विम्लेषण के लिए इतना विवरण पर्याप्त है । यदि इसको सही रूप से समझना है तो आगे आनेवाले पद अनिर्व्यष्टि अथवा निर्व्यष्टि को भी समझने का प्रयास करना चाहिए' ।

चर्यति खलु भो य णेरइया णेरतियत्ता, तिरिक्खा तिरिक्खत्ता, मणुस्सा मणुस्सत्ता देवा देवत्ता, अणुपरियट्ठंति जीवा चाउरंतं संसारकंतारं कम्मणुगामिणो तथा वि मे जीवे इधलोके सुहुप्पायके परलोके दुहुप्पादष्ट अणिप अधुवे अणितिए अणिच्चे असासत्ते सज्जति रज्जति गिज्जति मुज्जति अज्जो-ववत्तति विणिघातभावज्जति ।

अर्थ :—नारक नारकत्व को, तिर्यग्योनिक तिर्यक् योनि को, मनुष्य मनुष्यत्व को, देव देवत्व को छोड़ते हैं । कर्मानु-गासी जीव चातुरन्त संसार वन में परिभ्रमण करते हैं । तथापि मेरी आत्मा इस लोक में सुख का उत्पादक है । परलोक में दुःखोत्पादन करता है । अनियत, अधुव, अनित्य और अशाश्वत लोक में यह आत्मा आसक्त और अनुरक्त होता है, यत्न होता है, विषयासक्त बनता है और व्याघात प्राप्त करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

નારક નારકત્વને, તિર્યગ્યોનિક તિર્યક યોનિને, મનુષ્ય મનુષ્યત્વને, દેવ દેવત્વને છોડે છે. કર્માનુગામી જીવ ચાતુરન્ત સંસાર વનમાં ભ્રમતો રહે છે. તથાપિ મારો આત્મા આ લોકના સુખનું ઉત્પાદન કરનાર છે. પરલોકમાં પણ દુઃખ સર્જે છે. અનિયત, અધુવ, અનિત્ય અને અશાશ્વત લોકમાં આ આત્મા આસક્ત થયેલા અને અનુરક્ત હોય છે, લોભી હોય છે, વિષયાસક્ત અને છે અને વ્યાધાત પ્રાપ્ત કરે છે.

नारक नारकत्व को छोड़कर कभी पशु योनि पाता है । पशु कभी पशु योनि को छोड़ कर मनुष्य और कभी देव भी बनता है । किन्तु परिवर्तन का यह नर्तन कभी भी समाप्त नहीं हो सकता है । देव बन कर देवों का वैभव पाया, सागरों तक वहां का सुख लिया, परन्तु एक दिन वहां से भी धक्का मार कर निकाल दिया गया । किन्तु यह भुलकड़ पथिक आत्मा जहां कहीं जाता है वहीं अपना डेरा डाल कर रहने लगता है, मानो वहां से उसको कभी हटना ही नहीं है । । इतना ही नहीं वह

अशाश्वत को शाश्वत बनाने के लिए हजारों प्रयत्न करता है। परिणाम में उसके वे प्रयत्न वर्तमान क्षणतक ही सीमित रह जाते हैं। वह वर्तमान के सुख को लक्ष्य में रख कर चलता है, किन्तु सुख के वे अल्प क्षण परलोक के अनन्त दुःखों को जन्म देते हैं। फिर आत्मा वहाँ रहता है। उसमें आसक्त होता है किन्तु एक दिन उसके सुख का महल ताश के पत्तों का महल हो जाता है। और वह सब कुछ वहीं छोड़ कर आगे चलने के लिए बाध्य हो जाता है।

टीका :—अव्यवन्ते खलु भो नैरयिका नैरयिकत्वात् तिर्यग्भ्योन्यस्तिर्यग्भ्योनित्वात् मनुष्या मनुष्यत्वात्, देवा देवत्वा-
वनुपरिवर्तन्ते जीवाश्चानुरंत-संसारकंसारं कर्मानुगामिनः, तथापि मम जीव इदलोके सुखोत्पादकः, परलोके दुःखोत्पादको-
ऽनित्योऽधुवोऽनित्यः, अणितिष्ठ अणिषेति पदे समव्युत्पत्ती, सज्जति यावत् सुखस्यव्युपपद्यते विनिघातमापद्यते। गतार्थः।

इमं च षं पुनः सडण-पडण-विकिरण-विध्वंसणधम्मं अणेगजोगक्खेमसमायुत्तं जीवस्स अतारे-
त्तुकेकिं संसारनिर्वेदिं करोति, संसारनिर्वेदिं करोता शिवमचलं चिद्विस्सामिति।

अर्थ :—यह सडन पडन, विकीर्ण और विध्वंस धर्मयुक्त-संसार अनेक योग क्षेत्र और समत्व से रहित जीव के लिए दुस्तरणीय है। वह संसार की वृद्धि करता है। संसार प्रपंच में फंस कर यह दावा करता है कि शिव अचल स्थान को प्राप्त करेगा।

गुजराती भाषान्तर :—

आ सडन पडन, विकीर्ण अने विध्वंस धर्मयुक्त संसार अनेक योग क्षेत्र अने समत्वही रहित जीवने भाटे
दुस्तरणीय छे ते आ संसारनी वृद्धि करे छे संसार प्रपंचमा इसाधने आ दावा करे छे के शिव अचल स्थान
प्राप्त करीश।

जब तक संसार की आसक्ति नहीं समाप्त हो जाएगी तब तक भव-परंपरा भी नहीं समाप्त होगी। जो तप और साधना करता है और बोलता है कि मैं भव-समाप्ति के निकट हूँ वह भ्रान्ति में है। जब तक जिसने योग और क्षेत्र को नहीं पहचाना है और समता का पाठ नहीं पढ़ा है तब तक उसकी साधना भव-परंपरा को समाप्त करने में सहायक नहीं हो सकती है। समता साधना का अन्तःप्राण है। साधना चलती रही, और कषाय की मात्रा बढ़ती रही उस साधना का कोई मूल्य नहीं है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है पंच और वेष्ट में मुक्ति नहीं है तत्त्व के उल्लंघन और तर्क के छिलके निकालने में भी मुक्ति-नहीं है, अपि तु कषाय मुक्ति-ही यथार्थ मुक्ति है।

नाशम्बरत्वे न सितम्बरत्वे न तत्त्ववादे न च तर्कवादे। न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल एव मुक्तिः।

टीका :—इमां च पुनः शटन, पडन, विकिरण, विध्वंसन, धर्मेमनेक, योगक्षेम, समायुक्तजीवस्यातीर्णा संसार-
निर्व्येष्टिं करोति लोकप्रपंचं सेवते, इमां च संसारनिर्व्येष्टिं कृत्वा संसारकोटारमनुपरिवर्तते, तन्त्वमुवृत्त्य संवेगनिर्वेदौ गत्वा
इत्यर्थपूर्णधर्मध्याहार्य परन्तु शिवमित्यादि यावत् चिद्विस्सामिति अपास्यं मिथ्येह निवेशितत्वात्।

योग, क्षेत्र और समभाव से रहित आत्मा के लिए दुस्तीर्थ शडन, पडन, विकिरण और विध्वंसन गुण युक्त संसार निर्व्येष्टि अर्थात् उलझी हुई गुत्थी है। समभाव रहित साधक संसार की छेर रहित गुत्थी को सुलझाने के लिए विश्व में भटकता रहता है। उस गुत्थी में उलझा हुआ आत्मा संवेग निर्वेद को प्राप्त करता है। यह अपूर्ण अर्थ वाली बात है। किन्तु शिव इत्यादि विशेषण युक्त स्थान में ठहराया यह खंडित हो जाता है। अतः यह पाठ मिथ्या रूप में यहां आगया है।

प्रोफेसर शुब्रिगू भी लिखते हैं कि मोक्ष में परिवर्तन संभव नहीं है। अतः ऐसा लगता है कि वे शब्द गलत ढंग से बिठा दिए गए हैं।

तुम्हा अधुवं असासतमिणं संसारे सव्वजीवाणं संसतीकरणमिति णञ्चा णाणदंसणचरिसाणि
सेविस्सामि, णाण-दंसण-चरिसाणि सेविस्सा अणदीयं जाव कंतारं वितिवत्तिता शिवमचलं जाव टाणं
अधुवगते चिद्विस्सामि।

अर्थ :—अतः अधुव अशाश्वत संसार में सभी आत्माओं के लिए संसक्ति और दुःख ही है। यह जान कर मैं ज्ञान दर्शन चरित्र स्वीकार करूँगा और इस प्रकार अनादि यावत् भव-वीथिका का अतिक्रमण कर शिव शाश्वत स्थान को प्राप्त करूँगा।

गुजराती भाषान्तर :—

अतः अशुभ, अशाश्वत संसारमां अधा आत्माओने भाटे संसृष्टि अने दुःख न छे. ते ज्ञप्तिने हुं ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य स्वीकार करीश अने आ प्रकारे अनादि यावत् अवमार्गनुं उल्लंघन करीने शिव, शाश्वत स्थानने प्राप्त करीश.

टीका :—तस्मादधुवमशाश्वतमिदं संसारे सर्वजीवानां संसृष्टिकारणमिति ज्ञात्वा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्याणि सेविष्ये । तानि सेवित्वा संसारकोतारं व्यतिपत्य विवस्वानमभ्युपगतः स्थास्यामीत्यत्र निश्चयः ।

कंतारे चारिमज्जे वा, दित्ते वा अग्निर्संभमे ।

तमंसि वाडधाने वा सया धम्मो जिणाहितो ॥ १ ॥

अर्थ :—वन में, पानी में या अग्नि की ज्वाला में अंधकार में या छोटे गांव में सर्वत्र सर्वज्ञ कथित धर्म साथ होना चाहिए ।

गुजराती भाषान्तर :—

वनमां, पाणीमां डे अग्निनी ज्वालामां, अंधकारमां डे नाना गावमां सर्वत्र सर्वज्ञकथित धर्म साथे होवो जेधिये.

साधना की धारा सर्वत्र एक रूप से ही बहनी चाहिए । साधक गांव में हो या नगर में । उसके जीवन में एकरूपता होनी ही चाहिए । ऐसा नहीं है कि गांव की साधना कुछ दूसरी हो और शहर की कुछ दूसरी; तथा वन की साधना इससे भी निराली हो । शहर के चतुर श्रावकों के सामने हमारी साधना का स्वर तीव्र हो उठे । गांवों में ग्रामीणों की अवोधता का लाभ उठा कर अपने साधना को नीचे स्तर पर ले आए और वन की सूनी वीथिका में स्वतंत्र हो जाए ।

मगवान् महावीर दशवैकालिक में साधक जीवन में एकरूपता लाने के लिए निर्देश करते हुए कह रहे हैं कि:—

से भिक्षु वा भिक्षुणी वा गामे वा नगरे वा रण्णे वा जरण्णे वा पुराओ वा परिसराओ वा सुते वा जागरमाणे वा ।

साधक या साधिका गांव में हो या नगर में अथवा जंगल के वीरान प्रदेशों में हो, अथवा वह विशाल परिषद में ही क्यों न बैठा हो, वह सुषुप्ति में हो या जागरण में उसकी आत्म-साधना की धारा एक रूप से ही प्रवाहित रहे ।

अथवा प्रस्तुत गाथा का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि साधक सूने जंगल में हो, सागर की जल धारा में फेंक दिया गया हो अथवा आग की लपटों में ही उसे फेंक दिया गया हो तब भी सर्वज्ञ कथित धर्म से वह विमुख हो जाना कदापि स्वीकार नहीं करेगा ।

टीका :—वाडधानेति पदस्यार्थो न ज्ञायते । “वाडधान” इस पद का अर्थ अज्ञात है ।

प्रोफेसर शुब्रिन् लिखते हैं कि “तमंसि पाठ के आधार पर तम्मि होना चाहिए ।” परन्तु तमंसि पद भी व्याकरणसम्मत है ।

“वटधन” शब्द यहां विशेष नाम के रूप में आया है, जब कि प्रस्तुत गाथा में वट विशेष नाम योग्य नहीं लगता है । साथ ही कान्तार वारि अग्नि और तमो शब्द केवल सामान्य विचार को लेकर आए हैं । ऐसी स्थिति में उसका अर्थ वाजे की जगह के रूप में होना चाहिए । कहीं वटधन का चन्द्राल अर्थ लिया गया है । परन्तु वह अर्थ कहीं भी व्यवहृत नहीं है ।

धारंणी सुसहा चेव, गुरु मेसजमेव वा ।

सद्धम्मो सव्वजीवाणं, णिच्चं लोप हितं करो ॥ २ ॥

अर्थ :—सर्वसहा पृथ्वी और महान् औषधियां प्राणिमात्र के लिए हितकर हैं । इसी प्रकार सद्धर्म भी समस्त प्राणियों के लिए सदैव हितप्रद है ।

प्रोफेसर जेकोबी ने अपनी पसंद की हुई कहानियों की अनुक्रमणिका में संशोधन भी किया है ।

गुजराती भाषान्तर :—

सर्वसहा पृथ्वी अने महान् औषधियों प्राणीमात्रने भाटे हितकर छे, ओ न प्रमाणे सारे धर्म पणु समस्त प्राणीओ भाटे सदैव हितप्रद छे,

रोग ग्रस्त—मानव के लिए औषधि प्रिय है, एक किसान के लिए खेत की मिट्टी प्रिय है। क्योंकि वही तो उसे जीवन का आधार है। इसी प्रकार जीवन में प्रकाश की प्रेरणा देने वाला धर्म मानव के लिए हितावह है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है कि “बन्धु सहायो धर्मम्।” पर आज धर्म धर्मस्थानकों में है। मन्दिर और मस्जिदों में है, किन्तु वह आत्मा में नहीं है। जोकि उसका अपना स्थान है। इसीलिए धर्म की विडंबना है।

सिग्धयद्विसमायुक्ता, रथचक्रे जहा अरा।

फडंता बल्लिच्छेया वा सुहृदुक्खे सरीरिणो ॥ ३ ॥

अर्थ :—जैसे रथ-चक्र में रहा हुआ शीघ्र घूमने वाला आरा सारे रथ को गति देता है अथवा जिस प्रकार से लता के छेद नष्ट होते हैं, इस प्रकार देहधारियों के सुख दुःख भी होते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

जेवी रीते रथना चक्रमां रडेकी अडपथी घुमावतो आरो आभा रथने अडपथी लई जाय छे, अथवा जेवी रीते लतानो छेद नष्ट थाय छे, ते वा प्रमाणे प्राणियोंमां सुख-दुःख पणु होय छे।

सुख एक ऐसा शब्द है जिसको समस्त देहधारी चाहते हैं। दुःख से सब कोई भागना चाहते हैं; सुख के पीछे प्राणी दौड़ता है और प्राणी के पीछे दुःख दौड़ता है। सुख की छाया में दुःख विधाम करता है। भौतिक दुनिया में सुख अकेला ही नहीं आता है वह अपने साथी दुःख को भी अपने साथ छिपा कर ले आता है। मनुष्य सुख का स्वागत करता है, किन्तु उसके पीछे छिपे हुए दुःख की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती है। अर्हतर्षि इसी सभ्य को रूपक द्वारा प्रकट करते हैं। रथचक्र में आरा लकड़ी के खंड लगे रहते हैं। जब रथ चक्र वेग से घूमता है तो आरा भी एक के बाद एक आता रहता है। इसी प्रकार जीवन के चक्र में सुख और दुःख आरा है। जीवन रथ चलता है और सुख दुःख का आरा भी घूमता रहता है। लता के छेद से संबन्धित अर्थ समझ में नहीं आता है। सुहृदुक्खे शब्द संस्कृत में द्वि वचन के अनुरूप है।

टीका :—वृत्तिरिति वृत्तिः—परिवर्तः, शीघ्रया यथा समायुक्ता रथचक्रे यथाऽराः स्फटन्तो वा भंगुरा बल्लिच्छेदास्तथा शरीरिणः पुरुषस्य “सुहृदुक्खे” इति द्विवचनं संस्कृतकल्पं। गतार्थः।

संसारं सध्वजीवाणं, गेही संपरियसते।

उदुम्बरकरुणं वा, वसणुस्सवकारणं ॥ ४ ॥

अर्थ :—संसार की समस्त आत्माएँ आसक्ति—को लेकर परिभ्रमण करती हैं। जैसे कि उदुम्बर वृक्षों का प्रसव दोहद व्यसनोत्सव का हेतु बनता है।

गुजराती भाषान्तर :—

संसारना जधां प्राणी आसक्तिना आरखे अवपरंपराभां करे छे। जेवी रीते उदुम्बर वृक्षीना प्रसवना दोहद आहतने नोतरुं आपवाने आरखु अने छे।

आसक्ति—भव—परम्परा का मूल है। जैसे सूत्रधार समस्त पात्रों को नचाता रहता है वैसे ही आसक्ति—समस्त आत्माओं को परिभ्रमण कराती है। संसार की व्याख्या करते हुए एक संत ने लिखा है कि “कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः।” हृदय में कामनाओं का वास ही संसार है। जैसे उदुम्बर वृक्षों का प्रसव—दोहद व्यसनोत्सव का कारण बनता है अर्थात् उदुम्बर को पुष्पित होने पर मदनोत्सव मनाया जाता है। उसका पुष्पित होना विकारोत्तेजक है। इसी प्रकार आसक्ति—भव—परम्परा का मूल कारण है।

संसारं सर्वजीवानां गृद्धिः संपरिवर्तते। उदुम्बरकरुणां प्रसवदोहदो यथा व्यसनोत्सवकारणं रुयंगचेष्टादीनां हेतोः। गतार्थः।

अर्णिह रविं ससंकं च, सागरं सरियं तथा।

इदं ज्ञायं अणीयं च, सज्जमेहं च चित्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ :—अग्नि, सूर्य, चन्द्र, सागर और सरिता हन्त्रध्वज सेना और नष्ट मेघ का चिन्तन करना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

अग्नि, सूर्य, चन्द्र, सागर અને સરિતા, ઇન્દ્રધ્વજ સેના અને નવા મેઘનું ચિન્તન કરવું જોઈએ.

साधक चिन्तन के क्षणों में संसार की प्रमुख वस्तुओं के स्वरूप को अपने सामने रखे तो उसको प्रेरणा मिलती रहेगी। अग्नि तेजस्वी है, तेज और प्रकाश उसका गुण और धर्म हैं। उसको राज-महलों में जलाया जाय तब भी प्रकाश देगी और यदि गरीब के झोंपड़े में जलाया जाय तब भी प्रकाश ही देगी। साधक को चाहिए कि वह प्रकाशत्व और तेजस्विता अग्नि से ग्रहण करे, सूर्य और चन्द्र से कप्रकाः तेजस्विता और शीतलता को ग्रहण करे, साथ ही कर्तव्य में नियमितता का पाठ सीखे। सागर और सरिता से गंभीरता और जीवन का कण कण लुटा देने का स्वभाव ग्रहण करे। इन्द्रध्वज और सेना से प्रेरणा और पुरुषार्थ पाये और नए मेघ से क्षणिक आभा और परहित में संपत्ति व्यय करने की प्रेरणा पाये। यदि साधक के पास खुली दृष्टी है और उसका मस्तिष्क चिन्तनशील है तो दुनिया का हर एक पदार्थ उसे कर्तव्य की प्रेरणा दे जाएगा।

टीका :—वह्निमित्वावि सद्यो मेघमिव चिन्तयेदकाण्ढागमनगमनशीलम् । टीकाकार का कथन है कि साधक वह्नि भावि सभी को सद्य मेघ की भांति समझे। क्यों कि ये सब अकारण ही आने और जाने वाले हैं।

जोव्यणं रूपसंपत्तिं, सौभाग्यं धनसंपदं ।

जीवितं वा वि जीवाणं, जलबुद्बुयसंमिमं ॥ ६ ॥

अर्थ :—यौवन, रूप सौन्दर्य, सौभाग्य, धन, संपत्ति और प्राणियों का जीवन जल बुद्बुद के सदृश है।

गुजराती भाषान्तर :—

યૌવન, રૂપનું સૌંદર્ય, સૌભાગ્ય, ધન, સંપત્તિ અને જીવોની જીંદગી પાણીના પરપોટા જેવી છે.

यौवन और सौन्दर्य, सौभाग्य और सम्पत्ति मानव मन में छुपे हुए अहंकार के बीज हैं। यह दर्प का सर्प मानव मन को बसता भी है। किन्तु रूप का अहंकार क्यों?। जरा रूप और यौवन सब को एक ही सांस में समेट ले जाएगी। जीवन पानी का बुलबुला है, फिर इतना अहंकार क्यों?।

શિક્ષતા મુર્છા-ને કો ફૂલ, ઉદય હોતા છિપને કો ચન્દ્ર ।

શૂન્ય હોને કો ખરે મેઘ, વીપ જલતા હોને કો મન્દ ।

યહાં કિસકા સ્થિર યૌવન, અરે ! અસ્થિર છોટે જીવન । —મહાદેવી વર્મા ।

દેવિકા સમહિદ્ધિયા, દાણધિદ્રા ય વિસ્તુતા ।

ળરિદ્રા જૈ ય ચિક્રંતા, સંસ્થયં વિવસા ગતા ॥ ૭ ॥

अर्थ :—दिव्य महर्द्धि से युक्त-देवेन्द्र, प्रख्यात दानवेन्द्र और महान् बलशाली नरेन्द्र एक दिन विवश होकर समाप्त हो गए।

गुजराती भाषान्तर :—

સ્વર્ગીય વૈભવથી (કાલશક્તિને) યુક્ત દેવેન્દ્રો, પ્રખ્યાત દાનવેન્દ્રો અને મહાન બળી નરેન્દ્રો એક દિવસ વિવશ થઈ હુસ્ થઈ ગયા.

देवेन्द्र, दानवेन्द्र और एक मानवेन्द्र सत्ता और शक्ति के प्रतीक हैं, एक दिन जो सिंहासन पर बैठकर सिंह की भांति गर्जते थे, सम्पत्ति और वैभव जिनके आंगन में नाचा करते थे उन देवेन्द्रों को भी अपना सिंहासन त्याग कर एक दिन चला देना पड़ा। काल की कराल शक्ति ने शत्रुओं की छाया में बसने वाले सम्राटों को भी चल पड़ने के लिए विवश कर दिया। कौन अमर बन कर आया है और किसका यौवन अनन्त काल तक स्थिर रहा है।।

सर्व्वतथ गिरणुकोसा, णिविसेसप्यहारिणो ।

सुत्त-मत्त-पमसाणं, एका जगति ऽणिच्छता ॥ ८ ॥

अर्थ :—अनिलता जगत् में सर्वत्र निरुत्कृष्ट और निर्विशेष रूप से सुप्रमत्त सुप्त मत्त-और प्रमत्तों पर प्रहार करती है

गुजराती भाषान्तर :—

નશ્વરપણું જગત્માં સર્વત્ર નિરુત્કૃષ્ટ અને નિર્વિશેષ રૂપથી સુપ્રમત્ત, સુપ્ત અને પ્રમત્તપર ફટકો મારે છે.

अनित्यता सर्वत्र समान रूप से प्रहार करती है। निद्रा मग्न और प्रमाद जीवन की तीन कैदियाँ हैं, जो कि मानव के सङ्घर्षों को फाटती रहती हैं। अनित्यता सब के लिए समान है। जो निद्रा की गोद में खुराटे भर रहे हैं, जो मदिरा के प्यालों में ही जीवन की वास्तविक मस्ती देख रहे हैं और जो वासना की लहरों में बह रहे हैं उनके ऊपर मौत अट्टहास फरसती है। सावधान! आपदाएँ रूढ़ और जीवन की लड़ाई में विजय प्राप्त कर। विजय सदैव अप्रमत्त का ही साथ देती है।

देविन्द्रा दानचिन्दा य, णरिन्द्रा जे य विस्सुता ।

पुण्णकम्मोदयम्भूतं, पीतिं पायंति गोचरं ॥ ९ ॥

अर्थ :—देवेन्द्र, दानवेन्द्र और मानवेन्द्र पुण्य कर्म के उदय से जनता का प्रचुर प्रेम प्राप्त करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

देवेन्द्र, दानवेन्द्र અને માનવેन्द्र પુણ્ય કર્મના ઉદયથી जनताનો पूरा प्रेम प्राप्त કરે છે.

देवेन्द्रों के राज सिंहासन और दानवेन्द्रों के स्वर्णसिंहासनों पर बैठनेवाला अपने आप को कभी भी न भूले। शक्ति के भद्र में वह वह न बोले कि मेरी तलवार ने सिंहासन को स्थिर रखा है। यदि उसको पुण्य तत्व पर विश्वास है तो वह कभी भी अहंकार की भाषा में बात नहीं करेगा। पुण्य तत्व उसको मिथ्या अहंकार से दूर रखेगा और दूसरों के प्रति कोमल बनाएगा।

आयु धनं बलं रूपं, सौभाग्यं सरलत्तणं ।

गिरामयं च कंतं च, दिस्सते विविहं जगे ॥ १० ॥

अर्थ :—आयु, धन, बल, रूप, सौभाग्य, सरलता और नीरोगता और प्रियता विश्व में विविध रूपों में दिखाई देती है।

गुजराती भाषान्तर :—

આયુષ્ય, ધન, બળ, રૂપ, સૌભાગ્ય, સરળતા, તંદુરસ્તી અને પ્રિયતા વિશ્વમાં વિવિધ રૂપોમાં બોવામાં આવે છે.

आयु, धन, बल, सौभाग्य, सरलता, नीरोगता और लोकप्रियता ये सभी एक साथ एक ही स्थल पर प्राप्त नहीं हो सकते। किसी का जीवन लम्बा है तो उसके पास धन का अभाव है। कहीं बल है तो रूप का अभाव है। यदि सभी वस्तुएँ एक साथ ही मिल जायें तो मानव कर्म जैसी वस्तु को मानने के लिए तैयार न होगा। जहाँ पर विशाल सम्पत्ति है वहाँ पर चार पैसे भी खर्च करने का दिल नहीं है। और जिसका दिल उदार है, समाज के विकास के लिए जिसके पास उत्साह है, कार्य करने की क्षमता है, तो उसकी स्थिति इतनी गिरी हुई है कि उसके लिए अपना निर्वाह भी एक समस्या बन गई है।

सदेवोरगसंधव्हे, सतिरिक्खे समानुसे ।

णिब्भया णिव्विसेसा, य जगे वसेय अणिच्चता ॥ ११ ॥

अर्थ :—देवसृष्टि, मंधर्व, तिर्यक्ष और मनुष्यसृष्टि इनमें अनित्यता सर्वत्र समरूप से निर्भय हो कर घूमती है।

गुजराती भाषान्तर :—

દેવસૃષ્ટિ, મંધર્વ, તિર્યંચ અને મનુષ્યસૃષ્ટિમાં અનિત્યતા સર્વત્ર સમરૂપથી નિર્ભય બનીને ફરે છે.

देवसृष्टि हो या दानवसृष्टि, मानव-जगत् हो या पशु-जगत् अनित्यता सर्वत्र निर्भय संचरण करती है। स्वर्ण-भवनों में रहने वाले यह सोचते हैं कि हम अमर हैं। किन्तु देव-कुमारों का भी यौवन शाश्वत नहीं है। असुक काल तक दिव्य भवनों में रहने के बाद एक दिन उनको भी वहाँ से चल देना पड़ता है।

पर्याय नय की दृष्टि से विश्व की कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। अनित्यता की धुरी पर परिवर्तन का नतैन चल रहा है। विश्व की कोई भी नाकत सृष्टि के इस नियम में परिवर्तन नहीं ला सकती है। एक सूक्ष्म अणु भी अपने पर्यायों में प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है और विराट् गुमेह भी अपने पर्याय में परिवर्तित हो रहा है।

दानमाणोवयारेहिं, साममेयकियाहि य ।

ण सक्का संणिवारेउं, तेलोकेणाविऽणिच्चता ॥ १२ ॥

अर्थ :—दान, मान, उपचार, साम और भेद आदि कियाँ तो कथा तीनों लोक की शक्ति मिल कर भी अनित्यता को रोकने में सक्षम नहीं हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

दान, मान, उपचार, साम अने भेद आदि क्रियाओं तो शुं त्रले छोड़नी शक्ति होगी थर्ध नय तो पशु अनित्यताने रोकवाभां समर्थ थशे नहीं।

विशालकाय बांध जल की तीव्र धारा को रोक सकते हैं । किन्तु दुनिया में आज तक कोई भी ऐसा बांध नहीं बनाया जा सका है जो समय की धारा को रोक सके । पैसा देकर आप मान खरीद सकते हैं, मान देकर उपकार कर सकते हैं । किन्तु समय शक्ति और सम्मान देकर भी आप समय को नहीं खरीद सकते । । राम और भेद की नीति विध के नक्शे को बदल सकती है, किन्तु अनित्यता के नक्शे को बदल देने की ताकत उनमें भी नहीं है । क्योंकि समय देकर आप पैसा पा सकते हैं, किन्तु पैसा देकर आप समय नहीं पा सकते ।

उच्चं वा जति वा जीयं, देहिणं वा णमस्सितं ।

जागरंतं पमत्तं वा, सव्वत्था णामिलुपपति ॥ १३ ॥

अर्थ :—उच्च हो या नीच जाग्रत, हो या प्रमत्त अनित्यता सर्वत्र सबको समाप्त करती है ।

गुजराती भाषान्तर :—

उच्च होय के नीच, सावधान अथवा मोह पाभेदो होय अनित्यता सर्वत्र अधानो नाश करे छे।

आरा लकड़ीको काटता है, किन्तु उसके विषय में एक सिद्धान्त है कि आरा जब जाता है तब काटता है, जाता है तब नहीं, किन्तु मानव के हर श्वास और प्रश्वास उसकी आयु काटते ही जाते हैं । प्रतिक्षण मानव की आयु कम हो रही है चाहे प्रमत्त हो अथवा अप्रमत्त, अनित्यता सब पर होती है ।

“एवमेतं करिस्सामि, ततो एवं भविस्सती” ।

संकप्पो देहिणं जो य, णं तं कालो पडिच्छती ॥ १४ ॥

अर्थ :—“मैं यह इस प्रकार करूँगा, उससे यह होगा” । मनुष्य के मन में इस प्रकार के अनेकों संकल्प चलते रहते हैं । किन्तु काल काल उसके संकल्पों को स्वीकार नहीं करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

“हूँ आ रीते करीश, तेथी आ थशे” । ओ प्रकारना अनंत संकल्प मनुष्यना मनभां आदवा करे छे । पशु अयानक क्षण तेना अरमानोनो करे पशु विचार करतो नथी।

मानव के मन में नए नए संकल्प पैदा होते रहते हैं । यह कार्य यदि इस ढंग से किया जाय तो इससे यह होगा । यह करेंगे फिर यह करेंगे किन्तु काल मानव के इन संकल्पों को उसी प्रकार से विध्वंस कर देता है जिस प्रकार से उत्तरी हवा उपवनो को नष्ट भ्रष्ट कर डालती है ।

भगवान् महावीर स्वामी मानव मन की इसी स्थिति का चित्रण पावा-पुरी के अन्तिम प्रवचन में देते हैं—

इमं च मे अत्थि इमे च णत्थि, इमं मे किञ्चं इममकिञ्चं ।

तं एवमेवं लालप्यमाणं, हरा हरंति सि क्हं एमाण् ॥—उत्तरा. अ० १४ गाथा १५ ।

इतना मुझे प्राप्त है और इतना मुझे और प्राप्त करना है, यह मैं कर चुका हूँ और इतना करना शेष रह गया है । ये ही वे विकल्प हैं—जो मानव को मोह पाश में बांधे रहते हैं, पर अनित्यता उसके रंगीन स्वप्नों को चूर चूर कर देती है ।

जा जया सहजा जा वा, सव्वत्थेवाऽणुणामिणी ।

छाय व्व देहिणो गूढा, सव्वमण्णेतिऽणिच्छता ॥ १५ ॥

अर्थ :—प्राणी कहीं भी जाए अनित्यता छाया की भांति सर्वत्र साथ रहती है । छाया पृथक् परिलक्षित भी हो सकती है । किन्तु यह अनित्यता तो कभी दिखाई भी नहीं पड़ती है ।

गुजराती भाषान्तर :-

પ્રાણી કયાંય પણ જાય અનિત્યતા પડછાયાની માફક અધે ઠેકાણે તેના સાથે જ કરે છે. પડછાયો તો જુદો પણ જોઈ શકાય છે. પરંતુ આ અનિત્યતા તો ક્યારે દેખાતી પણ નથી.

માનવ જ્યારે સુસ્થ કે ક્ષણો મેં રહતા હૈ ત્યારે સમગ્ર બેઠતા હૈ કે મૈં અમર હૂં । જ્યારે કોઈ મકાન ખરીદતા હૈ ત્યારે જહ રજિસ્ટ્રી મેં લિખવાતા હૈ કે જ્યારે ત્યારે ચંદ્ર ઓર સૂર્ય હૈ ત્યારે ત્યારે એક મકાન પર મેરા અધિકાર રહેગા । પર ઓ મોઢે હનસાન ! જ્યારે ત્યારે ચંદ્ર ઓર સૂર્ય રહેંગે ત્યારે ત્યારે તું રહેગા યા નહીં ? ।

સાચી અમરતા કે સ્વપ્ન ડાહ્યા હજાર હજાર પાપ કરને કે લિપે પ્રેરિત કરતે હૈ । દસ પીઢી આરામ સે રહે ઇતની વિશાલ સમ્પત્તિ હોને પર મી માનવ કા લોભી મન ચારહવીં પીઢી કે લિપે ચિન્તિત રહતા હૈ ।

અર્હતર્થિં બાર બાર અનિલ્યતા કા પ્રતિપાદન કરતે હૈ । ડાહ્યા તાત્પર્ય યહ નહીં હૈ કે સંસાર મેં નિલ્યતા પદાર્થ હી નહીં હૈ । જૈન ડર્શન અનેકાન્ત વાલી ડર્શન હૈ । ડાહ્યા એક આંખ પદાર્થ કી અસ્થિરતા પર રહતી હૈ તો ડાહ્યા આંખ ડાહ્યા સ્થિરતા પર જમી રહતી હૈ । આચાર્ય સિદ્ધસેન દિવાકર પદાર્થ કી નિલ્યાનિલ્યતા કા પ્રતિપાદન કરતે હુએ કહતે હૈ કે:-

उत्पञ्चसि विवर्तित्य भावा गियमेण पञ्चवण्यस्स ।

द्वद्वियस्स सच्चं सया अणुपपन्नमधिण्हं ॥ — સન્મતિ પ્રકરણ અધ્યાય ૧ ગાથા ૧૧ ।

પર્યાયાસ્તિક કી દૃષ્ટિ સે પ્રલેક પદાર્થ ઉત્પન્ન મી હોતા હૈ ઓર નષ્ટ મી હોતા હૈ । દ્રવ્યાસ્તિક નય કી દૃષ્ટિ સે પદાર્થ અનુત્પન્ન ઓર અવિનષ્ટ હૈ । ડાહ્યા શબ્દો મેં યહ ધ્રુવ હૈ । અતઃ પ્રલેક પદાર્થ નિલ્યાનિલ્યાત્મક હૈ । ફિર મી યહાં પર અર્હતર્થિં બાર બાર જો અનિલ્યતા કો હી સામને લા રહે હૈ ડાહ્યા કારણ યહ હૈ કે અનિલ્યતા માનવ કે મસ્તિકા મેં રહી તો યહ ડાહ્યા સે વચેગા । યહ ડાહ્યા નાજુક ક્ષણો મેં મી ડાહ્યા સે વચેગા, જ્યારે કા સમ્પત્તિ કી જમક ડાહ્યા અપની ઓર ચીંચ રહી હોગી । યહ સોચેગા કે છોડીસી જિન્દગી કે લિપે પાપ કી ઇતની વડી મઠરી ક્યોંકર વાંધી જાય ? ।

कम्मभावेऽणुवसंती, दीसंति य तथा तथा ।

देहिणं पकर्ति चेच, लीणा वत्तेय अनिश्चता ॥ ૧૬ ॥

અર્થ :- કર્મ કે સદ્ગાવ મેં હો જો (અનિલ્યતા) આત્મા કે સાથ રહતી હૈ ઓર અનેક રૂપો મેં પરિલક્ષિત હોતી હૈ । ઇસ પ્રકાર દેહધારિયોં કી પ્રકૃતિયોં કો અનિલ્યતા ને લીન કર રહ્યા હૈ ।

गुजराती भाषान्तर :-

કર્મના અસ્તિત્વમાં જે જે અનિલ્યતા આત્માની સાથે રહે છે અને અનેક રૂપોમાં પરિલક્ષિત થાય છે. આજ પ્રમાણે પ્રાણિઓના પ્રકૃતિને નશ્વરતાએ લીન કરી રાખી છે.

માના કે જો વૃત્તિયાં હૈ ઓર જો પ્રવૃત્તિયાં હૈ વે સમી કર્મ કે સદ્ગાવ મેં હી રહ સકતી હૈ । માનવ કી વિવિધ રૂપતા ઓર સંસાર કી વિચિત્રતા જો કુલ મી દિસાઈ દે રહી હૈ વે સમી કર્મજન્ય હૈ । કોઈ ડૉક્ટર બનને કા સ્વપ્ન વેસતા હૈ, તો કોઈ વકીલ બનના ચાહતા હૈ, કોઈ ઇંજિનિયર બનને કે લિપે અમેરિકા પહુંચ જાતા હૈ, તો કોઈ મિનિસ્ટર બનને કી સાધ રહતા હૈ । ફિન્તુ યહ અનિલ્યતા સબકો અપને મેં લીન કર લેતી હૈ । એક હી પ્રહાર મેં સબ આશાઓં કા ચૂર કરતી હુઈ કહતી હૈ તુમ્હારે સમી સપને સૂઢે હોંગે ।

जं कष्टं देहिणा जेणं, पाणावण्णं सुहासुहं ।

पाणावर्त्थंतरोवेतं, सद्यमण्णेति तं तथा ॥ ૧૭ ॥

અર્થ :- દેહધારી નાનાવિધ જો શુભાશુભ કૃત્યો કરે છે અને મનુષ્ય નાના પ્રકાર કે વર્ત્તો સે યુક્ત હોતા હૈ ઓર વહ ડાહ્યા કો પૂર્ણ માન બેઠતા હૈ ।

गुजराती भाषान्तर :-

પ્રાણિઓ જે અનેક શુભાશુભ કૃત્યો કરે છે અને તે મનુષ્ય નાના પ્રકારના વર્ત્તોથી યુક્ત થાય છે અને તેને જ તે સંપૂર્ણ માની એસે છે.

मानव की अच्छाई और बुराई उसके शुभ और अशुभ आचरण पर ही निर्भर रहती है। किन्तु स्थूल द्रष्टा केवल बाहरी वस्त्रों को अच्छाई और बुराई नापने का मज बना लेता है। श्रेष्ठ वस्त्रधारियों को पवित्र आत्मा मानने को तैयार हो जाता है। किन्तु ऐसा मानने वाला यह क्यों भूल जाता है कि बुराई भी अच्छाई के वस्त्रों को पहन कर दूसरे को धोखा दे सकती है। और कभी अच्छाई भी बाहरी दुनिया से तिरस्कृत होकर बुराई के गंदे वस्त्र पहन सकती है, तो क्या गंदे वस्त्रों में लिपटी हुई अच्छाई से प्रेम नहीं करेंगे?

हां, तो सफेद कपड़ों के नीचे कभी काले दिल ठके रहते हैं। वस्त्रों से तो अच्छाई और बुराई नापने चलन वाला अभी जीवन की गहों में अंखें गूढ़ कर चल रहा है। अनुभव की ओर उसकी पलकों को खोल भी सकती है।

अथवा कोषकार 'वर्त्य' का एक दूसरा ही अर्थ देते हैं "पृथक् भिन्न" (पादुम सहस्रनाम्नो) इस अर्थ को मान्य करने पर गाथा का अर्थ दूसरा होगा। आत्मा शुभाशुभ जो भी कार्य करता है उसीसे वह अच्छा या बुरा बनता है। मनुष्य विविध रूपता युक्त है। समस्त मानव सृष्टि को हमें इसी प्रकार स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि मानव की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता शुभाशुभ कार्यों पर निर्भर है।

कंती जे वा वयोऽवस्था, जुजंते जेण कम्मणा ।

णिव्वत्ती तारिसे तीसे, वायाप व पडिमुका ॥ १८ ॥

अर्थ :—जिस वय और अवस्था में जिस कर्म से कान्ति प्राप्त होती है उसकी वैसी ही रचना हो सकती है और वाणी से ऐसा ही सुना जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

जे उमर अने अवस्था में जे कर्मनी कान्ति प्राप्त थाय छे, तेनी तेनी वा रचना थप शके छे अने वाणीथी तेबुं वा सांभलवाभां आवे छे।

मनुष्य के जीवन में एक अवस्था ऐसी भी आती है जिसमें मर्म खून कुछ नया सर्जन करता है। वह पुरानी निष्प्राण परम्पराओं को तोड़ कर नई दृष्टि प्राप्त करना चाहता है। उसका नया जोश सृष्टि में नया परिवर्तन लाने के लिए अकुलाता है। समाज में नया आदर्श स्थापित न करके उसको नया मोड़ देना ही नये खून का काम है। वृद्धावस्था में होश तो रहता है, किन्तु नया कुछ काम करने के लिए जोश नहीं रहता है। कोरा होश यदि कुछ नहीं कर सकता है तो कोरा जोश भी कुछ नहीं कर सकता। कोई नया काम करने के लिए होश और जोश दोनों चाहिए। साथ ही वाणी में बल भी चाहिए कि वह अपने विचारों को दूसरों के हृदय में बैठा सके। यदि विचारों के अन्दर कान्ति नहीं है तो आचार कान्ति कभी संभव नहीं है। कान्ति का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम विचारों में होता है। जिनके विचारों की दुनियां सोलहवीं सदी में रहती हो, जिन्हें नया कुछ भी करने में चिड़ हो और जो अपने दिमाग पर नये विचारों के लिये 'प्रवेश नहीं' का बोर्ड लगाए घूमते रहते हैं उनके पास विचार कान्ति के बीज ही नहीं हैं। वे नए युग की नई चेतना को समझ नहीं सकते हैं। पर भूलना नहीं होगा जिसने युग की आवाज को हुकराया है युग उनका साथ कभी नहीं दे सकता। युग भी उसी के सामने तिर झुकता है जो दुनिया के अपमानों का विष पी कर भी अमृत बरसाते हैं।

टीका :—या कान्तिवयोऽवस्था वा येन कर्मणा युज्यते तादृशी तस्या निर्द्विस्तिर्भवति वाचः प्रणिष्ठुदिव । मतार्थः ।

ता हं कडोदयुम्भूया, नाणागोर्यविकल्पिया ।

मंगोदयाणुवत्तंते, संसारे सव्वदेहिणं ॥ १९ ॥

अर्थ :—नानाविध गोत्रों के विकल्प आत्मा के कार्यों से बनते हैं। संसार के समस्त देहधारी भक्तियों से उनमें रहते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

नानाविध गोत्रोना विकल्प आत्माना कार्योथी थाय छे. संसारना सभस्त मनुष्य विकल्पथी तेभां रहे छे।

उच्च और नीच गोत्र की सृष्टि आत्मा ही करता है। उसके शुभ और अशुभ आचार और विचार उच्च और नीच गोत्र के हेतु हैं। गोत्र कर्म के संबन्ध में जैन संसार पर वैदिक दर्शन की छाया है, इसी लिए वैदिक दर्शन की जन्मजात उच्चता और नीचता को उसने स्वीकार कर लिया है। उसके आधार के लिए गोत्र कर्म को आगे कर दिया जाता है। किन्तु जैन

दर्शन ने हमेशा जन्मज पवित्रता का निषेध किया है। उसका विश्वास कर्म में है। अतः मानव की श्रेष्ठता का उसने जन्म से नहीं कर्म से स्वीकार की है। यदि जन्म से ही किसी व्यक्ति में पवित्रता आ जाती है तो कर्म की फिलासफी ही समाप्त हो जाती है। साथ ही जीवन की साधना के लिए सारी बातें व्यर्थ होंगी।

‘गोत्र’ का पाठान्तर गाय मिलता है, यदि हम गाय को अनुलक्षित करेंगे तो गाथार्थ ही भिन्न होगा। कान्ति और वय के द्वारा ही आत्मा शरीरों की सृष्टि करता है और विकल्प से रहता है। अतः संसार में यह अनित्यता सर्वव्यापी है।

टीका :—तादं तासां इह संबन्धे तु ताभ्यां कान्तिवयोभ्यां कृतो नोदयोद्धृता नानागात्रविकल्पिता अनेकगात्रेषु कृता भग्योदयाः संसारे सर्वदेहिनामनुपरिवर्तन्ते ताभ्यामनित्यत्वात् ।

टीकाकार गात्र पाठ को अनुलक्षित करके गाथा का अर्थ प्रस्तुत करते हैं। तादं वहां कान्ति और वय से सम्बन्ध रखता है। वय और कान्ति के द्वारा जो कुछ भी कर्म करता है, उसके अनुरूप ही शरीर का निर्माण करता है। शुभ अव्यवसायों से वह शुभ देह प्राप्त करता है और अशुभ से अशुभ देह। किन्तु इतना निश्चित है कि वह दोनों में एक साथ नहीं रह सकता।

कन्दमूला जहा वल्ली, वल्लीमूला जहा फलं ।

मोहमूलं तहा कम्मं, कम्ममूला अणित्यता ॥ २० ॥

अर्थ :—कन्द से लता पैदा होती है और लता से जिस प्रकार से फल पैदा होते हैं इसी प्रकार मोहमूल से कर्म आते हैं और कर्म से अनित्यता।

गुजराती भाषान्तर :—

कन्दથી વેલ ઉત્પન્ન થાય છે અને લતાથી જે પ્રકારે ફલ ઉત્પન્ન થાય છે, તે જ પ્રકારે કર્મ મોહથી ઉત્પન્ન થાય છે અને અનિત્યતા કર્મથી ઉત્પન્ન થાય છે.

कन्द से लता और लता से फल पैदा होता है इसी प्रकार मोह से कर्म पैदा होता है और ये कर्म ही अनित्यता को जन्म देते हैं।

बुज्झंते बुज्झण चेव, हेउज्जुत्तं सुभासुभं ।

कंदसंदाण-संबद्धं, वल्लीणं च फला-फलं ॥ २१ ॥

अर्थ :—बोध देने पर साधक शुभ और अशुभ का विवेक करने का बोध प्राप्त करे। जिस प्रकार से लता के फल और अफल (बुरे फल) कन्द की परम्परा से संबद्ध हैं, अर्थात् जैसा कन्द होगा वैसी ही लता होगी और वैसे ही अच्छे या बुरे उसके फल भी होंगे।

गुजराती भाषान्तर :—

બોધ આપ્યા પછી સાધકે શુભ અને અશુભનો વિવેક કરવાનો બોધ પ્રાપ્ત કરવો. જે પ્રકારથી લતાનું ફળ અને અફળ કંદની પરંપરાથી સંબંધ છે અર્થાત્ જોયો કંદ એવી જ લતા હશે અને એવા જ સાશ અથવા ખરાબ તેના ફળો પણ હશે.

तत्त्वदर्शी उपदेश करते हैं। साधक शुभ और अशुभ में परित्याग का विवेक प्राप्त करे। साधक अशुभ का परित्याग करे और शुभ की ओर आए। इतना ही नहीं बुद्ध को प्राप्त कर के शुभ को भी छोड़ दे। लता के अच्छे या बुरे फल कन्द की अच्छाई या बुराई पर निर्भर करते हैं।

टीका :—अथ कर्मोच्यते बुध्यते चैव कर्महेतुयुक्तं शुभाशुभं यथा वल्लीनां फलाफलं पर्याप्तफलान्यपर्याप्तफलानि च बुध्यन्ते ।

आत्मा कर्म का बन्ध कैसा करता यह जानना है तो उसका मूल हेतु जानना होगा। यदि उसका मूल बुद्ध अव्यवसाय है तो कर्म भी शुभ ही होगा। और यदि हेतु ही अशुभ है तो कर्म अशुभ होगा ही। यदि कर्म को हम फल कहें तो हम अव्यवसाय को हम बीज कह सकते हैं। कर्म का हेतु ही अशुभ नींव पर खड़ा है। ऐसी अवस्था में कर्म कभी शुभ नहीं

हो सकता है। एक कार्य बाहर से शुभ दिखाई पड़ता हो, परन्तु यदि उसका उद्देश्य बुरा है तो सारा कार्य ही बुरा होगा। दूसरी ओर एक कार्य बाहर से देखने में तो अशुभ लगता है, किन्तु उसका हेतु शुभ है तो वह कार्य शुभ होगा।

फल की मधुरता और कटुता उसके कन्द पर आधारित है। कन्द यदि मधुर है तो लता भी सुन्दर होगी और उसके फल भी रसप्रद होंगे। यदि कन्द ही बुरा है, तो लता फल विहीन होगी या कटु फल से युक्त होगी।

छिन्नादानं सयं कम्मं, भुज्जए तं न वज्जए ।

छिन्नमूलं व वल्लीणं, पुब्बुत्पण्णं फलाफलं ॥ २२ ॥

अर्थ :—सकृत् कर्मों के आदान अर्थात् द्वार को छेदन करके प्राप्त कर्मों को भोगे। प्राप्त का त्याग शक्य नहीं है, लता का मूल नष्ट कर दिया है, किन्तु पूर्वं के उत्पन्न हुए फलाफल का उपभोग तो करना ही होगा।

गुजराती भाषान्तर :—

पोते करेला कर्मोंनुं आदान अर्थात् अहणुनो न् रस्तो नष्ट करीने प्राप्त कर्मोंने भोगवे. केमडे प्राप्तने छोडवुं शक्य नथी. वेजना मूणनो नाश कर्यो छे, परंतु पूर्वना उत्पन्न थयेला इणाणनो उपभोग तो करयो न् जेधये.

साधक कर्माश्रय का द्वार बन्द करे और जो उदयावलि का प्राप्त कर्म हैं उनको भोग कर क्षय करे। क्योंकि आश्रय द्वार का निरोध हो जाने से भविष्यकालीन कर्म-परम्परा समाप्त हो सकती है, किन्तु पूर्ववृद्ध को तो भोगना ही होगा। लता का मूल काट देने से उसमें नए फल नहीं आसकते हैं, किन्तु पूर्वोत्पन्न शुभाशुभ फलों का उपभोग करना ही होगा।

टीका :—स्वयमात्मप्रयत्नेन छिन्नदानमप्युपादानं छिन्नं यस्य तत्कर्म भुज्यते न तद् वर्ज्यते अवश्यं वेदनीयं भवति यथा वल्लीनां फलाफलमिति पूर्ववत् पूर्वोत्पन्नछिन्नमूलमपि भुज्यते। गतार्थः ॥

छिन्नमूला जहा वल्ली, सुकमूलो जहा दुमो ।

नदुमोहं तथा कम्मं, सिण्णं वा हयणायकं ॥ २३ ॥

अर्थ :—जिसकी जड़ छिन्न हो चुकी है ऐसी लता और जिसका मूल सूख गया है ऐसा वृक्ष दोनों ही नष्ट होने वाले हैं। इसी प्रकार मोह के नष्ट होने से आठों कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे सेनापति के हटते ही सारी सेना के पैर उखड़ जाते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

जेनुं मूण कपाई गयुं छे जेवी लता अने जेनुं मूण सूकाई गयुं छे जेवुं आड अनेनो नाश निश्चित न् छे. जेवी रीते सेनापतिनी पीछेहउथी सारी सेना वडाधनुं मेधन छोडी नासी जाय छे, तेज्ज प्रभाणु मोह नाश पाभतां आडे आडे कर्म नाश पाभे छे.

जबतक मोह कर्म की २८ प्रकृतियां समाप्त नहीं होती हैं तब तक एक भी कर्म आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता है। जिस प्रकार से सेनापति के हटते ही सेना मैदान को छोड़ कर भाग जाती है उसी प्रकार मोह के हटते ही समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि कर्म बन्ध का मूल हेतु राग चेतना और द्वेष चेतना है। और ये चेतना ही अन्य कर्मों के बन्धन में हेतु-भूत बनती हैं। अतः कर्म-परम्परा की समाप्ति के लिए मोह की जड़ पर ही प्रहार करना होगा। पहले दर्शन-मोह और बाद में चारित्र-मोह क्षय होगा। इनके क्षय हो चुकने पर शेष तीन घनघाती कर्मों को क्षय करने में अन्त मुहूर्त से अधिक समय की आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

अण्णारोही जहा वीर्यं, धूमहीणो जहाऽनलो ।

छिन्नमूलं तथा कम्मं, नदुसण्णोववेसओ ॥ २४ ॥

अर्थ :—विनष्ट वीर्य और धूमहीन अग्नि जिस प्रकार शीघ्र समाप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार मूल के नष्ट होते ही कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं। जैसे नष्ट संज्ञा वाला उपदेशक समाप्त हो जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

नाश पाभेखुं ओण् अने धुमाडावगरनो अग्नि जेवी रीते तुरंत नाश पाभे छे. अने जेवी रीते नष्ट संज्ञावाणो (ओठले आगमनुं ज्ञान झूझी गयेल) उपदेशक पोताना कामभां असमर्थ जनी जाय छे तेज्ज प्रभाणु मूण नाश पाभतां न् कर्मों नाश पाभे छे.

जिसकी जड़ नष्ट हो गई उसका सब कुछ नष्ट है। पूर्वगाथा में इसके बहुत उदाहरण दिये गये हैं। उसी के अनुरूप यहां भी है। जो बीज नष्ट हो गया है फिर उसको चाहे कितना भी खाद और पानी प्राप्त हो वह उग नहीं सकता और धूमरहित अग्नि शीघ्र ही बुझ जाती है। यद्यपि यह उपमा सार्वत्रिक नहीं है जैसे कि लोहपिंड में अग्नि होने पर भी उसमें धुआं नहीं होता। फिर भी अन्य अग्निओं के लिए यह ठीक हो सकती है, साथ ही जिस उपदेशक की संज्ञा नष्ट हो चुकी है अर्थात् जो अपना अनुभव आगम सब कुछ भूल चुका है वह भी विद्यार्थियों की ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिस कर्म का मूल नष्ट हो चुका है वह आगे भवपरंपरा के रूप में फलित नहीं हो सकता।

टीका :—अप्रोक्षी यथा बीजं धूमहीन इवानलो नष्टसंज्ञो अष्टोपदेश इव देशको सुस्तथा कर्म किञ्चमूलम् ।
गतार्थः ।

जुञ्जण कम्मुणा जेणं, वेसं धारेद तारिसं ।

वित्तकंतिसमत्था वा, रंगमञ्चे जहा नडो ॥ २५ ॥

अर्थ :—जैसे कर्म होने वैसा ही वेष धारण करना उपयुक्त होगा और उसी के अनुरूप आत्मा सम्पत्ति सौन्दर्य और सामर्थ्य पाता है। जैसे रंगमंच पर नट विविध वेष धारण कर लेता है, अर्थात् जिस पात्र का जैसा कार्य होता है वैसा ही उसे वेषधारण करना पड़ता है।

गुजराती भाषान्तर :—

पोतानां कर्मोंने शोले तेवो न वेश धारणु करवो योग्य छे अने तेने न अनुग्रह आत्मा संपत्ति, सौंदर्य अने सामर्थ्य प्राप्त करे छे, जेवी रीते रंगभूमि पर नट विविध वेष धरि पोतपोतानो जाग अववे छे, अर्थात् जे पात्रनु जेवुं कार्य होय छे तेने तेवो न वेष धारणु करवो पडे छे।

सूत्रधार के संकेत पर विविध वेष में अभिनेता जिस प्रकार रंगमंच पर उपस्थित होता है उसी प्रकार से आत्मा कर्म के संकेत पर विविध शरीर को धारण कर लेता है। सम्पत्ति, शक्ति और सौन्दर्य की न्यूनाधिकता कर्मों पर निर्भर करती है।

नाटक के पात्र की जैसी योग्यता है अथवा जैसा अभिनय उसको करना है वैसी ही वेष-भूषा उसको सजानी पड़ती है। नाट्यशाला में कार्य के अनुरूप पात्र को वेष आदि प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार आत्मा को भी कर्म के अनुरूप वस्त्र, संपत्ति, कान्ति और शक्ति प्राप्त होती है। कर्म के अनुरूप आत्मा को वस्त्र मिलते हैं, वस्त्र का एक अर्थ शरीर भी हो सकता है, क्योंकि भारतीय दर्शन शरीर को वस्त्र मानते हैं।

“वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्याति संयाति नवानि देही ।” —गीता अध्याय २ श्लोक २२ ॥

एक वर्ष के बाद मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्र ग्रहण करता है, ऐसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़ कर नए शरीर धारण करता है। अतः आत्मा कर्मानुरूप शरीर, वस्त्र, कान्ति और शक्ति को प्राप्त करता है।

टीका :—येन कर्मणा युज्यते पुरुषः तादृशं वेषं धारयति नडो यथा रंगमञ्चे वृत्तकान्तिसमर्थः । गतार्थः ।

संसारसंतर्ह चित्ता, वेहिणं विविहोदया ।

सञ्चा दुमालया चेव, सब्बपुष्पफलोदया ॥ २६ ॥

अर्थ :—विश्व संतति की विचित्रता देहधारियों को विविध रूप में उपलब्ध होती है। समस्त वृक्ष और लता विविध पुष्प और फलों से युक्त होते हैं, क्योंकि उसके बीज विभिन्न हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

આ જાવના અનેક પ્રાણિઓ બહુરંગી અનેક પ્રકારના વિવિધ રૂપોમાં મેવામાં આવે છે. સમસ્ત વૃક્ષ અને લતા તરહતરહના પુષ્પ અને ફળોથી યુક્ત છે; કારણકે તેના બીજ તદ્દન જુદા છે.

сृष्टि में विविधतासे भरा सौन्दर्य है। हर आत्मा के स्वकृत शुभाशुभ कर्म ही इस विश्व विचित्रता के मूल हैं। वृक्ष और लता के पुष्प और फल विविध होते हैं। विविधता का हेतु उनकी जड़ों की विभिन्नता है। बीज की विविधता फूल और फलों की विविधता का हेतु है।

टीका :—चित्रा नामा प्रकारा विविधोदया च देहिनां संसारसंततिसर्वदुःखमाश्रया वनातीव भवन्ति सर्वपुष्पफलो-
दया । गतार्थः ।

पाचं परस्स कुव्वंतो, हसण मोह-मोहिओ ।
मच्छं गलं गसंतो वा, विणिग्घाथं न परस्सई ॥ २७ ॥

अर्थ :—मोह मोहित आत्मा दूसरों के लिए पाप करके हंसता है । मच्छ आटे की गोली को निगलता है, परन्तु उसके पीछे छिपे विनिघात (घातक कटि) को वह नहीं देखता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

दोषशी मोहित थयेओ एव पीताना दास भाटे भीजनु नुक्सान करीने छे, जेम माछकी झोटनी गीणीने गणे छे परंतु तेनी पाछण लूपायेला विनिघातकने (घातक कंटा) ने ते जेतो नथी.

मोहित व्यक्ति दूसरों के लिए पाप के प्रसाधनों का निर्माण करता है । परिवार के संकुचित प्रेम के लिए दूसरे के हरे-भरे जीवन को उजाड़ देता है । दूसरे के मुँह का कवल छीन कर हंसता है । अपने नन्हे मुँह को हंसते देखने के लिए दूसरे के नन्हे मुँह को खलाता है । किन्तु यह मच्छ की मूढ़ता है जो आटे की गोली को ही देखता है, पर उसके पीछे छिपे हुए कटि को नहीं देखता है । स्थूल द्रष्टा केवल वर्तमान के ही सुखों को देखता है । पर उसके पीछे छिपे हुए कटि को नहीं देखता ।

परोवघायतल्लिच्छो, दप्प-मोह-बल्लुदुरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं न चिंदई ॥ २८ ॥

अर्थ :—दूसरे के विनिघात में तन्मय होने वाला व्यक्ति दुर्प, मोह और बल का प्रयोग करता है । वृद्ध सिंह दुष्प्राण दुर्बल जीवों की हिंसा करता है । उसी प्रकार स्वार्थी मनुष्य वृद्ध सिंह की भाँति दुर्बल प्राणिओं का शिकार करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

भीजाना विनिघातमां तन्मय थयेव आत्मा दुर्प, मोह अने भणना प्रयोग करे छे, जेम वृद्ध सिंह दुष्प्राण दुर्बल जीवोनी हिंसा करे छे, ते जे प्रमाणे स्वार्थी मनुष्य वृद्ध सिंहनी जेम दुर्गुण प्राणीयोना शिकार करे छे.

अहंकारी मानव अपने बल का उपयोग दुर्बलों की रक्षा में नहीं, अपितु शक्तिहीनों को कुचलने में करता है और उसे देख उसका अहंकार हंसता है । आसुरी तत्व का सिद्धान्त है *Might is right* शक्ति ही सत्य है । सभी क्षेत्रों में यही हो रहा है । शक्तिशाली राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को दबोचता है । उनके शक्तिघातों को अपने हाथ में लेकर उनके साथ मनमाना खिलवाड़ करता है । उसकी अपनी राष्ट्रीय संपत्ति पर ही उन (छोटे राष्ट्रों) का अधिकार नहीं रह गया है । यह उपनिवेशवाद है । एक दबता रहे, कुचलता रहे और दूसरा उसे कुचलता रहे । यह मानवता का सिद्धान्त नहीं है । प्रत्येक मानव को स्वतंत्रता से जीने का अधिकार है । अपनी शक्ति के सही विकास का सबको सुअवसर प्राप्त होना चाहिए । बूट के नीचे दूसरे के प्राणों को दबोचे रहना दानवता का नियम है ।

सबल ने सदैव ही निर्बल को दबोचा है, पर उन्हें कुचल कर आप दानव बन जाते हैं । तो निर्बलों की रक्षा में अपनी शक्ति समर्पित कर आप देव बन जाते हैं । परन्तु मानव मानवता के सिद्धान्त को भूल चुका है । अर्हतरिपि सिंह के उदाहरण द्वारा उसे पुष्ट करते हैं । अर्हतरिपि वृद्ध सिंह द्वारा दुष्प्राण दुर्बल प्राणी की हिंसा का संकेत करते हैं । ऐसी ही मेड और मेडिये की कहानी भी प्रसिद्ध है ।

नदी के बहाव की ओर एक मेड का बच्चा पानी पी रहा था । ऊपर की ओर मेडिया पानी पीने आया । मेड के बच्चे को देखा तो उसके मुँह में पानी भर आया । परन्तु सोचा कि बिना अभियोग के किसी को मार देना इन बीसवीं सदी की सभ्यता के प्रतिकूल होगा । उसने अभियोग के स्वर में कहा “क्यों जी : क्या तुम को पता नहीं है कि मैं पानी पी रहा हूँ ? तुम मेरा पानी जूठा कर रहे हो ।” “चचा ! जूठा पानी तो मैं पी रहा हूँ, क्योंकि मैं बहाव की ओर हूँ !” मेड ने नम्रता से जबाब दिया ।

“अच्छा, तो एक साल पहले तुमने मुझे गाली क्यों दी थी?” अपना पहला निशाना खाली जाते देख कर ये मेडिये ने दूसरा तीर छोड़ा।

“चचा! मैं सात महीने का हूँ, फिर साल भर पहले मैं ने तुम को गाली कैसे दी?” मेड के प्राण सुन्न रहे थे, फिर भी उसने कोमल शब्दों में उत्तर दिया।

“अच्छा, तो तुम्हारी मां कल हमारे सामने गुराँ रही थी उसका ठीक जवाब मैं तुमको दूंगा।” मेडिया गुराँते हुए बोला।

“पर साहब! मेरी अम्मा को मरे आज तीन महीनों हो गये, वल कहीं ख्वाब में तो नहीं देखी थी?”

सब तीर खाली जाते देखकर मेडिया झटका खा और बोला, कि “कल के छोकरे! मेरे सामने जवान चलाता है?” इतना कहकर एक ही छलांग में मेडिए ने उस मामूम मेड के बच्चे को धर दबोचा।

सभ्य दुनिया की यही कहानी है।। बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है।।

पञ्चसुप्पणरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोद्धिओ।

दिस्तं पावइ उक्कंटं, वारिमज्जे व चारणो ॥ २९ ॥

अर्थ:—मोह मल्ल से प्रेरित आत्मा मात्र वर्तमान के रस में आसक्त होता है। मोह की प्रदीप्त ज्वाला से उद्दीप्त आत्मा मोह का तीव्र बन्धन करता है। जैसे कि पानी के बीच रहा हुआ इस्ति तीव्र उत्तेजना प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

मोहरूपी मल्लशी प्रेरणु पणेतो अण्णो मान येद्धिः सुप्पणां अण्णो थाय छे, जेवी रीते पाण्णीनी वस्ये रेड्यो डाथी वण्णो उत्तेजित थाय छे तेवी रीते मोहनी प्रदीप्त ज्वालाथी उद्दीप्त आत्मा मोहना मल्लभूत बंधनथी बंधाय छे.

मोह की मदिरा से मत्त बना आत्मा केवल वर्तमान के सुख को ही देखता है। वर्तमान को ही पूर्ण मान लेना सबसे बड़ी नास्तिकता है। “इहैकपरो नास्तिकः” वर्तमान क्षण को ही जो पूर्ण मान लेता है, आत्मा की अनन्त अनन्त अतीत और अनागत पर्यायों से इन्कार करता है, वह बहुत बड़े अन्धकार में है।

सवसो पावं पुरा किम्मा, दुक्खं वेणइ दुम्मई।

आससकंठपासो वा, मुक्कघाओ दुहट्ठिओ ॥ ३० ॥

अर्थ:—दुर्बुद्धि आत्मा पहले स्ववश रूप में पाप करता है और बाद में दुःख का संवेदन करता है। जिस प्रकार मनुष्य आवेश में आकर गले में फांसी लगा कर मृत्यु को निमन्त्रण देता है और बाद में वेदना के कारण उससे बचना चाहता है।

गुजराती भाषान्तर:—

दुष्ट बुद्धिवाणो आत्मा पछेछां पोताने दाथे पापो करीने पछी दुःख अनुभव छे, जे प्रभाणु मनुष्य आवेशमां आवीने गणांमां दांसो नांथी मृत्युने निमंत्रण आथे छे, अने पछी तेनी वेदनाथी अथवा चाहे छे.

आत्मा क्रिया करने में स्वतंत्र है किन्तु उसके फल भोगने में स्वतंत्र नहीं है। अमुक कर्म करें या न करें यह हमारी इच्छा पर निर्भर है, किन्तु एक बार जो कार्य कर लिया है उसके प्रतिकूल से इन्कार नहीं कर सकते हैं। एक किसान अपने खेत में बीज बोने के लिए स्वतंत्र है, वह गेहूं या बाजरा जो चाहे बो सकता है, किन्तु एकबार गेहूं बो देने के बाद वह बाजरा नहीं पा सकता है। आत्मा मन के खेत में शुभ या अशुभ कर्म के बीज डालने में स्वतंत्र है, किन्तु एक बार जो बीज पड़ चुके हैं उनकी फसल तो तैयार हो कर ही रहेगी।

परम्परास्य से कर्म अनादि है। परन्तु व्यक्ति रूप से वे अनादि नहीं हैं। एक कर्म अपनी अमुक काल सीमा को लेकर आता है और प्रतिकूल देकर आत्मा से पृथक् भी हो जाता है। बन्ध के पूर्व आत्मा स्ववश है। रागात्मक परिणति को रोक कर बन्ध को समाप्त भी कर सकता है, किन्तु बन्ध के बाद फिर कर्म की शृंखला से बंध कर दुःख का वेदन ही करता है।

टीका:—१५ वे अध्याय में ११ से १४ श्लोक के रूप में आ चुका है।

चंचलं सुहमादाय, सत्ता मोहम्मि माणवा।

आइच्चरस्सित्तं था, मल्लछा सिज्जंतपाणियं ॥ ३१ ॥

अर्थ :—चंचल सुख को प्राप्त करके मानव मोह में आसक्त हो जाता है । किन्तु सूर्य की किरणों से तप्त पानी के क्षय होने पर मछली कि भांति तड़पते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

नाशवंत सुખને પ્રાપ્ત કરીને માનવ મોહમાં આસક્ત બની જાય છે, પરંતુ સૂર્યના કિરણોથી ગરમ થયેલ પાણીનો ક્ષય થતાં માછલીની માફક તે પોતે તડકે છે.

पार्थिव सुख छाया की ही भांति चंचल है । सूर्य घूमता है तो छाया भी बदल जाती है । मानव मोह की मदिरा पी कर बोलता है कि मेरा सुख शाश्वत है, किन्तु पुण्य के सूर्य के ढलते ही सुख की छाया भी ढल जायेगी । सोने के सिंहासनों को भी ढिलने देर नहीं लगती । जिनके घर में इत्र की दीपदानियां जला करती थीं उनकी किस्मत ऐसी रुठ गई कि उन बेचारों को मिट्टी का भी तेल नसीब नहीं होता है, शुभ पुण्य का सरोवर भरा है तब तक ठीक है । परन्तु जिस क्षण अशुभ की तेज धूप लगेगी, पुण्य का जल सूख जाएगा और उस अहंकारी की स्थिति ठीक वैसी ही होगी जैसे जल के सूख जाने पर तड़पती हुई मछली की ।

टीका :—चंचलं सुखमादाय सक्ता मोहे मानव । भवन्त्यादित्यरदिमतसा इव मत्स्याः क्षीयमाणपानीयाः । गतार्थः ।

अधुवं संसिया रज्जं, अवसा पावंति संखयं ।

छिज्जं च तस्मारुद्धा, फलत्थीव जहा नरा ॥ ३२ ॥

अर्थ :—अधुव राज्य में आश्रित रहा व्यक्ति विवश हो कर एक दिन अवश्य ही क्षय होता है । कलेन्तु मानव यदि कटे हुए वृक्ष पर आरुढ़ होता है तो परिणाम में दुःख ही पाता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

અસ્થિર રાજ્યમાં આશ્રિત થયેલી વ્યક્તિ વિવશ થઈને એક દિવસ અવશ્ય ક્ષય પામે છે. ફળની ઇચ્છા કરનાર માણસ કપાયેલા વૃક્ષની ડાળીને પકડનાર માણસની જેમ અંતમાં દુઃખ જ પામે છે.

मानव क्षणिक राज्य के शरण में जाता है, किन्तु एक दिन ऐसा आता है जब कि उसे विवश हो कर विशाल साम्राज्य को छोड़ देना पड़ता है । मानव अनन्त काल तक सत्ता से चिपटा रहना चाहता है । किन्तु परिस्थितियां अलग दृष्टने के लिए उसे विवश कर देती हैं । फलार्थी मानव वृक्ष पर चढ़ता है और कटी हुई डाल को पकड़ता है फल तो जरूर हाथ लगता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह अचकदी शाखा टूट आती है और उसको भूमि पर आ जाना पड़ता है ।

टीका :—अधुवं राज्यं संश्रिता नरा अवशाः संक्षयं प्राप्नुवन्ति फलार्थिन इव रुद्धेयं तस्मारुद्धाः । गतार्थः ।

मोहोदय सयं जंतू, मोहंतं चेव खिसई ।

छिण्णकण्ठो जहा कोई, हसिज्जा छिभनासियं ॥ ३३ ॥

अर्थ :—मोहोदय में आत्मा बुझा ही एक दूसरे से द्वेष करता है । जैसे कटे कान वाला व्यक्ति कटी नाकवाले व्यक्ति को देख कर हंसता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

બંધારે મોહ ઉત્પન્ન થાય છે ત્યારે માણસ એક બીજાને સાથે વેર કરે છે. જેવી રીતે કપાયેલા કાનવાળા કપાયેલ નાકવાળી વ્યક્તિને બેધને હસે છે.

मोह की तीव्र परिणति में मानव एक दूसरे पर द्वेष करता है । मोह की जिस ज्वाला में स्वयं जल रहा है मोह के उस क्षेत्र में दूसरा प्रवेश करता है तो भीषण प्रतिशोध की ज्वाला उसके अन्तर में जल उठती है । लेकिन यह विद्वेष की आम व्यर्थ है । क्योंकि वह स्वयं भी उसी की लपटों में है । जिस प्रकार कटेकान वाला कटी नाकवाले व्यक्ति को देख कर हंसता है । किन्तु अपनी ओर देखने की वह चेष्टा ही नहीं करता है । किन्तु दोनों ही एक समान हैं ।

मोहोदई सयं जंतू, मंद-मोहं तु खिसई ।

हेम-भूषणधारी च्च, जहा लक्खविभूषणं ॥ ३४ ॥

अर्थ :—मोहोदयी आत्मा मन्द मोह शील व्यक्ति का उपहास करता है जैसे सोने के आभूषण पहनने वाला लक्षा (लाख) के आभूषण पहनने वाले की मजाक करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

अति मोहयी अंध अनेखो प्राणी मन्द मोहशील व्यक्तिनी भश्चरी करे छे. जेवी रीते सोनाना धरेणुं पहरेणुं मनुष्य आभना धरेणुं पहरेणारनां भश्चरी करे छे.

मोह की तीव्र परिणति में रहा हुआ आत्मा अल्प मोह वाले व्यक्ति का उपहास करता है। जैसे सोने के पहनने वाला मानव दूसरे के लाख के आभूषणों का उपहास करता है। वह समझता है कि ये बेचारे इन बातों को क्या जाने !। किन्तु तथ्य यह होता है कि जिनका उपहास किया जा रहा है वे उन बातों से कितनी संजिल आगे पहुंच चुके हैं।

मोही मोहीण भज्जमि, कीलप मोहमोहिओ ।

गहीणं य गहीमज्जे, जहत्थं गहमोहिओ ॥ ३५ ॥

अर्थ :—मोह-मुग्ध आत्मा मोह वाले व्यक्तियों के बीच ही क्रीड़ा करता है। जैसे ग्रह मोहित व्यक्ति घर में ही सुख रहता है।

गुजराती भाषान्तर :—

मोहमुग्ध आत्मा मोहवाणी व्यक्तिओ मध्ये ज भश्चरी करे छे. जेवी रीते पोतानां मओधी मोहित अनेखो भाशुस घरमां ज मुग्ध रहे छे.

गुबरेला गोबर का एक कीड़ा होता है। वह गोबर में पनपता है और उसी में जीता है। गुलाब की सुवास में उसका दम घुट जाता है और यदि उसे गुलाब में छोड़ दिया जाय तो वह समाप्त भी हो जाता है। ऐसे ही वासना के दूषित वातावरण में रहने वाले को यदि त्याग की स्वच्छ भूमि में आने की प्रेरणा दी जाय तो वह उसे बन्धन समझता है। मोह के संकरे घेरे में बसनेवाले को यदि वीतरागता के शान्त मुक्त वायु में आनन्द नहीं मिलता है।

टीका :—मोहमोहितो मोहिनां मध्ये क्रीडति यथा ग्रहीणां ग्रहवतां ग्रहगृहीतानां मध्ये ग्रही यथार्थं ग्रहमोहितः ।

मोह युक्त आत्मा मोह शील आत्माओं में आनन्द पाता है। जैसे ग्रह से गृहीत मनुष्य ग्रह गृहीतों के बीच आनन्द पाता है।

जो जिन संस्कारों में पला है उसे उन्हीं संस्कारों में रहना पसन्द आता है। एक व्यक्ति कृपणता के संस्कार में रहता है तो उसको उदार वृत्ति वाले व्यक्तियों के साथ रहना रुचिकर नहीं होता है। कृपण कृपण के साथ रहना चाहता है। क्योंकि उसके साथ ही उसके विचार मेल खाते हैं। हर एक व्यक्ति अपने सम-विचार के साथियों में ही रहना पसन्द करता है।

बंधंता निज्जरंता य, कम्मं नाऽण्णंति देहिणो ।

वारिग्गाह घडीउ व्य, थडिज्जंत निबंधणा ॥ ३६ ॥

अर्थ :—देहधारी आत्मा कर्म बांधता है और निर्जरा भी करता है, किन्तु केवल इस प्रक्रिया से ही कर्म परम्परा समाप्त नहीं हो सकती। पानी की घडी के सहस्र उसका कम चलता रहता है।

गुजराती भाषान्तर :—

देहधारी प्राणी कर्मनो संध्य करे छे अने निर्जरा पणु करे छे. परंतु देवण आ प्रक्रियाथी ज कर्मपरंपरा समाप्त थछ शक्ती नथी. पाणीनी घडीनी जेम तेनो कम यावतो ज रहे छे.

आत्मा प्रतिक्षण अनन्त अनन्त नए कर्मों का बन्ध करता है और उसी क्षण अनन्त अनन्त कर्म पुद्गलों की निर्जरा भी। किन्तु वह निर्जरा उसकी सवपरम्परा को समाप्त करने में समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा विषाकोदय में प्राप्त जितने कर्मों को भोग कर क्षय करता है किन्तु निमित्त पर राग और द्वेष परिणति लाकर उससे अनन्त गुण अधिक कर्मों को पुनः बांध लेता है। इस अनादि क्रम के लिए अर्हतर्षि एक सुन्दर रूपक देते हैं। जिस प्रकार जल-घटिका में पुराना पानी समाप्त होते ही नया पानी आता रहता है और वह कटोरी कभी भी खाली नहीं होती इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों की परम्परा चालू रहती है।

टीका :—नान्यत् कर्म नान्येषां देहिनां कर्म व्रततो निर्जरयन्तश्च भवन्ति देहिनाः किन्तु स्वकीयमेव यथा धारि-
माहा घटीतो घट्यमाननिबन्धना भवन्ति, गृहीतं वारिमात्रं घटीमात्राशीनं भवतीति भावः ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं संसार के प्राणियों में एक का कर्म दूसरा नहीं बांधता है और निर्जरा भी नहीं करता है । किन्तु आत्मा स्वकीय कर्म को बांधता है और स्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी करता है । जो आत्मा शुभाशुभ परिणति में रहता है वह अपनी परिणति के अनुसार कर्म बांधता है । स्वयं ही उनसे मुक्त हो सकता है जैसे कि पानी की घड़ी से समय का निबन्धन होता है । अर्थात् घड़ी से पानी का माप होना है और पानी से घड़ी का और उस रूप में समय का परिज्ञान होता है । सम्पूर्ण पानी घड़ी में प्रवेश करता है और पुनः रिक्त होता है । यही क्रम सदैव चलता रहता है । यही क्रम आत्मा और कर्म का भी है । जब तक संसार स्थिति है तब तक यही क्रम चालू रहता है ।

बज्झए भुच्चए षेव, जीवो चित्तेण कम्मुणा ।

बद्धो वा रज्जुपासेहिं, ईरियंतो पओगसो ॥ ३७ ॥

अर्थ :—आत्मा विचित्र कर्मों के द्वारा बद्ध होता है और मुक्त भी होता है । अथवा रस्सी के पाश में बंधा हुआ प्रयोग से प्रेरित होता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

प्राणी जुदा जुदा प्रकारना कर्मोंना बडे बंधन पावे छे अने मुक्त पावु थाय छे. अथवा रस्सीना पाशमां बंधायेवो प्राणी कोछ प्रयोगथी यवित थाय छे.

कर्म तो पुद्गल द्रव्य है । किन्तु जब आत्मा में राग द्वेष के स्पन्दन होते हैं तब कर्म परमाणु आत्मा से विपक जाते हैं । पुद्गल द्रव्य आत्मा के स्वभाव से बिल्कुल भिन्न स्वभाव रखता है । अतः वह आत्मा की शक्ति का अवरोध करता है । आत्मा से संबद्ध होने के बाद कर्म के परमाणुओं में ऐसी शक्ति होती है कि आत्मा भिन्न भिन्न गुणों को रोक सकते हैं । कोई चेतना को अवरुद्ध करते हैं, तो कोई उसकी विशुद्ध दृष्टि को ही मलिन करते हैं और शुद्ध प्रवृत्ति को रोकते हैं । पुद्गलों का स्वभाव भेद अनुभव सिद्ध है । श्री श्रिग्ध तत्त्व वाला है तो भिन्न तीक्षास तत्त्व वाली है । ऐसे कर्म परमाणु विभिन्न स्वभाव के होते हैं ।

प्रस्तुत गाथा में एक और तथ्य बताया गया है कि जबतक कर्म आत्मा से पृथक् होते हैं तब तक दोनों स्वतंत्र हैं । किन्तु जब वे आत्मा से बद्ध हो जाते हैं तब आत्मा की स्वतंत्र शक्ति अवरुद्ध हो जाती है । फिर कर्म द्रव्य उन्हें अपनी शक्ति के अनुरूप परिभ्रमण कराता है । जैसे रस्सी से बंध जाने पर आदमी को उसी की दिशा में गति करनी पड़ती है ।

टीका :—वध्यते मुख्यते षेव जीवश्चित्तेण भाना प्रकारेण कर्मणा । यथा रज्जुपाशैर्बद्धाः कश्चिदन्यस्य प्रयोगेण ईर्यते चाख्यते । गतार्थः ।

कम्मस्स संतदं चित्तं, सम्मं नञ्चा जिहदिप ।

कम्मसंतानमोक्खाय, समाहिमभिसंधप ॥ ३८ ॥

अर्थ :—जितेन्द्रिय आत्मा कर्म संतति की विचित्रता को सम्यक् प्रकार से जाने और कर्म सन्तान से मुक्त होने के लिए समाधि को प्राप्त करे ।

गुजराती भाषान्तरः—

जितेन्द्रिय आत्मा कर्म-संततिनी विचित्रताने सम्यक् प्रकारथी जाणे अने कर्मसंतानथी मुक्त थवा मोठे समाधिने प्राप्त करे.

कर्म संतति की चित्रविचित्रता का साधक सम्यक् प्रकार से परिज्ञान करे । कर्म संतति से मुक्ति के लिए साधक समाधि को प्राप्त करे । क्योंकि समाधिस्थ साधक विभाव दशा प्रवृत्त आत्मशक्ति को रोकता है और कर्मपरम्परा को तोड़ता है ।

द्व्यओ खेतओ षेव, कालओ भावओ तहा ।

निश्चानिधं तु विण्णाय, संसारे सब्बदेहिणं ॥ ३९ ॥

अर्थ :—विश्व के समस्त क्षेत्र धारियों को दृग्मक्षेत्र काल और भाव से नित्य और अनित्य रूप से जाने ।

गुजराती भाषान्तर :—

विश्वना समस्त क्षेत्रोने द्रव्य, क्षेत्र काल अने आवधी नित्य अने अनित्य रूपसे जानव.

प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्यायात्मक है । वस्तु का एकत्व प्रतीतिरूप सामान्य धर्म द्रव्यास्तिकता है । जब वस्तु को पूर्ण और अखण्ड रूप में देखते हैं, तब हमारी दृष्टि अमेदगमिनी होती है और वह दृष्टि द्रव्यास्तिक दृष्टि कहलाती है । किन्तु जब हम वस्तु के भेद रूप अंश में प्रवेश करते हैं और भेद के रूप में उसकी विशेषताओं से परिचय करते हैं, तब वह भेदगामीदृष्टि पर्यायास्तिक दृष्टि कहलाती है । वस्तु की गहराई में जितना ही प्रवेश मिलता जाएगा वस्तु तत्त्व उतना ही निखरता जाएगा ।

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में वस्तु एक अविभाज्य और नित्य है, जब कि पर्यायनय की दृष्टि में शाश्वतता जैसी कोई वस्तु ही नहीं है । पर्यायनय की दृष्टि में पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहा है तो विनष्ट भी । जब कि द्रव्यार्थिक नय पदार्थ को अनुत्पन्न और अविनष्ट मानता है । समस्त देहधारी आत्माएँ भी द्रव्य क्षेत्र काल और भाव पर्याय के अनुरूप परिवर्तन गामी हैं तो द्रव्य रूप से शाश्वत भी है ।

निश्चलं क्यमारोगं, धाणं तेल्लोकसकयं ।

स खण्णुमग्गाणुगया, जीवा पावंति उत्तमं ॥ ४० ॥

अर्थ :—सर्वज्ञ मार्ग के अनुगामी जीव त्रैलोक्य से संस्कृत आरोग्यकृत अवल उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

सर्वज्ञ मार्गना अनुयायी खव त्रैल्लोक्यी संस्कृत, आरोग्यकृत, अखल, उत्तम स्थानने प्राप्त करे छे.

वीतरागता का पथिक एक दिन वीतरागत्व प्राप्त करता है । साधना के क्षणों में वीतरागत्व ही हमारा लक्ष्यबिन्दु होना चाहिए । मन की रागात्मक दशाओं पर अधिक से अधिक वीतराग स्थिति प्राप्त करना ही हमारी साधना है । सम्पूर्ण वीतरागता ही निश्चल आरोग्य है और वही त्रिलोक का संस्कृत स्थान है ।

टीका :—निश्चलं कृतारोग्यं त्रैलोक्यसंस्कृतं स्थानमुत्तमं प्राप्नुवन्ति जीवाः सर्वज्ञमार्गानुगताः । मतार्थः ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थः ।

इति हरगिरिअर्हतर्षिप्रोक्त चौबीसवां अध्ययन समाप्त ।

अम्बड अर्हतर्षि प्रोक्त

पच्चीसवां अध्ययन

आत्मा का शुद्ध स्वरूप देहातीत है । फिर वह क्यों पुनः पुनः संसार में आता है ? और यह चक्र कैसे चल रहा है, क्यों चला और कब तक चलता रहेगा ? इन प्रश्नों का समाधान ही प्रस्तुत अध्ययन का प्रमुख विषय है ।

अर्हतर्षि अम्बड और अर्हतर्षि योगन्धरायण की विचार-चर्चा के रूप में यह अध्ययन प्रारम्भ होता है । महर्षि योगन्धरायण कौन थे ? उनके परिचय के विषय में आगम मौन है । किन्तु हाँ, अम्बड अर्हतर्षि जैन संसार के परिचित व्यक्तियों में हैं । प्रथम उपांग औपपातिक सूत्र में अंबड परिव्राजक के नाम से एक संन्यासी का विशद वर्णन आता है । अंबड भगवान महावीर के वैदिक उपासकों में से थे । उनकी वेध-भूषा संन्यासियों जैसी थी और उनके व्रत नियमों का भी वे दृढ़ता से पालन करते थे । किन्तु अन्तर से वे प्रभु महावीर के अन्य उपासक थे । अपने नियमों को इस कठोरता से पालन करते हैं कि वे और उनका शिष्य परिवार उसके लिये जीवन को उत्सर्ग कर देते हैं ।

जीवन की संख्या में वे विचार और व्यवहार दोनों से ही प्रभु महावीर के सर्ववर्ती शिष्य बन गए । उसके पूर्व उनकी वैकिय लब्धि विविध रूप प्राप्त करने वाली शक्ति-के संबन्ध में गौतम गणधर देव भी प्रभु से प्रश्न करते हैं ।

पर अम्बड परिव्राजक ही अर्हर्षि अम्बड है या दूसरे कोई अम्बड है ? यह विचार का प्रश्न अवश्य है । प्रस्तुत सूत्र की संग्रहिणी गाथा के अनुरूप अम्बड प्रभु महावीर के नहीं प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परा के होने चाहिए । संग्रहिणी के अनुसार बीस अर्हर्षि भगवान नेमिनाथ के शासन काल के हैं । पंद्रह प्रभु पार्श्वनाथ के शासन काल के हैं और शेष दश प्रभु महावीर के शासन काल के हैं । क्रम के अनुसार ये पच्चीसवें अर्हर्षि हैं । अतः भगवान पार्श्वनाथ की ही परम्परा के होने चाहिए । साथ ही ये चतुर्थ और पंचम महाव्रत का एक साथ निरूपण करते हैं । अतः यह परम्परा भी उन्हें भगवान महावीर के शासन से अलग करती है ।

तए णं अंबडे परिव्वायण जोगंधरायण एवं वयासी :—

मणे मे विरई भो देवानुप्पिओ । गम्भवासाहि कहां न तुमं बंभयारी ? ।

अर्थ :—अंबड परिव्राजक योगन्धरायण को इस प्रकार बोलते हैं कि मुझे-गर्भवास से विरक्ति है । हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें विरक्ति क्यों नहीं है ?

गुजराती भाषान्तर :—

अम्बड परिव्राजक योगन्धरायण ने आ प्रभाणे ऊडे छे डे डे हुं गर्भवासथी कंटाणी गयो छुं, हे ब्रह्मचारी ! तने संसारना बोगवटाथी विरक्ति सा भाटे थती नथी ?

टीका :—ततश्चांम्बडः परिव्राजको योगान्धरायणमेवमवादीद् यथा देवानुप्पिय ! मनसि मे गर्भवर्षाभ्यो मैथुनाद् विरक्तिः कथं न त्वं ब्रह्मचारी भवसीति ।

बाद में अम्बड परिव्राजक योगन्धरायण से ऐसा बोले कि मुझे गर्भवास से विरक्ति है । गर्भ-वास से यहाँ-पुनः पुनः संसार में परिभ्रमण करना गृहीत है । टीकाकार गर्भवास से विरक्ति का अर्थ लेते हैं । गर्भ वर्षा अर्थात् मैथुन से विरक्ति और इसी अनुसंधान में वे बोलते हैं कि तुम भी ब्रह्मचारी क्यों नहीं होते हो ?

टीका से ऐसा ध्वनित होता है कि योगन्धरायण सन्त नहीं है । इसलिए अम्बड परिव्राजक उनको प्रेरणा देते हैं ।

प्रोफेसर शुबिन् प्रस्तुत अध्ययन के विषय में भिन्न मत रखते हैं । पच्चीसवां प्रकरण भी बीसवें प्रकरण की ही भांति मौलिक नहीं है । चल्कि उधार लिया हुआ लगता है, किन्तु उसके प्रसिद्ध, व्यक्ति बीसवें अध्ययन की अपेक्षा ज्यादा निर्णयात्मक है । किन्तु ऐसा लगता है कि प्रस्तुत अध्ययन किसी बड़े ग्रन्थ का एक अंश है । किन्तु उसका पूर्वापर संबंध विच्छिन्न है । क्योंकि उसका प्रारम्भ तएण से होता है । जोकि बताता है कि इसके पूर्व कुछ चला गया है । अम्बड से हम उद्वाइय सूत्र में परिचित हैं । किन्तु वहाँ परिव्राजक के रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं । उनके हिस्सेदार योगन्धरायण हैं । वस्तुतः प्रस्तुत अध्ययन उन्हीं के नाम के साथ होना चाहिए था । क्योंकि प्रस्तुत अध्याय के प्रमुख यक्ता वे ही हैं ।

ये योगन्धरायण उदयन के समकक्ष लाते हैं । ये मंत्री हैं । ब्राह्मण हैं । पर वहाँ जैन साधक की भांति बोलते हैं । अभिधान राजेन्द्र के अनुसार आवश्यक निर्युक्ति की कथाओं में उनका उल्लेख आता है । अम्बड उन्हें पूछते हैं कि वे भी उनके ही तरह ब्रह्मचारी के रूप में क्यों नहीं रहते हैं ? । क्योंकि उन्होंने भी वासनाजन्य आनन्द को छोड़ दिया है ।

तए णं जोगंधरायणे अंबडे परिवायणं एवं वयासी-हारिया पहि था पहि ता आयाणेहि, जे खलु हारिता पावेहिं कम्मेहिं अविप्पमुक्का ते खलु भो गम्भवासाहिं सज्जंति ते सयमेव पाणे असिवातेति । अण्णे वि पाणे असिवातेति ।

अर्थ :—तब योगन्धरायण अम्बड परिव्राजक को ऐसा बोले कि हारित पाप कर्म से बद्ध पुरुष इन कर्म के द्वारों से पाप कर्म एकत्रित करते हैं । वे पाप कर्मों में अविप्रमुक्त बद्ध आत्मा गर्भवास में जाते हैं । वे स्वयं प्राणियों की हिंसा करते हैं और दूसरों के प्राणों की हिंसा करवाते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

त्यारे योगन्धरायण अम्बड परिव्राजक ने એવું કહ્યું કે હારિત અર્થાત્ પાપકર્મથી બદ્ધ પુરુષ આ કર્મો દ્વારા પાપ કર્મ લેવું કરે છે. પાપ કર્મોથી વીંટાળેલો પ્રાણી ફરી ગર્ભવાસનો સ્વીકાર કરે છે. તે સ્વયં પ્રાણિયોની હિંસા કરે છે. અને બીજાના પ્રાણોની હિંસા કરાવે છે.

गर्भवास के दूसरे हेतु हैं सृष्टावाद, अशुभ से अविरति । साथ ही जिसने प्रत्याख्यान के द्वारा अपनी वृत्ति को अशुभ की ओर जाने से रोका नहीं है और जो चौर्यकर्म में प्रवृत्त होता है, वासना और परिग्रह में लिप्त होता है और इसके लिए दूसरे को भी प्रवृत्त करता है वह भव-परम्परा की वृद्धि करता है ।

अर्थ :—जो आर्य आत्माएँ पाप कर्म से विमुक्त हैं, वे गर्भ वास में नहीं आती हैं। वे स्वयं प्राणों को परिताप नहीं देते हैं। पूर्वोक्त वर्णन के ठीक विपरीत उनका जीवन होता है। यावत् क्रिया रहित होते हैं, वे एकान्ततः पंडित होते हैं। राग द्वेष से उपरत रहते हैं। त्रिगुणियों से गुप्त होते हैं। मनादि त्रिदंडों से गुप्त रहते हैं। आगम में वर्णित माया निदान और मिथ्यादर्शन के शल्य से विरत होते हैं। वे आत्म स्वभाव के रक्षक होते हैं। जिन्होंने चारों कषायों पर विजय पाई है, वे चारों विकथाओं से विवर्जित, महाजनों से युक्त, पंच इन्द्रियों को सुसंवृत रखने वाले षट्-जीव-निकाय की सुरक्षा में श्रेष्ठ रूप से निरत हैं। सप्त भयों से रहित और अभयदर्शी हैं। आठ भेद स्थान से विवर्जित ब्रह्मचर्य के नौ प्रकारों से जिनका जीवन सुरक्षित है साथ ही दश प्रकार के समाधि स्थानों के द्वारा जिनका मन समाधिस्थ है, ऐसी आत्माएँ पापकर्मों को और कलिकालुष्य को क्षय करके यहाँ से च्युत होकर सद्गति के गामी होते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે આર્ય આત્માઓ પાપકર્મવગરના છે તે ગર્ભવાસમાં ફરી આવતા નથી. તે સ્વયં પ્રાણોને પરિતાપ દેતા નથી, પૂર્વોક્ત વર્ણનથી ઉલટુંજ વિપરીત તેમનું જીવન હોય છે. યાવત્ ક્રિયારહિત હોય છે, તે એકાન્તતઃ પંડિત હોય છે. રાગદ્વેષથી પર હોય છે, ત્રિગુણિઓથી ગુપ્ત હોય છે. મનાદિ ત્રિદંડોથી ગુપ્ત રહે છે, આગમમાં વર્ણન કરેલા માયા નિદાન અને મિથ્યા-દર્શનના શલ્યથી રહિત હોય છે. તે આત્મા પોતેજ સ્વભાવના રક્ષક હોય છે. જેઓએ ચારે કષાય પર વિજય મેળવ્યો છે, તે ચારે વિક્ષાઓથી રહિત, મહાજનોથી યુક્ત, પાંચ ઇન્દ્રિયોને સુસંવૃત રાખવાવાળા, છકાય જીવની સુરક્ષામાં શ્રેષ્ઠ રૂપથી નિરત છે સાત ભયોથી રહિત અભયદર્શી છે. આઠ ભેદ સ્થાનથી રહિત અને, બ્રહ્મચર્યના નવ પ્રકારના જેવું જીવન સુરક્ષિત છે; સાથે દશ પ્રકારની સમાધિ-સ્થાનો દ્વારા જેનું મન સમાધિસ્થ છે, એવા આત્માઓ પાપકર્મોને અને કલિયુગના દોષોનો નાશ કરીને આ લોકથી મુક્ત થઈ સદ્ગતિ મેળવે છે.

‘સંસાર ચક્ર का अन्त कौन करता है?’ इस प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया गया है। जिसने विकारों पर विजय पाई है, छोटी छोटी भूलों पर भी जो बारीकी से दृष्टि रखता है, जिसके मन वाणी और कर्म में एकरूपता है, जिसकी इन्द्रियां विषय-गामिनी नहीं हैं, जिसने कषायों पर विजय पाई है, ब्रह्मचर्य की प्रभा से जिसका मुख आलोकित हो रहा है और जिसका मन समाधि में लीन है वही साधक भव-परम्परा को समाप्त कर सकता है।

जिसका अन्तःकरण पवित्र है वही परमात्म-पद प्राप्त कर सकता है। साधना की भूमि मन्दिर और उपाश्रय नहीं है अपि तु मानव का अन्तःकरण है। एक इंग्लिश विचारक ने ठीक ही कहा है कि Man's conscience is the oral of God. मानव का अन्तःकरण ही ईश्वर की वाणी है। हमारे कदम ठीक राह पर हैं या गलत राह पर। इसका निर्णय हमारा अन्तर्मेन देता है। शुद्ध अन्तःकरण से जो आवाज आए उसी पर चल पड़ो वही आत्मा की आवाज होगी। जिसमें केवल तुम्हारा ही हित हो और तुम्हारे पड़ोसी का अहित छिपा हुआ हो वह आवाज आत्मा की नहीं, शरीर की है; उसमें देहाभ्यास की छाया है। यही कारण है कि कभी कभी हमारी चेतना में द्वन्द्व होता है। हम शीघ्र निर्णय पर नहीं आ सकते। इसका कारण शरीर और मन की आवाज भिन्न भिन्न होती है और दोनों में संघर्ष होता है। एक विचारक कहता है—

Conscience is the voice of the soul as the passions are the voice of the body.
No wonder they often contradict each other.

अन्तःकरण आत्मा की आवाज है जैसे वासना शरीर की। इसमें आश्चर्य ही क्या है? यदि वे एक दूसरे का खंडन करती हैं।

जिसने आत्मा की आवाज को पहचाना है वह बहिरात्मा से हट कर अन्तरात्मा की ओर आएगा और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर कदम बढ़ाएगा। यहाँ पर उन वृत्तियों को गिनाया गया है जो आत्मा की शुद्ध स्थिति में पहुँचने से रोकते हैं। उन पर विजय पाए बिना साधक परमात्म-स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है।

त्रिगुणति :—मन वचन और काया की प्रवृत्ति को अशुभ की ओर जाने से रोकना ‘गुणति’ है।

त्रिविंदु :—मन वाणी देह स्व तथा पर के उत्पीडक बनते हैं तब 'दंड' कहे जाते हैं ।

शल्य :—शुद्ध स्थिति में जो वृत्ति कोटे-सी चुभती है उसे 'शल्य' कहा जाता है ।

विकथा :—ईर्ष्या और कलह प्रेरित कथाएँ 'विकथा' या व्यर्थ कथाएँ हैं । जो राज्य देश, भक्त भोजन और श्री संबन्धित हो कर चार प्रकार की है ।

महाव्रत :—हिंसा, असत्य, स्तेय, वासना और परिग्रह से सम्पूर्ण रूप से विरत होना ही महाव्रत है ।

कषाय :—भव परिभ्रमण की वृद्धि करने वाली आत्मा की वैभाविक दशा । क्रोध, मान, माया और लोभ जिसके ये चार भेद हैं ।

भय :—भयजन्य वृत्ति; इस लोक से संबन्धित, परलोक का डर, आदान लेने का डर अकस्मात् आजीविका अपयश और मृत्यु के रूप में भय के सात प्रकार हैं ।

मद :—आत्मा की गलत अहंभृति । उसके आठ रूप हैं:—जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, सूत्रज्ञान और सत्ता ।

इन सब पर विजय पाने वाला ही ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता है । वही समाधि-भाव में रह सकता है । इस जीवन के बाद सुगति को प्राप्त कर सकता है ।

टीका :—ये खल्वार्याः पापैः कर्मभिर्विमुक्ता भवन्ति ते खलु गर्भावर्षासु न सजन्ति; ते न स्वयमेव प्राणिनोऽति-पतन्ति इत्यादि विपरीतं पूर्वं यावद्विक्रियावन्तः संवृता पृकान्तपेक्षिता, व्यपगतरागद्वेषाः, त्रिगुसिगुसाः, त्रिविंदोपरता निःशल्याऽऽत्तरक्षिणो, व्यपगतचतुःकषायाश्चतुर्विकथाविवर्जिताः, पंचमहाव्रतधरा धरति नपरित्याज्यं, पुस्तकेषु तु न दृश्यते । त्रिगुसति त्रिगुसा न यथासंख्यं पंचेन्द्रियसंवृताः पद्मजीवनिकायसुषुप्तिरताः सप्तभयविप्रमुक्ताः भट्टमदस्थानहीना, नवव्रतचर्ययुक्तादशसमाधिस्थानसंप्रयुक्ता बहु पापं कर्म कलिकलुषं क्षपयित्वेतश्च्युताः सुगतिगामिन्यो भवन्ति । गतार्थः ।

विशेष पंच महाव्रत के साथ धरा पाठ यद्यपि पुस्तक में नहीं है । तथापि आवश्यक है ।

ते णं भगवन् सुसमग्गाणुसारी श्लीणकसाया दंतेंदिया सरीरसाधारणट्टा जोगसंधाणताय णवकोडी-परिसुद्धं दसदोसविण्णमुक्कं उग्गसुण्णायणासुद्धं इतराइतरेहिं कुलेहिं परकडं परिणिट्ठितं विगतिगालं विगतधूमं पिंडं सेज्जं उवधिं च गवेसमाणा संगतविणयोवगारसालिणीयो कल-मधुररिभितभासि-णीओ संगत-गत-इसित-भणित-सुंदर-थण-जहण-पट्ठिरुवाओ इत्थियाओ पासित्ताणो मणसा वि पाउब्भावं गच्छंति ।

अर्थ :—हे भगवान् अम्बड ! सूत्रमार्ग का अनुसरण करने वाले वे साधक श्लीण कषायी और दान्तेन्द्रिय होते हैं । शरीर धारण के लिये योग-साधन के लिए नव कोटि परिशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं । साथ ही वह आहार भिक्षाचरी के वस्त्र दोषों से रहित होता है । सोलह उद्गमन और सोलह उत्पाद के दोषों से विवर्जित है । अन्योन्य कुलों में पर-कृत परिनिष्ठित (दुसरो के लिए निर्मित) है । जिसमें अग्नि बुझ चुकी है और धुआँ भी उपशान्त है, ऐसे ही निर्दोष आहार, शय्या और उपधि को खोजने वाले मुनिगण सुन्दर नारियों में आसक्त नहीं होते हैं । जोकि समुचित विनयोपचार में कुशल हैं, सुन्दर, मधुर और रिमित अर्थात् स्वर के माधुर्य से युक्त संभाषण करने वाली, सुन्दर स्तन और जंघाओं से सुशोभित निरुपम रूपशालिनी अवसर पर हास्य और संभाषण करने वाली नारियों को देख कर उनके मन के एक कोने में भी वासना का उद्भव नहीं होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

हे भगवान् अम्बड ! सूत्रमार्गनु अनुसरणु करनार साधक श्लीण कषायी अने दान्तेन्द्रिय (छन्द्रीयोपर कायु शायनार) होय छे. शरीरनो व्यवहार आहु रडे ते भाटे, योगसाधन भाटे नव कोटि परिशुद्ध आहार ग्रहणु करे छे. ते आहार भिक्षाचरीना दश दोषोथी रहित होय छे. सोण उद्गमन अने सोण उत्पादना दोषोथी रहित छे. गुहा गुहा कुणोमां पर कृतपरिनिष्ठित (भीष्मओ भाटे निर्मित छे), जेमां अग्नि ठरी गयो छे. अने धुवाओ पछु नाश पाभ्यो छे. जेवी रीते न निर्दोष आहार शय्या अने उपधिने शोधवा वाणा मुनिगण सुंदर नारीमां आसक्त थता नथी.

१ हिंसानृतस्तेयाग्रक्षपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम् । अ० ७-१ । देश सर्वतोऽणु महती-तत्त्वार्थ. अ० ७ १-२ ।

જો કે ઉચિત નમ્રતાપૂર્ણ વ્યવહારથી હુશળ છે. સુંદર, મધુર અને રિમિત અર્થાત્ સ્વરના માધુર્યથી યુક્ત સંભાષણ કરવાવાળા, સુંદર સ્તાન અને લંગથી સુશોભિત ને અનુપમ રૂપથી શોભા પામેલા, અમુક સમય જોઈને હાસ્ય અને સંભાષણ કાર્ય કરવાવાળી એવી સ્ત્રીઓને પણ જોઈને તેઓના મનન એક ખૂણામાં જરા પણ વાસના ઉત્પન્ન થતી નથી.

જો સાધક કામ વિજેતા હૈં उसका आहार-विहार नियमित होता है । वह आहार लेता है, क्योंकि शरीर को टिकाए रखना है । पर वह आहार भी तभी लेता है जब वह उसके नियमों के अनुकूल हो । उसके लिए बनाया गया भोजन वह ग्रहण नहीं करता है । भोजन शुरू होने से लिए कमतर लगा हो वह भी अमि और धूम रहित हो ।

ऐसा निर्दोष आहार शय्या और स्थान तथा वस्त्रादि के आहक साधक मधुरभाषिणी और सौन्दर्यशालिनी नारियों के नेत्र कटाक्ष से घायल नहीं होते हैं ।

नव कोटि परिशुद्ध-मन, वाणी और कर्म से अशुद्ध आहार का न ग्रहण करना न करवाना और न अनुमोदन करना यह नव कोटि परिशुद्ध कहलाता है ।

टीકા :—હે ભગવન્નમ્બડ ! તે સૂત્રમાર્ગાનુસારિણઃ ક્ષીણકષાયા વાન્તેન્દ્રિયાઃ શરીરસંધારણાર્થ યોગસંધાનાય નવ-કોટિપરિશુદ્ધેત્યાદિ પ્રસિદ્ધલક્ષણ પિંડ તાદર્શી મિશ્રાં શર્યાં ચોપધિ ચ ગ્રહેષમાણાઃ સાધવઃ સંગત-ગત-હસિત-ભગિતૈઃ સુન્દરસ્તાનજવનૈશ્વ પ્રતિરૂપા રૂપવત્યઃ સ્ત્રિયો દદ્ધા ન તેષાં મનસાપિ પ્રાતુર્ભાવં ચક્ષન્તિ મૈથુનાર્થાં આત્મધર્માઃ । ગતાર્થઃ । પૃતાવદેષ ઋષિભાષિતમિત્યંબદસ્ય સંબોધિતશ્વાદનુમેયમ્ । શેષાણાં ઋષિભાષિતાનાં વાગ્મૃત્તિ સ્વનુસૃત્ય દારિતેત્યાદિ લઘુવાક્ય યૌગન્ધરાયણભાષિતમિતિ ।

અમ્બડ કે સંબોધન સે ऐसा अनुमान होता है कि इतना ही ऋषिभाषित है । शेष ऋषिभाषित की वाग्मृत्ति का अनुसरण करने पर शात होता है कि दारित आदि लघुवाक्य योगन्धरायण द्वारा कह गये हैं ।

સે કથમેતં ? વિગતરાગતા સરાગસ્સ ત્રિથળં અવિકલ્લ હતમોહસ્સ, તત્થ તત્થ હતરાહતરેસુ કુલેસુ પરકહં જાવ પઢિરુચ્ચાઓ પાસિચ્ચા ણો માણસા વિ પાદુન્ભાવો ભવતિ, તેં કહમિત્તિ ? ।

મૂલઘાતે હતો રુક્ષો, પુષ્પઘાતે હતું ફલં ।

છિન્નાંપ મુજસૂરૂપ, કતો તાલસ્સ રોહણં ? ॥ ૧ ॥

અર્થ :—મહ વીતરાગતા કેસે હુરૂં ? ક્યોંકિં બહુત સે સરાગ આત્મા એસે મી હોતે હૈં જિન્હોંને મોહ કો પરાજિત કર દિયા હૈ, મોહ કો અપશાન્ત કર દિયા હૈ । તે યહાં વહાં અન્યાન્ય કુલોં સે પરકૃત આહાર આદિ કા અપભોગ કરતે હૈં । ઓર રૂપવતી સુંદર નારિયોં કો દેખ કર મી જિનકે મન મેં પાપ કા ડહુવ નહીં હોતા હૈ ।

પ્રશ્ન :—હે ભગવન્ ! એસા ક્યોં હોતા હૈ ? ।

ઉત્તર :—જૈસે જહ નષ્ટ કર દેને પર વૃક્ષ નષ્ટ હો જાતા હૈ ઓર ફૂલ કે સમાપ્ત કર દેને પર ફલ સ્વયં નષ્ટ હો જાતે હૈ । યદિ તાલ કે મૂર્દન્ય ભાગ કો સૂરૂં સે છેદ દિયા જાય ફિર ડસકી વૃદ્ધિ કમી સંભવિત હૈ ?

જિસને વાસના કી જલ્લ કો નષ્ટ કર દિયા હૈ ડસકે મન મેં વાસના કે અંકુર ફૂટ નહીં સકતે હૈં ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

આ વીતરાગતા (વિષયોપભોગ માટે તિરસ્કાર) કેવી રીતે થઈ ? કારણકે બ્રાણા વિષયાસક્ત શુભ એવા પણ હોય છે કે જેઓએ મોહને પરાજીત કરી દીધો છે કે મોહનું શમન કરી દીધું છે. તેઓ અહીંયાં ત્યાં અન્યાન્ય કુલોથી બીજાઓએ કરેલા આકારાદિકનો સ્વીકાર કરે છે. અને રૂપવતી સુંદરીઓને જોઈ જેના મનમાં ખરાબ ખ્યાલ આવતોજ નથી.

પ્રશ્ન :—હે ભગવન્ ! એવું શામાટે થાય છે ?

ઉત્તર :—જેવી રીતે મૂળ કાપી નાખતાં વૃક્ષ નષ્ટ થઈ જાય છે અને ફૂલને કચડાવી દેતાં ફળ પોતે નાશ પામે છે. એ તાડના ઉપરના ભાગને સોંપથી છેદી દેવામાં આવે તો પછી તેની વૃદ્ધિ કેવી રીતે થઈ શકે ?

જેણે વાસનાને જડમૂળથી નષ્ટ કરી છે તેના મનમાં વાસનાના અંકુર ફૂટી શકતા નથી.

टीका :—कथमेतदिति कथं सा क्षीणकषायता दान्तेन्द्रियतेर्युच्यते ? सा भवति विगतरागता । सरागस्थाप्यपेक्ष्येति केवले क्षीविषये न तु सर्वथा हतमोहस्येत्यर्थेव दृश्यते तत्र तत्रेतरेषु कुलेषु पिंडं गवेषमाणेत्यादि पूर्ववत् सा प्रादुर्भावः कथमिति मूलघातेत्यादि पंचदशाध्ययनवत् ।

टीकाकार का भिन्न मत इस प्रकार है—

प्रश्न :—वह क्षीण कषायता और दान्तेन्द्रियता कैसे संभव है ? ।

उत्तर :—वह विगतरागता सराग आत्मा में भी होती है । केवल सर्वदा मोह विजेता में ही यह नहीं होती है । यही अर्थ यहां देखा जाता है ।

प्रश्न :—तत् तत् विशिष्ट कुलों में पिंड-भोजन की गवेषणा-खोज करने वाले साधक के मन को वासना क्यों नहीं स्पर्श करती है ? ।

उत्तर :—मूल के नष्ट होने पर फलादि नहीं होते हैं । पन्द्रहवें अध्ययन में प्रस्तुत श्लोक आ चुका है ।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधक बीतरागता का पथिक है । सम्पूर्ण मोह विजेता ही काम विजेता होता है । किन्तु सराग आत्माएँ भी इस प्रकार काम पर विजय पाते हैं कि नारी का अनिन्द्य सौन्दर्य उनके मन के एक अणु को आकर्षित नहीं करता है । साधना का सही उद्देश्य भी यही है कि वह व्रतियों पर विजय पाए ।

से कथमेतं ? हस्ति महावृक्षणिदरिस्रणं तेलपात्रधर्मं किंपाकफलणिदरिस्रणं से जथा णाम ते साकडिप अफखमक्खेजा एस मे णो भजिस्सति भारं च मे वहिस्सति एवमेओवमाए समणे निगंथे छहिंठाणेहिं आहारं आहारेमाणे वा णो अतिकमेति, वेदणा वेयावच्चे० तं चेव ।

अर्थ :—**प्रश्न :**—वह साधना कैसे संभव है ?

उत्तर :—जिस प्रकार से हस्ति महावृक्ष को गिरा सकता है उसी प्रकार काम साधनारूप वृक्ष को नष्ट कर सकता है । अतः साधक उससे बच कर तेलपात्र धारक की भांति अप्रमत्त हो कर घूमता है । और भौतिक सुखों में किंपाक फल की छाया देखता है । जैसे कि एक सारथी धुरा के लिए बोलता है कि यदि यह नहीं टूटेगा तो मेरा बोझ भी हो सकेगा । इसी रूपक से मुनि का आहार उपमित है । भ्रमण निर्ग्रन्थ छः स्थानों से छः कारणों से भोजन करते तो वे अपने मुनि धर्म की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हैं । वे ये हैं वेदना, वैयावृत्त्य, इरियासमिति, संयम, प्राणनिर्वाह और धर्म चिन्तन ।

गुजराती भाषान्तर :—

प्रश्न :—ये साधना केवी रीते थछ शके छे ?

उत्तर :—जेवी रीते हाथी मोटा आउने पाडी शके छे ते व प्रभाले काम साधनारूप वृक्षने नष्ट करी शके छे. भाटे साधक जेना हाथमां तेलथी लरेकुं वासणु सोय तेवा भाणुसमुज्ज संलाणीने साधनानी याखे छे. अने भौतिक सुखोमां किंपाक (जहरी) इणनी छाया जुअे छे. जेवी रीते जेक सारथी धुरा भाटे उडे छे के जे आ तूटशे नही तो मारो आर पछु उपाडी शकशे आ इपकथी मुनिना आहारनो दाखवो आण्यो छे. भ्रमण निर्ग्रन्थ छ स्थानोथी छ कारणोथी ओजन करे छे. तो तेओ पोताना मुनिधर्मनुं उल्लंघन करता नथी. ते आ प्रभाले छे. (१) वेदना, (२) वैयावृत्त्य, (३) इरियासमिति (४) संयम, (५) प्राणनिर्वाह अने (६) धर्म-चिन्तन.

साधक ग्राम और नगरों में घूमता है । आंखों का स्वभाव देखने का है । सौन्दर्य उसके सामने आता है । तब भी वह देखता है और कुरूपता पर भी उसकी दृष्टि जाती है । फिर भी साधक अपने मन पर विवेक का अंकुश रखे । वासना के कटु विपाक उसकी आंखों के सामने रहेंगे, तो वह अपने मन को साधने में सफल हो सकेगा । जिसप्रकार मन गज एक ही प्रहार में विशाल वृक्ष को उखाड़ देता है, इसी प्रकार काम भी साधना को उखेड़ सकता है । इस घुब सत्य को साधक अपनी आंखों के सामने रखे । तेल पात्र धारक जिसकी कहानी इसी सूत्र के पैतालीसवें अध्ययन में आती है उसकी भांति अप्रमत्त रहे । मीठे लगने वाले भोगों में वह किंपाक फल की छाया देखता रहे । इस प्रकार वह मन को साध सकेगा । किन्तु मन के साथ ही तन की भी कुछ समस्या है । साधना का यह तो अर्थ नहीं होता कि चारित्र लेते ही वह संयारा करके मृत्यु की उपासना करे । अतः उसके पास तन है तो उसकी समस्या को भी हल करता रहे ।

वह आहार भी ग्रहण करे किन्तु उसके भोजन में भी विवेक ही आगे रहे । उसका भोजन इस लिए नहीं है कि शरीर पुष्ट बने और वृत्तियाँ खुल कर खेले । वह भोजन इसलिए करता है कि शरीर से उसको काम लेना है । शरीर एक रथ है, आत्मा उसका सारथी है । सारथी का कर्तव्य हो जाता है कि रथ को सुरक्षित रखे । क्योंकि शान्त शरीर में ही शान्त दिमाग रह सकता है Sound mind found in a sound body.

अतः साधक जीवन रथ को चलाने के लिए आहार ग्रहण करता है । जिस प्रकार शकट वाहक सारथी यह सोचता है कि रथ यदि सुरक्षित है तो मेरा बोझ यथा स्थान पहुँच सकता है । इसी भावना से अनुप्राणित हो कर साधक भोजन करता है । आगम में इसके वेदनादि छः कारण दिए गये हैं ।

टीका :—स शुद्धिर्पिडः कथमिति हस्तिमहावृक्षनिदर्शनं पाठति पात्रं तैलपात्रधर्ममप्रमादगुणवर्णनगर्भपञ्चत्वारिंश-
दध्ययनस्य द्वाविंशे श्लोके सूचितं किंपाकफलैर्निदर्शनमूढात्वप्रकाशकं च । अपरं च यथा नामैकः शाक्तिकोऽक्षं अक्षेदेष्ट-
मम न भक्षयति भारं च मे बाहिष्यति चिन्तयन्नेतयोपमया श्रमणो निर्ग्रन्थः षट्सु स्थानेष्वहारं आहारयन्नातिक्रामति
तद्यथा—वेदनावैयावृत्त्यैर्वा प्राणवृत्तिधर्मचिन्त्येत्तेषामर्थाय । गतार्थः ।

से जथा णामते जतुकारण इंगालेसु अगणिकायं णिसिरेज्जा एस मे अगणिकाए णो विज्जाहिति जतुं च तावेस्सामि, एवमेवोचमाए समणे निग्गंथे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे णो अतिक्रमेति वेदणा वेयावच्चे तं चेव ।

अर्थ :—जैसे एक लाक्षाकार अग्नि तल्ला का काम करने वाला कोयलों में अग्नि प्रज्वलित करता है और विचार करता है कि यह अग्नि बुझ न जाए उसके पहले ही मैं तल्ला को तपा लूँगा । इसी उपमा से मुनि को आहार उपमित किया गया है । श्रमण निर्ग्रन्थ छः स्थानों से आहार करते हुए मुनिधर्म का अतिक्रमण नहीं करते हैं । वे कारण हैं वेदना वैयावृत्य आदि ।

वेयण-वेयावच्चे, हरिणद्वाप य संजमाए । तह पाणवत्तियाए, छट्ठे पुण धम्मचिंताए ॥

—उत्तरा० अध्ययन २६ गाथा २३ ॥

गुजराती भाषान्तर :—

जेवी रीते लाक्षाकार अेटले के लाभनुं काम डरनार डोणसानो अग्नि प्रज्वलित करे छे, अने विचार करे छे, के आ अग्नि ठरी नय अे पडेलां न आ लाभने तपावी लक्षि. अे न उपमाथी मुनिनो आहार उपमित डरवाभां आब्यो छे. निर्ग्रन्थ, श्रमण छ स्थानोथी आहार डरतां मुनिधर्मनुं अतिक्रमणु डरता नथी, ते कारणो छे—वेदना, वेयावृत्य वगैरे.

मुनि आहार ग्रहण करता है । उसका लक्ष्य शरीर पोषण का न रह कर शरीर निर्वाह का रहता है । जैसे लाक्षाकार इंधन को प्रज्वलित करता है और सोचता है कि यह इंधन न बुझ जाय उसके पहले मैं अपना कार्य सम्पन्न कर लूँ । इसी प्रकार साधक भी यह सोचता है कि जब तक यह शरीर है मुझे अपनी आत्मसाधना कर लेनी है ।

टीका :—अपरं च यथा नामैको जतुकारकोऽमगारेष्वग्निकायं निःसृजेदेष मेऽग्निकायो न विक्षापयिष्यति जतुं च तापयिष्यामीति चिन्तयन्नेतयोपमयेत्यादि पूर्ववत् । अन्यच्च गतार्थम् ।

से जथा णामते उसुकारण तुसेहिं अगणिकायं णिसिरेज्जा एस मे अगणिकाए णो विज्जातिस्सति उसुं च तावेस्सामि एवमेवोचमाए समणे निग्गंथे० सेयं तं चेव ।

अर्थ :—जैसे कि एक इक्षुकार तुस के द्वारा अग्नि प्रज्वलित करता है और सोचता है कि यह आग बुझ न जाए तब तक इक्षुरस को गर्भ करूँगा । इसी प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ आहार का सेवन करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

जेवी रीते अेक इक्षुकार अनाजनुं अूखुं भूडी अग्निने प्रज्वलित करे छे अने विचार करे छे के आ आग ठरी न नय ते पडेला इक्षुरसने गरम डरीश. अे न प्रभाखे श्रमण निर्ग्रन्थ आहारनुं सेवन करे छे.

मुनि आहार करता है। उसके लिए आहार का विधान है। सारथी अश्व के द्वारा निज स्थान पर पहुंचना चाहता है। लाक्षाकार और इक्षुकार (को लहू पीलने वाले) भाग के द्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध करना चाहते हैं। इसी प्रकार मुनि भी साधना करना चाहता है। उसके लिए शरीर का सहयोग आवश्यक है। जब तक शरीर स्वस्थ है मुनि साधना में स्थित रहेगा। आहार के द्वारा शरीर समाधिस्थ रहता है। यदि तन की समाधि समाप्त हुई तो मन की समाधि उसके पहले ही समाप्त हो जाएगी। समाधि के अभाव में साधक आर्त ध्यान करेगा। अतः मुनि योग्य कारणों के उद्दिष्ट होने पर आहार अवश्य ही करे।

टीका :—यथा नामीको इषुकारकः तुषेष्मिकार्यं शेषं तदेव । केवलमिषु तापयिष्यामीति । गत्यर्थः । अम्बडाध्ययनस्य योगन्धरायणअध्ययनमिति युक्ततरं नामं भवेत् ।

अम्बड अध्ययन का योगन्धरायण अध्ययन नाम योग्य होगा।

एवं से सिद्धे बुद्धे विरप धिपाके० ॥

इति पंचविंशतितमं अम्बडाध्ययनम् ।

मातंग अर्हतर्षि प्रोक्त

छत्तीसवां अध्ययन

मानव को अज्ञान से ज्ञान की ओर मोड़नेवाली एक वृत्ति है उसका नाम है धर्म। धर्म क्या है, उसका स्वरूप क्या है? क्या असुख प्रकार के क्रियाकांड का लेना धर्म है? नहीं, वह धर्म नहीं, धर्म का शरीर है। आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की परिभाषा दी है—“वस्तु सदाओ धर्मो”। वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। यहाँ पर एक प्रश्न होगा कि चोर का स्वभाव चोरी करना है, तो क्या चोरी करना भी धर्म है? यह गलत है, क्योंकि चोरी स्वभाव नहीं विभाव है। अन्यथा कोई भी चोर चोरी करके भागता नहीं।

आत्मा अपने स्वभाव में आए, अपने सहज गुणों को विकसित करे वही धर्म है। धर्म आत्मा में रहता है; मन्दिर मस्जिद और उपाधियों की सीवारों में नहीं। धर्म का असली मन्दिर हृदय है। यदि वह हृदय में स्थित है तो साधनाओं द्वारा उसका विकास होगा और साधनाओं में उसका प्रकाश होगा तथा जीवन की प्रत्येक क्रिया उससे आलोकित रहेगी। आचार और व्यवहार शुद्ध बनेंगे। बिना विचार शुद्धि का धर्म भी अधूरा रहेगा। एक विचारक ने कहा है कि:—

A religion without reality is tree without root,

and a reality without religion is root without tree. —शेक्सपीयर

नीति बिना धर्म का बिना जब का वृक्ष है और धर्म बिना की नीति वृक्ष बिना की जब है। दोनों ही अधूरे हैं। धर्म के साथ जीवन का संबन्ध स्थापित करना ही प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

कतरे धम्मो एणत्ते, सच्चा महाउत्तो ! सुणेह मे ।

किणा बंभणवण्णाभा, युद्धं सिक्खंति माहणा ॥ १ ॥

अर्थ :—उस महामुनि ने कितने प्रकार के धर्म बतलाए हैं? हे आयुष्मानो! तुम लोग सुझसे सुनो। ब्राह्मण वर्णवाले माहण श्रावक क्यों युद्ध सीखते हैं?।

गुजराती भाषान्तर:—

ओ महान मुनिओ डेटला प्रकारना धर्म बताव्या छे? हे आयुष्यमान! तमे मने सांख्यो, आकाशु वर्णवाणो माहणु श्रावक शा माटे युद्ध सीओ छे?

जो साधक धर्म-साधना करते हैं उनके मन में एक सहज प्रश्न उठता है कि धर्म क्या है और उसके कितने प्रकार हैं ? इसके उत्तर में ऋषि बोलते हैं कि हे आयुष्यमान साधकों ! धर्म के उन सभी प्रकारों को मेरे से सुनो । अर्हत्तर्षि धर्म की व्याख्या और उसका प्रकार बताते हुए सीधा एक प्रश्न कर देते हैं कि ब्राह्मण वर्णवाले ब्राह्मण युद्ध क्यों सीखते हैं ? उनका अध्ययन अध्यापन और तत्त्वचिन्तन करना और मनन का मक्खन जगत को देना उनका कार्यक्षेत्र है फिर वे युद्ध कार्य क्यों सीखते हैं ?

टीका :—कतरो धर्मः प्रकृतः ? धर्म न सम्यग् जानीयेति भावः । हे आयुष्यमन्तः ! सर्व धर्म यदि वा हे सर्वा-युष्यमन्तो धर्म मम मत्तो वा वृणुत । केनार्थेन ब्राह्मणवर्णोभा न ब्राह्मणाः सन्तो महापाति मा हन्तेति श्लोकाद् युद्धं शिक्षन्ते हिंसां प्रकुर्वन्ति ? ।

अर्थात् कितने धर्म कहे गए हैं ? इससे यह ध्वनित होता है कि प्रश्नकर्ता धर्म के मर्म को समझता नहीं है । हे दीर्घजीवियों ! सभी धर्मों को अथवा सभी आयुष्यमानों धर्म को मेरे द्वारा सुनो । ब्राह्मण वर्ण की भासा वाले अर्थात् ब्राह्मण जैसा दिखाई देने वाले किन्तु यथार्थ में जो ब्राह्मण नहीं है अर्थात् शरीर से जो ब्राह्मण हैं और प्रकृति से क्षत्रिय हैं वे हिंसा क्यों करते हैं । इस तरह श्लेष रूप से युद्ध की शिक्षा देते हैं अर्थात् हिंसा का प्रसार करते हैं ।

रायणो वणिजा जगो, माहणा सत्थजीविणो ।

अंधेण जुगणद्धे वि-पल्लत्थे उत्तराधरे ॥ २ ॥

अर्थ :—राजा गण और वणिक लोग यदि यज्ञ याग में प्रवृत्त हों और ब्राह्मण शास्त्र जीवी हो तो ऐसा होगा मानो अंधे से जुड़े हुए हैं ।

गुजराती भाषान्तरः—

राजगणु अने वणिक् लोगे यज्ञ-यागादि क्रियाओंमा प्रवृत्ति राखे अने ब्राह्मणु दीक्षी समरांगणुमां उतरे तो ओतुं थरे जाले डे आंधणामो केगा जेडायेडा छे ।

जिसकी जो वृत्ति है उस वृत्ति के अनुसार वह काम करता है तो वह उसमें सफल हो सकता है और यही उसका धर्म है । राजा क्षात्रवृत्तिशील होता है उसमें वीरत्व और तेज होता है उसका कार्य है देश की रक्षा करना । वैश्य का कार्य है विनिमय राष्ट्र की संपत्ति की आवश्यकतानुरूप वितरित करने का दायित्व वैश्य के ऊपर है और शास्त्र का अध्ययन अध्यापन करना ब्राह्मण का कार्य है । यह समाज में चक्षु का स्थान रखता है पर यह एक स्थूल व्यवस्था है । हर एक मनुष्य की अपनी अपनी वृत्ति होती है । उसी के अनुरूप उसे कार्य करना चाहिए । ब्राह्मण वृत्तिवाला ही ब्राह्मण है । परशुराम ब्राह्मण कुल में जन्म ले कर भी क्षत्रिय थे । जब कि भगवान् महावीर क्षत्रिय हो कर भी ज्ञान-साधक थे । अतः वर्णव्यवस्था का यह तो मतलब नहीं होता है कि उस वर्ण में जन्म लिया हुआ व्यक्ति उसी वृत्ति के अनुरूप हो । अपनी वृत्ति के अनुरूप वर्ण चुनने में स्वतंत्र है ।

फिर भी जो व्यक्ति में जो वृत्ति है उससे विपरीत वृत्ति कार्य करता है तो वह कार्य उसके लिए शान्तिदायक नहीं हो सकता । ब्राह्मण यदि पठन-पाठन त्याग कर शस्त्र हाथ में लेता है और क्षत्रिय तथा वैश्य यज्ञ याग में भाते हैं तो यह कार्य उनकी वृत्ति के विपरीत होगा । अतः उसमें उनको लाभ नहीं अपितु हानि ही होगी ।

टीका :—शास्त्रजीविनो हि यागे भवन्ति ब्राह्मणाः, लौकिकव्यापारेषु तु राजानः क्षत्रियवणिजो वैश्याश्च स्वधामानि स्वगृहाणि स्वात्मनो वा पिनिदधति निरुधन्ति विवेकात् ब्रह्मपालनाच्चेति तृतीयश्लोकस्योत्तरार्धं द्वितीयस्य पूर्वार्धेन संबन्धनीयम् ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं । ब्राह्मण यज्ञ में शास्त्रजीवी होते हैं । क्षत्रिय गण लौकिक व्यापार में रत रहते हैं । विवेक के साथ ब्राह्मण के पालन अर्थात् ब्रह्मचर्य के पालन के लिए अपने धर्मों को बन्द रखते हैं । यहां तीसरे श्लोक का उत्तरार्ध दूसरे श्लोक के पूर्वार्ध से सम्बन्धित है ।

आरुद्धा राथरहं, अडणीप युद्धमारभे ।

सधामाई पणिद्धंति, विवेता बंधपालने ॥ ३ ॥

अर्थ :—कुछ ब्राह्मण राजपथ पर आरुढ़ हो कर सेना के साथ युद्ध आरंभ करते हैं । किन्तु ब्रह्मवृत्ति के पालक विवेक साथ अपने गृहों को बन्द कर लेते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

छेठलाउ आकाशो राजपथ पर आरुढ़ થઈને સેના સાથે યુદ્ધ આરંભ કરે છે. પરંતુ બ્રહ્મવૃત્તિના પાલક વિવેકથી પોતાના ઘરો બંધ કરે છે.

कुछ ब्राह्मण विप्रवंश में जन्म लेकर भी क्षत्रिय वृत्ति लेकर आते हैं इसीलिए वे युद्ध के मैदान में उतर आते हैं । किन्तु जो ब्रह्मवृत्ति वाले हैं उनमें ज्ञान की उज्योति जगमगाती रहती है । अतः हिंसात्मकवृत्ति के लिए अपने द्वार बंद कर लेते हैं ।

प्रोफेसर शुब्रिग लिखते हैं कि जो ब्राह्मण और वैश्य की भांति एक रक्तरंजित धार्मिक क्रिया करता है वे सदसर्ग का विवेक को बैठते हैं । यहाँ तीसरी पंक्ति—आवश्यकतानुरूप पहली से जोड़ी गई है । क्योंकि दोनों पंक्तियाँ बहु वचन में हैं । अंधी जोड़ी के संबन्ध में यहाँ “अंधो संबंध पढ़ निन्ते” की असर दिखाई देती है । फिरभी दोनों पंक्तियों में अस्पष्टता शेष रह जाती है ।

टीका :—अग्धेन युगेनाचक्षुष्मता दाहयुग्मेन विपर्ययोत्तराधरस्मिन्नध्वनि राजपथमारुडेव आदानैस्ति मार्गे युद्धमारभते ननु युद्धभूमौ सो ब्रह्मणो यद् यद्विसर्जनं कर्म प्रकरोति तत्सर्वं सर्वथा हतबुद्धेरिव निरर्थकमिति भावः ।

टीकाकार का मत भिन्न है । वे लिखते हैं कि जैसे दो अंध युगल मार्ग में मिलते हैं और यदि वे विरोधी हैं तो वहीं राजपथ में लड़ पड़ते हैं । यह युद्ध राजपथ में होता है, युद्ध भूमि में नहीं । इसी प्रकार जो ब्राह्मण हिंसा कर्म में प्रवृत्त होते हैं उनका कार्य हतबुद्धि व्यक्ति की भांति निरर्थक है ।

दो विपरीत दिशा से आने वाले अंधों में टकरा हो सकती है और वे राजमार्ग को युद्ध भूमि बना सकते हैं । किन्तु जिनकी दोनों आंखें खुली हैं वे भी यदि टकराने लगे तो उनको क्या कहा जाय ? यही कि स्थूल आंखें खुली हैं परन्तु अन्तर्बुद्धि अभी नहीं प्राप्त हुए हैं । इसी प्रकार तत्व को न जानने वाला हिंसा करता है । वह अज्ञानी है पर शास्त्रों को रटनेवाले और तत्वज्ञान का दावा रखने वाले भी यदि हिंसा के क्षेत्र में उतरने लगे तो समझना होगा कि शास्त्रों को रटा है, पर समझा नहीं है । रटन तो एक पोपट भी कर सकता है किन्तु उसको कोई ज्ञानी नहीं कह सकता है । रट लेना अलग चीज है, पर उसका तत्व समझ लेना अलग चीज है । यदि सही विश्वास के साथ समझा है तो गलत कदम उठ ही नहीं सकता । इसीलिए भगवान् महावीर कहते हैं कि ‘गाणस्स फलं विरतिः’ । ज्ञान का फल विरति है । प्रसिद्ध विद्वान् कनफ्—यूशस् ज्ञान और आचरण का साहचर्य बताते हुए कहता है कि—

The essence of knowledge is having it, to apply it not having it to confess ignorance—कम्भयूशस ।

ज्ञान का सार यह है कि ज्ञान रहते उसका प्रयोग करना चाहिए । और उसके अभाव में अपनी अज्ञानता स्वीकार लेनी चाहिए ।

दूसरा विचारक सेनका कहता है कि Wisdom teaches us to do as well as talk to make our words and actions all of a colour ज्ञान हम को करना और बोलना सिखाता है । हमारे शब्दों और कार्यों को एक रंग में रंग देता है । संत विनोबा भी कहते हैं कि मनुष्य जितना ही ज्ञान के रंग में घुल गया हो उतना ही वह कर्म आचरण के रंग में रंग जाता है ।

ण माहणे धणुरहे, सत्थपाणी ण माहणे ।

ण माहणे मुसं वूया, चोज्जं कुज्जा ण माहणे ॥ ४ ॥

अर्थ :—धनुष और रथ से युक्त—ब्राह्मण नहीं हो सकता । ब्राह्मण सशस्त्रधारी भी नहीं हो सकता । ब्राह्मण मृषावाद भी न बोले और चौर्य कर्म भी न करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

ધનુષ અને રથથી યુક્ત બ્રાહ્મણ હોઈ શકે નહીં. બ્રાહ્મણ શસ્ત્રધારી પણ થઈ શકતા નથી. બ્રાહ્મણ મૃષાવાદ (જૂઠું) પણ બોલે નહીં અને ચોરી (ન આપેલાનું ચઢણ) પણ કરે નહીં.

ब्राह्मण के हाथ में धनुष बाण शोभ नहीं सकते हैं। उसकी जीभ पर सूषावाद शोभित नहीं होता और उसके आचरण में चौर कर्म शोभा नहीं पा सकते। सर्वहितकर साहित्य उसके हाथ में शोभित होता है। सब के लिए हितप्रद और मधुर वाणी उसके मुख को शोभित करती है।

जयघोष सुनि ब्राह्मण कर्म का परिचय देते हुए कहते हैं कि:—

जो क्रोध में या हंसी में, लोभ से अथवा भय से कभी भी असत्य भाषण नहीं करता उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। सजीव या निर्जीव, अल्प या अधिक किसी भी रूप में बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करता है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

टीका :—यथार्थेनामा ब्राह्मणो न घम्भी न रथी न शस्त्रपाणिः स्वाक्ष सृषा शूयाश्च चौर्यं कुर्यात् । गताभेः ।

मेहुणं तु ण गच्छेज्जा णेव गेणहे परिग्रहं ।

धम्मंगेहिं णिजुत्तेहिं, ज्ञाणज्झयणपरायणो ॥ ५ ॥

अर्थ :—ब्राह्मण अब्रह्मचर्य का सेवन न करे। और परिग्रह को भी ग्रहण न करे। धर्म के विविध अंगों में नियुक्त हो ध्यान और अध्ययन में सदैव परायण बने।

गुजराती भाषान्तर :—

ब्राह्मण अक्षय्यने विरोधक काम करे नहीं; अने परिग्रह(दान)ने पक्ष ग्रहण करे नहीं। धर्मना विविध अंगोभां नियुक्त अने अने ध्यान अने अध्ययनभां सतत व्यासंग करे।

कोहा वा जह् वा हासा लोहा वा जह् वा भया ।

मूसं न वयई जोड तं वयं दूम माहणं ।

चित्तमंतमचित्तं वा अप्यं वा जह् वा बहं ।

न गिणहह् अदत्तं जे तं वयं दूम माहणं ॥

—उत्तराध्ययन २५ गाथा २४, २५

ब्राह्मण के वैभक्तिक कर्मों में मैथुन और परिग्रह का भी समावेश है। जो कि ब्रह्म वृत्ति के अनुकूल नहीं रहते। अतः उसके लिए यह भी लाज्य है। दया, करुणा, तेज, क्षमा और निर्लोभता आदि जो गुण धर्मांग हैं वे ही उसे शोभते हैं। अतः वह धर्मांगों में प्रवृत्त हो कर ध्यान और अध्ययन में परायण बने।

टीका :—न मैथुनं गच्छेज्ज परिग्रहं गृहीयात्, स्वात्तु नियुक्तानामाज्ञापितानां दशानामपि धर्माणामा ध्यानाध्ययनपरायणः ।

ब्रह्मवृत्तिशील साधक वासना और परिग्रह से दूर रहे। तथा उसके लिए निर्दिष्ट दशों धर्मों में वह प्रवृत्त रहे। इन दश धर्मों के नाम इस प्रकार हैं—

क्षमा, मृदुता, सरलता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता और ब्रह्मचर्य।

सखिंदिपहिं गुत्तेहिं, सखप्पेही स माहणे ।

सीलंगेहिं णिउत्तेहिं, सीलप्पेईही स माहणे ॥ ६ ॥

अर्थ :—जिसकी इन्द्रियाँ निग्रहीत हैं और जो सत्यप्रेमी हैं वही ब्राह्मण है। शील के विविध अंगों में जिसने अपने मन को नियुक्त कर रखा है वह शील द्रष्टा ही ब्राह्मण है।

गुजराती भाषान्तर :—

जे इन्द्रियोंपर पूर्ण संयम (अप) राखे छे अने जे सत्यप्रेमी छे ते ज ब्राह्मण छे। शीलना जलुकार ते ज ब्राह्मण छे। शीलना विविध अंगोभां जेले पोताना मनने नियुक्त करी राख्युं छे, शीलनो जलुकार ते ज ब्राह्मण छे।

जिस पर इन्द्रियों का शासन नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ दुर्वासना की ओर नहीं जाती हैं वह सत्य-द्रष्टा ब्राह्मण है। साथ ही सदाचार के अंगों को जिसने आत्मसात् किया है वह सदाचार शील व्यक्ति ब्राह्मण है। पाँच शीलंग बताए गए हैं। दया, सत्य, प्रामाणिकता, सन्तोष और मद्य वस्तु का परित्याग।

१ उत्तमक्षमामादौर्वाजैवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः । —तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र ६।

टीका :—गुप्तैः सर्वेन्द्रियैः सत्यप्रेक्षी स्वाच्छीलप्रेक्षी च सत्सखि शीलंगेषु नियुक्तेषु । गतार्थः ।

छज्जीवकायहितप, सव्यसत्तदयावरे ।

स माहणेत्ति घत्तव्वे, आता जस्स विमुज्झती ॥ ७ ॥

अर्थ :—बद्ध-जीव-निकाय के प्रति जिसके मन में कल्याण कामना है, प्राणी मात्र पर जो दया की धारा बहाता है और जिसकी आत्मा विमुक्त है वही ब्राह्मण कहलाता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

७ काय छव अत्ये जेना मनभां उदयालुनी अभता छे. प्राणी मात्र पर जे दयानी धारा बहावे छे अने जेनो आत्मा विमुक्त छे ते न ब्राह्मण कहवाय छे.

प्रस्तुत गाथा सप्तक के द्वारा ब्राह्मणत्व का परिचय दिया गया है । क्योंकि ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति की धारा हजारों वर्षों से साथ साथ बही है । अतः एक दूसरे के साहित्य में या संस्कृति में उसकी छाया उतरना सहज है । यह तो संभव ही नहीं है कि हजारों वर्षों से साथ में बहने वाली संस्कृति की दो धाराएँ सदा दूर रहे । या साहित्य में एक दूसरे का नाम ही न मिले । आगम में जहाँ जहाँ श्रमण संस्कृति का नाम आया है उतने ही गौरव के साथ ब्राह्मण संस्कृति का भी स्मरण किया गया है । आगम की पाठ्यवली देखे तो स्पष्ट अनुभूति होगी । “तद्वा स्वं समं वा माहर्ण,” १-स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र, सुखविपाक ।

जैन-दर्शन ने ब्राह्मण संस्कृति का विरोध नहीं किया है । किन्तु ब्राह्मणत्व की ओट में पनपने वाले जातिवाद, पंथवाद और पूजावाद का उसने डट कर विरोध किया है । तमाम सड़ी गली निष्प्राण रुढ़ियों की विकृत श्रायुओं का ऑपरेशन करके उसने शुद्ध ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा की है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के पक्षीसर्वे अध्याय में इसी शुद्ध ब्राह्मणत्व का परिचय दिया गया है । जैन दर्शन व्यक्ति-पूजक नहीं, अपि तु गुणपूजक है । इसने एक दिन आघोष किया था कि—“गुणाः पूजास्थानं गुणेषु न च लिंगं न च वयः ।” गुणपूजक संस्कृति ने शुद्ध ब्राह्मणत्व को आदर दिया हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं होगा ।

स्थूल क्रियाकांडों में श्रमणत्व और ब्राह्मणत्व को सीमित माननेवाली विचारधारा का जैन दर्शन ने विरोध किया है । उसने कहा है कि द्रव्यसाधना शरीर है जब कि भावसाधना उसका प्राण है । अतः केवल स्थूल मात्र से न मापों, फिर वह श्रमणत्व हो या ब्राह्मणत्व । उसका प्रखर आघोष निम्न विचार में सुना जाता है । केवल तिर मुंडा लेने से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता है । केवल ॐकार का जाप मात्र ही किसी के ब्राह्मणत्व के लिए पर्याप्त नहीं है । केवल अरण्य वास ही किसी को मुनि नहीं बना सकता है । (अन्यथा तमाम बनवासी पशु पक्षी मुनि होते और केवल बल्कल वज्र ही किसी को तपस्वी नहीं बना सकता । तात्पर्य यह है कि इन सभी क्रियाओं के साथ अन्तःसाधना चाहिए । समत्व का साधक ही श्रमण हो सकता है । और ब्रह्मचर्य का धारक ब्राह्मण हो सकता है । ज्ञान से ही कोई मुनि कहला सकता है । और तप का साधक ही तपस्वी कहला सकता है ।

टीका :—पद्दजीवनिकायहितः सर्वसत्त्वदयापरः स ब्राह्मण इति वक्तव्यो यस्यात्मा विमुक्तवति । गतार्थः ।

दिव्वं सो किसिं किसेज्जा, जेवण्णिजेज्जा, मातंगेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

अर्थ :—ब्राह्मण दिव्य खेती करे, किन्तु पानी की ब्यारियाँ न बनाए या उसे छोड़े नहीं । मातंग अर्हतरिप्पि इस प्रकार बोले ।

गुजराती भाषान्तर :—

आकाशु दिव्य (अक्षा, प्रेम, दया अने ज्ञानरूपी) भेती करे, परंतु पाणीनी ब्यारीओ बनावे नहीं अथवा तेने छोडे नहीं. मातंग अर्हतरिप्पि आ प्रमाणे बोल्या.

१ नवि मुण्डिण्ण समणो न ॐकारेण बंभणो । न मुणी रण्णवासेण कुसन्तीरेण तावतो । समयाध समणो होइ बंभंचेरेण बंभणो । पाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावत्ती ।

प्राचीन युग में ब्राह्मण खेती करता था। प्रस्तुत पाठ यह अभिव्यक्त करता है जनता की पूजा और प्रतिफल पाने वाले ब्राह्मण ने जब अपने आप को उच्च धरातल से नीचे ला पटका हो और जनता की ओर से मिलने वाली पूजा प्रतिष्ठा के स्रोत सुखने लगे, तब विवश हो कर उसने कृषिमें अपनाया होगा। अर्हर्षि मान्य ने ब्राह्मण संस्कृति को पुनः उद्बोधन दिया है। खेती करना है तो कृषि और दया की खेती की ओर बढो। यह पानी की खेती है, यदि इसमें धृष्टा और ज्ञान का अभाव है तो तुम्हारी खेती तुम्हें धान्य का उपहार नहीं देगी। आत्मा की खेती करो और उसमें प्रेम का बीज बोओ, दया के जल से सींचो फिर आनन्द की फल काटो। निम्न गायकों में इसी दिव्य खेती की प्रेरणा दी गई है।

टीका :—दिव्यां स कृषिं कृषेन्नार्पयेन्न तां मुञ्चेत् । गतार्थः ।

आता छेत्तं तपो बीजं, संजमो जुअणंगलं ।

ज्ञानं, फालो निसित्तो य, संवरो य बीजं दढं ॥ ८ ॥

अर्थ :—आत्मा क्षेत्र है, तप बीज और संयम रूप हल से युक्त है। ध्यान रूप फलक लेकर संवर रूप बीज बोए।

गुजराती भाषान्तर :—

आत्मा क्षेत्र छे, तप बीज अने संयम रूप हलथी युक्त छे। ध्यानरूपी पाटिधुं लधने तेभां संवररूप बीज बाववुं।

आत्मिक खेती का सुन्दर रूपक यहाँ पर दिया गया है। आत्मा ही क्षेत्र है, उसमें संवर रूप बीज बोना है। उस खेत को साफ करने के लिए संयम रूप हल है। ध्यान फलक है। बीज के विकास के लिए धूप चाहिए। मुनि की तपःसाधना तेज है। जो कि फसल को परिपक्व बनाता है।

टीका :—‘आत्मा क्षेत्रं तपो बीजं संयमो युगलांगले। ध्यानं च फालो निसित्तः संयमश्च दढं बीजं’मिति पाठः संविधपाठः पौनरुक्त्याच्छब्दसोऽशुद्धत्वाच्च ।

आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, संयम युग लागल है, ध्यान फलक है और संयम दढ बीज है। किन्तु यह पाठ अशुद्ध ज्ञात होता है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो इसमें बीज की पुनरुक्ति है। दूसरा छन्द भी अशुद्ध है।

‘तपो बीजं’ पाठ टीकाकार तथा प्रोफेसर शुक्लिंग् को मान्य है। इसीलिए इसमें पुनरुक्ति दोष आता है। जब कि अन्य हस्तलिखित प्रतियों में तथा रतनाम से प्रकाशित प्रति में “तपो पीतं” पाठ है। पीत का अर्थ तेज होगा। खेती के लिए धूप भी तो आवश्यक होगा। अतः पीत पाठ लेने पर द्विरुक्ति दूर जाती है।

अकुडतं व कूडे सुं, विणयं नियमेण ठिते ।

तितिक्षा य हलीसा तु, दयागुत्तीयपग्गहा ॥ ९ ॥

अर्थ :—मायाशीलों में माया रहित होकर रहना और नियमतः जो विनय में स्थित है तितिक्षा जिनके लिए हलीसा है। दया और गुप्ति प्रगढ़ अर्थात् रस्ती है।

गुजराती भाषान्तर :—

मायाशीलोभां मायारहित यधने रडेवुं अने नियमथी जे नअतायुक्त रहे छे तितिक्षा जेमनी हलीसा छे, दया अने गुप्ति प्रगढ़ अर्थात् दोरडी छे।

आध्यात्मिक खेती का सांग रूपक देते हुए अर्हर्षि साधक की स्थिति और उसके प्रसाधन बता रहे हैं। आध्यात्मिक खेती करने की प्रथम शर्त है जीवन में सरलता होनी चाहिए। सरलता आध्यात्मिक कान्ति का प्रथम सोपान है। इन्द्र सरल और स्वच्छ होना चाहिए। जिसके बाणी विचार और बर्ताव में द्वैत (मेल नहीं) है वह साधना के उच्च शिखर पर पहुँच नहीं सकता है।

एक विचारक बोलता है कि:—A good face is a letter of recommendation, a good heart is a letter of credit यदि सुन्दर मुख विफारिश का प्रमाण है तो सुन्दर हृदय विश्वास पत्र।

महर्षि वेदव्यास भी कहते हैं कि: "तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः ॥" तीर्थों में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ हृदय है और पवित्रताओं में विशुद्ध हृदय पवित्रतम है। जय तक हृदय में सरलता और पवित्रता नहीं आती तब तक साधना जल-धारा पर चित्र का आलेखन है। वाचक मुख्य उमास्वाति साधक की परिभाषा देते हुए कहते हैं "निःशल्को व्रती"—
तत्त्वार्थसूत्र गाथा १३ अ० ७

व्रती कौन है, कितने व्रत लिए हो, कितनी तपःसाधना कर चुका हो, उसे व्रती कहना चाहिए। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह सब बाद की वस्तुएँ हैं। व्रती वही है जिसके अन्तर और बाहर में द्वैत की खाई मिट चुकी हो।

जीवन के मैदान में सरलता सर्वत्र विजय पाती है। उसके सामने कूटनीति को भी पराजित होना पड़ता है। एक विचारक ने ठीक ही कहा है:—

Nothing more completely baffles who is full of trick and duplicity than straight reward and simple integrity in another. चालाक और दुहरी नीति रखने वाले की इससे ज्यादा पूर्ण पराजय अन्यत्र न होगी। जैसी कि सीधे और सादगी पूर्ण आदमी के सामने।

अतः साधक सरल आत्माओं के साथ ही सरलता का व्यवहार सीमित न रखें, अपि तु जो चालाक और कूटनीति वाले हैं उनके साथ भी सरलता की नीति रखे। 'शठे शाख्यं समाचरेत्' यह पुरानी कहावत है अब तो 'शठं प्रति सत्यं समाचरेत्' होना चाहिए। साधक विनय शील हो। हृदय सरल होगा तो आचरण में विनयता अवश्य ही आएगी। सहनशीलता इलेषा है। दया और गुप्ति-मनादि को अशुभ से रोकना, प्रसङ्ग अर्थात् रस्सी है जो कि खेती के आवश्यक उपकरण है।

टीका :—कृतेषु बन्धकेषु पुरुषैश्चकूटत्वं सरलत्वमंगीकरोति, अस्मिन्नु पादे कृष्युपमा न दृश्यते। विनये नियमनमिष स्थितः तितिक्षा च हलेषा दया गुप्ति च प्रमदौ। गतार्थः।

विशेष: छली व्यक्तियों में सरलत्व धारण करना चाहिए। किन्तु वही पर कृषि उपमा नहीं दिखाई देती है।

समत्तं गोच्छरणवो, समिती उ समिला तहा।

धितिजोत्त सुसंबद्धा, सव्यण्णवयणे रया ॥ १० ॥

अर्थ :—सम्यक्त्व का गोच्छरण है और समिति समिला समोल है। धृति की ओत वह रस्सी जो बैल या घोड़े को वाहन में ओतने के उपयोग में आती है उस से सुसंबद्ध है। और सर्वज्ञ के वचनों में अनुरक्त है।

गुजराती भाषान्तर :—

सम्यक्त्वनुं गोच्छरण (छात्र) छे अने समिति शमिला-समोल छे। धृतिनी छत ते होरी छे के जगद अथवा घोडाना वाहनमां ओडवाना उपयोगमां आवे छे, ते थी सुसंबद्ध छे अने सर्वज्ञना वचनोमां अनुरक्त छे।

खेती के लिए खाद आवश्यक है। अच्छी खाद अच्छी फसल पैदा करती है। आध्यात्मिक शान्ति की फसल प्राप्त करने के लिए सम्यक्त्व रूप खाद की आवश्यकता है। समस्त आध्यात्मिक शान्ति का मूल है सम्यक्त्व। एक आचार्य बोलते हैं कि:—

सम्मं च मोक्षबीजं तं पुणभूयत्य सहहणारुवं।

पसमाह लिंग-नाम्मं सुहाय परिणामं रुवं तु ॥

—आचार्य देवगुप्त, नव-तत्त्व-भाष्य।

सम्यक्त्व मोक्ष का बीज है। उसका स्वरूप है तत्त्व अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवबोध। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और श्रद्धा उसके बाह्य चिह्न हैं जिसके द्वारा वह जाना जाता है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही नैश्चयिक सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व की परिभाषा तीन प्रकार से की जाती है। १ व्यावहारिक २ दार्शनिक ३ नैश्चयिक।

१ सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर विश्वास रखना 'व्यावहारिक सम्यक्त्व' है। प्राथमिक कक्षा के सचकों के लिए यह सुगम व्याख्या की गई है।

२ तत्त्वार्थ श्रद्धा ही सम्यक्त्व है^१। यह 'दार्शनिक' और आध्यात्मिक व्याख्या है जोकि तत्त्वज्ञ जिज्ञासु साधकों के लिए है। अथवा यह व्याख्या उन विराट् पुरुषों के लिए भी है जोकि ज्ञान की अन्तिम किरण तक पा चुके हैं। उन तीर्थंकर देवों के लिए देव कौन गुरु, कौन और धर्म क्या? वे स्वयं ही देव हैं और स्वयं ही गुरु हैं, उनकी वाणी ही धर्म है। अतः प्रथम व्याख्या उनके लिए उपयुक्त नहीं हो सकती है। अतः तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व वहाँ घटित होती है।

३ तीसरी व्याख्या के अनुरूप आत्मा की शुद्ध परिणति ही सम्यक्त्व है, क्योंकि प्रथम दोनों प्रकार की व्याख्याएँ वहाँ घटित नहीं होती हैं। साथ ही वहाँ शम, संवेगादि सम्यक्त्व के बाह्य चिन्ह भी नहीं मिलते हैं। फिर भी सिद्ध प्रभु में क्षायिक सम्प्रकृत्व है। वहाँ निज रूप में रमणता रूप सम्यक्त्व के अतिरिक्त और कोई भी परिभाषा नहीं घटित होती है। शुद्ध निश्चयनय के अनुसार आत्मा का शुद्ध स्वरूप सम्यक्त्व है और वही खाद के रूप में गृहीत किया है।

ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और परिस्थापन रूप पंचविध समितियाँ शामिल हैं^२। योगों की शुभ में प्रवृत्ति समिति है। धृति रूप रस्सी से जो सुसम्बद्ध है और जो वीतराग के वचनों में अनुरक्त है वही साधक श्रेष्ठ खेती कर सकता है।

टीका :—सम्यक्त्वं गोच्छरणवोर्यज्ञातार्थः। समितिस्तु शमिष्ठा, धृतिर्योक्त्रसुसंबद्धास्ते ये सर्वज्ञवचने रताः। गतार्थः। विशेष गोच्छरणवो पद का अर्थ अज्ञात है।

पंचेय इन्द्रियाणि तु, खंता दंता य णिज्जित्ता।

ब्राह्मणेषु तु ते गंगा, गंगीरं शनते किंति ॥ ११ ॥

अर्थ :—क्षान्त, दान्त और इन्द्रिय जेता ब्राह्मणों के लिए दमन की गई उसकी पाँचों इन्द्रियाँ ही उसके लिए गो-वत्स हैं। जिनके द्वारा वह गंभीर दिव्य खेती करता है।

ब्राह्मण का पुत्र खेती करता है। किन्तु उसकी खेती अपार्थिव होती है क्षमा और इन्द्रिय-जय उसके वृषभ हैं। जिनके द्वारा वह दिव्य खेती करता है।

साधना क्षमा और इन्द्रिय जय उतने ही आवश्यक हैं जितने कि खेती के लिए बैल। क्षमा हृदय को निर्वैर बनाती है। वर्षों का वैमनस्य और कालुष्य क्षमा का स्पर्श पाते ही धुल जाता है। क्षमा हृदय की देन है। जब हृदय शुद्ध होता है तब क्षमा का जन्म होता है, केवल हाथ जोड़ना ही उसके लिए पर्याप्त नहीं है। हाथ तो एक कैसी भी जोड़ता है। जब तक मन नहीं जुड़ता है तब तक क्षमा का मूल्य नहीं चूकता। जिसमें हृदय जुड़ता है वही क्षमा मन के मैल को धो सकती है। ऐसी क्षमा और इन्द्रिय-जय साधक के दो वृषभ हैं जिनके द्वारा वह खेती करता है।

यह रूपक प्राचीन भारतीय कृषि पद्धति को बताता है। साथ ही उसके आवश्यक अंग बैल को भी बता रहा है। आज की बीसवीं सदी में ट्रैक्टर आ चुके हैं, फिर भी आज भारतीय किसान के सखा हलधर ही हैं। किन्तु जब वे ही अबदाता हलधर बुद्ध हो जाते हैं तो उन्हें कसाई के हाथों बेच दिया जाता है जहाँ कि कर कसाई का विकराल कुरा उनको मौत के घाट उतार देता है। यह कैसा अपराध है!। वर्षों तक जिसका सेवा ली जब सेवा देने का प्रसंग आया तो उसे चंद बाँसी के दुकड़ों के लिए कसाई के हाथ बेच दिया यह कैसा कठोर पाप है!।

पर इस अपराध की दृष्टभूमि में दरिद्रता और अभाव की भी छाया है, जिसके चंगुल में भारत का अबदाता कृषक समाज आज भी फंसा हुआ है। गरीबी पापों की जननी है!।

गरीबी के पापों में एक यह भी है तो इसका हिस्सा अमीरी के पछे बिलकुल ही नहीं पड़ता ऐसा नहीं मान सकते। गरीबों का शोषण करने वाली अमीरी ही सब पापों की जड़ है, जिससे छली जाकर भोलीभाली गरीबी जघन्य धर्म करने पर उताव्र हो जाती है। अहिंसा का उत्तराधिकारी बननेवाला समाज जब परिग्रह में गले गले तक डूबता है तो वह अप्रत्यक्ष रूप से अहिंसा के मौत के वॉरन्ट पर हस्ताक्षर करता है। क्योंकि परिग्रह और हिंसा भाई-बहन हैं। अहिंसक समाज क्या इस तथ्य को समझने की कोशिश करेगा?

टीका :—पंचेन्द्रियाणि तु क्षान्तानि दान्तानि निजितानि च यानि ब्राह्मणेषु तानि गोरूपाणि गंगीरं कृषिं कृषन्ति।

१ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्।—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र २। २ बैलों के कंधों पर रखने वाले युग जुआ की कील।

टीकाकार का अभिप्राय कुछ भिन्न है। श्रान्त दान्त ब्राह्मण, पाँचों इन्द्रियों पर जिन्होंने विजय पाई है उनके लिए वे ही इन्द्रियों गौरव हैं। अर्थात् इन्द्रियों यदि अनिगृहीत हैं तो वे बाधनती हैं, किन्तु जब उन पर ज्ञान का अंकुश है आत्मा का शासन है तो वे गौवत्स के सदृश हैं और खेती के लिए सर्वप्रथम गौ-वत्स की ही आवश्यकता है।

तवो वीर्यं अवञ्जं से, अहिंसा निहणं परं ।

ववसातो वणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥ १२ ॥

अर्थ :—तप ही उस खेती का अन्वध्य तथा निष्फल न जाने वाला बीज है और दूसरे के हितों को हनन न करने वाला अहिंसामय व्यवसाय आचरण ही उसका धन है। अहिंसा की साधना में जुटे हुए (लगे हुए) बैल ही उसका संग्रह है।

गुजराती भाषान्तर :—

तप જ તે ખેતીનું અવન્ધ્ય એટલે નિષ્ફળ ન બન્ય એવું બીજ છે. અને બીજના હિતોનું હનન (નાશ) ન કરવાવાળા અહિંસામય વ્યવસાયનું આચરણ જ તેનું ધન (મુદી) છે. અહિંસાની સાધનામાં લાગેલો બળદ જ તેનો સંગ્રહ (સાધનસંપત્તિ) છે.

इस अपार्थिव खेती का बीज तप है जो कभी भी निष्फल नहीं जाता है। प्राणिमात्र के लिए अभयदात्री अहिंसा ही उसका धन है। जिसमें सभी जीवों की रक्षा का आधान है। किन्तु इस व्यवसाय के लिये क्षमा और दमन के गुण तथा वैर्य की जोत- (रस्सी) की सर्व प्रथम आवश्यकता है। क्योंकि क्षमा और वैर्य की भूमि इन्द्रिय-दमन है।

टीका :—तपस्तस्य निष्प्राजस्य ब्राह्मणस्यावन्ध्यं वीजमहिंसा परमं निधनं गोत्रं, व्यवसायस्तस्य धनं संग्रहं संयम-युक्तौ बलीवदौ ।

अर्थात् उस निष्काम साधक के लिए तप ही अवन्ध्य बीज है। अहिंसा ही उस का परम श्रेष्ठ गोत्र है। उसका व्यवसाय है अपार्थिव धन का संग्रह। संयम में जुड़े हुए विचार और व्यवहार ही दो बैल हैं। टीकाकार का मत कुछ भिन्न है।

धित्ति वलंबसुहिका, सद्धा मेढी य निश्चला ।

भावणा उ वती तस्स, इरियाद्वारं सुसंयुद्धं ॥ १३ ॥

अर्थ :—अवलम्बन के लिए धैर्य हिका के सदृश है। निश्चल श्रद्धा मेढी है। भावनाओं से ईर्यापथ का द्वार भी सुसंयुक्त है।

गुजराती भाषान्तर :—

અવલમ્બન માટે ધૈર્ય હિક્કાની જેવી છે, નિશ્ચલ શ્રદ્ધા થાંબલા જેવી છે. ભાવનાઓથી ઈર્યાપથનું બારણું પણ ઢાંકેલું છે.

साधक की अहिंसा की फसल एक चुकी है। फसल कट जाने के बाद वह खलिहान में जाती है। ऊपर का छिलका साफ करना होता है, इसके लिए हिके का अवलम्बन लिया जाता है। धैर्य ही वह हिका है। बाद में खलिहान में स्तंभ गाड़ा जाता है। जिसके चारों ओर बैल घूमते हैं और अनाज का छिलका दूर होता जाता है। साधक की निश्चल श्रद्धा ही मेढी अर्थात् स्तंभ है। श्रद्धा साधना की रीढ़ है। यदि श्रद्धा की भूमि ठोस है तो अध्यात्म के आकाश में उड़ान भरी जा सकती है, क्योंकि पक्षी को उड़ने के लिए सड़े का नरम छिप नहीं; कठोर भूमि चाहिए। ऐसे ही साधना के लिए श्रद्धा की ठोस भूमि चाहिए। चंचल श्रद्धावाला व्यक्ति किसी भी कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।

अहिंसा की मधुर फसल उसके जीवन में पवित्र भावनाओं का संचार करती है मन की गति शुभ की ओर बढ़ती है और एक दिन वह भी आता है जब कि वह पूर्ण शुद्ध स्थिति में पहुँच कर ईर्यापथ की क्रिया को भी रोक देता है। आत्मा जब विकास की ग्यारहवीं श्रेणी पर पहुँचता है तब सभी क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं। केवल ऐर्यापथिक क्रियाशेष रह जाती है जो कि योग प्रवृत्ति की देन है। जब तक मन बाणी और कर्म की प्रवृत्ति रहती है वही तक क्रिया चालू रहती है। किन्तु उससे कष्टाय भाव चला जाता है तो कर्मों की बन्धनशक्ति समाप्त हो जाती है। योग के कारण कर्म आते अवश्य हैं, किन्तु वे प्रथम समय में आते हैं द्वितीय समय में भोगे जाते हैं और तीसरे समय में निर्जरित हो जाते हैं^१। निश्चल नय की दृष्टि

१--जाव सनेगे भय ताव ईरियावद्वियं कम्मं निबंधं । तुहपरिसं दुल्लमयठिबवं । तं पदमसुनये बद्धं विशयसमये वेहयं तहय-समये निज्जिण्णं । -उत्तरा. अ० २९ सूत्र ७१ ।

से तो स्थिति का कोई अलग समय नहीं है। कर्म आते हैं और चले जाते हैं। क्योंकि स्थिति और रसु बन्ध कषाय सापेक्ष हैं। किन्तु जब आत्मा आयोगी अवस्था में पहुँच जाता है तब ऐर्यापथिक क्रिया भी समाप्त हो जाती है। अर्हंतर्षि चौदहवें गुण-स्थान प्राप्त आत्मा की अयोगिक स्थिति का वर्णन कर रहे हैं।

टीका :—एतिर्विलं वसुधैका श्रद्धा च निश्चला च मेधिर्बुरोवहंभः भावना तु तस्य वृत्तिर्वा सुसंयुतं द्वारं । गतार्थः ।

कषाया मलणं तस्स, कित्तिवातो य तत्क्षमा ।

णिज्जरा तुल वामीसा, इति दुक्खाण णिक्खति ॥ १४ ॥

अर्थ :—कषायों का मर्दन ही उसके धान्य का मर्दन है। उसकी क्षमा ही कीर्तिवाद है। निर्जरा ही उसका (खेती का) काटना है। इस प्रकार साधक दुःखों से मुक्त होता है।

गुजराती भावान्तरः—

उषायोनुं मर्दनं ज्ये तेना धान्यनुं मर्दनं छे. तेनी क्षमाण कीर्तिवाद छे. निर्जरा ज तेनी खेतीनुं कापवुं छे. आ प्रमाणे (समष्टि वर्तनारा) साधक दुःखोथी मुक्त थाय छे.

अनाज के खलिहान में आने के बाद उसका मर्दन किया जाता है। ताकि धान्य से उसके छिलके पृथक् हो जाय। साधना में कषाय का मर्दन अपेक्षित है। उसके बिना कर्म के छिलके आत्मा से पृथक् नहीं हो सकते। क्षमा ही उसका कीर्तिवाद है। किन्तु कीर्तिवाद खलिहान से असंबद्ध लगता है। हाँ, उसे उफानने के लिए हवा की अवश्य ही आवश्यकता होती है। क्षमा ही ऐसी वायु हो सकती है जोकि कर्म के छिलके को दूर कर सकती है। निर्जरा कटाई है, किन्तु यह भी अप्रासंगिक लगता है। क्योंकि कटाई तो मर्दन के भी पहले की क्रिया है। अतः छिलके का एक दम दूर हो जाना निर्जरा है जो सप्रसंग भी रहता है। ऐसी खेती करने वाला साधक समस्त दुःखों का अन्त करता है।

टीका :—कषायास्तस्य मर्दनं कीर्तिवादश्च तत्क्षमा, निर्जरा तु इषां लुनामि एवं दुक्खानां निष्कृतिर्भाविष्यतीति तदभिप्रायः । गतार्थः ।

एतं किसिं किसिन्ताणं, सव्वसत्तयावहं ।

माहणे खत्तिण वेस्से, सुहे वा पि विसुज्झति ॥ १५ ॥

अर्थ :—प्राणिमात्र पर दया का झरना बहाते हुए जो इस प्रकार की खेती करता है वह ब्राह्मणकुलोत्पन्न हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो तो भी विशुद्ध होता है।

गुजराती भावान्तरः—

प्राणिमात्र पर दयातुं अरुणुं वडावता जे आ प्रमाणे खेती करे छे, ते ब्राह्मण कुलमां जन्मेथी छेय, क्षत्रिय वंशमां जन्मेथी छेय जे वैश्य (वाक्षीया) नां कुलमां जन्मेथी छेय जे पछी शूद्र वंशमां जन्म पायेथी छेय तो पाबु विशुद्ध थाय छे.

टीका :—एतां कृषिं कृष्ण सर्व-सखदयावहां ब्राह्मणा क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽपि विशुध्यति । गतार्थः ।

जिसमें दया का झरना बह रहा हो अनन्त अनन्त प्राणियों के प्रति दया की गंगा बह रही हो ऐसी आत्मिक खेती ही आत्मविशुद्धि कर सकती है। अहिंसा की गंगा सबको पवित्र बनाती है। फिर वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र वह सभी के जीवन को उज्ज्वल और समुज्ज्वल बनाती है।

प्रोफेसर बॉल्टर ग्रुबिग लिखते हैं कि श्लोक ८ से लेकर १५ तक संग्रह्यक संपूर्ण और रूप में प्रस्तुत किया गया है। आत्मा को खेल बता गया है और अनिष्टता से उसे बचना है। फिर भी बहुत सी उपमाएँ स्पष्ट नहीं हैं। “कुदे शुम कुत” हल का एक भाग बताया गया है। मोच्छनवो अपरिचित है, फिर भी सहत्व पूर्ण है। बारहवें श्लोक का अर्थ संकरूपद है। १२ वें श्लोक में हलेश अवलंब के स्थान पर विलंब की संभावना की जा सकती है। निर्जरा उखेड डालने को खराब स्थिति

को दूर करने के साथ उपमित किया है। पन्द्रहवें श्लोक में इस शब्द दूसरी विभक्ति में होना चाहिए। अर्हतर्षि नैतिक जीवन को ही दिव्य खेती कहते हैं।

पथ से सिखे बुद्धे०। गतार्थः।

इति मार्थगिज्ञायणं।

इति मातंग अर्हतर्षि प्रोक्त षड्विंशसि अध्ययन समाप्त।

वारत्तक अर्हतर्षि प्रोक्त

सत्ताईसवां अध्ययन

साधक निवृत्ति का पथिक है। अतः उसके जीवन में अनासक्ति योग आना चाहिए। वह अपने जीवन को इस प्रकार बनाए कि मोह अपनी सारी शक्ति के साथ भी उसे न बाध सके। निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। निवृत्ति और निष्क्रियता स्थूल दृष्टि में भले ही समानार्थक लगते हों परन्तु दोनों में उतना ही अन्तर है जितना कि जीवित और मृत में। निवृत्ति साधना का पथ है, जिसमें साधक अनासक्त हो कर क्रिया करता है। जब कि निष्क्रियता जड़ता है। जड़ता जीवन की मौत है। निवृत्ति का पथिक यदि यह सोचता है कि मुझे अपना ही सब कुछ देखना है, समाज और संघ से मेरा कोई वास्ता नहीं है, तो वह निवृत्ति शब्द के साथ न्याय नहीं करता है। अपनी रोटी दाल की क्रिया में उलझे रहने की विचारधारा निवृत्ति की नहीं, स्वार्थी वृत्ति की देन है। साधक एकान्ततः निवृत्तिवादी है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। आगम बाणी बोलती है कि—

एगओ निवृत्ति कुञ्जा एगओ य पव्वत्तणं।

साधक एक और से निवृत्त हो कर दूसरी और प्रवृत्त हो। अर्थात् अशुभ में निवृत्त हो कर शुभ में प्रवृत्त हो। क्योंकि एकान्ततः निवृत्ति जड़ता है और वह जड़ता चैतन्य के स्वभाव से विरुद्ध है। इसी लिए स्वयं सिद्ध प्रभु एकान्ततः निवृत्ति नहीं है, वे भी शुद्धोपयोग और अपने निजगुणों में रमणशील है अर्थात् प्रवृत्त है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति दो पथ हैं। साधक का लक्ष्य है आत्मशुद्धि। यदि वह लक्ष्य भुला दिया गया तो एकान्ततः निवृत्ति निष्क्रियता में परिणत हो जायेगी या बाहर से निवृत्ति का ढोंग रख कर भीतर से भयंकर प्रवृत्तिशील बन जायेगी। दूसरी ओर प्रवृत्ति में भी विवेक न रह जाएगा तो वह भी पतन के गड्ढे में ढकेल देगी। चोगा तो सेवा का रहेगा पर सत्ता स्थान हथियाने लगेगी, संप्रह की वह भूख जागेगी कि त्याग पिछले दरवाजे से भाग खड़ा होगा। यों उसका चोगा वहीं छोड़ जाएगा। अतः साधक सावधानी के साथ कदम रखे। एक संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है कि—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहं तपः।

अकुस्मिते कर्मणि यः प्रवर्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

चित्त की राग दशा समाप्त नहीं हुई है तो वन में भी दोष पैदा हो सकते हैं। दूसरी ओर इन्द्रियनिग्रह की तपः-साधना घर में भी संभव है। उसमें जो सफल हो चुका है और जो कर्म में प्रवृत्त है उस वीतराग-स्थिति-प्राप्त साधक के लिए घर भी तपोवन है।

युगद्रष्टा आचार्य विनोबा लिखते हैं कि संन्यास लिया पर संन्यास की वृत्ति नहीं आई तो वह वन में दूता घर जमाने की कोशिश करेगा। अतः मूल वस्तु अनासक्ति—है उसके बिना पतन के सौ सौ द्वार खुले रहेंगे। एक और संस्कृत कवि कहता है कि—

निःसंगता मुक्तिपदं यतीनां, संगदशेषाः प्रभवन्ति दोषाः ।

आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः, संगेन योगी किमुताल्पसिद्धिः ।

साधक के लिए निःसंगता ही मुक्ति का द्वार है । क्योंकि संग से अनेक दोष पैदा हो सकते हैं । बड़े बड़े अभ्यात्म-योगी भी संग के द्वारा पतन के गर्त में गिर गए हैं, फिर साधारण साधक की बात ही क्या । प्रस्तुत अध्याय अनासक्ति योग की ओर प्रेरित करता है ।

सिद्धि । साधु सुचरितं अब्बाहता समणसंपया वारत्तपणं अरहता इसिणा बुद्धं ।

अर्थ :—साधु की सम्पत्ति उसका चरित्र है । और जो साधक उस सम्पत्ति से युक्त है उसकी गति अव्याबाध रहती है । ऐसा वारत्तपण अर्हतरिषि बोले ।

गुजराती भाषान्तरः—

साधुनी साधु सम्पत्ति तेनुं पवित्र चरित्र छे अने जे साधक ते सम्पत्तिशी युक्त छे, तेनी गति निर्भयरहित रहे छे એવું વારત્રયક અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

चरित्र ही साधक की सबसे बड़ी सम्पत्ति है । इंग्लिश विचारक फ्रेडरिक सान्डर्स कहते हैं कि Character is the governing element of life and is above genius चरित्र जीवन में शासन करनेवाला तत्व है और वह प्रतिभा से उच्च है । क्योंकि चरित्र समस्त गुणों की प्राथमिक भूमिका है । उसकी उपस्थिति में ही सभी सद्गुण उभर सकते हैं । चरित्र की शक्ति दुनिया की समस्त शक्तियों पर विजय पाती है । एक विचारक कहता है There is no substitute for beauty of mind and strength of character — जे एलन, मन के सौन्दर्य और चरित्र बल की समानता करने वाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है ।

टीका :—साधु साधोः साधु वा सुचरितमव्याहृतऽबाधिताश्रमणसंपच्छमणैः सह संवासः ।

साधु का चरित्र अव्याबाध है । श्रमणों का सहवास ही उसकी सम्पत्ति है ।

न चिरं जणे संवसे मुणी, संवासेण सिणेज्ज वद्धती ।

भिक्षुस्स अणिच्चचारिणो, असङ्गे कम्मा दुहायती ॥ १ ॥

अर्थ :—मुनि गृहस्थों के बीच अधिक समय तक न रहे । क्योंकि अधिक परिचय से जेह बढ़ता है, जो कि अनित्यचारी भिक्षु की आत्मा के लिए कर्म का रूप लेकर दुःख की सृष्टि करता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

ગૃહસ્થોના સહવાસમાં મુનિએ ઝાઝા સમય મુઠી રહેવું ન જોઇએ. ડારણુકે વધારે પરિચયથી બને વચ્ચે સ્નેહ વધે છે, જે અનિત્યચારી ભિક્ષુના આત્મા માટે કર્મરૂપ થઇને દુઃખની ઉત્પત્તિ કરે છે.

जनता का अधिक परिचय जेह बन्धन करता है । परिणाम में रागात्मक वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है । गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए मुनि को उचित अनुचित सभी वृत्तियों में डाल सकता है और जेह बन्धन में बद्ध मुनि भी प्रलोभनों को ठुकरा नहीं सकता, नील गमन में स्वतंत्र उड़ान भरने वाले पक्षी की भांति अप्रतिबद्ध विहारी मुनि जब परिचय के पास में बंध जाता है तो उसकी स्वतंत्रता की पाखें कट जाती हैं और मोह की बह धारा अपने पीछे असंख्य कष्टों की परम्परा को लेकर आती है । इसी लिए आगम में मुनि के लिए नौ कल्पी विहार का विधान है ।

टीका :—न चिरं लौकिकजनेन संवसेन्मुनिः । संवासेन हि जेहो वर्धते । अनित्यचारिणो भिक्षोः कर्मणो हेतो-रात्माथो दुःखायते दुःखमापद्यते ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं । उनका कहना है कि मुनि संसारी आदमियों में अधिक न रहे, क्योंकि उनके साहचर्य से जेह की वृद्धि होती है । जोकि साधक के लिए कर्म का हेतु बन कर दुःख को निमज्जन देता है ।

पयहिस्स सिणेहवंधणं, माणज्झयणपरायणे मुणी ।

णिद्धसेण सया वि चेतसा, णिब्बाणाय मत्ति तु संदधे ॥ २ ॥

अर्थ :—ध्यान और अध्ययन में लीन मुनि जेह बन्धन का परित्याग करे । मन के विकारों को धोकर मति को निर्वाण के पथ में जोड़े ।

गुजराती भाषान्तर :—

ध्यान अने अध्ययनमां लीन थयेवा मुनिओ स्नेहबन्धननो परित्याग करवो जेधये. मनना विकारोने धोई नापी मतिने निर्वाणना रस्ते स्थिर करवी.

ध्यान मन की शक्तियों को केन्द्रित करता है । उसके केन्द्रीयकरण में एक बहुत लम्बी शक्ति आ जाती है । इसी के द्वारा सूर्य की किरणें केन्द्रित होती हैं । उनमें तेज और प्रकाश के साथ ज्वाला फूट पड़ती है । यही बात मन की किरणों के संबन्ध में भी है । वे केन्द्रित होती हैं तो उसकी ज्वाला में मन की वासना और विकार भस्म हो जाते हैं ।

निर्जन के एकान्त कोने में साधना में लीन हुआ मुनि जब जेह के पास में बंधता है तो सचमुच ही उसकी साधना में बाधा आ जाती है । उसके ध्यान, निदिध्यास, चिन्तन, मनन और अनुशीलन सभी संभव है जब कि वह जेह-बन्धन से उपरत हो कर चले । इसीलिये प्राचीन युग का सन्त शहरों के जीवन को पसन्द नहीं करता था । शहरों से दूर वन में वह रहता था । शिक्षा के लिये गांव में आता और पुनः वन की शान्त भूमि में आत्मसाधना के लिए चल पड़ता था । प्रकृति का स्वच्छ वायुमंडल उसकी चिन्तनशक्तियों का शुद्ध रखने में सहायक बनता । साथ ही यह अल्पकालीन परिचय गृहस्थ के हृदय में सन्त के प्रति श्रद्धा के बीज जलाता । हृदय की सच्ची जिज्ञासा को लेकर वहां पहुंचना । और यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है, जो वस्तु जितनी दूर है उसका आकर्षण भी उतना ही अधिक रहता है । यदि वह हमारे समीप हो जाती है तो उसका खिंचाव भी कम हो जाता है ।

निर्वाण का पथिक अपनी बुद्धि को निर्वाण के पथ में तभी स्थिर रख सकता है जब कि वह गृहस्थ के जेह बन्धन से दूर रहे ।

टीका :—जेहबन्धनं प्रजहाय ध्यानाध्ययनपरायणो भवति । निहितेन वशीकृतेन सदा अपि चेतसा निर्वाणाय मतिं समदध्यते ।

साधक जेहबन्धन को छोड़ कर ही ध्यानाध्ययन में लीन हो सकता है, क्योंकि जेह साधना तथा अध्ययन के लिए सबसे बड़ा विघ्न है । यदि एक विद्यार्थी भी किसी के प्रेम-प्राप्त में बंध जाता है तो वह ठीक ढंग से अध्ययन नहीं कर सकता । क्योंकि उसकी मनःशक्ति अध्ययन में केन्द्रित नहीं हो सकती है । चित्त का निग्रह करने पर ही बुद्धि निर्वाण की ओर अभिमुख हो सकती है ।

जे भिक्षु सखेयमागते, वयणं कणसुहं परस्स बूया ।

सेऽणुणियभाषाए, हु मुहे आतहे णियमा तु हायती ॥ ३ ॥

अर्थ :—जो भिक्षु मित्रता के बन्धन में आकर दूसरे कर्ण के लिए सुखप्रद-मीठे वचन कहता है और वह गृहस्थ भी प्रिय भाषी में मुग्ध हो जाता है, किन्तु आत्मा के अर्थ को वे दोनों ही खो बैठते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

जे भिक्षु मित्रत्वना बंधनमां आवीने पीळना डानमां सुखप्रद (मीठी) वातो उरेछे अने ते गृहस्थ पणु प्रियभाषाधी मुग्ध थईल्य छे; परंतु आत्माना अर्थने ते धनेने जोई जेसे छे.

अति परिचय से संभावित दोषों का निरूपण करते हुए अर्हतरिषि कहते हैं कि परिचय प्रेम में बदलता है और मैत्री के पास में बंध कर भिक्षु गृहस्थ को मीठी लगने वाली बात कहता है । नम सत्य कहने की शक्ति उसमें नहीं रहती और वह गृहस्थ भी प्रियभाषी मुनि की मीठी बातों में मुग्ध बनता है । जब उसके मतलब की बातें मिलेंगी तो अवश्य ही मुनि उसके लिए प्रिय बन जायगा । किन्तु यह रागात्मक श्रद्धा मुनि और श्रावक दोनों के आत्महित को डेस पहुंचाता है ।

मोह सत्य का प्रतिद्वन्दी है । मोहपाश में बद्ध व्यक्ति कभी भी नमसत्य नहीं बोल सकता; क्योंकि वह जानता है कि नमसत्य सुनते ही भक्त-गण वैसे ही उठ जाएंगे, जिस प्रकार फटाकों के धड़कों से पक्षीगण । वे मोह विजेता भगवान् महावीर थे जो कि अनन्य उपासक कोणिक जैसे सभाट को भी कह सके, कि कौणिक ! तू भर कर नरक की ज्वाला में

पहुँचेगा। सत्य के प्रखर वक्ता ने उत्तर देते समय मगध के साम्राज्य को बीच में न आने दिया, न उसकी उपासना और भक्ति को ही सत्य के लिए व्यवधान बनने दिया। “यह मेरा भक्त है और मगध का सम्राट है यदि यह हठ गया तो।” मन की दुर्बलता के ये विचार भगवान् महावीर को सत्य का उद्धोष करने से रोक न सके।

उन्होंने अपने साधक शिष्यों से कहा, तुम्हारे भीतर सात्विक तेज प्रकट होना चाहिए कि तुम्हारे सामने दर दर भटकने वाला भिक्षुक आये या लक्ष्मीपति आए अथवा सम्राट भी क्यों न आए, सत्य प्रकट करते समय तुम्हारे मन का एक अणु भी कांपना नहीं चाहिए।” नम सत्य कहने के लिए बहुत बड़े साहस की अपेक्षा रहती है। क्योंकि हर कान इतना मजबूत नहीं रहता जो नम सत्य सुन सके। लेखनान का प्रसिद्ध विचारक खलील जिब्रान कहता है कि एक बार तुमने नम सत्य कहा तो तुम्हारे सभी संगी साथी तुम्हें छोड़ कर चल देंगे। यदि तुमने दुबारा नम सत्य का प्रयोग किया तो तुम देश से निकाल दिये जाओगे। और यदि तुमने तीसरी बार नम सत्य कहा तो तुम फाँसी के फंदे पर लटका दिये जाओगे और तुम्हारी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी।”

जिसमें नम सत्य कहने का साहस नहीं होता है वह चापलूस बन जाता है, उपन्यास सम्राट श्री. प्रेमचन्दजी लिखते हैं कि “चापलूसी जहरीला प्याला है। वह तब तक आप को कष्ट नहीं पहुँचाएगी जबतक कि आप अमृत समझकर उसको पी न जायें”। एक इंग्लिश विचारक बोलता है कि : Flattery is counterfeit, and like counterfeit money, it will eventually get you in to trouble if you try to pass it—बेल कारनेगी। चापलूसी एक नकली सिक्का है और नकली सिक्के की भाँति यह अन्ततः आप को कष्ट में डाल देगी, यदि आप इसको चालने का प्रयत्न करेंगे। किसी ने पूछा कि किन जानवरों का काटना अधिक खतरनाक होता है? इसके उत्तर में विचारक ने कहा कि जंगलियों में निन्दकों का और पालतुओं में चापलूसों का। चापलूसी सरलता और निष्कपटता को कंशा मार कर भगा देती है। एक और विचारक कहता है कि : Flattery sits in the parlour, when dealing is picked out of door. जब चापलूसी बैठक में आकर बैठ जाती है तो निष्कपट व्यवहार को ढकेल कर बाहर कर दिया जाता है।

वास्तव में साधक की यह कामना रहे कि—न तो मैं किसी की सस्ती प्रशंसा करूं और न दूसरों से अपनी सस्ती प्रशंसा सुनूं। साधक के जीवन में जब मुँह मीठी बात करने की वृत्ति आसकेगी तो वह गृहस्थ को सत्य बात न कह सकेगा। और गृहस्थ को भी मुँह देखी बात कहने वाले सन्त प्रिय बनेंगे। ऐसे साधक और गृहस्थ दोनों ही पतन के पथ पर हैं।

टीका :—यो भिक्षुः परेण सख्यमागतस्तस्य कर्णमुखं वचनं ब्रूयात् सोऽनुप्रियभाषकश्चाहुकार। खलु मुग्धात्मार्थे दीयते नियमात् । गतार्थः ।

जे लक्षणमुमिण, पहेलियाउ अक्खाई याइ य कुतूहलाओ ।

तहा दाणाहं णरे पउंजय, सामणस्स महंतरे खु से ॥ ४ ॥

अर्थ :—जो कुतूहल से लक्षण, स्वप्न और प्रहेलिका बोलता है और मनुष्य (उसके लिये) दान आदि का प्रयोग करता है, किन्तु यह श्रामण्य भाव से बहुत दूर की वस्तु है।

गुजराती भाषान्तर :—

जे आश्चर्यशी लक्षाण, स्वप्न, अने प्रहेलिका बोले छे, जे मनुष्य दानादिनो प्रयोग करे छे. परंतु आ आभश्य (साधक) आवथी बाण्णी न् दूरनी वस्तु छे.

पिछली गाथा में कहा गया है कि मैत्री के मोह में गृहस्थ से भिक्षु मुँहदेखी बात कहता है। उसी प्रस्तुत गाथा स्पष्ट करती है। स्नेह-बद्ध सन्त आने जेही गृहस्थों को लक्षण विद्या बतलाता है स्वप्न के प्रतिफल बतलाता है। पहेलियां बुझाता है और भी ऐसे ही कुतूहल पूर्ण काम करता है। कार्यसिद्धि के लिए भक्तगण दान का भी प्रयोग करता है। यह दान का प्रवाह मुनि के संकेतों पर बहता है। किन्तु उसका लक्ष्य दान के द्वारा अधिक संपत्ति बटोरना रहता है। और यह प्रपंच वन में रहने वाले मुनि के साधक जीवन से बहुत ही दूर की वस्तु है।

टीका:—यो लक्षणस्वप्नप्रहेलिकाः कुतूहलादाख्याति तस्य नरो जमो दानानि प्रयोजयेत् तत् सादृशं करणं
आमण्य्याममहद्वस्तरं भवेत् विपरीतं भवेदित्यर्थः । गतार्थः ।

स्वप्न और लक्षणादि का बताना भौतिक विद्याएं हैं । आत्मा के प्रशस्त पथ के पथिक के लिए अग्राह्य हैं । ये भौतिक विद्याएं आत्मशान्ति के लिए विघ्नभूत हैं । भगवान् महावीर बोलते हैं कि—

संताजोगे कांडं मूढकर्मं च जे पउंजंति ।

सायरस्सुद्धिं हेउं अभिभोगभाषणं कुणह ॥

मंत्र योग करके जो भूतिकर्म का प्रयोग करता है उसके पीछे सारीरिक सुख और ऋद्धिप्राप्ति की कामना है । ऐसा साधक अभियोग भाव करता है ।

जे थेलकउवणयणेसु वा वि, आवाह-विवाहधूवरेसु य ।

जुंजेइ जुज्जेसु य पत्थिवाणं, सामण्णस्स महदंतरे खु से ॥ ५ ॥

अर्थ:—जो साधक चूड़ोपनयन आदि संस्कारों में तथा वर वधू के आवाह-विवाह प्रसंगों में सम्मिलित होता है और राजाओं के साथ युद्ध में भी जुड़ता है, किन्तु साधक की इन समस्त क्रियाओं और श्रमण भाव के बीच बहुत बड़ा अन्तर है ।

गुजराती भाषान्तर:—

जे साधक चूडा, उपनयन आदि संस्कारों में तथा वरवधूना आवाह-विवाह प्रसंगों में सम्मिलित होय छे अने राजाओं साथे युद्ध में भी जुड़ता छे, जेवा साधकनी आ बंधी क्रियाओं अने श्रमणभावनी वय्ये वल्लं न अंतर छे.

हेतु:—जवन में जे साधक पतन की किस सीमा तक पहुंचता है उसी का चित्र प्रस्तुत गथा में दिया गया है । गृहस्थ के आगम में चूड़ोपनयन संस्कार आता है तो अन्ध-भक्ति से प्रेरित गृहस्थ उसमें सम्मिलित होने के लिए मुनि से प्रार्थना करता है और झेह से बंधा साधक वहां पहुंच जाता है । तो आवाह-विवाह के प्रसंगों पर वर वधू को आशीर्वाद देने के लिए भी मुनि पहुंच जाते हैं । यदि झेह की धारा किसी राजा की ओर बह रही है तो अपने साथी राजा की सहायता के लिए वह युद्ध में भी पहुंच जाता है । या उनको विजय के प्रसाधन बताते हैं । किन्तु यह सब श्रमण जीव जीवन को बाधा पहुंचाने वाली शक्तियाँ हैं ।

टीका:—चेलकि चेटको दासो यत्थेदकोपनयनेव्वाऽऽवाहविवाहेषु धूवरेषु च पार्थिवानां युद्धेषु च चात्मानं योजयति तान्युपतिष्ठति । गतार्थः ।

विशेष—टीकाकार चेल का अर्थ चेटक-दास के रूप में करते हैं ।

जे जीवाण हेतु पूयणट्ठा, किंचि लोकसुहं पउंजे ।

अट्टिविसयसु पयाहिणे से, सामण्णस्स महंतरे खुसे ॥ ६ ॥

अर्थ:—जो जीवन के लिए, पूजन के लिए और इस लोक के किंचित् सुख के लिए युक्ति का प्रयोग करता है, अर्थात् अपनी साधना का प्रयोग इन तुच्छ वस्तुओं के लिए करता है वह मानो अर्थी की प्रदक्षिणा करता है । अथवा वह स्वार्थी पुरुष विषयों की प्रदक्षिणा करता है ।

गुजराती भाषान्तर:—

जे लवन भाटे, पूजन भाटे आने आ लोकना नल्लयी सुण-प्राप्ति भाटे युक्तिनो उपयोग करे छे, अर्थात् पोटानी साधनानो प्रयोग आ तुच्छ वस्तुओं भाटे करे छे, ते शवनी प्रदक्षिणा करे छे अथवा ते स्वार्थी पुरुष विषयानी प्रदक्षिणा करे छे.

साधक के सामने सदैव उच्च आदर्श रहना चाहिए । उसके अनुरूप अपना जीवन निर्माण करे । यदि उसके सामने से यह आदर्श हट जाता है तो उसके सामने अपनी पूजा प्रतिष्ठा और तात्कालिक सुख के छोटे आदर्श आते हैं और वह उन तक पहुंचने की कोशिश करता है और उनके लिए अपनी आत्मसाधना को एक ओर रख देता है और मन्त्र तन्त्र आदि का

प्रयोग करता है। लोभी गृहस्थ भी उसका साथ दे कर अपनी स्वार्थ साधना करना चाहता है। किन्तु ऐसा करनेवाला साधक अपने सही आदर्श तक न पहुँच कर बीच में ही रुक जाता है। उसकी सारी क्रिया केवल विषयों की प्रवक्षिणा है। भौतिक विषयों को केन्द्र बना कर वह उसके चारों ओर घूमता है।

टीका :—यो वा जीवनहेतोरात्मनः पूजनार्थं किञ्चिद्विलोकसुखमिह लोकस्य मनोज्ञं प्रयुनक्ति प्रकरोत्यर्थविषयेषु प्रवक्षिणः उभयेषां तादृशं करणं श्रमणस्य विपरीतम् । गतार्थः ।

यद्यप्यकुसले संछिण्णस्रोते पेजेण दोसेण य विप्रमुक्तो ।

प्रियमप्रिय सह्ये अकिञ्चणे य आतर्ह्य ण जहेज्ज धम्मजीवी ॥ ७ ॥

अर्थ :—जो मन्त्र तन्त्र आदि की कुशलता से पृथक् हो चुका जिसने भव परम्परा के स्रोत का छेदन कर दिया और जो प्रेम और द्वेष से विमुक्त है। वह धर्मजीवी महामुनि अकिञ्चन बन कर प्रिय और अप्रिय का सहन करे। किन्तु आत्मा के अर्थ-लक्ष्य का परित्याग न करे।

गुजराती भाषान्तर :—

जो मन्त्र, तन्त्र आदिनी कुशलताथी शुद्धो यर्थ चूक्यो, जेले जवपरंपराना प्रवाहनुं छेदन करी नाय्युं अने जो रागद्वेषथी विमुक्त छे, ते धर्मजीवी महामुनि अकिञ्चन अनीने प्रिय अने अप्रियने सहन करे, परंतु आत्माना अर्थ-लक्ष्यने छोडे नहीं।

सन्त जीवन चिताने वाला साधक वासना और मोह के स्रोत को समाप्त करे। राग और द्वेष से उपरत रहकर विचरे। दुनियाँ जिसको कुशलता समझती है ऐसे भ्रंशों के प्रयोग साधना के लिए शूल है। अतः साधक उनसे बचे और वह अकिञ्चन हो कर आगे बढ़े। जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए कड़वे गीटे खूंट मिले तो उनको भी सहर्ष पी जाय। निन्दा और प्रशंसा के शूल और फूल में साधक उलझे नहीं। किसी भी प्रसंग पर किसी भी परिस्थिति में भव और प्रलोभन के आधी-तूफानों में साधक आत्म लक्ष्य को न भूले।

टीका :—व्यपगतकुशलस्तु संछिन्नस्रोतः शोको वा प्रेम्णा द्वेषेण च विप्रमुक्तः प्रियाप्रियसहो अकिञ्चनश्चास्मार्थे न जहादधर्मजीवी । गतार्थः ।

एवं से सिद्धे बुद्धे गतार्थः ।

इति वारत्तक अर्हतर्षिप्रोक्तं चारत्तय णाम
सत्ताविंशतितमं अध्ययनं समाप्तम् ।

आर्द्रक अर्हतर्षि प्रोक्त

अट्टाईसवां स्रोत अध्ययन

“कामो विजेता, जगतो विजेता” वासना का विजयी विश्वविजयी है। और वासना का गुलाम विश्व का गुलाम है। क्योंकि वासना जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। काम भी एक पुरुषार्थ है, किन्तु वह गलत मार्ग दर्शक है। जो राही को हिमालय के बदले ज्वालामुखी पर ले जाता है। थक कर चूर चूर होने वाला परीने से भीगा हुआ राही ठण्डी हवा के लिए ज्वालामुखी पर चढ़ कर क्या पाएगा? ठण्डी हवा के बदले ज्वालामुखी की भीषण लपटें और घू घू करती हुईं सबे खाहा ज्वालार्ण। एक इंग्लीश विचारक कहता है कि :—

A life merely of pleasure or chiefly of pleasure is always a poor and worthless life, not worthy the living, always unsatisfactory in its course, always miserable in its end. —थियोडोर पारकर ।

भोगी या विलासी जीवन पामर जीवन है। जिसका कोई मूल्य नहीं है। ऐसा जीवन अयोग्य है। विलासी मनुष्य को सदैव ही अगन्तोष रहना है। जो अन्त में दुःख में परिणत हो जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में वासना पर विजय की प्रेरणा की गई है।

छिण्णसोते भिसं सव्वे, कामे कुणह सव्वसो ।

कामा रोगा मणुस्सार्ण, कामा दुग्गतिवहुणा ॥ १ ॥

अर्थ :—साधक वासना के सभी स्रोतों को रोक दे। क्योंकि मानव के लिए काम रोग के सदृश है और काम दुर्गति के वर्द्धक है।

गुजराती भाषान्तर :—

साधक वासनाना जधा भागोने अटकावी पंध करी दे. कारण्युके मानव माटे काम-विषयवासना रोगसमान छे, अने ते दुर्गति तरङ्ग पसेडनार छे.

साधक काम विजेता बने। काम ने जिस व्यक्ति के ऊपर विजय पाई वह सबसे बड़ा अभाग्य है। इंग्लिश विचारक बोलता है कि 'The Worst of slaves in he whom passion rules.' —शुक ।

साधक साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए सर्व प्रथम वासना की रस्सी को तोड़ दे। क्योंकि वासना ही मानव को पतन के मार्ग में ढकेलती है। वासना विदूषित चित्त आत्म-शान्ति का बहुत बड़ा बाधक है।

टीका :—छिण्णसोतसो निहदाश्रवान् भृशं कुस्त सवान् कामान् सर्वशः कामा मनुष्याणां रोगा भवन्ति । कामो दुर्गतिवर्धनः । गतार्थः ।

णासेवेज्जा मुणी गेहिं, एकंतमणुपस्सतो ।

कामे कामेमाणा, अकामा जंति दोग्गहं ॥ २ ॥

अर्थ :—निर्जन वन का वासी मुनि गृहस्थी का आसेवन न करे। काम की कामना करने वाला आत्मा काम का सेवन न करने पर भी दुर्गति का अधिक बनता है।

गुजराती भाषान्तर :—

निर्जन जंगलभां रहैता मुनि गृहस्थीनुं आसेवन (उपभोग) न करे. कामनी कामना करवावाणो आत्मा कामनुं सेवन न छतां पक्ष दुर्गतिनो अधिक अने छे.

साधक जीवन निर्जन वन में महकने वाला पुष्प है। गृहस्थ के संकुचित दायरे में उसकी मुक्त आत्मा बंधती है। तो उसके विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। घर का वातावरण उसके मन को वासना की ओर मोड़ेगा। एक बात और भी है कि जिसके मन में वासना की रंगीन तस्वीरें घूम रही हैं पर सामाजिक बन्धन या और दूसरे बन्धन उसको ऐसा करने से रोक रहे हैं। किन्तु यह मानसिक वासना उसको दुर्गति में ढकेलती है। कोरा कायिक संयम संयम नहीं है। वह तो कैसी-जीवन है। ऐसे साधक के लिए 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' वाली उक्ति फलितार्थ होती है।

"गेही" से यहाँ गृहस्थ के भोग ही अपेक्षित है। आचारारंग सूत्र में भगवान् महावीर की तपस्साधना में "सागारियं" शब्द आया है—

"सयगेहिं वित्तिमिस्सेहिं इत्थियो तथ से परिणाय सागारियं न सेवइय से सय पयेत्तियाहाइ । —भा० सु. १ अ. ९ गाथा ६ ।

भगवान् वैषयिक अभिलाषा की सेवन नहीं करते हैं। यहाँ गेही शब्द भी उसी अर्थ में आया है।

टीका :—ना सवेत मुनिगृहिमेकान्तमनुपइयने । अकामाः पुनः कामान् कामयमाना दुर्गतिं यान्ति । गतार्थः ।

साधक कामनाओं से विरक्त हो निष्काम बने। गीता कहती है—

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

—कर्मयोगी श्रीकृष्ण (गीता)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़ कर निःस्पृह हो जाता है और ममता तथा अहंकार को छोड़ देता है वही शान्ति पाता है। कृष्ण के अजस्र स्रोत महात्मा बुद्ध कहते हैं कि "जैसे कभी छत में जल भरता है वैसे ही अज्ञानी के मन में कामनाएँ जमा होती हैं।

जे लुभन्ति कामेषु, त्रिविहं हवति तुच्छं से ।

अज्ज्ञोचवण्णा कामेषु, बह्वे जीवा किलिस्सन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ :—जो कामों में लुब्ध होता है वह तीन प्रकार से अशुद्ध बन, वाणी और कर्म द्वारा सत्त्वहीन होने लगता है। काम में आसक्त हुए बहुत से प्राणी दुःख प्राप्त करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

जे विषय-वासनामां लुब्ध होय छे ते त्रये प्रकारची अर्थात् मन, वचन અને કર્મ દ્વારા સત્ત્વહીન બને છે. કામમાં આસક્ત બનેલા ઘણા પ્રાણીઓ દુઃખ અને આપત્તિઓ ભોગે છે.

जो साधक वासना के चक्र में गिर जाता है वह अपना तेज खो बैठता है। मन, वाणी और शरीर तीनों से वह निःसत्त्व बन जाता है। इक्षुदंड में से जय रस निकल जाता है तो वह निःसत्त्व कहलाता है। ऐसे ही जब जीवन में से ब्रह्मवर्च का तेज समाप्त हो जाता है तब मानव के जीवन का भी रस समाप्त हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति को वासना के अधीन कर देता है वह मानो निकृष्ट प्रबन्धक के हाथ में अपनी शासन व्यवस्था सौंप देता है। एक विचारक बोलता है कि: *Passion though a bud regulator, is a powerful spring.* काम यद्यपि निकृष्ट शासक है तथापि वह शक्तिवाली स्रोत है।—एमर्सन।

स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं कि कामना सागर की भांति अतृप्त है। हम ज्यों ज्यों उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते जाते हैं त्यों त्यों उसका कोलाहल बढ़ता है।

टीका :—ये कामेषु लुभन्ति तेषां त्रिविधं जगत् तुच्छमिव भवति कामेष्वध्युपपन्ना बह्वे जीवाः क्लिश्यन्ति ।

काम में आसक्त आत्मा सम्पूर्ण जगत् को तुच्छ मानता है। वह अपनी प्रिय वस्तु को पाने के लिए साम्राज्य तक को छोड़ देता है। किन्तु परिणाम में वासना का गर्त उसे अधिक से अधिक नीचे ही ले जाता है।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोचमा ।

बहुसाधारणा कामा, कामा संसारवहणा ॥ ४ ॥

अर्थ :—काम शून्य रूप है और काम ही विषय रूप है। काम आशीविष सर्प के सदृश भयंकर है। काम बहुत साधारण है और काम संसार के वर्धक है।

गुजराती भाषान्तर :—

કામ શૂન્યરૂપ છે અને કામ જ વિષયરૂપ છે અને અને કામ કાળા નાગની જેમ ભયંકર છે. કામ ખડુ જ સાધારણ છે અને કામ સંસારનું વર્ધનકર્તા છે.

काम का बाहरी रूप तो मोहक है, किन्तु उसके अन्तर में घोर हल्लाहल विष है। वे मोहक और छुरूप दिखलाई पड़ने वाले काम एक दिन हतने विद्रूप हो कर सामने आते हैं कि क्रूरता भी शर्म जाती है।

प्रस्तुत गाथा का पूर्वार्ध और दूसरी गाथा का उत्तरार्ध दोनों ही उत्तराध्ययनसूत्र के नवम अध्ययन की ५३ वीं गाथा में आश्वर्थ जनक रूप से साथ मिलते हैं जब कि रात्रिर्षि नमि देवेन्द्र को उगार दे रहे हैं।

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोचमा ।

कामे य पश्येमाणा अकामा जंति दोग्गई ॥ —उत्तरा. अ. ९ गा. ५३

पत्थन्ति भावओ कामे, जे जीवा मोहमोहिया ।

दुग्गमे भयसंसारे, ते धुवं दुक्खभागिणो ॥ ५ ॥

अर्थ :—जो मोहमोहित आत्मा भाव से काम की प्रार्थना करते हैं, वे इस दुर्गम भयःबह संसार में अवश्य ही दुःख के भागी बनते हैं।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

જે મોહથી મોહિત અનેલા આત્મા ભાવથી કામની પ્રાર્થના કરે છે. તે આ દુર્ગમ લયાવહ સંસારમાં અવશ્ય જ દુઃખના ભોગ બને છે.

જો વ્યક્તિ બાહ્ય મે નિકામ છે કિન્તુ જિસકે મન મેં વાસના કા તાબડબ તૂલ હો રહ્યા હૈ । સંસાર કી સમસે વહી દુઃખી આત્માઈ વે હી હૈ ।

કામસહમણુદિત્તા, જંતવો કામસુચિછયા ।

જરા-મરણ-કંતારે, પરિયતંત્યવક્રમં ॥ ૬ ॥

અર્થ :—કામ મેં આસક્ત આત્માઈ જવ તક કામ કે શલ્ય કો ચિત્ત સે ઝસાઢ નહીં ફેકતી હૈ તવ વે જરા ઔર મૃત્યુ કે વન મેં વક્રતા કે સાથ પરિભ્રમણ કરતી રહતી હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

કામમાં આસક્ત આત્માઓ જ્યાં સુધી કામના શલ્યને ચિત્તથી ઉખેડીને ફેકતાં નથી, ત્યાં સુધી જરા અને મૃત્યુના વનમાં વક્રતાની સાથે પરિભ્રમણ કરતા રહે છે.

જવ તક વાસના કી રસ્તી તોડી નહીં હૈ તવ તક ભવ પરમ્પરા મી સમાપ્ત નહીં હો સકતી । આસક્તિ સંસાર કી વહ લતા હૈ જિસ પર જરા ઔર મરણ કે વિષફલ લગા કરતે હૈ ।

સદેવમાણુસા કામા, મય પત્તા સહસ્સસો ।

ન યાહં કામભોગેસુ, તિત્તપુઢવો કયાઈ વિ ॥ ૭ ॥

અર્થ :—દેવ ઔર માનવ કે વે ભોગ મૈને હજાર હજાર વાર પ્રાપ્ત કિયે હૈ । અતઃ જન પહેલે છોડે હુયે કામ ભોગો સે મૈં ફિર સે આસક્ત ન હોઈગા ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

મેં દેવ અને માનવના આ ભોગો હજાર હજાર વખત ભોગ્યા છે. માટે આના પહલો જે કામ ભોગો મેં છોડી દીધા છે તેમાં હું ફરીથી આસક્ત નહીં બનું.

વાસના કી આંધી સાધક કે જ્ઞાન દીપ કો જુદાને લગે તવ વહ સોચે આત્મા શાશ્વત હૈ ઔર મૈને અનન્ત કાલ કી ઇસ સુવીર્ધ યાત્રા મેં અનેક વાર માનવ કે ઔર દેવ કે સ્તેશન કિયે હૈ । વહાં હજારો વાર જન (ભોગો) કો ચાહા, દેખા ઔર લિયા મી । કિન્તુ કયા ઇસસે શાશ્વત શાન્તિ પા સકા હું ? । ક્ષણિક સુખો વાદ અનન્ત અનન્ત દુઃખો કી પરમ્પરા જનકે દ્વારા મુક્તે પ્રાપ્ત હુયે હૈ । અતઃ જન લ્યક્તપૂર્વ ભોગો કો ફિર સે પ્રાપ્ત કરના મેરે તેજોમય આત્મા કા અપમાન હૈ ।

તિત્તિ કામેસુ ણાસજ્ઞ, પત્તપુઢવં અણંતસો ।

દુઃખલં વહુવિદ્ધાકારં, કક્કસં પરમાસુખં ॥ ૮ ॥

અર્થ :—વે ભોગ અનન્ત વાર પ્રાપ્ત હુયે હૈ । કિન્તુ વહ આત્મા તૃપ્તિ પ્રાપ્ત નહીં કર સકી । અપિ તુ જનકે દ્વારા વહુ-વિધ કર્કશ ઔર પરમ અશુભ દુઃખ પ્રાપ્ત કિયે હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

આ ભોગ અનંત વાર પ્રાપ્ત થયા છે. પરંતુ આત્માને તૃપ્તિ થઈ નથી. પરંતુ તે દ્વારા બહુવિધ ભયંકર અને પરમ અશુભ દુઃખ પ્રાપ્ત કર્યા છે.

શાશ્વત આત્મા ને એક હી નહીં, અનેક વાર સ્વર્ગ કે સિંહાસન પ્રાપ્ત કિયે હૈ । કિન્તુ સાગરોપમોં કે વે અસીમ ભોગ મી યદિ આત્મા કો તૃપ્ત નહીં કર સકે તો સૌ પવાસ વર્ષ કે સીમિત ભોગ કયા તૃપ્તિ દે સકેંગે ? ।

કામાણ મગ્ગણં દુઃખલં, તિત્તી કામેસુ વુલ્લભા ।

વિજ્ઞુજોગો પરં દુઃખલં, તણહુલ્લય પરં સુહં ॥ ૯ ॥

અર્થ :—કામોં કા અન્વેષણ દુઃખ રૂપ હૈ । કામ મેં તો તૃપ્તિ દુર્લભ હી હૈ । ઔર જનકે વિયોગ કે ક્ષણોં મેં ઝસસે મી અધિક દુઃખ હૈ । અતઃ સત્તા સુખ તો તૃષ્ણા કે ક્ષય મેં હી હૈ ।

गुजराती भाषान्तर :—

सांसारिक विषयोना उपभोगनो शोध न दुःखप्रद छे, अने काममां तो तृप्ति दुर्लभ छे. अने तेना वियोग-मां तेनाथी पक्षु अधिक दुःख छे. भाटे सायं सुख तो विषयभोगनी छ्यछाना क्षयमां न छे.

भोगों की प्राप्ति स्वयं कष्टप्रद है । जब कि उनके वियोग के क्षण उनसे भी अधिक दुःख प्रदान करते हैं । जिनके सम्मिलन में दुःख है उनका वियोग भी दुःखभरा हुआ है फिर उसमें तृप्ति तो असंभव है । तृष्णा का क्षय ही सुख का मार्ग है । मिलाइए भगवान् महावीर की वाणी से “बुद्धं ह्यं जस्स न होइ मोहो” ।—उत्तरा० अध्यायन ३२ ।

कामभोगाभिभूतत्वा, विच्छिन्ना वि णराहिवा ।

कीर्तिं किञ्चित् इमं भोक्षा, दोग्धातिं विवसा गया ॥ १० ॥

अर्थ :—काम भोग से अभिभूत सम्राट् सम्पूर्ण पृथ्वी को भोग कर विवश हो एक दिन उनसे विच्छिन्न होकर दुर्गति के पथिक बने ।

गुजराती भाषान्तर :—

वासनाना भोगथी अलिभूत अनेवा सम्राट् संपूर्ण पृथ्वीनो भोग करीने विवश थछ ओछ दिवस तेनाथी विच्छिन्न भइने दुर्गतिना पथे चलथा.

बड़े बड़े सम्राट जो कि एक दिन कहते थे कि मेरा एक बार हजारों वीरों को पृथ्वी पर सुला सकता है और उन्होंने तलवार के बल पर साम्राज्य कायम किया, दुनियां ने उनका दय दबा माना । किन्तु तलवार के बल पर स्थिर किवा गया साम्राज्य तलवार के द्वारा ही विहीन हो गया । इतिहास ने देखा, मुरश्या और बोला कि तुम तलवार के धनी हो पर ऐसे हजारों तलवार के धनी आए और गए उनकी रेखा भी कायम नहीं रही । वही राह तुम्हारे लिए भी है और इतिहास अपने नवनिर्माण के स्वागत में जुट गया । जो केवल अपने लिए ही जिमें हैं, अपना ऐशआराम ही जिनका लक्ष्य रहा है. दुनियां बहुत जल्दी उनको भूल गई । परन्तु दूसरों के लिए जीने वाले लोग के पथिकां को आज तक नहीं भूल पाहे है ।

काममोहितचित्तेणं, विहाराहारकंक्षिणा ।

दुग्गमे भयसंसारे, परीतं केसभाणिणा ॥ ११ ॥

अर्थ :—कामाभिनिविष्ट आत्मा मोह की मदिरा में आहार विहार का आकांक्षी बनता है । और इस दुर्गम भय-प्रद संसार में चारों ओर से क्लेश का भागी बनता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

विषयोना उपभोगमां आसक्त अनेवा आत्मा मोहना नशांमां न भरत रहेवा छ्यछे अने तेवो न आहार विहार तेने गमे छे, तेथी न आ दुर्गम लयप्रद संसारमां चारो तरइथी क्लेशना आगीदारीथी घेरायेवो नश्याय छे.

सन्त का भोजन शरीर निर्वाह के लिए होता है । जब कि वासना प्रिय व्यक्ति का आहार विहार वासना की अभिवृद्धि के लिए होता है । कामासक्त आत्मा तुन्दर मनोह वस्तुओं का उपभोग चाहता है । किन्तु उसके ये मनोरम आहार और विहार ही उसके लिए अशान्ति के निमित्त बनते हैं । क्योंकि यदि मन की प्रिय लगने वाला भोजन सीमा से अधिक खा लिया गया तो वही रोग का निमज्जन हो जाएगा ।

अपक्कत्तावरहोऽयं, जीवाणं भवसागरो ।

सेओ जरग्गवाणं वा अवसाणमि दुत्तरो ॥ १२ ॥

अर्थ :—प्राणियों का अल्प अपराध न. भव सागर की वृद्धि करता है । वह पाप वृद्ध बैल की भांति अन्त में दुरुत्तर होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

प्राणीओनो नश्यो अपराध पाणु अवसागरनी वृद्धि करे छे. ते पाप वृद्ध अणदनी जेम अन्तमां दुश्केली-अर्बु अने छे.

मानव जब वासना की लहरों में बहता है तब वह न बरने वाला काम भी कर डालता है । उसका परिणाम गलत आता है । अर्हतर्षि वही बतला रहे हैं । जैसे वृद्ध बैल के लिए जीवन की संख्या में यात्रा करना दुष्कर है । छोटी यात्रा भी

उसके लिए हिमालय की चढ़ाई होती है। अथवा बृद्ध वृद्ध जिस प्रकार से प्रारम्भ में ठीक चलता है, किन्तु अन्त में उसकी बूढ़ी टांगें जवाब देती हैं। उसके द्वारा यात्रा सुरक्षित नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अशुभ परिणति प्रारम्भ में तो ठीक गति करती है और मानव उसके पीछे दौड़ता है। किन्तु अन्त में वह परिणति उसके लिए विधातक बन जाती है।

अप्यक्रताऽचराहेहिं, जीवा पावेति वेदणं ।

अप्यकतेहि सल्लेहिं, सल्लकारी च वेदणं ॥ २३ ॥

अर्थ :—आत्मकृत अपराधों के ही द्वारा आत्मा वेदना को प्राप्त करता है। आत्मकृत शक्तियों के द्वारा ही शल्यकारी वेदना को पाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

पोते (आत्मा) के द्वारा अपराधीनी द्वारा जो आत्मा वेदना (दुःख) की प्राप्ति करे। आत्मकृत शक्तियों द्वारा शल्यकारी वेदनाने पावे।

हम अपनी ही गलतियों के द्वारा दुःख पाते हैं। इस मोटे सिद्धान्त को मानव आज तक समझ नहीं सका है। यदि इतनी सी समझ उसको आ जाती तो दुनिया की आधी भयान्ति समाप्त हो जाती। पर इस ज्ञान चेतना के अभाव में हम अपने दुःखों की जड़ दूसरे में खोजते हैं और उस व्यक्ति को ही दुःख का प्रमुख हेतु मान कर हम उसको नष्ट कर देना चाहते हैं। यह अज्ञान ही संघर्षों का मूल है। मानव! अपने सुख दुःख का विधाता तू स्वयं ही है। सुख के लिए तू क्यों दूसरों से भीख मांगता है और दुःख के लिए क्यों दूसरों पर रोष ठेलता है? भगवान महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व पावा पुरी के अन्तिम प्रवचन में एक दिन इसी महान सत्य को जनता के सामने रखा था—

अप्या कप्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य ।

अप्या मित्तममित्तं य दुप्पट्ठियो सुपट्ठियो ॥

— उत्तरा० अभयन ।

मेरे सुख दुःख का उत्तरदायित्व मैं स्वयं लेकर चलता हूँ। दुनिया की कोई भी बाहरी ताकत न मुझे सुख दे सकती है और न उसमें इतना साहस ही है कि मेरे एक अणु को भी दुःखी कर सके। निश्चयनय की यह भाषा मानव को आत्म-विश्वास की अपूर्व ज्योति दे जाती है।

जीवो अप्पोवघाताय, पडते मोहमोहितो ।

बद्धमोग्गरमालो वा, पण्णतो बहुचारियो ॥ २४ ॥

अर्थ :—मोह मोहित आत्मा अपने ही उपधात के लिए पतन करता है। बन्ध रूप सुदृढ़ को ग्रहण करके बहुधा विषय के रंगमंच पर नृत्य करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

मोहशी मोहित अनेकों आत्मा पोताना जो उपधातने मटि पतन करे। बन्धरूप सुदृढ़ने अलक्ष्य करीने बलुवियार विश्वना रंगमंच पर नाचे।

मोह स्वयं ही एक बंधन है। मोह के तार सूक्ष्म हैं किन्तु उनकी पकड़ गहरी होती है। अमर कठोरतम सीसम को तोड़ सकता है, किन्तु कोमल कमल में वह बंध जाता है। कठोर सीसम को तोड़ देने वाला कोमल कमल को नहीं तोड़ सका इस प्रश्न का उत्तर होगा कि मोह के धातों ने उसकी शक्ति को कठोरता से आवद्ध कर रखा है। मोह के तारों से बंधा व्यक्ति अपनी शक्ति को कुंठित कर देता है। कभी वह स्वयं अपने आप को पतन के नष्टों में डाल देता है। मोह बन्धनों से बद्ध प्राणी सुदृढ़ हाथ में लेकर विषय रंग-मंच पर अनन्त काल से नृत्य करता चला आ रहा है। गुण बीत गए पर नृत्य नहीं समाप्त हुआ। भारत का एक भक्त कवि कह रहा है कि :

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल ।

काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय को माल ।

महाकवि सूरदासजी जिन्होंने आँख वालों को दृष्टि दी है, वे कहते हैं कि, हे प्रभो! काम क्रोध का चोला पहन कर दुनिया के रंग-मंच पर मैं बहुत नाच चुका हूँ, परन्तु अब विश्राम चाहता हूँ।

असम्भावं पवर्त्तन्ति, दीणं भासन्ति वीकवं ।

कामग्रहाभिभूतत्वा, जीवितं पश्यन्ति य ॥ १५ ॥

अर्थ :—जो असङ्गाव की प्रवर्तना करते हैं और दीन भाषा बोलते हैं ऐसे कामग्रहों से अभिभूत आत्मा जीवन को नष्ट कर देते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

જો અસહજાવની પ્રવર્તના કરે છે, અને દીન ભાષા બોલે છે, એવા કામગ્રહોથી હારેલો આત્મા જીવનને નષ્ટ કરી દે છે.

कामाभिनिविष्ट आत्मा पतन की इस सीमा तक पहुँच जाती है कि वासना के प्रति बाधक बनने वाले के प्रति उसके मन में दुर्भावनाएं रहती हैं । और उसका वाणी तेज समाप्त हो जाता है । हर समय दीन वाणी का प्रयोग करता रहता है । किसी के सामने निर्भीक हो कर बोलने का शौर्य बह खो बैठता है । एक दिन वह सिंह की भाँति दहाड़ता है किन्तु जब वह किसी वासना के कुचक्र में पकड़ जाता है तो सारे गर्जन और तर्जन भूल जाता है । उसकी वाणी इतनी नम्र हो जाती है कि एक सन्त के जीभ से भी इतनी नम्रता नहीं टपकेगी ।

हिंसाद्वयं पवर्त्तन्ति, कामसौ केति माणवा ।

विस्मं णाणं स विष्णाणं, केह्णेति हि संखयं ॥ १६ ॥

अर्थ :—कामप्रेरित आत्मा हिंसा और चोरी का भी आश्रय लेता है । ऐसे व्यक्ति संपत्ति, ज्ञान और विज्ञान सब कुछ खो बैठते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

કામથી પ્રેરિત આત્મા હિંસા અને ચોરી પણ કરે છે. આવી વ્યક્તિઓ સંપત્તિ જ્ઞાન અને વિજ્ઞાન અધું ખોઈ બેસે છે.

वासनाप्रेरित मन अपने पथ के बाधक को दूर करने के लिए हिंसा को अपनाता है । बहुत-सी ऐसी घटनाएँ हुई हैं कि कामी के प्रस्ताव को ठुकरा देने पर प्रतिहिंसा की ज्वाला उसके हृदय में भभक उठी और उसने अपने प्रेमी को समाप्त भी कर दिया । कामी आत्मा चोरी से भी पीछे नहीं रह सकती है । क्योंकि वासना के क्षेत्र में अधिकार अनधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता है । अनधिकार प्रवेश एक प्रकार की चोरी ही है । ऐसा व्यक्ति अपनी सम्पत्ति, ज्ञान और विज्ञान सब कुछ खो बैठता है, इसके लिए राक्षस को छोड़ कर दूसरे किसी के उदाहरण की आवश्यकता ही नहीं होगी । वासना की आंधी ने उसके विज्ञान के दीप को लुझा तो रोने की लंका उसकी आँखों के सामने ही राक्ष की ढेरी हो गई ।

सदेवोरगगंधं च, सतिरिक्खं समाणुसं ।

कामपंजरसंयुक्तं, किस्सते विधेहं जने ॥ १७ ॥

अर्थ :—देव, उरग-सर्प, गंधर्व, पशु-संसार और मानवसृष्टि सभी काम के पंजर में बंध कर दुनिया में विविध कष्टों का अनुभव करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

દેવ, ઉરગ-સર્પ, ગંધર્વ, પશુ-સંસાર, અને માનવસૃષ્ટિ અથવા વાસનાના પિંજરામાં બંધાઈને દુનિયામાં વિવિધ કષ્ટોને અનુભવે છે.

वासना की शृंखला में देव, दानव और मानव सभी दृढता से बद्ध हैं, पशु संसार भी उससे मुक्त नहीं है । चारों ओर के कष्टों को सहन कर भी मानव वासना का परित्याग करने के लिए तैयार नहीं होता है ।

कामग्रहविणिमुक्ता, धण्णा धीरा जित्तिदिया ।

वितरन्ति मेहणि रम्मं, सुद्धप्पा सुद्धवादिणो ॥ १८ ॥

अर्थ :—कामग्रह से विनिर्मुक्त धीर जितेन्द्रिय आत्माएँ धन्य हैं ऐसी शुद्ध बादी शुद्ध आत्माएँ इस रम्य लगने वाली मेदिनी-पृथ्वी को पार कर जाते हैं ।

ગુજરાતી भाषान्तर :-

કામચઢથી છુટા પડેલા ધીર, જીતેદ્રિય આત્માઓ ધન્ય છે. એવા શુદ્ધવાદી શુદ્ધ આત્માઓ આ સુંદર દેખાવવાળી મેદિની-પૃથ્વીને પાર કરે છે.

વાસના કી લહરેં જિસ આત્મા કો છૂ નહીં સક્તીં । यथार्थतः वे आत्माएँ धन्य हैं । वे ही शुद्धात्माएँ इस चमक-भरी पृथ्वी को पार कर सकती हैं । सौन्दर्यभरी दुनिया मानव मन का सबसे बड़ा नागपाश है । जिसमें वासनालिप्त आत्मा के लिए बहुत बड़ा बन्धन है । जो रेशमी तारों से बना है पर लोह गुंथलाओं से भी अधिक दुर्भेद्य है । जिसने वासना की रस्ती को तोड़ कर फेंका है उसके लिए दूसरे बंधन को तोड़ना कष्ट भ्रामे को तोड़ने के समान है । मिलाइए भगवान महावीर के अन्तिम प्रवचन—

एषु य संगे समइच्छमिता, सदुत्तरा खेव भवति सेसा ।

जहा महासागरमुत्तरिता, नई भवे अवि गंगासमाणा ।

—उत्तरा० અધ્યયન ૩૨ ગાથા ૧૮ ।

જિસને કામ રાગ પર વિજય પા લિયા છે, અને તેના કારણે તેના દુઃખો પર વિજય પાના એવા હોય છે એવા કિ મહા-સાગર તૈર કર અને વાલે કે લિયે ગંગા કો પાર કર વેના ।

जे गिद्धे कामभोगेषु, पावाइ कुरुसे नरे ।

से संसरति संसारं, चाउरंतं महम्भयं ॥ ૧૯ ॥

અર્થ —જો માનવ ભોગો મેં ગિદ્ધ હો કર પાપ કરતે હોં, વે મહાભયશીલ ચતુરંગ સંસાર મેં મટકતે હોં, ઔર પરિશ્રમણ કરતે હોં ।

ગુજરાતી भाषान्तर :-

જે માનવ ભોગોમાં આસક્ત થઈને પાપ કરે છે તે મહાભય શીલ ચતુરંગ સંસારમાં ભટકે છે અને પરિ-શ્રમણ કરે છે.

વાસના—સક્ત માનવ કે લિયે સંસાર કા પથ વિશાલ છે । વાસના કે કીચડ મેં હી પાપ કે પૌધે લગતે હોં ।

जहा निस्साविणी, नायं, जाति-अंधो दुरुहिया ।

इच्छते पारमार्गंतुं, अंतरे श्रिय सीदति ॥ ૨૦ ॥

અર્થ :—જેઠે નિસ્સાવિણી અર્થાત્-છિદ્ર રહિત નૌકા પર જન્માન્વ બેઠતા હો, યદિ વહ પાર પહુંચના પાહતા હો, કિન્તુ વીચ મેં હી વહ કષ્ટ પાતા હો ।

ગુજરાતી भाषान्तर :-

જેવી રીતે નિસ્સાવિણી અર્થાત્-છિદ્રરહિત નૌકા (ભલે હોય) પણ જન્મથી જ આંધળો માણસ તેનો ખલાસી (અર્થુધાર) હોય અને તે પાર પહોંચવા માગતો હોય તો પોતાના આંધત્વને લિધે તે વચમાં જ આસ્તનો ભોગ થઈ પડે છે.

નૌકા યદિ ઠીક મી હો, કિન્તુ, ડસકા યાત્રી (કર્ણધાર) હી અન્ધા હો, તો ડસકી યાત્રા ધિલ્લનાપૂર્ણ હી હોગી । માનવ શરીર સુંદર હો, કિન્તુ યદિ ડસકો સ્વામી કે પાસ વિવેક કા પ્રકાશ નહીં હો, તો વહ અપને લક્ષ્ય પર નહીં પહુંચ સક્તા હો । સાધન સુંદર હો, કિન્તુ યદિ ડસકા ડપયોગ કર્તા કુસાલ નહીં હો, તો સાધન કી સુંદરતા વ્યર્થ હો । સાધન કી સુરક્ષા સાધન કી વિવેકશીલતા પર નિર્ભર કરતી હો ।

अहण अरहता इसिणा बुद्धं

काले काले य मेहावी, पंडित य खण्डे खण्डे ।

कालातो कंचणस्सेव, उद्धरे मालमणो ॥ ૨૧ ॥

અર્થ :—મેઘાવી પંડિત પ્રતિ-સમય ઔર પ્રતિશ્ઞ-લ્લખ કી માતિ અપના મેલ દૂર કરે । આર્દ્રક અર્હતર્થિ ડસ પ્રકાર બોલે ।

ગુજરાતી भाषान्तर :-

શુદ્ધિમાન પંડિત હરથડી અને પ્રતિશ્ઞા સોનાની જેમ (પોતાની કાંતિથી) મેલ દૂર કરે. આર્દ્રક અર્હતર્થિ આ પ્રમાણે બોલ્યા.

केशर का व्यापारी प्रतिक्षण सावधान रहता है। केशर में धूल पड़ती है तो उसका मूल्य कम हो जाता है। मेधावी प्रतिक्षण जीवन के मैल का दूर करने के लिए सचेष्ट रहता है। स्वर्ण का मैल उसकी कृति को दूर करता है और स्वर्णकार स्वर्ण की मैल को दूर करता है, इसी लगन के साथ साधक आत्म मल को दूर करे।

अंजनस्स खयं दिस्स, वल्लीयस्स य संचयं ।

मधुस्स य समाहारं, उज्जमो संजमे वरो ॥ २२ ॥

अर्थ :—अंजन का क्षय बल्लीक का संचय और मधु का समाहार-संग्रह देख कर निश्चित होता है कि संयम में ही पुरुषार्थ करना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

आजगीनो नाश, सङ्कानु निर्माण, मधनो संग्रह आ वस्तुओनो उओ विचार करीओ तो निश्चित थाय छे के संयमभाटे न प्रयत्न करवो जेधओ.

दीपक जल जल करके अपनी आहुति दे कर काजल को तैयार करता है। किन्तु वह काजल आंखों में जावे ही समाप्त हो जाता है। बल्लीक कीड़ा विशेष अत्यन्त मेहनत के साथ अपना घर बनाता है किन्तु उस श्रमसाधना द्वारा बनाया गया घर भी पक्षु या मानव के एक ही पाद-प्रहार से समाप्त हो जाता है। मधुमक्षिकाएं इधर उधर से मधु बिन्दु लेकर मधु-छत्र का निर्माण करती हैं। किन्तु कूर मधुग्राही धुवां छोड़ता है और सभी मधु मक्खियां अपनी जान बचा कर उड़ जाती हैं। इधर महीनों की श्रमसाधना से एवजित मधु को मानव एक घंटे में ही लेकर चला जाता है।

दूसरे के पुरुषार्थ से निर्मित वस्तु का अपहर्ता चोर है। ऐसा करना शोषण में समाविष्ट होता है, क्योंकि वह दूसरे के धर्म का अनुचित लाभ उठाता है। इसी प्रकार से एक किसान वर्ष भर से धूप और वर्षा में खेती करता है, जेठ की धूप में भूमि को साफ करता है, सर्पा की झड़ियों में खेत की कीचड़ भरी भूमि में बीज बोता है, वर्ष भर तक श्रमसाधना करता है और उसका लेनदार साहूकार एक ही दिन में धान्य राशि को लेकर चल देता है। किसान के नन्हे नन्हे बच्चे आंसू भरी आंखों से देखते ही रह जाते हैं ! यह क्या चोरी नहीं है ? ऐसा करने वाला शोषक है।

दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो सब का पुरुषार्थ निकम्मा गया। क्योंकि उसका परिणाम मलत आया। क्योंकि वह पुरुषार्थ भौतिक के लिए किया गया था। जप्यात्म-साधना के लिए किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं जाता है, क्योंकि आध्वारिभक सङ्गर्षों को अपहरण करने की ताकत किसी में नहीं है। अतः अर्हत ऋषि कहते हैं कि इन सभी परिणामों को देख कर साधक को चाहिए कि वह संयम में पुरुषार्थ करे।

टीका :—अंजनस्य कज्जलस्य क्षयं बल्लीकस्य च संचयं मधुनश्चाहारं चिरकालीनमदृष्ट्वा पुरुषस्य संयमोद्यमो वरः श्रेयान् भवेत्, ननु कामः । गतार्थः ।

उच्चादीर्यं यं विकल्पं तु, भावणाप विभावण ।

ण हेमं दंतकट्टं तु, चक्रवर्ती वि खादण ॥ २३ ॥

अर्थ :—उच्च आदि के विकल्प केवल भावना पर आधारित है। चक्रवर्ती भी स्वर्ण दन्तकाष्ठ नहीं खाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

उच्च नीच विगेरे सेहभाव डेवण भावना परण आधारित छे, केम के चक्रवर्ति पणु सोनाना दांतशुशी मोडुं साङ्क करता नथी.

उच्चता और नीचता सम्पत्ति और विपत्ति की भूमि मानव का मन ही है। चक्रवर्ती भी अनाज की ही रोटियां खाता है। आज तक इतिहास में कोई भी राजा या चक्रवर्ती मोती या स्वर्ण की रोटी या मांस नहीं खाए हैं। किन्तु यह तो मानव मन की तृष्णा ही है कि जिसके द्वारा रात दिन सम्पत्ति के अर्जन में लगा रहता है और सम्पत्ति वालों को प्रथमश्रेणी का मानव समझता है।

१ दंतकट्ट-दांतौन का एक अर्थ कट या मूष ओषामन या घी में भून कर चौबल की कांजी भी किया गया है।
उपासक दशा अ० १ उपभोग परिमाण विधि।

टीका :—उष्णावचं गोपमधिकृत्य विकल्पं भावनायानुपेक्षादिना विभावयेत् न हैमकाष्ठं खादेत् खादितुं कामयेत् चक्रवर्त्येपि । गतार्थः ।

खण-थोव-मुहुत्तमंतरं, सुविहित पाउणमप्पकालियं ।

तस्सवि विपुले फलागमे, किं पुण जे सिद्धिं परकमे ॥ २४ ॥

अर्थ :—क्षणस्तोक और मुहुर्त मात्र अल्प समय भावी शुभ क्रिया विपुल फल दे जाती है । फिर जो सिद्धि स्थिति के लिए पुरुषार्थ करते हैं उनकी साधना का तो कहना ही क्या ? ।

गुजराती भाषान्तर :—

छोट पण साइं कार्य ओक क्षण सुधी पण करे तो ते साइं काम वणुं न भोटुं इण जर आपे छे, अने जे सिद्धि स्थिति भेजवा भोटुं न प्रयत्न करे छे तेनुं शुं उडेवुं ?

शुभ क्रिया यदि एक क्षण के लिए भी जीवन में आती है तो वह फलवती होती है । फिर जिन साधकों का सारा जीवन सिद्ध-स्थिति पाने के लिये है वे तो तथ्यरूप से सिद्धि के निकट पहुँच ही जाते हैं ।

टीका :—हे सुविहितपुरुष ! अल्पकालकमन्तरं क्षणस्तोकमुहुर्तमात्रं प्राप्त तस्य विभावतोऽपि विपुलः फलागमे किं पुनस्तस्य यः सिद्धिं प्रति पराक्रमेत् । गतार्थः ।

एवं से सिद्धे बुद्धे ॥ गतार्थः ।

अहहज्ज नाम अष्टाविंशतितमं आर्द्रकीयं अध्ययनम् ।

वर्द्धमान अर्हतर्षि प्रोक्त-

उनतीसवां अध्ययन

साधन के क्षेत्र में इन्द्रिय-निग्रह महत्व का स्थान रखता है । क्योंकि इन्द्रियों के घोड़े आत्मा के रथ को खींचते हैं । यदि अश्व बेलगाम हुए तो रथ अवश्य पथभ्रष्ट होगा और उसका यात्री क्षतिग्रस्त होगा । अतः कुशल सारथि अश्व की लगाम अपने हाथ में रखता है और सदैव जागरूक रहता है कि अश्व कहीं विषयगामी न बने । पर आत्मा के इस रथ का सारथि मन है । मन जिस और प्रेरणा देगा इन्द्रियां उसी ओर दौड़ जाएंगी अतः अश्व के साथ उसका सारथि भी प्रशिक्षित होना चाहिये । संयमित मन ही इन्द्रियों पर शासन कर सकता है और वही कर्म स्रोत को सुखा भी सकता है ।

किसी तालाब को सुखाना है तो सर्व प्रथम उसके आगमन द्वार को रोक कर जलस्रोत सुखाना होगा । ऐसे ही यदि मन के तालाब को सुखाना है उसे वासना की जलराशि से मुक्त करना है तो पहले वासना के आगमनद्वार को रोकना होगा । जब तक जलराशि के स्रोत को रोक नहीं दिया जाय तब तक उसे सुखाने के समस्त प्रयत्न समय और धन का अपव्यय ही कहे जायेंगे । वे स्रोत क्या है और उनके निरोध के उपाय क्या है यही बताना प्रस्तुत अध्ययन का विषय है ।

सवंति सव्वतो सोता किं ण सोतोणिचारणं ? ।

पुट्ठे मुणी आहक्खे कइं सोतो पिहिज्जति ? ॥ १ ॥

अर्थ :—सभी ओर के स्रोत बह रहे हैं, क्या उस स्रोत का निरोध नहीं हो सकता ? इस प्रकार पूछे जाने पर मुनि बोले कि किस प्रकार स्रोत को रोक जा सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

आरो आणुना सोतो वडे छे, लारे ते सोतनो अटकाव करवो अशक्य छे के ? ओम पुछतां न सोतनो केवी रीते अटकाव थवो संभव छे ते मुनि जोडवा लाया ।

१ जहा महातलायस्स सज्जिहवे जलागमे ।

उस्सिखणाए तवणाए कमेण सोसणा मवे ॥

—उत्तराध्ययन अ० ३० गाथा ५

टीका:—सर्वंति सर्वतः स्रोतांसि, किं न स्रोतो निवारणम् ? कथं स्रोतः पिब्रीयत इति पृष्टो मुनिराख्यायम् ।

सभी ओर स्रोत बह रहे हैं । जब तक आत्मा संगार स्थिति में है तब तक वासना उसके साथ है और वही वासना कर्मस्रोत को चालू रखती है । वह स्रोत क्या है उसका निरोध कैसे किया जा सकता है वर्धमान अर्हत्तर्षि उस पर विस्तृत प्रकाश डाल रहे हैं ।

चन्द्रमाणेण अरहता इत्थिणा सुद्वयं

पंच जागरओ सुप्ता पंच सुत्तस्स जागरा ।

पंचहिं रयमादियति पंचहिं च रयं टए ॥ २ ॥

अर्थ:—जिसकी पांचों इन्द्रियां जाग्रत हैं वह सुप्त है और जिसकी पांचों इन्द्रियां सुप्त हैं वह आत्मा जाग्रत है । पांचों इन्द्रियों के द्वारा ही आत्मा कर्म रज को ग्रहण करता है और अप्रमत्त मुनि उनके द्वारा कर्म रज को रोकता है । ऐसा वर्धमान अर्हत्तर्षि बोले ।

गुजराती भाषान्तर:—

જે માણસની પાંચે ઇન્દ્રિયો જાગૃત છે, તે માણસ સુપ્ત (સુતેલો) છે, અને જેના પાંચ ઇન્દ્રિયો સુપ્ત (વાસનાથી રહિત એટલે સુતેલી) છે, તે આત્મા જાગૃત છે (એમ સમજવું). કારણ પાંચે ઇન્દ્રિયોની મદદથીજ આત્મા કર્મરજનો સ્વીકાર કરે છે અને હુશિયાર મુનિ પાંચ ઇન્દ્રિયોની મદદથીજ કર્મ રજને અટકાવે છે, એમ વર્ધમાન અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

पूर्व गाथा में बताया गया है कि स्रोत बह रहे हैं वे क्या है प्रस्तुत गाथा में उसे स्पष्ट किया है । पांच इन्द्रियां ही वह स्रोत है जिसके द्वारा आत्मा कर्म रज को ग्रहण करता है । जिसकी इन्द्रियां जाग्रत हैं वह सुप्त है । इन्द्रियां जिसके वश में हैं वह साधक है और जो इन्द्रियों के वश में वह वासना का गुलाम है । उसकी स्थिति उस सवार जैसी होती है जिसके हाथ में लगाम नहीं है । उसके इशारे पर घोड़ा नहीं चलता अपि तु घोड़े के इशारों पर उसे चलना पड़ता है । इन्द्रियों के संकेतों पर चलनेवाला व्यक्ति सही लक्ष्य पर पहुंच नहीं सकता । गीता भी कहती है—

‘बजे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता’ ।—गीता

अपनी इन्द्रियां जिसके वश में हैं उसी की बुद्धि स्थिर है ।

आगम में साधक के लिये निर्देश आया है उसकी इन्द्रियां प्रशस्त पथ की ओर हैं तो वह उन्हें चलने दे किन्तु जब वे अप्रशस्त पथ में जाने लगे तभी उनकी गति को रोक दे, जैसे कछुआ जब अपने आपको सुरक्षित समझता है तब तक आजादी से घूमता है किन्तु जिस क्षण उसे प्रहार की आशंका होती है उसी क्षण अपने अंगों को समेट लेता है^१ । साधक प्रशस्त पथ का उपासक है वह प्रशस्त पथ में ही गति करे ।

दक्षिण के महान संत तिरुवल्क्कुर भी अपने त्रिकुरल में लिखते हैं जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उसी तरह अपने में खींचकर रखता है जिस तरह कछुआ अपने हाथ पांव को खींचकर भीतर छिपा लेता है, उसने अपने समस्त आगामी जन्मों के लिये खजाना जमा कर रखता है ।

टीका:—जागरतोऽप्रमत्तस्य मुनिरिन्द्रियाणि पंच सुप्तानि, सुप्तस्यामुनेस्तु पंच जागरति । पंचभिः सुप्ते रज आक्षिपते, पंचभ्यो जाग्रद्भिः रजः स्थाप्यते ॥

अप्रमत्त साधक की पांचों इन्द्रियां सुप्त हैं जब कि प्रमत्त साधक की पांचों इन्द्रियां जाग्रत रहती हैं । सप्त साधक पांचों इन्द्रियों के द्वारा कर्म रज ग्रहण करता है जब कि जाग्रत साधक पांचों इन्द्रियों के द्वारा कर्म रज को रोकता है ।

सहं स्रोतमुधादाय मणुण्णं वा वि पावगं ।

मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा ण पदुसेज्जा हि पावए ॥ ३ ॥

मणुण्णम्मि अरज्जंते अदुट्ठे हयरम्मि य ।

असुत्ते अविरोधीणं एवं सोए पिहिज्जति ॥ ४ ॥

^१ जहाँ कुम्भो विवस अंगाइ स देहे समादरे ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ गीता अ० २ श्लो० २८

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

✓ कर्णेन्द्रिय का स्वभाव है शब्द को ग्रहण करना । अच्छे या बुरे मधुर या कटु जो भी शब्द आते हैं कान उसको ग्रहण करेगा ही । साधक कान को बन्द करके चल नहीं सकता और चलना चाहिए भी नहीं । उसका काम इतना ही है कि वह मधुर शब्दों पर अनुरक्त न होकर उसमें अपने कर्तव्य को भूल न जाए । मधुरता के प्रवाह में न बह जाए और कटु शब्द कान पर आवें तब भी वह अपना विवेक न खो बैठे । क्योंकि किसी भी मूल्यवान् वस्तु को खोकर भी मनुष्य इतना नहीं खोता जितना कि वह अपना विवेक खोकर खोता है । हजार रुपये खोकर आपने कुछ नहीं खोया है किन्तु जब आप अपना भिजाज खो देते हैं तब आप समझ लीजिए कि आपने सब कुछ खो दिया ।

श्रवणेन्द्रिय अपना काम करे और साधक अपना काम करे, उसके बहाव में वह अपनी समभाव की साधना न खोये।

रुधं चक्षुःसुवादाय मणुणं चायि पायगं ।

मणुष्यंमि ण रज्जेज्ज। ७। बहुसेज्जा हि पावध ॥ ७॥

मणुणंसि अरज्जंते अदुद्धे इयरम्मि य ।

असुप्तो अधिरोधीणं एव सोऽपि हिज्जति ॥ ६ ॥

अर्थ :—चक्षु के द्वारा सुन्दर या असुन्दर रूप को ग्रहण करके साधक मनोज्ञ में रक्त न हो और अमनोज्ञ पर प्रवेश न करे । मनोज्ञ में वासक न हो और अमनोज्ञ में द्वेष न करे । साथ ही अविरोधी रूप में जाग्रत रह कर साधक स्रोत को रोक सकता है ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :-

આંખોથી ખૂબસૂરત કે ઘડસૂરત જોઈને સાધકના મનનાં સુંદર માટે આસક્તિ કે ખરાબ રૂપમાટે દ્વેષ હિતપત્ત થયો ન જોઈએ. સુંદર રૂપમાં અનાસક્ત અને ખરાબ સ્વરૂપમાટે તિરસ્કાર ન છતાં પણ અવિરોધી પોતાની ભૂમિકામાં જાગૃત રહી સોતને રોટ્ટી શકે છે.

मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में साधक समस्थिति रखे । जो रूप उसके साधना पथ में अविरोधी है उसमें सदैव जाग्रत रहे । ऐर्यापथ, देव और गुरु के दर्शन, स्वाध्याय आदि में चक्षु का उपयोग आवश्यक है और वह साधना में अविरोधी है अतः उसके लिये साधक सदैव जाग्रत रहे ।

गंधं घृणमुवादाय मणुण्णं चात्रि पावगं ।

मणुणंमि ण रज्जेज्जा ण पदसेज्जा हि पावप ॥ ७ ॥

मगुण्णंसि अरज्जंते अद्दुदुठे इयरम्मि य ।

असूते अविरोधीणं एव सोऽपि पिबिज्जति ॥ ८ ॥

अर्थ :—नासिका के द्वारा सुगंध या दुर्गंध को ग्रहण करके साधक सुगन्ध में आसक्ति न रखे और दुर्गन्ध पर प्रद्वेष न करे । मनोज्ञ गंध में आसक्त न हो और अमनोज्ञ में प्रद्वेष न करे और अजिरोधी गंध पर सजग रहे । इस प्रकार साधक श्रोत को रोक सकता है ।

गुजराती भाषान्तर : —

નાકથી ખુશખો છે ખરાખ વાસ લઈ (લેવો, પછુ) સાધકે સુગંધ ઉપર આસક્તિ રાખવી નહીં છે ખરાખ વાસનો દ્વેષ પણ નહીં કરવો. સુગંધ ઉપર મોહિત ન થનવું અને દુર્ગંધ તરફ જરાપણ તિરસ્કાર કરવો નહીં અને કોઈ રીતે ખોતાના અવિરોધિ વૃત્તિ રાખી સાધક સ્ત્રોત (હૃદયો) પર નિર્બંધ રાખી શકે છે.

रसं जिह्ममुपादाय मणुणं वा वि पावगं ।
मणुणंमि ण रज्जेज्जा ण पदुज्जास्से हि पावप ॥ ९ ॥
मणुणंमि अरज्जंते अदुट्ठे इयरम्मि य ।
असुत्ते अविरोधीणं एवं सोए पिहिज्जति ॥ १० ॥

अर्थ :—जीम मधुर या कटु रस को ग्रहण करती है । किन्तु साधक मधुर रस में आसक्त न हो और कटु रस पर प्रद्वेष न करे । मनोज्ञ रस में आसक्त न हो और अमनोज्ञ रस पर द्वेष न रखे तथा अविरोधी रस पर सजग रहे । इस प्रकार वह स्रोत को रोकता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

જીમ્મ મીઠો કે કડવો સ્વાદ લે છે. પણ સાધક મનુષ્યે મીઠા રસમાં લોહુપ (આતુર) કે કડવા રસમાં તિરસ્કાર (અણુગમો) કરવો નહીં. મનગમતા મીઠા સ્વાદમાં અભિરુચિ અને બદબૂ (ખરાબ વાસ) પર તિરસ્કાર કરવો નહીં. અને એવી અવિરોધી વૃત્તિ પર જાગૃત રહે, એવી રીતે સાધક સ્રોતનો અટકાવ કરે છે.

પાસં તયમુપાદાય મણુણં વા વિ પાવગં ।
મણુણંમિ ણ રજ્જેજ્જા ણ પદુસેજ્જા હિ પાવપ ॥ ૧૧ ॥
મણુણં અરજ્જંતે અદુટ્ઠે ઇયરમ્મિય ।
અસુત્તે અવિરોધીણં એવં સોએ પિહિજ્જતિ ॥ ૧૨ ॥

અર્થ :—સ્વચ્છા કે દ્વારા કોમલ या कठोर स्पर्श का ज्ञान होता है । साधक कोमल स्पर्श पर अनुरक्त न हो और कठोर स्पर्श पर प्रद्वेष न करे । मनोज्ञ स्पर्श पर रग न करे और अमनोज्ञ स्पर्श पर द्वेष न करे और अविरोधी स्पर्श में सदैव सजग रहे । इस प्रकार वह स्रोत को रोक सकता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

ચામડીથી (પદાર્થને અડકવાથી), વસ્તુ કોમલ છે કે કઠણુ છે તેનું જ્ઞાન થાય છે. સાધકે કોમલ સ્પર્શ માટે લોહુપતા કે કઠણુ સ્પર્શ માટે નાપસંદગી દેખાડવી એ તેને માટે અયોગ્ય છે. સાધકને કોમલ સ્પર્શમાં આસક્તિ અને કઠણુ સ્પર્શમાં તિરસ્કાર ન હોવો જોઈ એ તેમજ અવિરોધી સ્પર્શમાં સાધકે હંમેશા સાવધાન રહેવું જોઈએ; જેથી તે સ્રોતોને અટકાવ કરી શકે.

टीका :—शब्दं स्रोतं, रूपं चक्षुर्गन्धं घ्राणं, रसं जिह्वा स्पर्शं त्वगुपादाय मनोज्ञं वा पापकं वा । मनोज्ञे न रज्येत् पापके न प्रद्वयेत् । मनोज्ञं अरज्यति मुनी इतरस्मिन् अमनोज्ञे न दुष्टे अविरोधिषूदासीनेषु वस्तुष्वसुखो भवेज्जागृयात् एवं स्रोतः पिपीयते । गतार्थः ।

दुहंता इन्द्रिया पंच संसाराय सरीरिणं ।
ते चेव नियमिया सम्मं गेव्वाणाय भवंति हि ॥ १३ ॥

अर्थ :—दुर्दान्त बनी हुई पाँचों इन्द्रियां आत्मा के लिये संसार की हेतु होती हैं । जब वे ही इन्द्रियां सम्यक् प्रकार से संयमित होती हैं तो निर्वाण का कारण बनती हैं ।

गुजराती भाषान्तरः—

પાંચે ઇન્દ્રિયો સંયમવગરના જ્યારે થાય છે ત્યારે તે ઇન્દ્રિયોજ સંસારના કારણુ અને છે, અને જ્યારે તે ઇન્દ્રિયો ઉપર સારી રીતે કાણુ મેળવશે ત્યારે તે જ નિર્વાણ-પ્રાપ્તિના કારણુ બની જાય છે.

विषय पथ की ओर दौड़नेवाली इन्द्रियां आत्मा के लिये भव वृद्धि का कारण बनती हैं । किन्तु जब उन पर ज्ञान का अंकुश रहे और वे सुपथ-गामिनी होती हैं तो वे ही इन्द्रियां आत्मा को निर्वाण की दिशा में भी ले जा सकती हैं ।

दुहंतेहिंदिपहप्पा दुप्पहं हीरए बल्ला ।
दुहंतेहिं तुरंगेहिं सारही वा महापहे ॥ १४ ॥
इदिपहिं सुदंतेहिं ण संचरति गोयरं ।
विधेयेहिं तुरंगेहिं सारहि व्वा व संजए ॥ १५ ॥

अर्थ :—दुर्दान्त मनुष्य दुई इन्द्रियों के द्वारा आत्मा बलपूर्वक दुष्पथ में ले जाया जाता है जैसे कि दुर्दान्त घोड़े के द्वारा सारथी महापथ में (विकट पथ) में ले जाया जाता है । मुनि की संयमित की दुई इन्द्रियां विषय की ओर वैसे ही नहीं जाती जैसे कि शिक्षित अथ सारथि को सुपथ में ले जाते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

संयमरहित इन्द्रियो पोतानी शक्तिथी आत्माने जोटा भणें लक्ष्मि ज्यो तोहानी (कायूभां न रहे तेवा) जोडानी जेम आडामें उतारी दे छे. संयमी मुनिनी संयमित इन्द्रियो डेणवायेल घोडा मुजब आडे रस्ते लक्ष्मि जवानो संभव नथी.

इन्द्रिय संयम की आवश्यकता बताते हुए ऋषि ने एक सुन्दर रूपक दिया है । जिस साधक की इन्द्रियां संयमित हैं तो वे उसे सदैव शान्ति के पक्ष में ले जाएंगी और यदि साधक इन्द्रियों का गुलाम है तो उस पर शासन करेंगी और साधक को अपने इशारों पर चलने के लिए बाध्य कर देंगी, इसके लिये अध का रूपक दिया गया है । यदि अध अशिक्षित है तो वे सारथि को गलत मार्ग पर ले जाएंगे । घोड़े की लगाम आदमी के हाथ में नहीं है तो फिर आदमी की लगाम घोड़े के हाथ में आ जाती है और फिर उसे घोड़ों के इशारों पर चलने को बाध्य होना पड़ता है । पर कुशल सारथि के शिक्षित घोड़े उसके इशारों पर चलते हैं और वह शीघ्र अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है । साधक को यदि अपने लक्ष्य पर पहुंचना है तो उसे इन्द्रियों के अधों को शिक्षित और संयमित बनाने का अभ्यास करना होगा ।

पुढ्वं मणं जिणित्ताणं वारे विस्सयगोयरं ।

विषेयं गयमारुहो सरो धा गहितायुधो ॥ १६ ॥

अर्थ :—साधक पहले मन पर विजय पाये, फिर विवेक रूपी गज पर आरोह होकर शस्त्र सज्ज वीर की भांति इन्द्रियों को विषय की ओर जाने से रोके ।

गुजराती भाषान्तर :—

पहेला साधक पोताना मन उपर काणु मेणवे अने त्थार पछी विवेकरूपी हाथी उपर सवार थर्ध जाय अने त्थार पछी ते हाथीयारोथी सज्ज योहानी माइक विषयोतरक बसडाता इन्द्रियोने अटडी शके छे.

इन्द्रियों पर विजय पाने के पूर्व साधक को मन पर विजय पाना होगा, क्योंकि मन ही शक्ति का केन्द्र है । वही इन्द्रियों को प्रेरित करता है, अन्यथा इन्द्रियां तो जड़ हैं । वेग से घूमते हुए पंखे को रोकना है तो पहले बटन बन्द करना होगा, अन्यथा घूमते हुए पंखे को पकड़ने जावेंगे तो अंगुलियां भले कट जावें, पंखे की गति कम नहीं हो सकती । इन्द्रियों के पंखे को रोकना है तो पहले मन के स्वीच को दबाना होगा ।

प्रस्तुत गाथा इन्द्रियों को साधने की दिशा में महत्त्वपूर्ण संकेत दे रही है । इन्द्रियों का मारना नहीं है, उन्हें साधना है और उसका तरीका है पहले मन पर विवेक का अंकुश रखना । प्राचीन कहानियों में सुना गया है किसी साधक की आंख किसी रमणी की रूप मधुरिमा में उलझ गई तो उसने अपनी आंख को बंटा डाली, किसी के हाथों ने अनधिकार के फल ले लिये तो उसने अपने हाथ ही काट डाले । किन्तु यह सब तो वैसा ही हुआ कि कोई लड़का पैसिल से गन्दे शब्द लिखता है तो पैसिल छीन ली जाए और वह फाउन्टन से गन्दे विज सींचता है तो फाउन्टन पेन को तोड़ डाला जाय; पर यह समस्या सही हल नहीं है । फाउन्टन या पैसिल तोड़ कर लड़के की आदत को बदला नहीं जा सकता, उसकी बुराई को बदलना होगा । उसके मन में उत्कान्ति लाना होगा । क्योंकि वे तो बाहिरी उपकरण हैं, उनका कोई खास महत्त्व नहीं है । ऐसे ही इन्द्रियां भी बाहिरी उपकरण हैं और एक रूप में वे जड़ हैं । मन ही उनके द्वारा ज्ञान करता है । अतः इन्द्रियों को नहीं मन को जीतना होगा ।

कैशी गौतम संवाद में महासुनि गौतम शत्रुविजय के लिये सर्व प्रथम एक महान् शत्रु पर विजय पाने का निर्देश करते हैं—एक को जीत लेने पर पांच [इन्द्रियां] को आध कायू में कर सकते हैं और पांच के जीत लेने पर दस शत्रु पर विजय पा सकते हैं और दस पर विजय पा लेने के बाद समस्त शत्रुओं पर विजय पा सकते हैं ।

तं नो साईं जं अचेयणाई जाणंति न धडोव्व ।

—विशेषावश्यक भाष्य

एनो विष् जिया पंच, पंच विष् जिया वस ।
इसहा डं जोगिपार्ज, सध्वसंखु जियामहं ॥

—उत्तराध्यायन २३ ।, गाथा ३६

मानव का मन भी एक युद्ध-भूमि है । जहाँ हमेशा शुभ और अशुभ का युद्ध चलता है । हमारे भीतर राम भी हैं और रावण भी । विजय उसी की होती है जिसके पास सेना विशाल है । सद्गुणियाँ राम की ओर से लड़ती हैं और असद्गुणियाँ रावण के नेतृत्व में युद्ध करती हैं । अन्तर के इस युद्ध में विजय पाने के लिये विवेक रूपी हस्ति पर आरुढ़ होना होगा । शुभ संकल्प और प्रशस्त अव्यवसाय रूप शस्त्रों की ग्रहण करना होगा और युद्ध में उतरे हुए सैनिक का अदम्य उत्साह होगा तो विजय हमारे साथ है ।

जिप्ता मणं कसाप या जो सम्मं कुरुते तवं ।
संदिप्यते स सुद्धप्पा अग्गी वा हविसाहुते ॥ १७ ॥

अर्थ :—मन और कषायों पर विजय पाकर जो साधक तप करता है वह शुद्धात्मा हविष (होम के योग्य पदार्थों) से आहुत अग्नि की भांति देखीप्यमान होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

जो मन अपने कषाय छिपर डालू (नष्ट) भेजवीने साधक तपस्यानुं आथरखु करे तो ते पवित्र आत्मा हविस (यज्ञमां अर्पण करवाना द्रव्यो) थी हवन करेला अग्निनी जेभ तेजःपुंज अनी जशे.

इन्द्रिय-जय के लिये साधक तपः साधना करता है, किन्तु उसकी साधना में फल तभी लग सकते हैं जब कि वह कषाय और मन पर विजय पा ले । कषाय और साधना दोनों साथ चल नहीं सकते । क्योंकि तप और कषाय का मेल नहीं होता । पर आज तो बल्ली गंगा बह रही है । तपस्वी साधकों का मन भी एकदम तप उठता है और लोग भी कह उठते हैं, तपस्या के साथ तेजोलेख्य होती है, दोनों का मेल है । पर यह तो गलत-जोष-है । दूध और शक्कर का मेल हो सकता है पर दूध और नमक का भी कहीं मेल हुआ है ? आठ आठ उपवास करने के बाद भी जरा सी ठेस लगाती है उबल पड़े और कहने लगे आठ उपवास हुए तो क्या हुआ ? आठ को तो पलायन सकता हूँ; तो कहना होगा तन की तपा है, साधही मन भी तप गया पर साधना उज्ज्वल नहीं हुई । तप के साथ समता का साहचर्य हो तभी साधक की साधना में फलवती हो सकती है और साधक की आत्मा हविष की आहुति प्राप्त अग्नि की भांति उज्ज्वल और समुज्ज्वल हो सकती है ।

सम्मत्त-गिरतं धीरं दंतकोहं जित्तिदियं ।
देवा वि ते णमंसंति मोक्खे खेव परायणं ॥ १८ ॥

अर्थ :—सम्यक्त्व में निरत धैर्यशील कोष विजेता और जितेन्द्रिय और मोक्ष ही जिसका एक मात्र लक्ष्य है ऐसे साधक को देवता भी नमस्कार करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

सम्यक्त्वमां भग्ग, धीरववाणा अने क्रोध छिपर डालू भेजवेला, जित्तिदिय तेभज जेनुं ओउमेव ध्येय मोक्ष छे ओवा साधकने देवताओ पणु प्रणाम करे छे.

जिस साधक ने सत्य का प्रकाश पा लिया है और तत्त्व का रहस्य पा चुका है, ऐसा सम्यक्त्वशील साधक क्रोध पर विजय पा सकता है और इन्द्रियों का संयम कर सकता है और जिसकी साधना एक मात्र मोक्ष को लक्ष्य में लेकर हो रही है ऐसे साधक के चरणों में देवगण भी नतमस्तक हो जाएं तो कोई आश्चर्य नहीं होगा ।

सव्वत्थविरये दंते सध्वचारीहिं वारिय ।
सव्वदुक्खप्पहीणे य सिद्धे भवति पीरिये ॥ १९ ॥

अर्थ :—सर्वार्थों से अथवा सर्वत्र विरत दमनशील साधक, सर्वत्र घूमने वाली इन्द्रियों को रोक कर समस्त दुःखों से मुक्त होता है और कर्मरज रहित सिद्ध होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

अध्या पदार्थोंमें के अध्या विषयोंमें उपरति (वैराग्य) थयेला, हमनशील साधक आरो तरङ्ग समता इन्द्रियोंने अटकावीने दुःभोगी पोतानुं संरक्षण करी मुक्त अनी शके छे तेमळ पोते कर्मरक्षणी पद्य मुक्त अने छे.

जिस दमनशील साधक ने भोगसक्ति से विरत होकर सभी ओर दोड़नेवाली मनोभावनाओं को केन्द्रित किया है और इन्द्रियों पर विजय पाया है वही साधक वीतकषाय होकर शाश्वत सुख स्थिति रूप सिद्ध रूप को प्राप्त करता है।

अथवा सर्ववारी का एक अर्थ यह भी होता है कि अपने अनंत ज्ञान के द्वारा त्रिभुवन गत समस्त पदार्थ सार्थ में विचरण करनेवाले वीतराग देवों ने जिस (वासना) के पथ में जाने से रोका है उस वासना-विदूषित पथ से इन्द्रियों को रोक कर सर्वज्ञों द्वारा प्रतिष्ठित नत मर्यादा में जो साधक स्थित रहता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

प्रोफेसर शुब्रिग लिखते हैं प्रस्तुत अध्ययन के मुद्रालेख में उस साधक का वर्णन मिलता है जिसने बाहर की वासना से मुक्त हो कर स्रोत के प्रवाह को रोक दिया है। श्लोक नं. ३ में स्रोत का उल्लेख है पाँच, सात, नव और श्यारह संख्या के श्लोक भी उसके अनुसंधान में हैं। वसव शब्द असाधारण है। बारह और दसवें श्लोक में यह वसव आवश्यक भी नहीं है और इक्षि के अंकुश का यह छोटा रूप है।

टिप्पणी—प्रस्तुत प्रति के १२ वें और दसवें श्लोक में वसव शब्द आया नहीं है। फिर किस आधार पर प्रोफेसर शुब्रिग ने यह टिप्पणी की है कहा नहीं जा सकता।

एवं से सिद्धे बुद्धे० ॥ गतार्थः।

इति यद्धमाण नाम एकोनत्रिंशतितमं अध्ययनम्

वायु अर्हतर्षि प्रोक्त तीसवां अध्ययन

हजारों माइलों का यह विस्तृत भूखंड विचित्रताओं का आगार है। विविधता और विचित्रता में ही सृष्टि की सुषमा है। पर प्रश्न है विश्व को विचित्रता की किसने? अद्भुत मानस बोल उठेगा यह सृष्टि का विचित्रता भरा सौन्दर्य उस अनंत शक्तिमान करुणामय विराट पुरुष की देन है। किन्तु यह उत्तर जितना सरल है तर्क की तुला पर उतना ही पेचीदा बन जाता है, क्योंकि इसके सामने पहला ही प्रश्न आता है उस विराट शक्तिमान करुणामय ने एक ओर अपनी सृष्टि में सुन्दर भव्य आकृतियाँ सजाई हैं तो उसे दूसरी ओर काली कुरूप और बीभत्स आकृतियाँ रखने की आवश्यकता ही क्या थी? विकृत आकृतियों को रखने में करुणामय की करुणा पर प्रश्न चिह्न लगा जाता है।

विश्व की विचित्रता का रहस्य जानने के लिये हमें उसे दो रूप में बांटना होगा। एक प्राकृतिक दूसरी प्राणिजन्य। प्रकृति का विचित्रता भरा सौन्दर्य स्वभावगत है। सूर्य दिन को ही आता है, रात को क्यों नहीं? पूर्व में ही उदित होता है पश्चिम में क्यों नहीं? आम ग्रीष्म में ही आता है, शीतकाल में क्यों नहीं? गेहूँ की फली ही लम्बी और बालवाली होती है ऐसी जुआर की क्यों नहीं, मयूर के जैसे पंख रंगे गये हैं जैसे कुकूट के क्यों नहीं, इन सबका समाधान तर्क के पास नहीं है, वह स्वभावगत है।

प्राणि-जन्य विचित्रता का समाधान स्वभाव से नहीं हो सकता। क्योंकि सभी मनुष्यों का स्वभाव समान होने पर भी बुद्धिकृत भेद है। एक व्यक्ति एक घंटे में दस श्लोक रट लेता है, जबकि दूसरा दस घंटे में भी श्लोक याद नहीं कर सकता। एक ही प्रकार की धीमारीवाले, दो रोगियों को एक ही डॉक्टर एक ही प्रकार की दवा देता है फिर भी एक स्वस्थ हो जाता है, जबकि दूसरा रोग में वृद्धि पाता है। इसका रहस्य क्या है? इसका समाधान स्वभाव के पास नहीं कर्मवाद के पास है।

बुद्धिकृत भेद का उत्तर कर्मवाद यों देता है—चेतनाशक्ति समान होने पर जिस व्यक्ति ने ज्ञान की अवहेलना की है, ज्ञान के साधनों का तिरस्कार किया है, उसके कार्य कर्मवर्गण के सूक्ष्म परमाणुओं को आकर्षित करते हैं और वे कर्म पुनः उसकी ज्ञान चेतना को अवरुद्ध कर देते हैं, यही है बुद्धिकृत भेद का रहस्य ।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने दूसरे को रूखाया है, उसके हितों को कुचला है, उसे उत्पीड़ित किया है, वह भी तज्जन्य, कर्मों को एकत्रित करता है और फिर जब तक वे कर्म रहते हैं, उसे स्वास्थ्य लाभ प्राप्त नहीं होता । फिर चाहे कितने भी इंजेक्शन क्यों न ले लिये जाय ।

इसी कर्मवाद का निरूपण प्रस्तुत अध्याय का विषय है :-

अथासच्चं ह्यं सत्यं

वायुणा सच्चसंयुक्तेण अरुता इसिणा बुभुयं ।

अर्थः—यह विराट् विश्व सत्य है । सत्य संयुक्त वायु अर्हतर्षि ऐसा बोले ।

गुजराती भाषान्तर :-

આ વિશાલ વિશ્વ સાચું છે. સત્યયુક્ત વાયુ અર્હતર્ષિ એમ બોલ્યા.

विचित्रता भरा यह विराट् विश्व एक सत्य है । कुछ दर्शन माया या कल्पना कहकर इस विराट् सृष्टि को स्वप्न बताते हैं । पर स्वप्न तो किसी अनुभूत पदार्थ का ही आता है । न देखी न सुनी किस ऐसी वस्तु का स्वप्न कभी नहीं आता और यह माया क्या है कोई तत्त्व है या नहीं ? यदि कोई तत्त्व नहीं है तो दिखाई क्यों देती है और यदि तत्त्व है तो फिर माया (अवास्तव कल्पना) कैसी ? यह तो वैसा ही हुआ जैसे किसी स्त्री को माता भी बताना और बंध्या भी^१ ।

अतः अर्हतर्षि बोलते हैं यह विश्व व्यवस्था स्वप्न नहीं सत्य है । यदि यह विश्वव्यवस्था सत्य है तो इसके साथ ही दूसरा प्रश्न आता है यह विचित्रता क्यों है उसका समाधान अर्हतर्षि निम्न गायकों के द्वारा दे रहे हैं ।

इध जं कीरते कर्मं तं परतोवमुज्जह ।

मूलसेकेसु रुक्खेसु फलं सादासु दिस्सति ॥ १ ॥

अर्थः—जो कर्म यहाँ किये जाते हैं । आत्मा उन्हें परलोक में अवश्य भोगता है । जिन वृक्षों का मूल सिंचित किया गया है उसका फल शाखाओं पर दिखाई देता है ।

गुजराती भाषान्तर :-

જે કર્મો આ લોકમાં માણસ કરે છે તેનો ઉપભોગ તે આત્માને પરલોકમાં ફરજિયાત કરવો જ પડે છે. જે વૃક્ષોના જડતું પાણીથી સિંચન કરવામાં આવે છે તેનું ફલ તેના ડાળીઓ ઉપર જોવામાં આવે છે.

आत्मा शुभाशुभ अव्यवसायों के द्वारा कर्मबन्ध करता है उसका प्रतिफल असुक्त काल मर्यादा के बाद उदय में आता है । कर्म फिलासफी के अनुसार बद्ध-कर्म उसी क्षण उदय नहीं आते । उसे प्रतिफल देने के लिये कुछ काल अवश्य लगता है । इस बीच के काल को अबाधा काल या विपाक काल कहा जाता है । बद्ध कर्म जिस समय तक बाधक नहीं होता उस समय को अबाधाकाल कहा जाता है । यह काल मर्यादा अल्प रूप में अन्तर्मुहूर्त है तो उत्कृष्ट रूप में तत् तत् कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न होती है ।

अबाधाकाल इस लिये माना गया है कि जो कर्म जिस क्षण बांधे जाते हैं उसी क्षण उनका भोग नहीं हो सकता । बांधने और भोगने का समय अवश्य ही भिन्न होना चाहिए । पर उसका विपाक इतने समय तक क्यों रुका रहता है ? । यह दूसरा प्रश्न है । उसका एक कारण यह हो सकता है कि जब आत्मा स्वर्गादि में शुभ कर्मों का सुखानुभव रूप शुभ प्रतिफल भोग रहा हो तब अशुभोदय में अशुभोदय नहीं हो सकता और उतने समय तक अशुभोदय रुका रहता है । यही विपाक काल है ।

१. अथासच्चं । १. माया सती चेत् द्वयतत्त्वसिद्धिः, अथासती इन्त कुतः प्रपंचः । मायैव चेदथैतद्वा च तर्हि माता च बन्ध्या च भवेत्परोपाम् । —आ० हेमचन्द्र, अन्ययोगव्यवच्छेदिका.

आत्मा जो भी शुभ या अशुभ का अनुभव करता है यह उसके पूर्वबद्ध कर्मों का ही प्रतिफल है। वर्तमान दुःख का कारण हमें वर्तमान में न दिखाई दे किन्तु इसका यह मतलब नहीं हो सकता कि उसका कारण है ही नहीं। जिस आम को हम खाना खा रहे हों अभी हम उसके गेलेदागे का नाम पता न बता सकें, किन्तु इतना तो सुनिश्चित है वह आम किसी न किसी द्वारा एक दिन अवश्य बोया गया था और आज यह फल और पत्तों से समृद्ध हुआ है। सही कार्यकारणपरंपरा हमारे सुख दुःख के सम्बन्ध में भी है।

टीका:—यथा सत्यं हृदं सर्वं । इह यत् क्रियते कर्म तत् परतः परलोके न दुष्कृते । मूलसिक्तेषु तेषां शाखासु फलं दृश्यते । सतार्थः ।

जारिसं बुण्णसे बीयं तारिसं भुज्जए फलं ।

णाणासंठाणसंचद्धं णाणासण्णाभिसण्णितं ॥ २ ॥

जारिसं किज्जते कम्मं तारिसं भुज्जते फलं ।

णाणापयोगणिस्वसं दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥ ३ ॥

अर्थ:—(खेत में) जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल आता है। जोकि नानाविध आकृतियों में होता है और नानाविध संज्ञाओं से अभिहित होता है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल भोगा जाता है। नानाविध प्रयोगों से कर्म निर्मित होते हैं। वह कर्म सुखरूप या दुःखरूप होता है।

गुजराती भाषान्तर:—

पेतारमां जेवुं गीयाणुं वाववामां आवे छे तेवुं न इण भणे छे; जे अनेक प्रकारोनुं होय छे अने तेयोनी अनेक संज्ञाओ पणु होय छे, जेवुं कर्म करवामां आवे छे तेवुं न इण भोगवुं पडसे, अनेक प्रयोगोथी कर्मोनुं निर्माणु थाय छे ते कर्मो सुખदायी छे दुःखदायी थाय छे.

यह निश्चित सिद्धान्त है जैसा बीज होगा वैसा ही प्रतिफल होगा। बाजरी को बोकर कभी चावल की फसल काटी नह जा सकी। प्याज खाकर इलाइची की डंकार ली नहीं जा सकती। ध्वनि के अनुरूप प्रतिध्वनि अवश्य आवेगी। इंग्लिश विचारक शेक्सपीयर कहता है—What is done cannot be undone किये हुए कर्म को मिटाया नहीं जा सकता। आचार्य विनोबा भी कहते हैं—कर्म वह आइना है जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है अतः हमें उसका एहसान मानना चाहिये। कर्म हमारे जीवन के निर्माता है, पर कर्म के निर्माता हम हैं। जब तक कर्म नहीं किये जाएं तब तक हम स्वतंत्र हैं, पर एकवार शुभाशुभ अव्यवसाय के द्वारा जो कर्म एकत्रित कर लिये जाते हैं उन्हें भोगना ही होता है। दूसरा एक ओर इंग्लिश विचारक भी कहता है—

Our riches may be taken away by fortune, our reputation by malice, our spirits by calamity, our health by disease, our friends by death; but our actions must follow us beyond the grave.

दुर्भाग्य हमारा घन छीन सकता है। नीचता हमारा जोश, रोग स्वास्थ्य और मृत्यु हमारे मित्र छीन सकती है किन्तु हमारे कर्म तो हमारी मृत्यु के बाद भी पीछा करेंगे, उन्हें कोई छीन नहीं सकता।—कोल्टन।

कल्लणा लभति कल्लणं पाचं पावा तु पावति ।

हिंसं लभति हंतारं जइत्ता य पराजयं ॥ ४ ॥

अर्थ:—आत्मा कल्याण से कल्याण प्राप्त करता है और पाप शील विचारधारा के द्वार वह पाप को (कटु फल को) प्राप्त करता है। हिंसक व्यक्ति हिंसा के द्वारा हिंसा को प्राप्त करता है। वह विजय पाकर भी पराजित हो जाता है।

गुजराती भाषान्तर:—

आत्मा कल्याणपडे कल्याणुनी प्राप्ति करे छे, अने पापस्वभावनी विचारपरंपराथी ते पाप (करनार तेना इणु) ने भेगवे छे. हिंसा करनार भाणुस हिंसाने करणु न हिंसानो भोग अने छे. कदाच अने विजय प्राप्त थाय तो पणु ते विजय पणु पराजयइपी न अने छे.

आत्मा की कल्याण मय भावना आत्मा को उसे कल्याण मय बनाती है। और पापशील भावना उसे पापशील। दोनों के मधुर और कटुरूप भी उसके सामने आये बिना नहीं रहते। हिंसा के द्वारा मनुष्य कुछ देर के लिये जय भी पा लेता है किन्तु यह भूलना न होगा कि तलवार के बल पर पाई गई विजय एक दिन पराजय में बदल जाती है। दूसरों की चिता भस्म पर जिन्होंने अपने महल जुने हैं किन्तु एक दिन वह राख महल और महल की अट्टालिका में अट्टहास करने वाले सत्ताधीशों की राख बनाकर छोड़ेगी।

सुदृणं सुदृष्टाणं निदिष्टा वि य निदृणं ।

अक्रोशइत्ता अक्रोसं णत्थि कम्मं निरत्थकं ॥ ५ ॥

अर्थ :—पचानेवाले को एक दिन पचना होगा। दूसरे की निन्दा पर मुस्करानेवाले को एक दिन निन्दित होना पड़ेगा। आक्रोश करनेवालों पर दूसरे आक्रोश किये बिना नहीं रहेंगे, क्योंकि कोई भी कर्म निरर्थक नहीं जाता।

गुजराती भाषान्तर :—

रांधनारने पखु पोते छोधपणु सभये (तेना अदवामां) पाठतुं पडशे. जीजनी भश्करी करवावाणानो पखु ओड दिवसे पोते निदापात्र यतुं पडशे. राड पाठनार पर छोड जीजे भाणुस राड पाडयावगर रहे नही. डेम डे छोधपणु करेखुं काम निरर्थक (नकामुं) अनी वतुं नथी.

ध्वनि के अनुरूप प्रतिध्वनि होती है। क्योंकि सभी कर्म अपने साथ प्रतिकूल लिये रहते हैं। दूसरों की फजिहत पर जिनके मन में सुदृष्टी चलती है उसके लिये प्रस्तुत गाथा में कबी चेतावनी दी है, जिन्हें आज दूसरों की आलोचना में रस आ रहा है कल उनकी आलोचना में दुनिया रस लेगी और जो आज बोलते हैं हम ऊंचे हैं, दूसरे नीचे, हम अच्छे हैं, दूसरे बुरे हैं। मन का अहंकार आज उनके मुंह से यह बोलवा रहा है किन्तु कल जब बाहर की सफेद बदरिया उड़ जाएगी और दुनिया के सामने उनका सही रूप आयेगा उस दिन दुनिया देखेगी कि आचार और क्रिया का दंभ रखनेवाले कितने गहरे पानी में थे।

आज हम अपने इस मिथ्या विश्वास को अपनी ढाल बनाते हैं कि हमें कोई देख नहीं रहा है। हमारे पर्दे के पीछे की लीला को कोई जानता नहीं है। पर सत्य की प्रखर किरणें एक दिन इस मिथ्या विश्वास के पर्दे को चिरती हुई दुनिया के सामने तुम्हें उसी रूप में ला देगी जिसमें कि तुम हो। एक पाश्चात्य विचारक भी बोलता है—

Foul deeds will rise, though all the earth overwhelm them to men's eyes.
अर्थात् बुरे कार्य अवश्य प्रकट होंगे। मनुष्य की आंखों से उन्हें छिपाने के लिये भले सारी पृथ्वी उन पर डक दी जाए, फिर भी प्रकट हुए बिना नहीं रहेंगे।

भगवान् महावीर के शब्दों में—

सुविण्णा कम्मा सुविण्णा फला भवन्ति ।

दुविण्णा कम्मादुविण्णा फला भवन्ति ।

सुन्दर कमा का प्रतिकूल सुन्दर होता है और बुरे कर्मों का प्रतिकूल सदैव असुन्दर ही रहेगा।

मण्णन्ति भद्दका भद्दका इ, मधुरं मधुरन्ति माण ति ।

कडुर्यं कडुर्यं भणियं ति फरुसं फरुसं ति माणति ॥ ६ ॥

अर्थ—भद्र कार्यों को दुनिया भद्र मानती है। मधुररूप में स्वीकार करती है। कड़वे को कड़वा कहा जाता है और कठोर को कठोर कहा जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

भद्र (सारां) कामोने दुनिया सारां व डडेछे, मधुर पदार्थोने मधुर छे ओम दोडो डणुव करे छे, तेमज डडवी वस्तुने डडवी अने डडोरने डडोर व माने छे.

समय और स्थान बदल देने से कार्य नहीं बदल जाता। सुन्दर वस्तु सर्वत्र सुन्दर रहेगी। सोना महल में सोना रहे और शमसान में पीतल बन जाए तो उसे सोना कौन कहेगा। सोना सर्वत्र सोना रहेगा और पीतल पीतल मंदिर की छाया

उसे सोना नहीं बन सकती। मिथी की डली गंगा के तट पर खाएं तब भी मीठी है और सूने जंगल में खाएं तब भी मीठी ही रहेगी। स्थान बदल देने से उसका मिठास नहीं बदला जाएगा। शुभ कर्म सर्वत्र शुभ रहेंगे। देश काल की सीमाएं उन्हें शुभ से अशुभ में या अशुभ से शुभ में बदलने में समर्थ नहीं है।

कुछ लोगों का विश्वास है अमुक स्थान पर चले जाने पर पाप पुण्य में बदल जाएगा और अमुक स्थान पर पुण्य भी पाप हो जाएगा। किन्तु यह अर्थ सत्य है। मानो कि व्यक्ति के मन को स्थान भी प्रभावित करता है। जब तक स्थित प्रज्ञा दशा नहीं आई तब तक समय और स्थान उसके मन पर असर डालते रहते हैं किन्तु तथ्य यह है समय और स्थान में पवित्रता हम स्वयं पूरते हैं। हमारी मनोभावना ही उस दिन को पवित्रता का बाना पहनाती है अन्यथा यदि दिन ही पवित्र होता तो उसकी पवित्रता सबके दिल में पवित्रता का संचार करती, किन्तु ऐसा होता नहीं है जो दिन एक संप्रदाय वालों की दृष्टि में पवित्र है दूसरी संप्रदाय वालों की दृष्टि में वह दिन दूसरे दिनों की अपेक्षा कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

हां तो स्थान और समय की पवित्रता हमारी कल्पना पर आधारित है। वह पवित्रता हमारे मन को प्रेरणा भले दे दे किन्तु किसी कार्य को पवित्र या अपवित्र नहीं बना सकती। यदि एक मलैरिया का बीमार स्वर्ण महल में पहुंच जाए तब भी उसे शान्ति तो नहीं मिल सकती। शान्ति तभी मिलेगी जबकि वह रोग मुक्त होगा।

टीका :—भद्रकानि भद्रकानीति मन्यन्ते जनाः, मधुरं मधुरं फलं फलमिति मनुते, कटुकं कटुकमिति भणितम् ॥ गतार्थः ।

कल्याणं ति भणतस्स कल्याणा एपहिस्सुया ।

पापकं ति भणतस्स पापया एपहिस्सुया ॥ ७ ॥

अर्थ :—कल्याण इस प्रकार बोलनेवाला पुनः कल्याण सुनता है। “पाप” इस प्रकार बोलनेवाला पाप की ही प्रतिध्वनि पाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે માણસ મીઠું બોલે છે તેને જ મીઠા શબ્દો સાંભળવા મળે છે. ઊંડી વાતો કરનારને પરિણામે ઊંડી વાતો જ સાંભળવી પડે છે.

विश्वव्यवस्था ध्वनि प्रतिध्वनि के सिद्धान्त पर आधारित है। किसी गिरि कंदरा के निकट जाकर हम सुन्दर शब्द कहेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि सुन्दर ही आएगी और गंदे शब्द कहे तो प्रतिध्वनि भी गंदे शब्दों की लौटाएगी। जीवन में गी प्रतिध्वनि का सिद्धान्त है। यदि हम किसी के प्रति सत्संकल्प रखते हैं तो अगले व्यक्ति के हृदय में सत्संकल्प उठेंगे।

टीका :—कल्याणमिति भणतः कल्याणैतत्प्रतिश्रुतपापकमिति पापकाः । गतार्थः ।

पहिस्सुयासरिसं कम्मं णच्चा भिक्खू सुभासुभं ।

तं कम्मं न सेवेज्जा जेणं भवति णारप्प ॥ ८ ॥

अर्थ :—कर्म को साधक प्रतिश्रुति (प्रतिध्वनि) के सदृश जाने, तथा उन कर्मों का सेवन न करे जिनके द्वारा आत्मा नरक रूप प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધકે કર્મને પ્રતિશ્રુતિ એટલે પ્રતિધ્વનિ જેવા જ સમજવા જોઈએ, અને તેવા કર્મોનું આચરણ કે સેવન પણ કરવું ન જોઈએ જેથી આત્માને નરકની પ્રાપ્તિ થાય.

साधक प्रतिध्वनि के सिद्धान्त को जीवन में स्थान दे और उन कर्मों का परित्याग करे जिनके द्वारा आत्मा को नरक में जाना पड़ता है।

प्रतिध्वनि को सुन्दर बनाने के लिये पहले ध्वनि को सुन्दर बनाना होगा। नरक पर्याय अशुभ कर्मों की प्रतिध्वनि है। यदि नरक से बचना है तो उसके हेतुभूत कर्मों से बचना होगा। कार्य को समाप्त करने के लिये कारण को मिटाना होगा।

हमें कैसा बनना है यह हमें सोचना है। अपने निर्माता हम स्वयं हैं। हमारे कर्म हमको यह रूप देते हैं जैसा कि हम करते हैं हमारे अच्छे कार्य हमको अच्छा बनाते हैं। एक विचारक के शब्दों में—Good actions enable us and we are the sons of our deeds. हमारे अच्छे कर्म हमको अच्छा बनाते हैं क्योंकि हम अपने कार्यों के पुत्र हैं। हमारे जीवन की कीमत भी हमारे कार्य करते हैं। किसने जिंदगी अच्छी है यह वर्षों की गणना के द्वारा नहीं बता सकते। यों तो मानव की अपेक्षा बाघ और चीतों की जिन्दगी लंब हो सकती है किन्तु लम्बाई जिन्दगी की अच्छाई का मानदंड नहीं हो सकती। एक दूसरा विचारक भी कहता है:—

A life spent worthily should be measured by deeds and not years. जीवन कितना कीमती रहा है यह वर्षों से नहीं कार्यों से मापा जाता है।

एवं से सिद्धे मुख्ये ॥ गतार्थः ।

इति धातु अर्हतर्षि प्रोक्त

तीसवां अध्ययन ।

पार्श्व अर्हतर्षि प्रोक्त

एकतीसवां अध्ययन

मनुष्य ने जब पहली आंखों द्वारा दुनियां को देखा तभी से उसके मन में जिज्ञासा पैदा हुई जीवन क्या है और अमृत क्या है? यह विराट विस्तृत भूखंड क्या है? इसका निशामक कौन है? किन तत्वों से इसका निर्माण हुआ है। यह सान्त है या अनंत है। इसके कितने रूप हैं। यह जीवन क्या है, मैं कौन हूं, गर्भ में आना कौन है, कौन जन्म लेता है और कुछ वर्ष यहां बिताकर फिर कहाँ चला जाता है। वह कौन सा लोक है जहां अत्मा फिर शान्ति पा सकता है उसे न फिर आने की आवश्यकता रहती है न कहीं जाने की। ये सभी प्रश्न अनादि से मानव के मन को मथ रहे हैं उन्हीं में से कुछ प्रश्नों का यहां समाधान दिया गया है।

(१) केयं लोप? (२) कइयिधे लोप? (३) कस्स वा लोप? (४) के वा लोयभावे? (५) केण वा भट्टेण लोप पबुच्चई? (६) का गती? (७) कस्स वा गती? (८) के वा गति-भावे? (९) केण वा अट्टेण गती पबुच्चति?

अर्थ:—(१) लोक क्या है? (२) कितने प्रकार का लोक है? (३) लोक किसका है? (४) लोक-भाव क्या है और (५) किन अर्थ में लोक कहा जाता है? (६) गति क्या है? (७) किसकी गति होती है? (८) गति-भाव क्या है और (९) किस अर्थ में गति कही जाती है।

गुजराती भाषान्तर:—

(१) लोक शुं छे? (२) डेटला प्रकारना लोक छे? (३) लोक डोना छे? (४) लोकभाव शुं छे? अने (५) क्या अर्थमां लोक कहेवाय छे? (६) गति शुं छे? (७) डोनी गति छेय छे? (८) गतिभाव शुं छे? अने (९) क्या अर्थमां गति कहेवाय छे?

यहां लोक और गति के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये गये हैं। मानव मन की जिज्ञासा को यहां प्रश्न के रूप में व्यक्त किया गया है। लोक क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसकी आधार स्थिति क्या है? कुछ प्रश्न गति से सम्बन्धित हैं। गति क्या है, उसका किससे सम्बन्ध है? गति क्यों होती है? गति का अस्तित्व किस पर आधारित है? गति शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होता है?।

पासेण अरहता इसिणा सुहंत ।

(१) जीवा चेव अजीवा चेव (२) चउव्विहे लोए वियाहिते, द्रव्यतो लोए, खेत्तओ लोए, कालओ लोए, भावओ लोए । (अत्तभावे लोए) (३) सामित्तं पडुच्च जीवाणं लोए । निव्वत्ति पडुच्च जीवाणं चेव अजीवाणं चेव (४) अणादीण अणिहणे परिणासिए लोएभावे (५) लोकतीति लोको ।

अर्थ :—पार्श्व अर्हतर्षि जोले-लोक जीव और अजीव रूप हैं । यह चार प्रकार का बताया गया है । द्रव्य लोक (२) क्षेत्रलोक (३) काललोक और (४) भावलोक । लोक अपने आत्मभाव में हैं । स्वामित्व की अपेक्षा यह जीवों का लोक है और निवृत्ति अर्थात् रचना की अपेक्षा यह लोक जीवों का भी है और अजीवों का भी यह लोक अनादि अनंत है और पारिणामिक भाव में स्थित है । दूसरी अपेक्षा से यह लोक अपने स्वभाव में स्थित है । जो आलोकित होता है उसे लोक कहते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

पार्श्व अर्हतर्षि जोल्या-लोक एव अने अणुवद्रूप छे. तेना चार प्रकार छे. (१) द्रव्यलोक (२) क्षेत्रलोक (३) काललोक (४) भावलोक. लोक तो पोतानांमाण छे. भावेष्टीनी दृष्टिअे आ लोक एवोनो छे. अने निवृत्ति अेटवे रचनानी दृष्टिअे आ एवोनो लोक छे, अने निवृत्ति अेटवे रचनानी दृष्टिअे तो आ एवोनो लोक छे अने एवेतरतो पणु छे. आ लोक आदिरहित अने अंतरहित छे तेमण परिणामस्वयमां अधिष्ठित छे. भीए वस्तुनी अपेक्षाथी वियार करीअे तो आ लोक पोतानांमाण अधिष्ठित छे. जे आलोकित (दृष्टिथी जेवाय) छे ते लोक कहेवाय छे.

मानव मन में धुमइती जिज्ञासा का समाधान करते हुए पार्श्व अर्हतर्षि ने लोक से सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान दिया है । जड़ और चैतन्य की यह विराट् सृष्टि ही लोक है । ऐसे तो लोक पंचास्तिकायात्मक है । धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गलों की अर्थ-सृष्टिलोक है ।

दूसरा प्रश्न लोक के प्रकार के सम्बन्ध में है । लोक के चार प्रकार हैं । द्रव्य क्षेत्र काल और भाव । सगवती सूत्र में इस प्रश्न पर काफी विस्तृत रूप में चर्चा की गई है । लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक । द्रव्यलोक एक और सान्त है । क्षेत्रलोक की लम्बाई और चौड़ाई असंख्य कोटाकोटी योजनों की है । इसकी परिधि भी असंख्य कोटाकोटी योजनों की है फिर भी यह शान्त है, अनंत नहीं । काल लोक अनादि अनंत है । काल की अपेक्षा से यह लोक कभी नहीं था, कभी नहीं रहेगा ऐसी बात नहीं है, लोक था ही और रहेगा । काल-कृतलोक ध्रुव, नियत-शाश्वत अक्षत अक्षय अव्यय और नित्य है । यह भाव लोक अनंत वर्ण पर्याय, अनंत गंध रस और स्पर्श पर्याय रूप हैं । अनंत संस्थान पर्याय, अनंत गुरु लघु पर्याय और अनंत अगुरु लघु पर्याय रूप हैं ।

इस प्रकार द्रव्य लोक और क्षेत्रलोक सान्त है काललोक और भावलोक अनंत हैं ।

तीसरा प्रश्न लोक के स्वामित्व से सम्बन्धित है । उसके उत्तर तीन रूप में दिये गये हैं । पहला उत्तर है लोक आत्म, भाव में स्थित है, उसका कोई स्वामी नहीं है; क्योंकि चतुर्दश रज्ज्वात्मक इस विराट् लोक का कोई एक अलग स्वामी नहीं हो सकता । अपने तत्त्व का नियंता स्वयं है । दूसरा उत्तर है लोक का स्वामी आत्मा है, क्योंकि वही एक तत्त्व ऐसा है जो चेतना सम्पन्न है और वही स्वामित्व प्राप्त कर सकता है । अतः स्वामित्व की अपेक्षा से जीवों का यह लोक है ।

निवृत्ति अर्थात् रचना की अपेक्षा से यह लोक जड़ और चैतन्य दोनों का है, क्योंकि दोनों के द्वारा ही यह लोक व्यवस्था है ।

स्थिति की अपेक्षा लोक अनादि अनंत है और भाव की अपेक्षा यह लोक पारिणामिक भाव में स्थित है । वस्तु का अनौपाधिक शुद्धभाव पारिणामिक है । द्रव्य मात्र निज भाव में लीन है । अन्तिम पद में अर्हतर्षि लोक शब्द की व्याख्या देते हैं । लुक्कतेति लोकः अर्थात् जो आलोकित होता है देखा जाता है वही लोक है ।

टीका :—पार्श्वीयाध्ययनस्य पृच्छा इह योज्यन्ते व्याकरणैः । कोऽयं लोकः ? जीवाश्चैवाजीवाश्चैवेति लोकः । कतिविधो लोकः ? चतुर्विधो लोकः ? व्याख्यातस्तथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः । कस्य वा लोकः ? आत्मभावात्मना

भवति लोक इति योज्यं । स्वाम्यमुद्दिश्य जीवानां लोको निर्द्वैतिं निष्पत्तिमुद्दिश्य जीवानां चाजीवानां च । को वा लोक-
भावः ? अनाविकोऽविधनः पाणिपिङ्गे लोकभावः । केन तर्केन लोक इति प्रोच्यते ? लोकतीति लोकः । गतार्थः ।

(७) जीवाण पुग्गलाण य गतीति आहिता । (६) जीवाणं चेव पुग्गलाणं चेव गती । द्रव्यतो गती, क्षेत्रतो गती, कालतो गती, भावतो गती (८) अणा दीप अणिहणे गति भावे (९) गमंतीति गति । उद्धगामी जीवा अद्धगामी^१ पोग्गला, कम्मप्यभवा जीवा, परिणाम प्यभवा पोग्गला । कम्मं प्यप फल विवाको जीवाणं । परिणामं प्यपफल विवाको पुग्गलाणं ।

अर्थ :—जीव और पुद्गलों की गति बताई गई है । जीव और पुद्गलों की गति के चार प्रकार हैं—द्रव्य से गति, क्षेत्र से गति, काल से गति और भाव से गति । गति भाव अनादि और अनंत है । जाया जाता है उसका नाम गति है । जीव ऊर्ध्वगामी होते हैं और पुद्गल अधोगामी होते हैं । जीवों की गति कर्म-प्रभावित है और पुद्गलों की गति परिणाम-प्रभावित है । जीवों की गति कर्म फल के विपाक से होती है जब पुद्गलों की गति परिणाम के फल विपाक से होती है ।

गुजराती भाषान्तर : —

જીવ અને પુદ્ગલોની ગતિ જણાવી દિધી છે. જીવોની અને પુદ્ગલોની ગતિના ચાર ભેદ છે. દ્રવ્યથી ગતિ, ક્ષેત્રથી ગતિ, કાલથી ગતિ અને ભાવથી ગતિ. આ ગતિભાવ આદિરહિત તેમજ અંતરહિત છે. જે પસાર થઈ જાય છે તેનું નામ ગતિ છે. જીવ ઉર્ધ્વગામી (નિર્ગત: ઉપર જવાને દેવાયેલા) છે, અને પુદ્ગલો અધોગામી (નીચે જવાને દેવાયેલા) છે. જીવોની ગતિ પોતપોતાના કર્મોના પ્રભાવથી પ્રાપ્ત થાય છે અને પુદ્ગલોની ગતિ પરિણામથી પ્રભાવિત થાય છે. જીવોની ગતિ કર્મફલના પરિણામથી થાય છે જ્યારે પુદ્ગલોની ગતિ પરિણામના ફલવિપાકથી થાય છે.

गतिसम्बन्ध में किये गये प्रश्नों का यहाँ समाधान दिया गया है । पदद्रव्यों में गतिधर्मी केवल दो ही द्रव्य हैं, जीव और पुद्गल । गति चार प्रकार से होती है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव । गतिभाव अनादि अपर्यवसित है । क्योंकि जीव और पुद्गल अनादि हैं और वे गतिशील हैं । जीव और पुद्गलों का आकाश प्रदेशों से दूसरे आकाश प्रदेशों में जाना ही गति है । जीव ऊर्ध्वगामी हैं । पुद्गल अधोगामी हैं । 'ऊर्ध्वगतिधर्माणो जीवाः, अधोगतिधर्माणो पुद्गलाश्च' । जीवों की ऊर्ध्व अवः और तिर्यच गति कर्म—जन्य है । जब कि पुद्गलों की गति परिणाम—प्रभावित है ।

टीका :—का गतिः ? जीवानां च पुद्गलानां च गतिः ? द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः । व्याकरणस्य तु पाठान्तरं यथा जीवाश्चैव गमनपरिणता पुद्गलाश्चैव गमनपरिणता इति । कस्य वा गतिः ? । जीवानां च पुद्गलानां च गति-रित्याख्याता ।

अर्थ :—गति क्या है ? जीव और पुद्गलों की गति है । वह द्रव्यक्षेत्र काल और भाव रूप से चार प्रकार की है । इस गति व्याकरण अर्थात् गति का से सम्बन्धित विवेचन का दूसरा पाठ मिलता है उसके अनुसार पुद्गल और जीव ही गति परिणत हैं । किराकी गति है इसके उत्तर में कहा गया है जीव और पुद्गलों की गति होती है ।

जेવ રૂમા પયા કયાહ અઘ્વાયાહસુહમેસિયા કસં કસાવિતા । જીવા દુવિહં વેદનં વેદેતિ પાણા-
તિયાતવિરમણેણં જાવ મિચ્છાદંસણવિરમણેણં કિન્તુ જીવા સાતણં વેદનં વેદેતિ । અસ્સટ્ટાપ વિહેતિ,
સમુચ્છિજ્ઞિસ્સેતિ અદ્દા સમુચ્છિટ્ટિસ્સતિ નિદ્દિતકરણિજ્ઞે સંસે સંસારમગ્ગા મહ્ઠાઈ નિયંટે નિરુદ્ધ-
પવંચે વોચ્છિણ્ણસંસારે, વોચ્છિણ્ણસંસારવેદ્ધિજ્ઞે પહીણસંસારે, પહીણસંસારવેયણિજ્ઞે ણો પુણરવિ-
હચ્છેત્થં હવ્વમાગચ્છતિ ।

अर्थ :—कोई भी आत्मा कष अर्थात् कषाय अथवा हिंसा को करके अव्यायाध सुख प्राप्त नहीं कर सकता । जीव दो प्रकार की वेदना, अनुभव करते हैं । (एक सुख रूप वेदना दूसरी दुःखरूप वेदना) किन्तु प्राणातिपात से विरक्ति यावत् मिथ्यादर्शन सत्य से विरक्ति पाकर आत्मा सातवेदनीय का अनुभव करता है । किन्तु प्राणातिपात आदि के द्वारा वह आत्मा जिससे भयभीत होता है वही उत्पन्न होता है । अर्थ रूप से वहाँ उद्वेग । किन्तु जिसने अपने कार्य निश्चित कर लिये हैं ऐसा अचिन्तमोगी निर्धन्य प्रपंच को रोक देता है । संसार का छेदन करके संसार की वेदना को विनष्ट करके संसार-रहित और संसार की वेदना रहित हो वह लौकिक ज्ञति में (संसार में) पुनः नहीं आता है ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

કયો પણ આત્મા કષ એટલે કષાય એટલે હિંસા કરીને અખંડિત સુખ મેળવી નહીં શકે. જીવો એ તરહની વેદનાને અનુભવે છે. (એક છે મુખરૂપી વેદના અને બીજી છે દુઃખરૂપી વેદના) પ્રાણાતિપાતાદિ વિરક્તિમુદ્રી અઠાર મિથ્યાદર્શન સત્યથી વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરી આત્મા સાતવેદનીય (સાચા સુખનો અનુભવ) મેળવી શકે છે. પરંતુ પ્રાણાતિ-પાત ઇત્યાદિ જેનાથી આ આત્મા મક્કરાયેલો છે ત્યાંજ જન્મ પામે છે. અર્થરૂપથી ત્યાં રહેશે. પણ જે આત્માએ ખોતાનું કામ નહીં કરી રાખ્યું છે એવો અચિત્ત ભોગ ભોગનાર નિર્મથ પ્રપંચને અટકાવી શકે છે. સંસારનો છેદન કરી સાંસારિક વેદનાનો વિનાશ કરી શકે છે તેનજ સંસ્કારરહિત અને સંસારના તાપરહિત બની બૌદ્ધિક વૃત્તિ- (એટલે આ સંસારરૂપી જંબળ) માં ફરી આવશે નહીં.

અર્હતર્પિ ગતિ કા નિરૂપણ કરતે હુણ સૌપાધિક ગતિ કો કારણ બતા રહે હૈં । મુક્ત આત્મા કી જોકાન્ત તક કો કલ્ધ્યે ગતિ હી નિરૂપાધિક હૈં શેષ સમી ગતિયાં સોપાધિક હૈં । ડરાકા કારણ હૈં કષ-હિંસા ! જવ તક કષ કી આય રપ કપાય મૌજૂદ હૈં । તવ તક આત્મા કી સૌપાધિક ગતિ બન્દ નહીં હો સક્તી । તારક ઔર તિર્યંન આદિ મેં પરિભ્રમણ વરતે રહના હોગા । યહ પરિભ્રમણ સ્વર્થવેદના હૈં । સાંસારિક આત્મા કી વેદનાનુભૂતિ દો રૂપ મેં હોતી હૈં—કમી વદ્દ હુસરૂપ હોતી હૈં કમી દુઃસરૂપ । કિન્નુ જવ આત્મા પ્રાણાતિપાતાદિ અઠારહ અશુભ વૃત્તિયોં સે ધિરત હોતા હૈં તો સુઝાનુભૂતિ કરતા હૈં । ડસકે અભાવ મેં ડને અનિચ્છિત સ્થાનોં મેં મી ઉત્પન્ન હોના પદ્ધતા હૈં ઔર વેદના કા અનુભવ કરના પદ્ધતા હૈં ।

જિજ્ઞાસુ માધક ને અપના લક્ષ્ય પદ્ધતાના હૈં ઔર અપને લક્ષ્ય કી ઓર વદ્ધતા કે સાથ કદમ વદ્ધા રહા હૈં વહ સંસાર ઔર ડસકી વેદના સે મુક્ત હો નેજ સ્થિતિ મેં પહુંવ સક્તા હૈં । ડસકી ગતિ નિરૂપાધિક હોતી હૈં ।

ટીકા :—ઉત્તરગામિણામપિ સૂત્રાણાં સ દ્વિતીય પાઠ હતિ વક્ષ્યતે । ડર્ધ્વગામિનો જીવાઃ અધોગામિનઃ પુદ્ગલાઃ । કર્મે-પ્રમથા જીવાઃ, પરિણામપ્રમથાઃ પુદ્ગલાઃ । કર્મે પ્રાપ્ય ફલવિપાકો જીવાનાં પરિણામે પ્રાપ્ય પુદ્ગલાનાં । દ્વિતીયપાઠસ્તુ પાપ-કર્મકૃતો જીવાનાં પરિણામઃ સ યવ પુદ્ગલાનામિતિ ।

ન કવાચિદિયં પ્રજા મનુષ્યાદિકાગ્ન્યાચાધસુખમનુપરુદ્ધં સુખં ઇષેત । કશાં કશપિત્વા-હિંસા કૃત્વા । દ્વિતીયપાઠસ્તુ યથા—ન કદાચિત્ પ્રજા પ્રાકાર્ષીદદુઃખમિતિ । જીવા દ્વિવિધાં વેદનાં વેદયન્તિ અનુભવન્તિ । તથથા—પ્રાણાતિપાતેન યાવત્ મિથ્યાદર્શનેન । વિરમણપદં ત્વિહ ન યુજ્યતે । અસ્યેદદ્યમાનત્વાદવૃદ્ધલેક્ષકદોષેણ વિસ્મૃતાનિ કાનિષ્ઠિત્ સૂત્રાણીત્યનુમીયતે । પૂરિતં ત્વિદં છિદ્રમ્ । પુસ્તકેન યથા પૂર્વ યાવત્ મિથ્યાદર્શનશલ્યેન કૃત્વા જીવાઃ શાતનાં વેદનાં વેદયન્તિ । પ્રાણાતિપા-તવિરમણેન તુ યાવત્ મિથ્યાદર્શન-શલ્ય-વિરમણેન કૃત્વા જીવા અશાતનાં વેદનાં વેદયન્તિ । ઇતેનૈવ પ્રકારેણ દ્વિતીયપાઠેન પૂરિતં છિદ્રં યથા—આત્મકૃતો જીવા ભવન્તિ, કૃત્વા કૃત્વા ચદ્ ચદ્ કૃતવન્તસ્તદ્ તદ્ વેદયન્તિ । તદ્ યથા—પ્રાણાતિપાતે યાવત્પરિગ્રહેણેતિ ।

અર્થાત્ પૂર્વ સૂત્રોં કી માંતિ આગે કે સૂત્રોં મેં મી પાઠાન્તર હૈં । જીવ ડર્ધ્વ ગતિશીલ હૈં, પુદ્ગલ અધોગામી હૈં । જીવોં કી ગતિ કર્મે-જન્ય હૈં, જવકિ પુદ્ગલોં કી ગતિ પરિણામજન્ય હૈં । જીવોં કી ગતિ કર્મે ફલ કે વિપાક કો લેકર હોતી હૈં ઔર પુદ્ગલ કી ગતિ પરિણામવિપાક કો લેકર । દુસરે પાઠ કે અનુસાર પાપકર્મ-કૃત જીવોં કે પરિણામ સે ગતિ હોતી હૈં ઔર વહી પરિણામ પુદ્ગલ કી ગતિ કે લિયે નિમ્નિત્ત હોના હૈં ।

યહ મનુષ્યાદિ પ્રજા હિંસા કરકે કમી વાધારહિત સુખ નહીં પા સક્તી । દુસરે પાઠ કે અનુસાર યહ પ્રજા કમી મી દુઃખમુક્ત નહીં હોગી । આત્મા દો પ્રકાર કી વેદના કા અનુભવ કરતે હૈં । જૈસે કિ પ્રાણાતિપાત યાવત્, મિથ્યાદર્શન શલ્ય સે । “વિરમણ”પદ યહો આયા હૈં વદ્દ અનુપયુક્ત હૈં । ડગકે વહાં હોને સે ઇસા ભગતા હૈં વદ્દ લેક્ષક સ્મૃતિ દોષ કે કારણ કુલ્લ સૂત્ર મૂલ ગયે હૈં । દુસરે ભંચર કી પુસ્તક ને ડસ કમી કો પૂરી કરને કી કોશિશ કી હૈં । જૈસે કિ ડગ પ્રકાર મિથ્યા-દર્શન શલ્ય કે દ્વારા ક્રિયા કરકે જીવ સાતવેદનીય કા અનુભવ કરતે હૈં । પ્રાણાતિપાત વિરક્તિ યાવત્ મિથ્યાદર્શન શલ્ય વિરતિ સે ક્રિયા કરકે જીવ અસાત-વેદનીય કા અનુભવ કરતે હૈં (?) ડસી પ્રકાર દ્વિતીય પાઠ સે મી છિદ્ર કો પૂરા ગયા હૈં । જૈસે કિ આત્મા સ્વકૃત કર્મોં કો ભોગતે હૈં । ઓ ઓ વે કરતે હૈં ડરાકો ભોગતે હૈં—જૈસે કિ પ્રાણાતિપાત યાવત્ પરિગ્રહ સે ।

ટિપ્પણી :—પ્રસ્તુત અધ્યાય મેં અનેક પાઠાન્તર હૈં । મૂલસૂત્ર મેં દો પાઠ મિલતે હૈં, જવકિ ટીકાકાર અન્વ પાઠાન્તર મી ઉપસ્થિત્ કરતે હૈં । સાથ હી પ્રસ્તુત સૂત્ર કી ઇક કર્મી કો ઔર મી વે ઇંચિત્ કરતે હૈં કિ જહાં જીવ કો દો પ્રકાર કી વેદના બતાઈ ગઈ હૈં । ડસકે કારણરૂપ પ્રાણાતિપાત વિરમણ યાવત્ મિથ્યાદર્શન શલ્ય વિરમણ દિયા ગયા હૈં । ટીકાકાર કી

दृष्टि में विरमण शब्द यहाँ अनुपयुक्त है। और उस शब्द की यहाँ उपस्थिति बताती है कि कुछ पाठ छूट गये हैं और वे बताते हैं उसकी पूर्ति दूसरी पुस्तक में की गई है। किन्तु उस पुस्तक के पाठ की टीका जो यहाँ दी गई है वह कुछ भ्रम उत्पन्न करती है। क्योंकि वहाँ बताया गया है प्राणातिपात आदि के द्वारा गति करके जीव सातवेदनीय का अनुभव करता है और उससे विरमण अर्थात् विरति के द्वारा असातवेदनीय का अनुभव करता है। यह तो सिद्धान्त के विपरीत जाता है। क्योंकि प्राणातिपात आदि के द्वारा आत्मा असातवेदनीय का अनुबन्ध करता है। और उससे विपरीत के द्वारा सातवेदनीय का अनुभव करता है। टीकाकार ने कौन्सी आशय लिखा है वह समझा नहीं जा सकता। हाँ; यह हो सकता है, आत्मा जब प्राणातिपात आदि किया करता है उस समय सुख का अनुभव करता है अथवा टीकाकार सातवेदनीय का दूसरा अर्थ करते हों यह भी संभव है। आगे चलकर टीकाकार लिखते हैं शातना नाशना वेदना वेदयन्ति अर्थात् शातना नष्ट होनेवाली वेदना को अनुभव करते हैं। यहाँ शातन अशातन से सुख दुःखानुभूति न लेकर नश्वर और अनश्वर अनुभूति लिखा जाय तब तो अर्थ ठीक हो सकता है।

प्रोफेसर शुब्रिन् लिखते हैं पार्श्व के वचनों के सम्बन्ध में वहाँ केवल प्रश्न है। उनके उत्तर के एकीकरण में मुद्रालेख तैयार करते हैं। गति के सम्बन्ध में छद्म प्रश्न जो कि सबसे भिन्न है उसे संक्षिप्त किया गया है। छद्मे प्रश्न के उत्तर के स्थान पर सातवें प्रश्न का उत्तर आ जाता है।

आगे की पंक्तियाँ कुछ स्पष्टीकरण देती हैं। दुनिया के पीछे की स्थिति पर अवलंबित (परिणाम) १-५ तक के उत्तरों में आत्मा और अनात्मा का दहुरे रूप में विच्छेदन किया गया है। धर्म उपदेश में प्रांतीय भाषा के अनुसार पुनः पुनः निर्देश किया गया है। और वे अपनी प्रणालिका के अनुसार उसका पुनः पुनः समर्थन करते हैं और उस स्पष्टीकरण को जीवन्त की स्टेज के साथ जोड़ते हैं।

गति के मूल अर्थ में वाक्य का अक्षरशः अर्थ निजगुणों के द्वारा आत्मा को ऊर्ध्वगामी सिद्ध करता है। क्योंकि और उससे ऊर्ध्वगति बताई जाती है। उसके सामने अजीवकाया के गुण आत्मा से भिन्न है। अतः उसे अधोगामिन कहा गया है। मानव देव आदि गति के भेद दीर्घ दृष्टि सूचित करते हैं। जोकि व्यक्ति पर होनेवाली कर्म की अच्छी या बुरी असर को लक्ष्य करके कहा गया है।

पृथ्वी पर का मानव कभी अबाधित सुख प्राप्त नहीं कर सकता। उसे स्वेर बिहार की छुट्टी दे दी गई है। “कसं कराज्ञा” (आचारांग १५) उसे हानिकारक बताता है। कुछ रूप व्याकरण सम्मत नहीं होने पर भी इसमें रखे गये हैं। कहीं कहीं विरोधाभास भी है जैसे कि मनुष्य दुःख के सिवाय सब उत्पन्न कर सकता है। (प्रकाशित)।

गति वागरणगंथाओ पभिति समाणितं इमं अज्झयणं ताव इमो बीओ पाठो दिस्सति, तंजहा जीवागमणपरिणता, पोगाला चेथ गमणपरिणता।

अर्थ :—गतिव्याकरण ग्रंथ आदि से यह अध्ययन लिया गया है। वहाँ द्वितीय पाठ भी देखा जाता है। जैसे कि जीव गतिशील है और पुद्गल भी गतिशील।

गुज्जरती भाषान्तर :—

गतिनिश्चय ग्रंथ आदिशी आ अध्ययन लक्ष्मीधु छे, त्यां बीजे पाठ पाणु बोवाभां आवे छे, जेम छे एव पाणु गतिशील छे अने पुद्गल पाणु गतिशील छे।

ऋषिभाषित सूत्रकार बोलते हैं कि प्रस्तुत अध्ययन गतिनिरूपक के ग्रन्थ से लिया गया है। वहाँ दूसरा पाठ भी दिखाई देता है। इससे यह फलित होता है कि पार्श्वीय अध्ययन पार्श्व अर्हतरिषि का न होकर किसी दूसरे का है। किन्तु पार्श्व अर्हतरिषि के मुँह से कहलाया गया है। इससे दूसरा तथ्य सामने आता है। ऋषिभाषित सूत्र ऋषियों के द्वारा कहलाया गया है, पर इसका संकलन कर्ता कोई दूसरा है। वह कौन है, कब हुए, कहाँ हुए आदि सभी विषय इतिहास के गर्भ में हैं। उनका समाधान पाने के लिये बहुत बड़ी शोध की आवश्यकता है।

दुखिधा गती पयोगगती य बीससागती य। जीवाणं चेव, पोगगलाणं चेव। उदइय, पारिणामिए गतिभाये। गम्ममाणा इति गति। उद्धङ्गामी जीवा अधगामी पोगगला। पावकम्मकडेणं जीवाणं परिणामे, पावकम्मकडेणं पुग्गलाणं। णकयातिपया अदुक्खं पकासी ति। अत्तकहा जीवा

किञ्चा किञ्चा वेदेति । तं जहा पाणतिचातेणं जाव परिगहेणं । एस खलु असंबुद्धे असंबुद्धकम्ममे चाउज्जामे नियंटे अट्ठविहं कम्मगंठि पगरेति । से य चउहिं टाणेहिं विचागमागच्छति । तं जहा-
गेरहएहि तिरिक्खजोणीहिं, माणुस्सेहिं, वेवेहिं ।

अर्थ :— गति के दो प्रकार हैं । प्रयोगगति और विस्मृतागति, जोकि जीव और पुद्गल दोनों की होती है । औदयिक और पारिणाभिक रूप गतिभाव में गति होती है उसे गति कहते हैं । जीव ऊर्ध्वगामी होते हैं जब कि पुद्गल अधोगामी होते हैं । पाप कर्म करनेवाले जीवों के परिणाम में जीवों की और पाप कर्म वृत्त आत्मा पुद्गलों की गति में भी भ्रंश होता है । यह प्रजा कभी भी अदुःख अवस्था को प्राप्त नहीं करेगी । आत्मा स्वाधीन अवस्था में कर्मों को करके स्वकृत कर्मों को भोगता है । जैसे कि प्राण-तिष्ठन्, यावत्-परिणतः से : वह असंबुद्ध, असंबुद्ध कर्माणि तथा चातुर्याम से रहित अष्टविध कर्मग्रन्थि का बांधता है । वही कर्म चार प्रकार से विपाक रूप प्राप्त करता है । जैसे कि नरक के द्वारा तिर्य्यन् योनियों के द्वारा मनुष्यों के द्वारा और देवों के द्वारा ।

गुजराती भाषान्तर :—

गतिना वे दोह छे. ओक प्रयोगगति अने ओल विस्मृतागति, जे छव अने पुद्गल जनेनी होय छे, औदायिक अने पारिणाभिकरूपने गतिभावमां गति होय छे तेने ज गति छडेवाय छे. छव ऊर्ध्वगामी होय छे अने पुद्गल अधोगामी होय छे. पाप कर्मो करवावाणा छवोना परिणाममां छवोनी गतिमां अने पापकर्म करनार आत्मा पुद्गलओनी गतिमां पायुं भ्रंश अने छे. आवी प्रज कही पायु दुःखरहित अवस्थाने पायी शक्ती नथी. आत्मा स्वाधीन अवस्थामां कर्मो करे छे अने पछी कर्मोना शुभाशुभ परिणामने ओगे छे. जेभ छे प्राणुतिपातथी परिश्रमसुधी. ते असंबुद्ध, असंबुद्ध कर्मां तेमज चातुर्यामरहित आर तरहना कर्मग्रन्थियोने बांधे छे. नरकद्वारा, तिर्य्ययोनिकद्वारा, मनुष्यद्वारा अने देवोद्वारा जेभ आर तरहथी विपाकरूप कर्म प्राप्त करे छे.

गति के दो प्रकार हैं । प्रायोगिक गति और विस्मृतागति । दूसरे के द्वारा आत्मा और पुद्गल गति करते हैं वह प्रायोगिकगति है । जब ये अन्य द्रव्य की प्रेरणा के बिना ही स्वयं ही गति परिणत होते हैं तब वह गति विस्मृता अर्थात् स्वाभाविकगति कहलाती है ।

कर्म बद्ध आत्मा जो भी गति करता है वह प्रायोगिक गति है, क्योंकि उसमें कर्म की प्रेरणा रहती है । मुक्तात्मा की गति वैमलसिक है, क्योंकि कर्म ने मुक्त होकर आत्मा जब ऊर्ध्व गति, करता है उसमें किसी की भी प्रेरणा नहीं होती । कर्मबद्ध आत्मा की गति औदयिक होती है । क्योंकि कर्मोदय के कारण ही उसे चतुर्गति में भटकना पड़ता है । पाप कर्मशील आत्मा गति करता है और वह स्वयं पुद्गलों को गति के लिये प्रेरित करता है । जीव स्वकृत कर्मों को ही भोगता है । भगवती-सूत्र में भी महान संत गौतम प्रभु महावीर से प्रश्न करते हैं—प्रभो ! आत्मा स्वकृत कर्म भोगता है, परकृत भोगता है या तदुभयकृत । उत्तर में सर्वज्ञ भ० महावीर बोले—यह आत्मा स्वकृत कर्मों को ही भोगता है, परकृत या तदुभयकृत नहीं ।

आचार्य अमितगति भी बोलते हैं:—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं सदा ।

— प्रार्थनार्पणविंशति

आत्मा पूर्वबद्ध कृतकर्मों के ही शुभाशुभ फल को प्राप्त करता है । यदि वह परकृत कर्मों को भोगता है तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेगा । इतना ही नहीं अपना नियामक वह स्वयं न रहेगा । अपने सुख दुःख के लिये वह स्वयं उत्तरदायी न रहेगा । सुख के लिये उसे दूसरे से भीख मांगनी होगी, यह कितनी बड़ी गुलामी होगी ।

आत्मा जो भी शुभाशुभ कर्म करता है वह नरकादि चार गति के रूप में भोगता है ।

टीका:—केचित्तु पठन्ति द्विविधा गतिस्तथा—प्रयोगगतिः स्वेच्छया गतिः विस्मृतागतिस्तद्विपरीता जीवानां च पुद्गलानां चेति । को वा गतिभावः अनादिकोऽनिधनो गतिभावः । पाठान्तरं तु यथौदयिकपारिणामिको गतिभाव इति ।

१ (प्र०) जीवानां भन्ते ! अत्तकडं दुक्खं वेदयन्ति, परकडं दुक्खं वेदयन्ति, तदुभयकडं दुक्खं वेदयन्ति (३०) गोयमा जीवा अत्त-
कडं दुक्खं वेदयन्ति, णो परकडं णो तदुभयकडं दुक्खं वेदयन्ति ।

भगवती सूत्र—

केन वार्थेन गतिरिति ? प्रोच्यते गम्यत इति गतिः । अन्ये तु गम्यमाना इति गतिरिति पठन्ति । इमानि चत्वारि पाठान्तरा-
प्यस्याध्ययनस्यान्ते गतिध्याकरणग्रन्थात् प्रभृति सामितं ति यावदयं द्वितीयपाठो दृश्यते इति प्रवेक्षिताति । स एव द्वितीयः
पाठोऽनुबध्यते यथैव खल्वसंबुद्धोऽसंवृतकर्मन्तः स चतुर्थ्यामिको निर्ग्रन्थोऽष्टविधं कर्मग्रन्थि प्रकरोति, स च चतुर्थे स्थानेषु
विपाकमागच्छति तद् यथा नैर्विकेषु तिर्यक्क्षु मनुजेषु, देवेषु । गतार्थः ।

विशेष टीकाकार ने विविध पाठान्तर के साथ प्रस्तुत प्रकरण को स्पष्ट किया है ।

असकडा जीवा नो परकडा किञ्चा किञ्चा वेदंति । तं जहा प्राणातिपातवेरमेणेण जाय परिग-
हवेरमेणेण । एस खलु संबुद्धे कम्मन्ते चाउज्जामे नियंठे अट्टविहं कम्मगाठिं नो पकरोति । से य चउहिं
ठाणेहिं णो विपाकमागच्छति । तं जहा जेरइएहिं निरिक्खजोणिहिं माणुस्सएहिं देवेहिं ।

अर्थः—जीव स्वाधीन रूप से स्वकृत शुभाशुभ कर्मों को करके उसका प्रतिकूल वेदन करते हैं । किन्तु परकृत कर्मों
का वेदन नहीं करते । प्राणातिपात विरक्ति यावत् परिग्रह विरक्ति के द्वारा यह संवृत, कर्मों का अन्त करनेवाला चातुर्थ्याम
धर्म का आराधक निर्ग्रन्थ अष्टविध कर्म ग्रन्थि को बाधता नहीं है और वह कर्म चार रूप में विपाक का भी प्राप्त नहीं
करता जैसे कि नारकों के द्वारा तिर्यचों के द्वारा मनुष्यों के द्वारा और देवों के द्वारा ।

गुजराती भाषान्तर :—

જીવ સ્વાધીનરૂપથી પોતે (શુભાશુભ) કર્મો કરે છે ને તેનો પરિણામ પણ ભોગે છે. પણ બીજાએ કરેલ
કર્મોનો ભોગ કરતો નથી. પ્રાણાતિપાત વિરક્તિયાવત્ પરિગ્રહ વિરક્તિથી જ આ સંવૃત કર્મોનો અંત કરનાર ચાતુર્થ્યામ
ધર્મનો આરાધક, નિર્ગ્રંથ, આઠ તરહની કર્મગ્રંથિને બાંધતો નથી, અને તે કર્મ ચારરૂપમાં વિપાકને પણ પામે નહીં,
જેમ કે નારક કે તિર્યંચો કે મનુષ્ય કે દેવોદ્વારા.

पूर्वसूत्र में असंवृत साधक का रूप बताया गया था । जिस साधक ने कपड़े ल्यागे हैं किन्तु वासना नहीं ल्यागी वह
अपनी वृत्तियों को काबू में नहीं ला सकता और वह सही रूप में वनों की मर्यादा में भी नहीं रह सकता, परिणामतः कर्मों
का अन्त करके आत्मा की शुद्धि स्थिति को भी नहीं पा सकता । उसे पुनः पुनः नारकादि रूप ग्रहण करने होंगे ।

प्रस्तुत सूत्र में उसका विरोधी चित्र है । जो साधक रूप और राग दोनों का ल्यामी है जिसने वज्रों की भांति वासना
भी ल्याग ली है वह अपनी इन्द्रियों पर और मन पर विजय पा सकता है । कर्मों का अन्त कर आत्मा के निज घर में
पहुंच सकता है उसे फिर नारकादि रूप धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती ।

टीका :—आत्मकृतजीवा न परकृताः कृत्वा कृत्वा वेदयन्ति, तद् यथा प्राणातिपातविरमणेन यावत् परिग्रह-
विरमणेन । एष खलु संबुद्धाः संवृतकर्मन्तश्चातुर्थ्यामिको निर्ग्रन्थोऽष्टविधं कर्मग्रन्थि न प्रकरोति । स च प्रागुक्तेषु चतुर्थे
स्थानेषु न विपाकमागच्छति । आविपाठस्तु मिथ्यादर्शनविरमणेनेति प्रभृत्यनुबध्यते । गतार्थः ।

विशेष प्रस्तुत पाठ मिथ्यादर्शन विरमण से सम्बन्धित है ।

લોચ ણ કતાર્હ ણાસી, ણ કતાર્હ ણ ભવતિ, ણ કતાર્હ ણ ભવિરસતિ, ભુવિંચ ભવતિ ય ભવિરસાતિ
ય ધ્રુવે સાસણ, અક્ષય, અવ્યય, અવિટ્ટિય ણિચ્છે કયાતિણાસી જાવણિચ્છા દવામેધ લોકે યિ ણ કયાતિ
ણાસી જાવણિચ્છે ।

अर्थ :—यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है । यह कभी नहीं है ऐसा भी नहीं है । कभी नहीं रहेगा यह भी
संभव नहीं है । यह लोक पहले था वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा । क्योंकि यह लोक ध्रुव है, नियत है, शाश्वत
है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित और नित्य है । जैसे कि पंचास्तिकाय कभी नहीं थे ऐसा नहीं है । यावत् लोक नित्य
है । इसी प्रकार लोक भी कभी नहीं था ऐसा नहीं है यावत् नित्य है ।

गुजराती भाषान्तर :—

આ લોક (ભૂતકાલમાં) કદીપણ ન હતો, એવું નહીં આ કદીપણ નથી એમ પણ નહીં અને (ભવિષ્યમાં)
પણ રહેશે એવો સંભવ પણ નથી. આ લોક પ્રથમ હતો, આજે છે, અને ભવિષ્યકાળમાં પણ રહેશે; કારણ આ
લોક ધ્રુવ (નિત્ય) છે, નિયત છે, શાશ્વત છે, અક્ષય છે, અવ્યય છે, અવસ્થિત છે અને નિત્ય છે. એવીજ રીતે
લોક પણ કદી પણ ન હતો એમ નહીં, તે હંમેશા નિત્ય છે.

प्रस्तुत पाठ में लोक की शायतता बताई गई है। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा से तो लोक प्रतिक्षण विनष्ट भी हो रहा है और नया उत्पन्न भी हो रहा है। किन्तु यहां इच्छार्थिक नय की दृष्टि से लोकव्यवस्था कही गई है। अनंत अनंत काल पूर्व भी लोक लोकभाव में विद्यमान था। वर्तमान में भी उपस्थित है और अनंत अनंत युग बीत जाने पर भी लोक विद्यमान रहेगा।

लोकः पंचास्तिकायत्मकः । धर्माधर्म आकाश पुद्गल और जीव के अतिरिक्त कोई लोक नहीं है। पंचास्तिकाय नित्य है तो लोक भी नित्य है।

टीका:—यथा किन्तु जीवाः शान्तानां नाशनां वेदनां वेदयन्ति । यो यद् अर्थं यद्वस्तुनो विभेति तत् तेन समुच्छे-
स्यते अर्थात् स एव समुत्थास्यति निश्चितकर्णायः । मडाइति मृतादी प्राणुकभोजी, उपलक्षणत्वादेपीयादी त्ति व्याख्या
प्रज्ञसिद्धस्यनुसारेण व्याख्येयम् । गतार्थः ।

स्पर्शकेति स्थाने तु प्राणुकैवयुक्तं प्रवदन्ति वृत्तिकारानुयायिनः । मृतादिनिर्ग्रन्थो निरुद्धप्रपञ्चो व्यवच्छिन्नसंसारो
व्यवच्छिन्नसंसारवेदनीयः । प्रहीणसंसारः प्रहीणसंसारवेदनीयो संसारमार्गान् न पुनरप्यत्रत्यं समागच्छति पार्श्वीयमध्ययनम् ।
गतार्थः ।

द्वितीयपाठस्तु समाप्यते यथा लोको न कदाचिन्नासीत् न कदाचिन्न भवति, न कदाचिन्न भविष्यति अमुत्रभवति
च भविष्यति च ध्रुवो नित्यः शाश्वतोऽश्नमोऽव्ययोऽवस्थितो नित्यो भवति, यथा नाम पंचास्तिकायः न कदाचिन्नासन्न
इत्यादि एवमेव लोकोपि । समाप्तं पाठान्तरम् ॥ गतार्थः ।

विशेष मडाई निर्वन्ते के प्रकरण में स्पर्श के स्थान पर प्राणुक शब्द है किन्तु टीकाकार के अनुयायी उसे अयुक्त समझते हैं।

टिप्पणी:—इस सूत्र के समस्त अध्ययनों की अपेक्षा प्रस्तुत अध्ययन में सर्वाधिक पाठान्तर है। मूलकार की
अपेक्षा टीकाकार ने और भी अधिक पाठान्तर दिये हैं। अतः मूलकार और टीकाकार दोनों साथ नहीं चल सके हैं।
परिणामतः कहीं कहीं टीका मूल से बहुत दूर जा पड़ी है।

प्रोफेसर शुब्रिग् टिप्पणी देते हुए लिखते हैं—

प्रस्तुत प्रकरण के प्रारंभ में कुछ भार है। दुहरे इन्द्रियज्ञान के लिये वहां अवकाश है। आध्यात्मिक असर का निश्चित
प्रारंभ है। आत्मा स्वयं ही अपने द्वारा सुखादि उत्पन्न करता है। कोई भी बाहरी वस्तु उसे सुख या दुःख देने में असमर्थ
है। (आत्मकृतः जीवः, न परकृतः)

पंक्ति नं. ४२ के बाद प्राणतिपात शब्द के बाद खोज करने पर ऐसा लगता है कि वहां कुछ रिक्त स्थान है। उसके
बाद शीघ्र ही “वैरमण” शब्द आ जाता है। जो कि ठीक नहीं है। दूषित कार्य और उसका त्याग ३६ वीं पंक्ति में दिखाई
देता है। किन्तु वह प्रामाणिक किये गये सिद्धान्त के विरुद्ध है और प्राणी दुःख का अनुभव करता है। (सतन) ऐसे
विरोधाभास से संबंधित है जोकि मूल पाठ में नहीं है।

यदि धारे हुए क्रियापद (समुच्छिन्नस्यति और समुत्थितस्यति) ठीक है तो उनका अर्थ यह होगा कि जिससे वह
डरता है उसको दूर करेगा। किन्तु “तं” शब्द वहां नहीं है। और अपने आपको उच्च स्थिति में लाएगा। यहां हम पंचमी
विभक्ति संसार मार्गात् का जोष सकते हैं। किन्तु व्याख्या प्रथम सूत्र बताता है कि “निश्चित करणिले मडाई” पाठ उससे
पृथक् नहीं कर सकते। टीका के अनुसार मडाई मृतादी है, जोकि मृतक को निर्जीव को खाता है। अपने जीवन के लिये किसी
की हिंसा नहीं करता और धर्म क्रिया अनुरूप चलता है। किन्तु “मडाई” का “म” हम कहां से खोज सकते हैं यह समझ
में नहीं आता। शायद ही हम अम्मड (अम्बड) का अन्त में विचार कर सकें।

“लोए” आदि यहां फिट नहीं बैठता। वह चौथे प्रश्न के उत्तर में ठीक रहता।

एवं से सिद्धे बुद्धे । गतार्थः ।

इति एकतीसवां अध्ययन समाप्त

—०००—

१ मडाई नाम गियण्टे निरुद्धभवे, निरुद्धभवप्रपञ्चे, प्रहीणसंसारे प्रहीणसंसारवेदयणिजे, वोच्छिन्नसंसारे वोच्छिन्नसंसारे
वेदयणिजे, गिद्धिय अट्ठके गिद्धिय अट्ठ करणिजे गो पुणरनि इत्थत्थं हव्यमागच्छति । —विवाहपण्णत्ते २५-१-२.

२ इतिभासियाइ जर्मन प्रति ५ पृ० ५३८

पिंग अर्हतर्षि प्रोक्त बत्तीसवाँ कृषि-अध्ययन

शरीर और आत्मा अनादि के सहयात्री हैं। शरीर के लिये भोजन आवश्यक है तो आत्मा भी भूखा नहीं रह सकता। उसे भी भोजन तो चाहिये। किन्तु हाँ, आत्मा का भोजन शरीर के भोजन से भिन्न अवश्य होगा। किसी विचारक ने ठीक कहा है 'शरीर का भोजन अन्न है, तो आत्मा का भोजन अहिंसा है'।

शरीर की खुराक के लिये खेती आवश्यक है तो आत्मा के भोजन के लिये भी खेती चाहिये; किन्तु वह खेती मिट्टी की नहीं मन की होगी।

फिर भी मानव मिट्टी को भूल कर जी नहीं सकता। क्योंकि शरीर की भूख मिट्टी ही मिटा सकती है। उसके लिये जुआर के दाने चाहिये, स्वर्ग के मोती नहीं।

शरीर और आत्मा साथ रह सकते हैं तो अहिंसा और खेती साथ क्यों नहीं रह सकते? जो खेती को एकान्ततः पाप बताते हैं उनके लिये रोटी खाना भी पाप है। खेती यदि महारंभ है तो मांसाहार क्या होगा?

खेती संस्कृति का निर्माण करती है। वह सात्विक अन्न देकर मानव के मन को सात्विकता की ओर मोड़ती है। खेती अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता, उसमें दूसरे के सहयोग की आवश्यकता अनिवार्यतः रहती है। इस रूप में वह सहयोग का पाठ भी पढ़ाती है। जिस देश में खेती नहीं है वहाँ के निवासी मांसाहार की ओर ही बढ़ेंगे। पशुबल के द्वारा प्राप्य मांस मानव मन की सहज कोमलता को छीन लेता है और कृष्ण के अंकुरों को नष्ट कर डालता है। पशुओं की गर्दन पर प्रतिदिन चलनेवाला छुरा आवेश में मानव की गर्दन काटते हिचकता नहीं है। दूसरी ओर उसमें सहयोग भाव का प्रसार भी नहीं हो सकता। क्योंकि शिकार के लिये दूसरे के लिये दूसरों की आवश्यकता भी कम रहती है।

खेती का विकल्प मांसाहार ही हो सकता है दूसरा नहीं और खेती को पाप (महारंभ) बतानेवाले इस तथ्य से आँख नहीं मूंद सकते। भ० महावीर ने कभी भी खेती को महारंभ नहीं बताया, अन्यथा वे अपने उपासकों को कृषि कर्म के परित्याग की प्रेरणा देते। क्योंकि श्रावकत्व और महारंभ में मूलभूत विरोध है, इसीलिये उन्होंने अपने उपासकों को महारंभ के व्यवसायों के परित्याग की प्रतिज्ञा दिलवाई^१ थी।

फोडीकर्म (स्फोटि कर्म) के आधार पर खेती को महारंभ कहनेवाले अभी ऊपरी सतह पर ही हैं, क्योंकि हल के द्वारा हल की रेखा स्फोटकर्म है तो सुरंग आदि में होनेवाले धवाकों को क्या कहेंगे? किन्तु कुछ तो पुराने तत्वज्ञ दाल पीसने के धंधे को भी स्फोटकर्म में गिनकर अपनी प्रतिभा का परिचय देते हैं। किन्तु इस यंत्रयुग में त्रेचारी विधवाओं के दाल पीसने के धंधे को महारंभ कहकर वास्तव में अपनी बुद्धि का प्रदर्शन ही करते हैं।

खेती करना पाप (महारंभ) है तो रोटी खाना भी पाप है। फिर भी हमें इतना विवेक तो रखना होगा कि हम शरीर को खुराक में आत्मा का भोजन न भूल जायें। मानव रोटी दाल का यंत्र न रह जाय। मिट्टी में पलकर भी हमें अमरत्व की ओर बढ़ना है, पृथ्वी पर रहकर भी अपार्थिव से प्रेम करना सीखना है। इसी संकेत पर अर्हतर्षि दिव्य खेती का संदेश देते हैं।

दिव्यं भो किसिं किसेजा, णो अपिणेजा पिंगेण महणापरिवायणं अरहता इसिणा बुरतं।

अर्थ :—हे साधक! तू दिव्य खेती कर उसे छोड़ नहीं। ब्राह्मण परिव्राजक पिंग अर्हतर्षि ऐसा बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

साधक! तू दिव्य खेती करना शुरू कर्या पछी छोड़ पशु काखुने लीधे छोड़ो नहीं। ओम ब्राह्मण परिव्राजक पिंग अर्हतर्षि बोले।

पिंग अर्हतर्षि के सम्बन्ध में वहाँ एक परिचय सूत्र मिलता है। वे ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और बाद में परिव्राजक बने थे। परिव्राजक के रूप में अर्हत्व प्राप्त किया था।

^१ पञ्चसरकम्मादाणारं जाणियन्वा न समापरियन्वा ।—उपासक दशा ।

जिसे सत्यदृष्टि प्राप्त हो चुकी है फिर बाहरी वेश उसके विकास में बाधक नहीं हो सकता। जैनधर्म ने एक दिन आघोषित किया था कि कोई भी लिंग या वेश सत्यदृष्टि पाने में बाधक नहीं हो सकता। वह वेश या रूप को नहीं पूछता; वह तो इतना ही पूछता है क्या आपको सत्यदृष्टि मिल चुकी है? फिर किसी भी रूप में रहो तुम साधना के पथ पर हो। सिद्धिप्राप्ति के पन्द्रह मार्गों में अन्यलिङ्ग सिद्ध को स्वीकार कर जैनदर्शन बहुत बड़ी विचार कान्ति का परिचय देता है।

स्वयं भगवान् महावीर के युग में बहुत से ऐसे साधक थे जिनका वेश और क्रियाकाण्ड दूसरी संप्रदाय का था, किन्तु अन्तर से प्रभु महावीर के भक्त थे, इसी लिये अन्तर्दृष्टि भगवान् महावीर ने उन्हें अपनाया ही नहीं थायक के रूप में स्थान भी दिया। अबंड परिव्राजक ऐसा ही साधक था जिमने परिव्राजक के रूप में ही भगवान् महावीर की उपासना की थी। भगवान् महावीर की देशना ने इन्हें काफी प्रभावित किया था, फिर भी वे अपने परंपरागत वेश का मोह छोड़ नहीं सके तो भगवान् महावीर ने कहा मुझे मिलने में वेश वीचर नहीं बन सकता।

अर्हतरि पिंग भी ब्राह्मण परिव्राजक थे और उन्होंने उसी रूप में सत्यदृष्टि पाई थी, इसीलिये सूत्रकार ने विशेष रूप से इनका परिचय दिया है जोकि जैनदर्शन की विशालता का परिचायक है।

वे ही अर्हतरि पिंग दिव्य खेती की प्रेरणा दे रहे हैं। अनंत युग जीने पार्थिव खेती करते, अब जरा आत्मिक खेती की ओर लक्ष्य दे। वह सूना पड़ी है। एक कण भी उसमें बोया नहीं गया है। छत्तीसवें अध्यायन में मार्तण्ड अर्हतरि भी इन्हीं शब्दों में दिव्य कृषि का उपदेश देने हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्यायन में भी आत्मिक खेती का संकेत मिलता है। थपाक कुलोत्पन्न हरिकेशी मुनि ब्राह्मण कुमारों को कहते हैं—

कृषक जिस भावना को लेकर उब भूमि में बीज बोते हैं उसी भावना से निश्च भूमि में भी बीज डालते हैं, इसी शब्द से तुम मुझे भी दो और इस पुण्य क्षेत्र की आराधना करो।

टीका — दिश्यां भो कृषिं कृषेत् नार्पयेत् । गतार्थः ।

कतो छेत्तं कतो वीर्यं कतो ते जुगणंगलं ।

गोणा वि तेण पस्सामि, अज्जो ! का णाम ते किसी ? ॥ १ ॥

अर्थ :—तुम्हारा क्षेत्र (खेत) कहाँ है, तुम्हारे बीज कहाँ हैं और तुम्हारे जुगलंगल कहाँ हैं? तुम्हारे पास गोवाम भी दिखाई नहीं देते। फिर आर्य! तुम्हारी खेती क्या है?

गुजराती भाषांतर :—

तमारुं भेतारुं क्यां छे? तमारुं बीजुं क्यां छे? अने तमारो जुगलंगल (संगर) क्यां छे? तमारे पास तो गायनुं वासरुं भालुं क्यां छे भातुं नहीं। तारे छे आर्य! तमारी भेती देवी छे?

पिंग अर्हतरि ने जब दिव्य खेती निरूपण किया तो कृषक ने प्रश्न किया तुम्हारी खेती क्या है, तुम बोलते हो मैं दिव्य खेती करता हूँ, किन्तु खेती के उपयोगी एक भी प्रसाधन तुम्हारे पास दिखाई नहीं देता, न खेत है न बैल, न जुगलंगल और न बीज है, फिर तुम बीनसी खेती करते हो?

टीका :—कृतः क्षेत्रं कुतो बीजं कुतस्तव जुगलंगले? ना अपि तव न पश्यामि हे आर्य ! का नाम तव कृषिरिति प्रश्नाः । गतार्थः ।

आध्यात्मिक खेती के प्रसाधन बताते हुए अर्हतरि बोलते हैं—

आता छेत्तं तवो वीर्यं संजमो जुगणंगलं ।

अहिंसा ससिती जोज्जा पसा धम्मंतरा किसी ॥ २ ॥

अर्थ :—आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, और संयम ही जुगलंगल है। अहिंसा और सभिति जोड़ने लायक (सुन्दर बैल) हैं, यह धर्मान्तर कृषि है।

१ शकेसु वीर्याश्च व्रतंते कासगा तदेव निन्नेसुय आसवाए । पयाहि सुद्धादि दलाहि मज्झं आराहण पुण्य भिणं सु खितं उत्तरा० अ० १२ । भा० १२.

गुजराती भाषान्तर :—

પોતાનો આત્મા જ યુગલાંગલ (લંગર) છે, અહિંસા અને સમિતિ બોડવા લાયક (પુષ્ટ બેલ) છે, અને આ ધર્માતર જ કૃષિ (ખેતી) છે.

આધ્યાત્મિક છેતી કે પ્રસાધન મી આધ્યાત્મિક હી હોગે । મૌતિક સાધનો સે આત્મા કી છેતી નહીં હો સકતી । અર્હતર્ષિં उसी आत्मिक છેતી કા નિરૂપણ કરતે હુए कहते हैं आत्मा ही मेरा क्षेत्र है, तप धीज है, संयम ही युगलांगल रहता है । अहिंसा और पंच समिति છેતી કે लिये पुष्ट वृषभ हैं, यही मेरी आध्यात्मिक છેતી (की सामग्री) है ।

साधना का मूल प्राण आत्मा है । आत्मा ही वह तत्व है जिसके आधार पर धर्म का भवन टिक सकता है, आत्मा को स्वीकार नहीं किया जाय फिर कैसा धर्म, किसकी शुद्धि के लिये साधना की जाय ! । आत्मा है तो प्रश्न होगा उसका रूप क्या है ? देह के गुणधर्म आत्मा के गुण के धर्मों से निश्चित ही भिन्न हैं । क्योंकि देह से आत्मा भिन्न है । फिर वह शुद्ध शुद्ध आत्मा संसार के कीचड़ में क्यों फंसा है और वह पुनः शुद्ध स्थिति पा सकता है या नहीं ? यदि पा सकता है तो उसके उपाय क्या हैं ? इन सभी प्रश्नों के समाधान में अध्यात्म फिलासॉफी आई है और वह कहती है आत्मा का शुद्ध स्वरूप भिन्न है, किन्तु वासना के कारण वह संसार के कीचड़ में लिप्त है । वह शुद्ध स्थिति पा सकता है उसका साधन है तप, संयम, अहिंसा और पंच समितियाँ । यहाँ रूपक के द्वारा अर्हतर्षिं इसी तत्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं ।

टीका :—आत्मा क्षेत्रं तपो धीजं संयमो युगलांगले । अहिंसा समितिश्च योग्या, एषा धर्मान्तरा धर्म-मर्मा कृषिः । गतार्थः ॥

एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स विचाहिता ।

एसा बहुसई होइ परलोकसुहावहा ॥ ३ ॥

अर्थ :—यह છેતી शुभतर है, किन्तु निर्लोभ व्यक्ति ही इसे कर सकता है । यह છેતી अतिसुन्दर है और परलोक में सुखप्रद है ।

गुजराती भाषान्तर :—

આ ખેતી વધારે શુભ (શુદ્ધ) છે, પરંતુ લોભવગરનો માણસ જ આવી ખેતી કરી શકે છે, આ ખેતી આ લોકમાં ઘણી જ સુંદર છે, અને પરલોકમાં પણ મુખ્ય આપનાર છે.

આત્મિક છેતી શુભ યા શુદ્ધ है, किन्तु इसे करने के लिये तृष्णाविहीन मन चाहिये । क्योंकि लोभी बहुरा है, आत्मा के स्वर नहीं सुन सकता है । एक विचारक ने कहा है - लोभी का मन रेगिस्तान की उस बंजर भूमि जैसा होता है जो तमाम बरसात और जोस को सोख लेती है किन्तु कोई फलद्रुम, जड़ी या बूटी नहीं उगाती । उसके मन के रेगिस्तान में शान्ति की लता उग नहीं सकती । ओंस से कुआ नहीं भरता । ऐसे धन से लालची की आंख नहीं भरती । जब पैसे में सुख देखनेवाला चैतन्य की लक्ष्मी नहीं पा सकता ।

आध्यात्मिक છેતી ચૈતન્ય કી લક્ષ્મી है । उसे संतोषी मन ही पा सकता है । पार्थिव છેતી शरीर की भूख मिटाती है जब कि आध्मिक છેતી આત્મા की भूख मिटाती है । पहली છેતી इस जीवन के लिये सुखप्रद है, तो दूसरी છેતી परलोक में हितप्रद है ।

अहिंसा की છેતી परलोक में अवश्य सुखप्रद होती है इसमें किसी के दो मत नहीं हो सकते । किन्तु इससे यह तात्पर्य निकालना गलत होगा कि अन्न की છેતી परलोक में दुःखप्रद होगी । आगम साक्षी है, भगवान् महावीर के उपासक स्वयं છેતી करते थे और उनका पारलौकिक जीवन भी उतना ही सुखप्रद था जितना कि इहलौकिक जीवन । છેતી का निषेध करने का यह मतलब होगा कि मांसाहार को प्रोत्साहन देना जोकि निश्चयतः दुःखावह है ।

टीका :—एषा कृषिः अलुब्धस्य पुरुषस्य शुभतराऽतिशुभा व्याख्याता । एषा बहु-सती अतिसाध्वी परलोकसुखावहा च भवति ।

१ नलिन्या च यथा नीरं मित्रं तिष्ठति सर्वदा । अयमात्मा स्वभावेन देहे तिष्ठति सर्वदा ।—परमानंदपंचविंशति २ ईशा भाषेण-
दान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।—तात्पार्थिवसूत्र अ. ९ सू. ५. ३ शुद्धतरा.

पयं किंसि कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहा ।
माहणे खत्तिप वेस्से सुद्धे वा वि य सिज्झति ॥ ४ ॥

अर्थ :—प्राणि मात्र पर दया का क्षरना बहानेवाली इस जेती को करके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र भी सिद्ध स्थिति को पा सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

હરથેક પ્રાણીઉપર દયાનું અરણુ હમેશાં ચાલુ રાખનારી આ ખેતીને કરી બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્ય અને શૂદ્ર પણ સિદ્ધિપદને પ્રાપ્ત કરી શકે છે.

जिसके मन के कोने में प्राणि मात्र के प्रति दया और प्रेम का क्षरना फूट पड़ा है । जिसका कर्ण निरंतर देश, काल पंथ और संप्रदायों के गड्ढों में कैद नहीं होता, अपितु मानव मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के लिये मुक्त रूप में बहता है । वही सिद्धि-स्थिति पा सकता है । फिर वह चाहे किसी भी जाति में जन्मा हो, किसी भी पंथ में पला हो जिसने आत्मा के क्षेत्र में कर्ण के बीज डाले हैं वह बन्धनातीत है । एक इंग्लिश विचारक भी बोलता है - Paradise is open to all kind hearts. दयालु हृदय के व्यक्ति के लिये स्वर्ग के द्वार सदैव खुले हैं, दया ही एक ऐसा तत्व है जो मानव में मानवता की प्राण प्रतिष्ठा कर सकता है । उसी पर हमें गर्व होना चाहिये ।

मानव यदि यह अहंकार करे कि मैं आकाश में उड़ सकता हूँ किन्तु आकाश में उड़ना कोई चमत्कार नहीं है । एक गन्धी मक्खी भी आकाश में उड़ सकती है । यदि वह अहंकार करे कि मैं विशाल काय महासागरों को पार कर सकता हूँ; वह भी उसका मिथ्या अहंकार है, क्योंकि एक मछली भी पानी में तर सकती है, किन्तु यदि वह बोलता है मेरे दिल में दया का क्षरना बह रहा है तो सचमुच वह उसके गौरव की वस्तु होगी ।

जिसके दिल में दया है वही दिल का अमीर भी है । उसका हृदय सदैव प्रसन्नता से भरा रहता है । एक विचारक बोलता है—

A kind heart is a fountain of gladness, making everything in its vicinity freshness into smiles.—1 इविंग्—

दयालु हृदय प्रसन्नता का फौवारा है जोकि अपने पास की प्रत्येक वस्तु को मुस्कानों में भरकर ताजा बना देता है ।

वास्तव में आज हम एक दूसरे के इतने निकट हैं एक दूसरे के प्रति विश्वास और निष्ठा है वह सब दया की देन है, क्योंकि दया वह सुनहरी चेन (जंजीर) है जो समाज को संगठित रखती है ।

Kindness is the golden chain by which society is bound together.

वास्तव में जिसके हृदय में दया का क्षरना बह रहा है स्वर्गीय आनंद उसके हृदय में नृत्य करता है ।

टीका :—एतां कृषिं कृष्ट्वा सर्वसत्त्वदयावहा । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रोऽपि वा सिध्यति । पिंगाध्ययनम् बहुविधस्य द्वितीयपाठ । गतार्थः ।

प्रस्तुत अध्ययन में छब्बीसवें अध्ययन के द्वितीय पाठ के समान है ।

पयं से सिद्धे बुद्धे ॥ गतार्थः ।
इति पिगअर्हत्तर्पिप्रोक्त बत्तीसवां अध्ययन ।



महासाल पुत्र अरुण अर्हर्षि प्रोक्त

तैत्तिरीयसंवां अध्ययन

मानव के पास दो शक्तियाँ हैं- एक जीभ और दूसरा जीवन। जीभ तो यद्यपि पशु को भी मिली है किन्तु पशुओं की जीभ उनके भावों को स्पष्टतः अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। जबकि मानव को कुदरत की यह देन है कि वह अपने विचारों को वाणी के द्वारा अभिव्यक्त कर सकता है। देखना यह है वाणी का वरदान पाकर मानव उसका उपयोग किस ढंग से करता है। वाणी के द्वारा हम दूसरों के हृदय के घावों को भर सकते हैं और उसके जीभ के द्वारा दूसरे के दिल में घाव भी कर सकते हैं। किन्तु यह भूलना न होगा कि जीभ के द्वारा किया गया जख्म तलवार से भी गहरा होता है। महान् विचारक पाइथेगोरस ने कहा है- *A wound from a tongue is worse than a wound from a sword, for the latter affects only the body, the former the spirits.* जिह्वा का घाव तलवार के घाव से बुरा होता है, क्योंकि तलवार शरीर पर आघात करती है जब कि जिह्वा आत्मा पर। एक जापानी कहावत भी है 'जीभ केवल तीन इंच लंबी है जब कि वह छः फूट ऊँचे आदमी को समाप्त कर सकती है'। किन्तु जिह्वा का यह उपयोग मानव की मान्यता से उचित रहता है।

एक नैय जीभ को देखकर भीतर का हाल बता सकता है। इसी प्रकार जीभ के द्वारा व्यक्ति की भीतरी अच्छाई और बुराई का पता लग सकता है। यह विद्वान् है या मूर्ख है यह वाणी के द्वारा जाना जा सकता है। मूर्ख के सिर पर सिंग नहीं होते और विद्वान् के हाथों में कमल नहीं खिला करते, किन्तु जब वे मुँह खोलते हैं तभी उनकी कुलीनता का परिचय होता है।

वाणी के साथ आचरण आता है। वाणी सुन्दर है और आचरण दूषित है तब भी जीवन में सुन्दरता नहीं आ सकती। संपत्ति का भी प्रभाव होता है। वक्तृत्व कला में भी जादू होता है। सौन्दर्य में भी एक आकर्षण होता है, किन्तु समस्त प्रभाव उसी क्षण समाप्त हो जाते हैं जब कि जीवन का प्रभाव समाप्त हो जाता है। एक विचारक के शब्दों में-

A beautiful behaviour is better than a beautiful form, it gives a higher pleasure than statues and pictures, it is the finest of the fine arts.

सुन्दर आकृति की अपेक्षा सुन्दर आचरण श्रेष्ठ है। क्योंकि यह मूर्तियों और फोटुओं से भी अधिक आनन्द देता है। यह समस्त कलाओं में श्रेष्ठ कला है। जिसने वाणी और वक्त्र (आचरण) की कला पाई है वही विद्वान् है। प्रस्तुत अध्याय इसी भित्ति पर खड़ा है।

दोहिं ठाणेहिं बालं जाणेज्जा दोहिं ठाणेहिं पंडितं जाणेज्जा ।

सम्भाषओणं; मिच्छा पओतेणं कम्मणा भासणेण थ ।

अर्थ :—दो स्थानों से मानव का बाल रूप प्रकट होता है और दो स्थानों से पंडित जाना जाता है। सम्यक् प्रयोग और मिथ्या प्रयोग से; कर्म से और भाषण से।

गुजराती भाषान्तर :—

भाषुसनुं आक्षिप्ये अरुणोधी साक्ष साक्ष (अर्थ) ज्ञाया छे, अने अरुणोधी पंडितने ओणभी शक्य छे. ते आ छे-सम्यक् प्रयोग, मिथ्या प्रयोग, कर्म अने भाषणुधी.

ज्ञानी और अज्ञानी की पहचान क्या है? उसके उत्तर में अर्हर्षि कहते हैं-हर आत्मा में अनंत शक्ति है। उस शक्ति का वह उपयोग किस रूप में करता है उसी आधार से बताया जा सकता है कि यह विद्वान् है या मूर्ख। शक्ति राक्षस को मिली थी तो शक्ति हनुमान को भी मिली थी। एक ने अपनी शक्ति का उपयोग असदाचार में किया तो दूसरे ने अपनी शक्ति एक महापुरुष की सेवा में समर्पित कर दी। इसीलिये एक ने विश्व से घृणा पाई जबकि दूसरे को दुनिया ने पूजा है।

शक्ति का सम्यक् प्रयोग करने पर मानव का पंडित रूप व्यक्त होता है और जब कि आत्मा की शक्ति मिथ्या प्रयोग की और होती है तब वह बाल कहलाता है। यह सम्यक् और मिथ्या प्रयोग वाणी और कर्मी दोनों प्रकार का होता है।

टीका :—द्राभ्यां स्थानाभ्यां बालं जानीयात्, द्राभ्यां स्थानाभ्यां पंडितं जानीयात्, यथा सम्यक् प्रयोगेन च मिथ्याप्रयोगेन च कर्मणा भावणेन चेति श्लोकार्थम् । गतार्थः ।

सुभासियाहं भासाय सुकडेण य कम्मुणा ।

बालमेतं वियाणेज्जा कल्लाकल्ल-विणिच्छण ॥ १ ॥

अर्थ :—दुर्वर्चन बोलने, दुष्कृत्य करने तथा कार्याकार्य के विनिश्चय के द्वारा यह बाल (अज्ञानी है) ऐसा समझा जा सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

भराभ वातो करवाथी, भराभ काम करवाथी अने कार्य अने अकार्यना निर्णय (केवी रीते करे छे ते) थी आ भासुस याव ओटवे अज्ञानी छे ओम समझ सकाय छे.

वाणी मन का विश्व है। जीभ के द्वारा जीवन परखा जाता है। जब मानव के मुंह से कटु शब्द निकलते हैं तो समझ लेना होगा भीतर कटुता मरी है। शीशी में इत्र भरा है या गटर का पानी यह निर्णय उसी क्षण हो जाता है जबकि उसका ढक्कन (बुच) खोला जाए। ऐसे ही यह विद्वान है या मूर्ख यह निर्णय भी उसी क्षण हो जाता है जब कि उसके मुंह का ढक्कन खुलता है। किन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिये कि कटु और तीखे शब्द कगजोर पक्ष की निशानी है। मनुष्य हंसी और मजाके में कभी व्यंग के बाण छोड़ता है। किन्तु वे व्यंग के विष वृक्ष बाण हृदय की प्रसन्नता छीन लेते हैं। अतः ऐसी मजाकों से हमें बचना चाहिये जो हमारे मित्र के लिये तीर का काम दे। एक इंग्लिश विचारक बोलता है—Give yourself to be merry, but let your mirth be ever Void of all courtesly and biting words to any man for a wound given by a word is often times harder to be cured than that which is given with the sword.

तुम अपने आपको विनोद में रखो, किन्तु असभ्य भाषा और काटनेवाले शब्दों से तुम्हारे विनोद को दूर रखो, क्योंकि किसी भी मनुष्य पर किये गये शब्दिक घाव का भरना तलवार के घाव से भी अधिक कठिन होता है। अतः हमारे व्यंग विनोद भी मधुर हों किसी के दिल में छेद दें ऐसा नहीं होना चाहिये। साथ ही हमारे कार्य भी सुन्दर होने चाहिये। मधुर हैं किन्तु कार्य कटु है तो ऐसी मधुर शब्दावलि कोई महत्व नहीं रखती। वह तो “विषकुंभे पयोमुखं” है। अतः वाणी का साधुर्य जीवन में उतरना चाहिये। साथ ही हमारी विवेक दृष्टि सदैव खुली रहनी चाहिये। यदि विवेक का प्रदीप बुझ गया तो जीवन की अंधेरी रात में कर्तव्य की प्रेरणा नहीं मिल सकती।

हां, तो हमें याद रखना है जिसकी वाणी से अशुभ शब्द निकलते हों, जीवन दुष्कृत्यों से दूषित हो और जिसका विवेक क्षीयक बुझ गया हो वह अज्ञान से आवृत है, फिर उसने चाहे जितने शास्त्र क्यों न रट रखे हों।

टीका :—दुर्भाषितया भाषया दुष्कृतेन च कर्मणा, कार्याकार्यविनिश्चये बालमेतं विजानीयात् ।

सुभासियाहं भासाय सुकडेण य कम्मुणा ।

पंडितं तं वियाणेज्जा धम्माधम्म-विणिच्छण ॥ २ ॥

अर्थ :—दुर्भाषित वाणी, सुन्दर कृत्य और धर्माधर्म के विनिश्चय के द्वारा पंडित की पहचान होती है।

गुजराती भाषान्तर :—

विद्वान भासुसनी साथी ओणभासु तेना ओलवा-यालवा उपरथी, सारा कार्यो अने धर्माधर्मेना निर्णय उपरथी तरतश्च थर्णिज्य छे.

व्यक्ति की अच्छाई बुराई की पहचान उसकी वाणी और कार्यों के द्वारा होती है। स्थूल माप दंडों के द्वारा व्यक्ति मापा नहीं जा सकता। आज व्यक्ति पैसे के गज से मापा जाता है और सोने के पाटों द्वारा तोला जाता है। जिसके पास अधिक संपत्ति और वैभव विलास के प्रसाधन हैं वह श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु व्यक्ति को इस रूप में तोलकर हम अप्रत्यक्ष

रूप से उस सोने का शासन स्वीकार कर लेते हैं, जोकि अनुभव हीन है। उसे शासक बनाकर समाज में से अच्छाईयों को देश निकाला देते हैं। पैसा नौकर अच्छा है किन्तु उसे स्वामी बनाकर तो हम अपने आपको मानसिक गुलामी की जंजीरों में जकड़ देते हैं। Money is a good servant but a bad master पैसा नौकर अच्छा है किन्तु स्वामी के रूप में पैसा बहुत बुरा है। व्यक्ति की अच्छाई पैसे के द्वारा न मापी जाकर उसकी मधुर वाणी और अच्छे कार्यों द्वारा मापी जानी चाहिये।

सुभासियाए भासाए दुकडेण य कम्मुणा ।

जोगक्खेमं वहंतं तु उसु वायो व सिंचति ॥ ३ ॥

अर्थ :—दुभाषित वाणी और बुरे कार्यों के द्वारा जो योगक्षेम का वहन करना चाहता है वह मानो ईश को वायु से सिंचन करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

भराण (बूँद) ओझी, अने भराण कामो करी पोतानी छंडगीनी गुजरखु करवा आहजार भाणुस पवनथी शेरडीने (सिंचन करी) छवता राखवा भागे छे.

मधुर वाणी में शक्ति बसती है और सुन्दर आचरण में पवित्रता रहती है। किन्तु जिसके पास दोनों का अभाव है वह मन का दरिद्री है। उसके पास योग और क्षेम दोनों ही नहीं आ सकते। असभ्य वाणी और बुरे कार्यों के द्वारा जो व्यक्ति योगक्षेम चाहता है उसका कार्य वायु के द्वारा शूँ के सिंचन सा निष्फल है।

टिप्पणी—‘उसुवायो’ शब्द अप्रचलित है। कोश में भी परिच्छिन्न नहीं होता। उसका एक संभावित अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—इच्छात-शूँ के पत्रों का सिंचन; यह भी एक निष्फल क्रिया ही है।

सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा ।

पज्जणे कालवासी वा जसं तु अभिगच्छति ॥ ४ ॥

अर्थ :—दुभाषित वाणी और सुन्दर कृत्यों के द्वारा मानव समव पर बरसनेवाले मेघ के सदृश यश को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

भीडी वाणी ओझी अने सारा कृत्यो करनार भाणुस समय पर आवेला मेघराजनी जेभ सर्वत्र वप्पाशाय छे.

जिसकी वाणी में अमृत बरसता हो और जिसके जीवन में सदाचार की सौरभ है उसका जीवन उतना ही यशस्वी होता है जितना कि समय पर बरसनेवाला मेघ।

टीका :—सुभाषितया भाषया सुकृतेन च कर्मणा । पर्जन्यः कालत्रयीं व यशोऽभिगच्छति । गतार्थः ।

जेव चालेहि संसग्गि जेव चालेहि संथवं ।

धम्मधम्मं च चालेहि जेव कुज्जा कडाइ यि ॥ ५ ॥

अर्थ :—साधक अज्ञानियों का संसर्ग न करे और न उनसे परिचय ही रखे। उनके साथ धर्माधर्म की चर्चा भी न करे।

गुजराती भाषान्तर :—

साधके अज्ञानी भाणुसोथी छेडे न रहेवुं जेधं अने तेवा भाणुसो साथे पोतानो संयंघ पखु राखवो नही अने तेवा भाणुसो साथे धर्म-अधर्मनी अर्या पखु करवी नही.

प्रस्तुत गाथा में साधक को अज्ञानियों के संसर्ग से दूर रहने की प्रेरणा दी गई है। क्योंकि मूर्ख व्यक्तियों का परिचय भी कष्टप्रद होता है। कोयले का व्यापार करनेवाले के हाथ काले हुए बिना नहीं रहते। ऐसे ही अज्ञानियों से अति परिचय रखनेवालों का जीवन भी उज्ज्वलता को खो बैठता है।

“जैसा संग वैसा रंग” मनुष्य जिसके साथ रहता है वैसा बन जाता है। एक कहावत है यदि तुम मेड़िये के साथ रहोगे तो गुराँदा भी सीख जाओगे। यह तो देखा गया है कि बकरी चरानेवाला बकरी की भाँति झुंझकर पानी पीता है।

इंग्लिश विचारक बोलता है—

Tell me with whom thou art found
and I will tell thee who thou art.

यदि मुझे मालूम हो जाय कि तुम किसके साथ रहते हो तो मैं बता सकता हूँ कि तुम कौन हो। प्याज का साथ करनेवाली थैली से प्याज की बाख़ आयेगी और गुलाब के फूलों का साथ करनेवाली थैली में फूलों की सौरभ आयेगी।

यद्यपि निश्चय दृष्टि में एक आत्मा न दूसरे को स्रष्टा सकती है, न उसे बिगाड़ ही सकती है। यदि उसमें विकृति होने का गुण है तो बाहरी सत्ते मिलित कर सकता है। लकड़ में जलने का स्वभाव है तभी तो आग उसे जलाती है। पत्थर में वैसा स्वभाव नहीं है अतः दुनियाँ की कोई भी आग उसे जला नहीं सकती। इसी प्रकार जिसमें विकृत होने का स्वभाव है उसे ही बाहरी संयोग बिगाड़ सकते हैं। साथ ही उसके पतन का समय है तभी उसे ऐसा संयोग मिलता है। यदि उसका उदयकाल है तो उसे निमित्त भी सुंदर मिलेंगे।

फिर भी भावी भाव का ज्ञान न रखनेवाला जन सामान्य निमित्त से प्रभावित हो ही जाता है। हाँ, जिनकी चेतना जागृत है और जो विविष्ट स्थिति तक पहुँच चुके हैं फिर बाहरी निमित्त उन्हें प्रभावित नहीं कर सकते हैं। गौशालक का निमित्त पाकर भी भगवान् महावीर की आत्मा विकृत नहीं हो सकी, क्योंकि वे निम्न भूमिकाओं को पार कर गये थे और विकारों पर विजय पाने की उनमें क्षमता भी थी। इसीलिये अशुभ वातावरण भी उनकी शुभमृत्ति को अशुभ में मोड़ नहीं सका। फिर भी जन साधारण को चाहिये कि जब तक उच्च स्थिति पर पहुँच न जाए तब तक सुन्दर निमित्तों के बीच रहे, ताकि सुन्दर संस्कार मिलते रहें। क्योंकि यदि शरीर स्वस्थ और सबल है तो बाहर के कीटाणु उग्र पर आक्रमण नहीं कर सकते। उसके शरीर के कीटाणु रोग के कीटाणुओं से लड़ सकते हैं, किन्तु यदि शरीर दुर्बल है और हार्ट कमजोर है तो रोग के कीटाणु बहुत जल्दी असर कर सकते हैं। इसीलिये तो डाक्टर रोगी को स्वच्छ वातावरण में रहने की खास हिदायत देते हैं। इसीलिये जन साधारण को भी चाहिये, कि जबतक चेतना पूर्ण विकसित न हो तब तक दूषित वातावरण से अवश्य बचता रहे।

इहेवाकित्ति पावेहि पेष्वा गच्छेद्दोग्गतिं ।

तम्हा धालेहिं संसर्गि णेव कुज्जा कदावि वि ॥ ६ ॥

अर्थः—पापों के द्वारा यहाँ भी अपयश मिलता है और बाद में आत्मा दुर्गति को जाता है। अतः नाथक अज्ञानी आत्माओं का संसर्ग कभी न करे।

गुजराती भाषान्तरः—

पापों (भराव कामों) करवाथी आ अवमां पापु अपयश भणै छे अने पछी ते आत्मा दुर्गतिने प्राप्त करै छे, भाटे साधके अज्ञानी आत्माओंने साथे छोड़ तरहनी संबंध छोड़ पापु संयोगमां न करवो ज्येछे छे.

पूर्व गाथा में साधक को अज्ञानी आत्माओं से दूर रहने की प्रेरणा दी गई थी। यहाँ उसका प्रतिफल बताया गया है। मूर्खों का संग यहाँ भी अयश को दिलाता है। जो मूर्खों के परिचय में रहता है और उनके इशारों पर काम करता है दुनियाँ उसे भी कभी सम्मान नहीं देती। साथ ही जब वह यहाँ से विदा लेता है तो परलोक में उसे सुन्दर स्थान नहीं मिलता। अतः वह उभयतो भ्रष्ट होकर अशान्ति पाता है। अतः विचारशील साधक अज्ञानियों के संग से दूर रहे। भगवान् महावीर ने साधक को प्रेरणा दी थी : अज्ञानियों के संग से दूर रहो।

साह्वहिं संगमं कुज्जा साह्वहिं चैव संथयं ।

धम्माधम्मं च साह्वहिं सदा कुब्बिज्ज पंडिय ॥ ६ ॥

अर्थः—साधक साधु पुरुषों का संगम करे और साधु पुरुषों का ही संस्तव करे। प्रज्ञाशील पुरुष धर्म की चर्चा भी साधु पुरुषों के साथ ही करे।

गुजराती भाषान्तरः—

साधके सङ्गनो साथेव संबंध राखवो ज्येछे छे, अने साधुपुरुषोनी व स्तुति करवी. तेमज्ज शुद्धिमान् पुरुषे धर्मनी चर्चा सङ्गनो साथे व करवी.

साधुपुरुषों का परिचय जीवन का निर्माण करता है। बबूल की छाया में काँटे मिलते हैं और नीम के निकट जाने पर शुद्ध वायु मिलती है। ऐसे ही जीवन के कलाकारों के पास जीवन-निर्माण की प्रेरणा मिलती है और अज्ञानियों के निकट जीवन को मिराने की शक्ति मिलती है।

यद्यपि हमारे उत्थान और उतथान का दायित्व हम पर ही है फिर भी निमित्त भी एक चीज है। अतः जब तक हमें जीवनधारा का सार्वभौम ज्ञान नहीं है तब तक अशुभ निमित्तों से बचना आवश्यक हो जाता है। अतः साथक सर्वत्र कुंतिस्त 'पुरुषों के संग से बचकर सज्जनों का साहचर्य करे। भले ही वे उपदेश न दें, किन्तु सज्जनों का संग ही शास्त्र है। महापुरुष बाणी की अपेक्षा जीवन से अधिक उपदेश दे देते हैं। और धर्माधर्म की चर्चा भी साधु पुरुषों के साथ ही करना योग्य है। क्योंकि नूतनों के साथ की गई चर्चा में कभी तत्त्व नहीं मिल सकता। उनके पास अपशब्द एवं गालियाँ का अजस्र प्रवाह गिरा रहता है और वह सबके लिये तानानरूप से बहता रहता है। अतः उनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है। विचारकों के साथ तत्त्वचर्चा में उनके सस्तिष्क का चिन्तन मिलता और नये विचार मिलते हैं।

टीका :—साधुभिः संगमं च संस्तवं च धर्मं च कुर्यादिति स्पष्टं, कुतस्तु धर्मस्य विपरीतमधर्मं कुर्यादिति न ज्ञायते।

अर्थात् साधुओं के साथ संगम, संस्तव और धर्म करे यह तो स्पष्ट है। किन्तु धर्म से विपरीत अधर्म क्यों किया जाय यह समझ में नहीं आता।

टीकाकार को सज्जनों के साथ धर्माधर्म करने में संदेह हो रहा है। यदि यहां केवल धार्मिक क्रिया से सम्बन्धित बात हो तब तो यह प्रश्न योग्य है, किन्तु धर्माधर्म से यहां धर्म-चर्चा के साथ अधर्म-चर्चा भी आवश्यक बताया गया है। क्योंकि जब तक अधर्म का न समझा जावेगा तब तक धर्म का स्वरूप भी पूर्णतः समझा नहीं जा सकता। अहिंसा स्वरूप ज्ञान प्राप्त करने के लिये हिंसा को समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है तो धर्म के साथ अधर्म का प्रश्न भी लगा रहता है।

इहेव किंति पाउणति पेक्षा गच्छइ सोगति।

तम्हा साधूहि संसर्गि सदा कुविज्ज पण्डिय ॥ ८ ॥

अर्थ :—साधु स्वभावी पुरुषों के संग के द्वारा आत्मा वहां पर यश प्राप्त करता है और परलोक में शुभ गति को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

सारा स्वभावना मान्योना सङ्वासथी आत्माने आ लोकमां डीर्ति भणे छे अने परलोकमां पक्षु सङ्गतिनी प्राप्ति थाय छे।

जीवन का सुन्दर साथी मानव को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। पानी नीचे की जड़ों में पहुंचता है तो कटु रूप लेता है और इष्ट के स्नेह में पहुंचता है तो मधुर रस का रूप लेता है। लागी नखत्र की वे ही बूँदें साँप के मुख में गिरकर विष बनती हैं तो गाव के शरीर में दूध के रूप में परिणत होती हैं। जब कि सीप उसे मोती का रूप देती है, साथी की अच्छाई और बुराई जीवन में भी अच्छाई और बुराई लाती है।

खइणं पमाणं वत्तं च देखा अज्जति जो धणं।

सद्धम्म-वक्क-दाणं^१ तु अणखयं अमत्तं मत्तं ॥ ९ ॥

अर्थ :—जो मनुष्य धन एकत्रित करता है काल उसके लिये संदेश देता है कि यह मर्यादित है और एक दिन नष्ट होनेवाला है। जब कि सद्धर्म का वाक्य का दान तो अक्षय और अमृत तुल्य है।

गुजराती भाषान्तर :—

जे भाखुस द्रव्य (पैसा) ने संघरे छे तेने क्षण ओवो संदेशो आपे छे छे आ धन मर्यादित (अमुक समय सुधी ७ टकनार) छे अने कोर्ध ओक दिवसे ओनो नाश तो थवानो ७ छे, ज्यारे सद्धर्मेना वाक्यनुं दान तो खांवा समय सुधी ८३ ओवुं अने अमृत ओवुं भीहुं छे।

बहिर्दृष्टि मानव के लिये प्रस्तुत गाथा में महत्त्वपूर्ण संदेश है। वह धन एकत्रित करता है। मानता है अनंत काल तक के लिये यह मेरे साथ रहेगा। किन्तु वह बहुत बड़ी भूल करता है। संपत्ति मानव की छाया है, किस क्षण उसके पुंख रूप सूर्य पर अशुभोदय के बादल आ जाएंगे यह कहा नहीं जा सकता, किन्तु बादल आते ही संपत्ति की छाया सबे प्रथम

१ अलं बालस्स संगेण-आचारांग सूत्र। २ परिचरितव्वाः सन्तो यथापि कथयन्ति नो सदुपदेशम्। वास्तेषां सौरक्षा ता एव भवन्ति शास्त्राणि। ३ पच्छा। ४ सद्धम्मचक्कदाणं।

साथ छोड़ देगी। इसीलिये एक विचारक ने कहा है—शरीर की सजावट करनेवाले पर पृथ्वी मुस्कराती है। जीवन के क्षणों में इठलाने पर जरा हँसती है। धन को पृथ्वी में गाढ़नेवाले पर पृथ्वी हँसती है। यह एक मिथ्या धारणा है कि संपत्ति के द्वारा हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। इंग्लिश विचारक बोलता है—Money will not buy everything पैसा प्रत्येक चीज नहीं खरीद सकता। उसके द्वारा फार्मेटन पेन खरीद सकते हैं, पर लेखनकला नहीं मिल सकती। पैसे से रोटी खरीदी जा सकती है, लेकिन भूख नहीं मिल सकती। पैसा आपको चरमा दे सकता है, लेकिन आँसू देने में असमर्थ है।

हाँ, तो अर्हतिरि उही संपत्ति की तुच्छता बता रहे हैं कि वह संपत्ति इलते सूर्य की छाया सी सीमिन और क्षणिक है। संपत्ति के अर्जन करनेवाले का काल यही संदेश देता है। अथवा यदि संपत्ति का संग्राहक अपनी संपूर्ण संपत्ति भी आपको दे देता है तब भी वह आपको एक नाशवान वस्तु ही दे रहा है। दुनिया की मजदूरों में वह महान दासी है, किन्तु तत्त्वज्ञ कहता है तू ने ही क्या एक सही गली चीज ही न? कोई शाश्वत वस्तु तो तू ने न दी?। दूसरी ओर एक संत विचार की किरण देता है वह विश्व को एक महान देन दे जाता है। महर्षियों का चिन्तन और मनन विश्व को नई दिशा देता है और वह विश्व की अमूल्यतम संपत्ति होता है। किसी को संपत्ति देने के बजाय उसे विचारों का दान देना उसके लिये सर्वश्रेष्ठ दान है।

टीका :—श्रुति प्रमाणं वार्ता च दयाद् यो धनमर्जयति । सद्धर्मवारिद्वाने त्वक्षयममृतं च मतं भवान् ॥ गतायः ।

पुण्यं तित्थं उवागम्य पेया भोज्या हितं फलं ।

सद्धर्मवारिदानेण शिष्यं सुज्झति माणसं ॥ २० ॥

अर्थ :—जिस पुण्य तीर्थ को पाकर परलोक में जिस फल को तुम भोगोगे उस फल की प्रसन्न भूमि हृदय सद्धर्म के पानी देने से जल्दी शुद्ध होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

जे पुण्यभूमिने मेणव्या पछी परलोकमां जे इण तमे लोगशो ते इणनी प्रसन्नभूमिभी शुद्ध हृदयेने सारा धर्मनु पाछी आपवाधी ते तरत शुद्ध थाय छे.

मानव पुण्य के भीड़े फल खाना चाहता है। किन्तु जब तक उसकी जड़ों को सिंचन न मिले तब तक पुण्यलता फलवती नहीं हो सकती। हृदय वह भूमि है जहाँ कि पुण्य की लता फैलती रहती है। सद्धर्म रूप जल देने से हृदयशुद्धि होती है और पुण्यलता की जड़ें मजबूत होती हैं। साधना के क्षेत्र में आँख की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आँख के अभाव में भी साधक साधना कर सकता है। साधना के पथ में जीभ की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मूक व्यक्ति भी साधना कर सकता है। वहाँ पैर की भी आवश्यकता नहीं है और हाथ भी आवश्यक नहीं है। क्योंकि पंगु और लठ्ठे व्यक्ति साधना कर सकते हैं। किन्तु आवश्यकता है छोटे शुद्ध हृदय की। हृदय की पवित्रता समस्त पवित्रताओं में श्रेष्ठ है। वेदव्यास बोलते हैं—

‘ तीर्थानां हृदये तीर्थं शुचीनां हृदये श्रुति ’

तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ हृदय है और पवित्र वस्तुओं में पवित्रतम हृदय ही है। एक इंग्लिश की विचारक भी बोलता है —

If a good face is a letter of recommendation, a good heart is a letter of credit.

यदि सुन्दर मुख सिफारिश पत्र है तो सुन्दर हृदय निश्वास-पत्र। पवित्र हृदय में धर्म के फूल खिलते हैं। भगवान् महावीर कहते हैं सरल आत्मा ही शुद्ध होता है और धर्मशुद्ध हृदय में ही ठहरता है। ऐसा साधक परम ज्ञानि को उसी प्रकार पाता है जैसे कि घृतसिक अभि तेजस्विता को।

टीका :—पुण्यं तीर्थमुपागम्य प्रेत्य सुज्जादितं फलं । सद्धर्मवारिदानेन शिष्यं तु सुज्झति मनः ।

सम्भावचक्रवर्त्तसं सावज्जारंभकारकं ।

दुम्मिप्तं तं विजाणेज्जा उभयो लोगविणासणं ॥ २१ ॥

१ सोही उज्जुध भूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिद्ध । निव्वारणं परमे जाइ धम्मसिस्स पावद । उत्तरा. अ. ४ २ विसेसं.

अर्थ :—अपने वक सभाव से विवश होकर सावध आरंभ करनेवाले को दुर्मित्र समझना चाहिये । क्योंकि वह दोनों लोकों का विनाश करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

पोताना उद्धत स्वभावने वक्ष थर्छ सावध (अशेष) आरंभ करनारने दुश्मन समझयो, डेमडे ते अने (अच्छे) आ दुनिया अने पर) दोष्टोनो नाश करे छे.

प्रस्तुत गाथा में दुर्मित्र की पहचान बड़ी गढ़ है, जिसके जीवन में वक्रता है, जिसके विचारों में कोई दूसरी वस्तु है तो वाणी दूसरी ही बात बोलती है और आचरण दोनों से भिन्न है । ऐसा मित्र अपने साथी के दोनों लोक विगाड़ता है । उसकी वाणी में माधुर्य है, पर हृदय में हालाहल की लहरें हैं । ऐसा व्यक्ति अपने साथी को जीवन के गंभीर क्षणों में धोखा देता है । परिणाम में उसका साथी संकल्प और विकल्पों से उतरंगा । फिर परलोक के लिये तो उसने तैयारी ही कब की है ? साथी की ओर से उसे सदैव सावध कर्णों की ही प्रेरणा मिली है । आत्मा को बूलनेवाला परमात्मा को क्या याद करेगा ? और जिसका यह लोक सुन्दर नहीं है उसके लिये परलोक की सुन्दरता केवल स्वप्न है ।

अर्हतर्षि बुरे मित्र से सावधान रहने की प्रेरणा दे रहे हैं । मित्रता जीवन की सबसे बड़ी कला है और मित्र जीवन का अभ्युद्य सजाना है । जीवन में मित्र बहुत हो सकते हैं । किन्तु मित्रों से सावधान रहो जो पक्षी के समान तुम्हारे फलों से लदे जीवन वृक्ष के चारों ओर भंडराते हैं । याद रखो उस दिन एक भी मित्र तुम्हारे पास नहीं आया जबकि तुम्हारे संपत्ति के फल समाप्त हो जाएंगे ।

इंग्लिश विचारक बोलता है -

Friends are plenty when your purse is full.

जब तुम्हारा बटुवा भर है तो तुम्हारे पास मित्रों की कोई कमी नहीं है । ऐसे मित्र संख्या में हजार भी हैं तब भी तुम्हारे संकट में एक भी साथ नहीं दे सकता । किन्तु संकट में त्याग दे उसे मित्र कहना मित्रता का अपमान करना है ।

दूसरा विचारक बोलता है -

The worst friend is he who frequents you in prosperity and deserts in misfortune.

सबसे निकृष्ट मित्र वह है जो अच्छे दिनों में पास आता है और-मुसीबत के दिनों में त्याग देता है ।

“न स सखायो न ददाति सख्ये” (१०.११७.४) ऋग्वेद का वह वाक्य बोलता है वह मित्र ही क्या जो अपने सहायता नहीं देता और सबसे निकृष्ट मित्र वह है जो तुम्हारी चापलूसी करता है और तुम्हारे अवगुणों पर पर्दा डालता मित्र को है । अर्हतर्षि ऐसे मित्रों से दूर रहने की प्रेरणा दे रहे हैं ।

सम्मत्तनिरयं धीरं^१ सावज्जारंभवज्जकं ।

तं मित्तं सुहु सेवेजा उभजो लोकसुहावहं ॥ १२ ॥

सम्यक्त्व निरत सावध आरंभ के त्यागी ऐसे धैर्यशील मित्र का अच्छी तरह साथ करना चाहिये । उसका साथ ब्रह्मलोक में सुखप्रद है ।

गुजराती भाषान्तर :—

सम्यक्त्वनिरत (ज्ञानी), सावध आरंभनो त्याग करनार अने धीरगवाणा दोस्तने साथे सारो संपर्क राखवा जोष्ट छे. डेमडे तेनो सडवास अने दोष्टोने भाटे सुखप्रद छे.

जिसके पास सम्यक्त्व का प्रकाश है ऐसा पवित्र जीवन जीनेवाला साथी यथार्थतः कल्याणप्रद साथी है ।

इंग्लिश विचारक के शब्दों में -

Life has no blessing like a prudent friend.

ज्ञानी मित्र के सहस्र जीवन में दूसरा कोई वरदान नहीं है। ऐसा सशरी जीवन के उन कठु प्रसंगों में अब कि तुम्हारा धैर्य जवाब दे बैठेगा और तुम अपने कर्तव्य की मंजिल से गिर रहे होंगे तब तुम्हें जीवन की सच्ची राह दिखाएगा। क्योंकि उसके मन में स्वार्थ की छाया नहीं है। अतः वहाँ तुम्हें प्रकाश की ही प्रेरणा मिलेगी। पाश्चात्य विचारक बेकन ने कहा है— 'सच्चा मित्र आनंद को दुगुना और दुःख को अर्धा कर देता है'।

मनुष्य जो वे उसे भूल जाय और दूसरे से ले उसे सदैव याद रखे वही मित्रता की जड़ है। और ऐसी मित्रता में उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परख होती है, और अच्छी से अच्छी मातृ-का-सा धैर्य और कोमलता होती है।

संसर्गिता संसर्गता दोषा वा अह वा गुणा ।

वाततो मास्तस्तेव ते ते गंधा सुहावहा ॥ १३ ॥

अर्थ :—दोष और गुण संसर्ग से पैदा होते हैं। वायु जिस ओर बहती है वहाँ की गंध को ग्रहण कर लेती है।

गुजराती भाषान्तर :—

दोष અને ગુણ એક બીજાના સંસર્ગથી જ પેદા થાય છે; પવન જે દિશાતરફ વહે છે, ત્યાંના મુગंध છે દુર્ગंधને પણ સાથે લઇ વહે છે.

वायु यदि सूरभित स्थान से गुजरती है तो वहाँ की सौरभ लेकर आगे बढ़ती है और यदि वह गंदगी से गुजरती है तो वायु भी दूषित हो जाती है। जीवन भी एक वायु है। जो सज्जन पुरुषों के माहुर्य में रहता है तो वहाँ सद्गुणों की सुवास प्राप्त करता है और बुरे व्यक्ति के पास पहुँचता है वहाँ से बुराई ही ग्रहण करता है।

संपुण्णवाहिणीओ वि आचन्ना लवणोद्धि ।

पप्पा खिप्पं तु सन्धा वि पावन्ति लवणसर्गं ॥ १४ ॥

अर्थ :—सभी नदियाँ लवणसमुद्र में मिलती हैं और वहाँ पहुँचते ही सभी अपनी स्वाभाविक मधुरता को छोड़कर क्षारपन प्राप्त कर लेती हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

અધી (મીઠા પાણીવાળી) નદીઓ સમુદ્રમાં મળી જાય છે, અને ત્યાં મળી જતાં જ અધી નદીઓ પાણીની કુદરતી મધુરતા (મીઠાસ) ને મુકી દઈ ખારા સ્વાદને લઇ લે છે.

एक संस्कृत उक्ति है "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" मनुष्य दूसरों के सङ्ग देर से ग्रहण करता है किन्तु दोष तो बहुत जल्दी ले लेता है। मानव ही नहीं प्रकृति का भी यही गुण है। इत्र की शीशी में दो वृन्द मिट्टी का तेल गिर जाता है तो उसमें सौरभ स्थान पर मिट्टी के तेल की गंध आने लगेगी। अर्द्धनर्पि सोदाहरण यही बता रहे हैं—नदियाँ मधुर जल राशि लेकर सागर में पहुँचती हैं और मिलन के प्रथम क्षण में अपनी सारी मधुरिमा खो बैठती हैं। उनकी मारी जलराशि क्षार मिश्रित हो जाती है।

समस्सिता गिरि मेरुं णाणावण्णा वि पक्खिणो ।

सन्धे हेमप्पभा होंति तस्स सेलरस सो गुणो ॥ १५ ॥

अर्थ :—विविध वर्ण-वाले पक्षिगण जब सुमेरु पर्वत पर पहुँचते हैं तो सभी स्वर्ण प्रभा युक्त हो जाते हैं, यह उस पर्वत का ही विशिष्ट गुण है।

गुजराती भाषान्तर :—

અનેક વર્ણવાળા પક્ષીઓ જ્યારે સુમેરુ પર્વત ઉપર જાય છે, ત્યારે તેઓનો રંગ સોના જેવો જ બની જાય છે તે પર્વતનો આ એક ખાસ ગુણ છે.

दोष और गुण संसर्ग से आते हैं। प्रस्तुत गाथा इसी तथ्य को स्पष्ट कर रही है। पूर्ण गाथा में संसर्ग अन्य दोष बताया गया था। प्रस्तुत गाथा उसके विपरीत संसर्गज गुण का निरूपण करती है। किसी भी वर्ण का पक्षी सुमेरु के निकट पहुँचता है तो उसकी प्रभा से सभी स्वर्णप्रभ हो जाते हैं।

कल्याणमित्तसंसर्गि संजओ मिहिलाहिबो ।

फीतं महितलं भोज्या तं मूलाकं दिवं गतो ॥ १६ ॥

अर्थ :—कल्याणमित्र के संसर्ग से मिथिलाधिप संजय संपूर्ण पृथ्वीतल को भोगकर उगते सूर्य की प्रभाञ्चले दिव्य लोक को प्राप्त हुआ ।

गुजराती भाषान्तर :—

कल्याणमित्रता संपर्कभां रडेवाथी मिथिलाना संजय नामनो राज्ञ संघर्ष पृथ्वी विषय राज्य करी त्यांना अधा भोगो भोगीने उदय पामता सुरवनी जेवी प्रजा भोगवी स्वर्गभां सीधाव्या डता.

पूर्वगाथा में अच्छे साथी की आवश्यकता पर बल दिया गया था । प्रस्तुत गाथा उसकी सोदाहरण व्याख्या करती है । मिथिलानगरी के सम्राट् संजय ने कल्याण मित्र के द्वारा ही विजय पाई थी और उसी की सत्प्रेरणा के द्वारा वह निवृत्ति मार्ग में प्रविष्ट होकर दिव्य लोक में पहुँचा । यह मिथिलाधिप संजय कौन है और उसकी पूरी कथा क्या है यह ज्ञात नहीं हो सका । किन्तु हा, प्रस्तुत गाथा उस कथा की ओर संकेत करती है ।

टीका :—कल्याणमित्तसंसर्ग कृत्वा संजयो मिथिलाधिपः । स्फीतं महीतलं भुक्त्वा तन्मूलं भोजनं मूलं भवति यथा तथा दिवं गतः ।

अर्थात् कल्याणमित्र के संसर्ग को पाकर मिथिलाधिप संजय संपूर्ण पृथ्वीतल को भोगकर स्वर्ग गया जैसे शरीर के लिये भोजन कल्याणप्रद है ऐसे जीवन के लिये कल्याण मित्र आवश्यक है ।

प्रोफेसर शुक्ल लिखते हैं :—

सत्य और असत्य काथों और वचन के द्वारा भ्रम और मूर्ख की परीक्षा हो सकती है । किसी अज्ञात कारण से इस विद्वताभरे लेख का लेखक स्पर्शकरण के अन्तिम श्लोक में अपना नाम देता है । मिथिला नरेश संजय विशेष परिचित नहीं है ।

अरुणेण महाशालपुत्तेण अरहता इसिणा वुद्धतं—

सम्मत्तं च अहिंसं च सम्मं णञ्चा जित्तिदिण ।

कल्याणमित्तसंसर्गि सदा कुव्वेज्ज पण्डिण ॥ १७ ॥

अर्थ :—महाशाल पुत्र अर्हतरि अरुण इष्ट प्रकार बोले—जितेन्द्रिय और प्रज्ञाशील साधक सम्यक्त्व और अहिंसा को सम्यक् प्रकार से जानकर सर्वत्र कल्याण मित्र का ही साथ करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

महाशाल-पुत्र अर्हतरि अरुण येम ओदया के छतेन्द्रिय बुद्धिवान साधके सम्यक्त्व अने अहिंसाने सारी रीते जाणी हमेशा हितेच्छु सज्जनना समागमभां रडेवुं जेधये.

आरभ विकास तक पहुँचने के दो साधन हैं—एक बाह्य साधन दूसरा आभ्यन्तर । बाह्य साधन में कल्याण मित्र आता है । कुशल और योग्य साथी जीवन की नैया को तीर पर ले जाने में सहायक होता है । लक्ष्य तक पहुँचने का आभ्यन्तर साधन अहिंसा और सत्य का सम्यक् अवबोध है । अहिंसा और सत्य के सम्यक् अवबोध के लिये साधक विचारक पुरुषों का सहयोग प्राप्त करे ।

एवं से सिद्धे बुद्धे ॥ गतार्थम् ।

आरुणिज्जणामज्झयणं

इति त्रयविंशत्तमं आरुणीयाध्ययनम् ॥

इसिगिरि अर्हतर्षि प्रोक्त चौतीसवाँ अध्ययन

जीवन उजले और काले धागों से बुना है। जीवन के हर क्षेत्र में कढ़े और नीचे धूँट मिलते हैं। दुनिया के हर विचार को पहले शूल मिले हैं और जब वह शूलों से भी प्यार करता है तो दुनिया उस पर फूल बरसाती है, किन्तु जो शूलों को देखकर घबरा जाता है, दुनिया की आलोचनाओं से जिसका धैर्य समाप्त हो जाता है और जिसकी अपने कार्य से आस्था हिल उठती है वह कभी भी सफलता का दर्शन नहीं कर सकता। सफलता कायरों का साथ कभी नहीं करती। दुनिया की आलोचना से घबरा कर हम अपनी कर्तव्य निष्ठा से अलग न हो जाए। क्योंकि दुनिया की आँखें केवल बाहरी रूप देखती हैं। विचारक ने ठीक कहा है।

Men in general judge more from appearances than from reality. All men have eyes but few have the gift of penetration.—मेकियावेली

साधारणतः मनुष्य सत्य की अपेक्षा बाहरी आकार से ही अनुमान लगाते हैं। आँखें तो सभी के पास होती हैं किन्तु विवेक की आँखों का वरदान किसी को ही मिलता है। अतः जन साधारण हमारा विरोध और आलोचना करता है तो हमें उससे घबराना नहीं चाहिये। मैं तो कहूँगा जब हमारे कार्यों का विरोध हो तभी समझना चाहिये काम में निष्कार आ रहा है। विचारक बर्क ने ठीक कहा है 'जो हमसे कुदती लड़ता है वह हमारे अंगों को मजबूत करता है हमारे गुणों को तेज करता है। विरोधी हमारी मदद ही करता है।' शिलार कहता है—

Opposition always inflames the enthusiast, never converts him.

विरोध उत्साहियों को सदैव उत्तेजित करता है, उन्हें बदलता नहीं। विरोध को सह लेने की भी एक कला होती है उसमें मन को साधने की आवश्यकता होती है। सैनिक का शिक्षित घोड़ा तोफों के गोलों से भी नहीं चमकता, जबकि गधा पटाखे की आवाज से ही बेकाबू हो जाता है। अतः विरोध सह लेने के लिये मन को साधने की आवश्यकता होती है। अर्हतर्षि उसी साधना की ओर साधक का ध्यान खींचने के लिए प्रस्तुत अध्ययन को उपस्थित कर रहे हैं—

पंचेहिं ठाणेहिं पंडिते बालेण परीसहोपसग्गे

उदीरिज्जमाणे सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अधियासेज्जा ।

अर्थ :—पांच स्थानों से पंडित बालपुरुषों (अज्ञानियों) द्वारा उचीर्ण किये जानेवाले परीषह और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, उनको धारण करे उसको क्षमाभाव रखे और उन पर विजय प्राप्त करे।

गुजराती भाषान्तर :—

पांच स्थानोथी पंडित आठ पुरुष (अज्ञानी) चडे थनार परीषह (दुःख) अने उपसर्ग (त्रास डे अष्ट) येओनुं सहन करे, तितिक्षा (अमवानी शक्ति) थी क्षमा करवी अने येवी रीते तेना उपर विजय (क्रान्ति) मेणवनी.

यदि अज्ञानी किसी संत पर प्रहार करता है तो साधक पांच प्रकार के विचारों से उन कष्टों का स्वागत करे और उन्हें समभाव के साथ सहे।

टीका :—पंचेषु स्थानेषु पंडितो बालेन परीषहोपसर्गान् उदीर्यमाणान् सम्यक् सहेत् क्षमेत् तितिक्षेत अधिवासयेत् । गतार्थः ।

बाले खलु पंडितं परोक्खं फरुसं वदेज्जा, तं पंडिते बहु

मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले परोक्खं फरुसं वदति, णो पच्चक्खं ।

मुक्खसभाया हि बाला, णं किंचि बालेहिंतो ण विज्जति' । तं

पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अधियासेज्जा ।

अर्थ :—यदि एक अज्ञानी प्राणी किसी पंडित पुरुष को परोक्ष में कठोर वचन बोले तो पंडित उसे बहुत माने और वह सोचे कि यह प्रत्यक्ष में तो कुछ नहीं बोल रहा है। वे अज्ञानी व्यक्ति मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं। अज्ञानियों से कुछ

भी अछूता नहीं है यह सोचकर विद्वान् पुरुष निन्दात्मक वचनों को सहन करे उनके प्रति क्षमाभाव रखे, मन के समाधि-भाव को नष्ट न होने दे।

गुजराती भाषान्तर :—

जे ओठ अलपण्यो माणुस कोठपिण्ण पंडित पुरुषने परोक्ष (तेनी गेरहाजरी) भां कोठपिण्ण लुंडी वातो ओखे तो पंडिते ते अज्ञानी माणुसने संमान करवो अने भानी खेवुं जेध ओठे ते माणुस जे कोठ ओख्यो छे ते भारी गेरहाजरीभां ज ओख्यो छे, मारे सामेतो ओख्यो ज नथी. कारखु के अज्ञानी माणुस भूर्भ स्वभावनो होय छे. अज्ञानी माणुस तो हरजेठ विषयनी, के हरजेठ व्यक्तिनी (पोते लाखुकार समल) वातो करे छे, जे ध्यानभां लधे तेना निन्दात्मक वाक्योनुं सहन करे अने तेने क्षमा करे तेभज पोताना समाधिभावभां प्रवृत्त पडवा न दे.

दुनिया ने हर विचारक का विरोध ही किया है। क्योंकि वह समाज की सड़ी गली परंपरा को तोड़कर नया मार्ग प्रस्तुत करता है तो समाज चीखता है और चिढ़ाना है। विचारविहीन लोग उसकी अप्रत्यक्ष आलोचना का आश्रय लेते हैं। उनमें इतना साहस नहीं होता कि वे प्रत्यक्ष में आकर कुछ कह सकें। ऐसे प्रसंगों में भी प्रज्ञाशील अपने विचार के प्रदीप को बुझते न दे और न उन पर आक्रोश ही करे। वह सोचे कि ये बेचारे अज्ञानशील हैं, इनकी आत्मा अंधकार में भटक रही है। ज्ञान की किरण का इन्हें दर्शन नहीं हुआ है। फिर भी ये बेचारे परोक्ष में मेरी आलोचना करके ही रह जाते हैं, प्रत्यक्ष में आकर बोलने का साहस नहीं करते।

साथ ही ये मूर्ख स्वभाव वाले हैं यदि बातों का जवाब दिया जायगा तो इनकी आलोचना को बल मिलेगा। साथ ही हर मूर्ख अपने आपको सबसे बड़ा बुद्धिमान मानता है। उसकी जीभ से तो वह भगवान भी नहीं बचा है फिर हम जैसों की तो कहानी ही क्या है। ये विचार भी मानव की मनःस्थिति को सम रखने में सहायक होते हैं और निन्दा और अपमान के कदवे घूंट उतार जाने का साहस भी देते हैं और फिर विचारक दृढ़ता पूर्वक अपने मार्ग पर आगे बढ़ जाता है।

टीका :—यथा बालः खलु पंडितं परोक्षं परुषं वदेत् तत्पंडितो बहु मन्ये यथा हृष्यैष बालो मे परोक्षं परुषं वदति न प्रत्यक्षं। मूर्खस्वभावा हि बालाः न किञ्चिद् बालेभ्यः कर्तव्यो न विद्यत इति तद् पंडितः सम्यक् सहनीत्यादि। यथाशेषः ॥

बाले खलु पंडितं पश्यन्स्वमेव फरसं वदेज्जा, तं पंडिप बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले पश्यन्स्व फरसं वदति, णो दंडेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा बाले कवालेण वा अभिहणति, तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति उद्देवेति, मुक्खसभावा हि बाला, ण किञ्चि बालेहितो ण विज्जति' तं पंडिते समं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अधियासेज्जा।

अर्थ :—यदि अज्ञानी व्यक्ति किसी प्रज्ञाशील पुरुष को प्रत्यक्ष में कठोर वचन कहे तब भी विद्वान् उसे बहुत समझे और सोचे। मैंने देखा है यह अज्ञानी व्यक्ति प्रत्यक्ष में कठोर वचन कह रहा है। किन्तु किसी डंडे से, लाठी से पथर से मुष्टि से या छोटे कपाल (घड़े का टुकड़ा ठीकारो) आदि से मारता नहीं है, तर्जना नहीं करता है। लाटना और परिताटना भी नहीं करता है न परिताप ही पहुंचाता है। ये अज्ञानी मूर्ख स्वभाव के होते हैं; ये न करें वही कम है। अतः विद्वान् उन कष्टों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, क्षमाभाव रखे, शान्ति रखे और मन के समाधिभाव को चलित न होने दे।

गुजराती भाषान्तर :—

जे अज्ञानी माणुस कोठपिण्ण बुद्धिमान् माणुसना मोठा छपर अपमान करे तो पणु पंडिते तेनो गंभीरताथी विचार करवो जेध ओठे ते आ अज्ञानी माणुस इतर उठोर बाळीथी ओखे छे परंतु बाळीथी, बाकडीथी, पथरथी अगर कपालथी भारतो नथी, पीडा आपतो नथी के भर्म वचनथी के अन्य साधनोथी संताप करावतो नथी. अज्ञानी माणुसो ओवाज होय छे, ते दोस्रो जे ओवुं काम न करे तेठहुं ओखुं; माटे बुद्धिमान् माणुसे गमे ते रीते तेवा उठोनुं सहन करवुं जेध ओठे क्षमाभाव (खुल करनारने प्रभुं), शान्ति अने समाधिभाव (ध्यानस्थ वृत्ति) वी कोठपिण्ण कोसे स्थित (अस्थिर) थवा देवुं नही.

यदि मूर्ख जनता विचारकों का अपमान करती है तो विचारक के लिये वह दया की ही रात्र है। जब बालक की आँखों का जाला दूर करने के लिये डॉक्टर ऑपरेशन करता है तो बालक दर्द के मारे चीखता है और उन्हें गालियाँ भी देता है किन्तु डॉक्टर के मन में बालक के प्रति रोष नहीं आता। ठीक इसी प्रकार जब परंपरा और रूढ़ियों के जाले आँखों में बड़ जाते हैं और सब देखने की शक्ति छूट जाती है तब विचारक तीखे तस्तर से ऑपरेशन करता है तो अज्ञानी चीखता है, चिढ़ता है, उन्हें गालियाँ भी देता है। परीक्षा में ही नहीं कभी कभी प्रत्यक्ष में भी उन पर ईर्ष्या और घृणा के शोले बरसता है।

निन्दा और अपमान के कड़वे घूंट उतारते समय विचारक सोचेंगे: ये बेचारों अंधकार में भटक रहे हैं; इनकी आत्मा पर अज्ञान का आवरण है फिर भी ये केवल गालियाँ देकर ही संतोष मान रहे हैं, लाठी और डंडे से तो नहीं पीट रहे हैं। यही इनकी मेहरबानी है।

टीका :—बालः खलु पंडितं प्रत्यक्षमेव परस्मै वदेत् तत्पंडित इत्यादि यावत् प्रत्यक्षं वदति न वंदेन यद्या वा लेष्टुना वा मुष्ट्या वा बालः कपालेन वाऽभिहन्ति तर्जयति ताडयति परिताडयति उद्वापयति व्यापादयति। मूर्ख इत्यादि पूर्ववत्। मतार्थः।

बाले य पंडितं वंदेन वा लट्टिणा वा लेष्टुणा वा मुष्टिणा वा कपालेन वा अभिहणेज्जा... एवं चेव णवरं अण्ण तरेणं सत्थ जातेणं अण्णतरं शरीर जायं अचिच्छन्दे वा विच्छिन्दे वा मुखसभावा हि बाला ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति' तं पंडिते सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा तितिकखेज्जा अहियासेज्जा।

अर्थ :—यदि अज्ञानी किसी प्रज्ञाशील पर अन्य उपरोक्त प्रकारों से प्रहार करता है, तब भी पंडित सोचे वे केवल दंडादि से प्रहार करके ही रह जाते हैं किन्तु किन्हीं शस्त्रादि से मेरे शरीर का छेदन नहीं करता और वह सोचे अज्ञानी मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं। अतः पंडित उनके प्रहारों को सम्यक् प्रकार से सहें।

जो अज्ञानी माणस कोष्पिण्ण सुद्धिमान् माणस पर कोष्पिण्ण ऊपर ऊपर उठेवा मुण्ण प्रहार करे तो तत्पन् माणसे ओवो विचार करवो घटे छे डे भूरण ओओ सोटीथी न् भारे छे पाणु शस्त्रोथी (खुबसेछु प्रहार) करीने भारा शरीरनुं छेदन करता तो नहीं, अने अज्ञानी तदन भूरण न् ओय छे ओम समण्ण ते प्रहारोनुं सहन करवुं।

जब क्रान्ति आगे बढ़ती है और परंपरा की धीमरें ढहने लगती हैं तब परंपरा के पुजारी चीख उठते हैं। क्योंकि उनकी दुकानदारी लुट रही है और जब परंपरा की नींव ढगमगाती है तो बड़ी बड़ी शक्तियाँ भी झुब हो उठती हैं और उनके संप्रदायवाद की घुरा पिये हुए मर्ताथ अनुवायी गद्दी की रक्षा के लिये लाठियाँ लेकर निकल पड़ते हैं और क्रान्तिकारी विचारकों पर अविचारकों की रोषभरी लाठियाँ बरस पड़ती हैं।

किन्तु उन ताड़ना और तर्जना के क्षणों में भी विचारक अपने विचार सत्य से एक इंच पीछे नहीं उठता। साथ ही वह अपनी मन की शान्ति भी भंग नहीं होने देता। वह सोचता है इनके सिंहासन डोल गये हैं, बेचारों की रोटी और रोजी छिनी जा रही है, फिर उनका बोलना अत्याभाषिक भी नहीं है, फिर भी ये बेचारों केवल दंड से प्रहार करके ही रह जाते हैं, शस्त्र प्रहार तो नहीं करते, यही गर्नामत है। ये ही उदात्त विचार विचारक की आत्मा को लाठी बरसानेवाले पर भी क्षमा बरसाने के लिये प्रेरित करते हैं।

टीका :—बालश्चसि संयोजने चेदर्थे वा पंडितं वंदेनेत्यादि यावद्वापयेत् तत् पंडित इत्यादि यावद् उद्वापयति न केनचिच्छज्जातेन किंचिच्छरीरजातं शरीरभागमाच्छिनत्ति वा विच्छिनत्ति वा। मूर्ख इत्यादि पूर्ववत्। मतार्थः।

बाले य पंडितं अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णतरं शरीरजायं अचिच्छन्देज्जा वा विच्छिन्देज्जा वा, तं पंडितं बहु मण्णेज्जा: 'दिट्ठा मे एस बाले अण्णतरेणं सत्थजातेणं अचिच्छन्देति वा विच्छिन्देति वा, णो जीयितातो ववरोवेति। मुखसभावा हि बाला ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति' तं पंडितं सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिकखेज्जा अहियासेज्जा।

अर्थ :—यदि अज्ञानी व्यक्ति किसी पंडित पुरुष के किसी अवयव का किसी शस्त्रादि से छेदन करता है भेदन करता है तब भी पंडित उनकी बहुत समझे। वह सोचे मैंने देखा है वह बाल जीव किसी शस्त्रादि से छेदन भेदन ही करता है किन्तु मेरा जीवन तो समाप्त नहीं करता। अज्ञानी का जीवन मूर्खता से भरा रहता है। अज्ञानी जो न करे वही कम है। अतः साधक उसको सम्यक् प्रकार से सहन करे।

गुजराती भाषान्तरः—

समझे के अज्ञानी भाखुस सज्जन पर कोई शस्त्रथी पण हुमवो करे तो तत्पक्ष भाखुसे बहुत शान्तिथी तेनी आवी रीते विचार करवो जेधजे के आ अज्ञानी (जालक जेवो) भाखुस शस्त्रथी भारा उपर हुमवो के वा करे छे, पण भने भारी नाभतो नथीने? अतः, आ भाखुस साव मूरण छे जे जे न करे तेहनु ओछु छे, जेभ समस्त शान्त रहेवुं.

एक सन्त की सीधी और सच्ची बात भी कभी कभी स्वार्थी सत्ताधीशों की दुनियां में भूकंप मचा देती है। क्योंकि नम सत्य सुनने के लिये दुनियां के पास कान नहीं है। लेबनान के प्रसिद्ध विचारक सलील जिब्रान ने कहा है—

“यदि तुम एक बार नम सत्य बोलोगे तो तुम्हारे ब्रेही साथी तुम्हें छोड़ देंगे। यदि दुबारा तुमने नम सत्य उच्चारता तो तुम देश की सीमाओं से बाहर कर दिये जाओगे और यदि तीसरी बार नम सत्य कहने के लिये तुम्हारी जीभ खुली तो फांसी का लटकता रस्सा गले में दबल जाएगा और दुनियां से तुम्हारा अस्तित्व समाप्त कर देगा। दुनियां के काम कचे हैं और सत्य की आंच सहनो पड़ती है”।

एक विचारक ने कहा है—

Truths and roses have thorns about them.

सत्य और गुलाब के पुष्प के चारों ओर कांटे होते हैं। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ने कहा है “सत्य अपने विकट एक आंधी पैदा कर देता है और वही उसके बीजों को दूर दूर तक फैला देती है”।

हर विचारक को अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ता है। गालियां और उपहास तो सुधारक के लिये सर्व प्रथम उपहार हैं, किन्तु जब वे कामयाब नहीं होते तो स्वार्थी और सत्ता का आक्रोश हाथ में तलवारें लेकर निकल पड़ता है। किन्तु शस्त्र प्रहार के समय भी साधक अपनी अपनी समस्थिति को मंग न होने दे। वह सोचे ये बेवारे अज्ञान की अंधेरी गलियों में भूले भटक राही मेरे शरीर पर आघात करके ही रह जाते हैं। मेरा जीवन तो समाप्त नहीं करते। मैंने इनके विचारों पर प्रहार किया है और ये तो शरीर पर प्रहार करके रह जाते हैं; पर यह निश्चित है कि शरीर के प्रहार की अपेक्षा विचार की देह का आघात मार्मिक होता है।

चिन्तन की यह धारा साधक की मनःस्थिति को द्वेष से विवृत्त होते बचाती ही है, साथ ही शान्ति के वे शीतल छीटे उनकी आत्मा में कषाय को प्रवेश नहीं करने देते और इसीलिये वह अपने प्रहार कर्ता को भी क्षमा कर सकता है। इसी पवित्र विचारों की प्रेरणा ने तेजोलेखा के द्वारा मार्मिक वेदना देनेवाले गौशालक को भगवान महावीर के मुंह से क्षमा कराया था।

टीका :—बालश्चेति संयोजने चेद् अर्थे वा पंडितं केनचिच्छस्त्रजातेन किञ्चिच्छरीरजाते शरीरभागमाच्छिनत्ति विच्छिन्नस्यादि यावच्चविच्छिन्धात् तत् पंडिता इत्यादि यावद् विच्छिनत्ति वा न जीविताद्यपरोपयति मूर्ख इत्यादि पूर्ववत्। गतार्थः।

बाले य पंडितं जीवियाओ वचरोवेज्जा, तं पंडितं बहु मण्णेज्जा, “दिट्ठा मे एस बाले जीविताओ वचरोवेति, णो धम्मो भंसेति सुखसभावा हि बाला ण किञ्चि बालेहिंतो ण विज्जति. तं पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा, तितिकखेज्जा, अहियासेज्जा।

अर्थ :—यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति किसी पंडित का जीवन समाप्त करता है तब भी पंडित उसे बहुत माने और सोचे, मैंने देखा है वह अज्ञानी मेरा जीवन ही समाप्त करता है किन्तु मुझे धर्म से पृथक् नहीं करता। अज्ञानी मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं, वे जो न करे यही कम है। अतः पंडित उसको सम्यक् प्रकार से सहन करे, क्षमाभाव रखे, क्षान्ति रखे, और मन को समाधि भाव में रखे।

गुजराती भाषान्तरः—

जेक अज्ञानी भाखुस कोछपिणु बुद्धिमान् भाखुसने प्राणु बध दे तो पण तेनी छेछी घडी सुधी जेवुं समज्जुं जेधजे के आ मूरण भारो तो जव न दे छे, भारा धर्मथी भने जुहो पाडतो नथीने? अज्ञानी भाखुस हमेशा मूरणवृत्तिना न होय छे. भाटे समस्त भाखुसे तेनुं कृत्य जमे तेम करी सहन करवुं, क्षमा अने शान्ति टकावपी अने समाधिभावने जरापणु अक्षय न पडे जेवी रीते वर्तवुं.

जब अज्ञान का आवेग तूफान पर होता है तो कभी कभी नम सत्य के बच्चा को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है और आश्रय नहीं यदि अज्ञानी मानव विश्व प्रकाश पुंज को अपने ही हाथों बुझा दे। इतिहास साक्षी है मानव के विकास के लिये जिन्होंने नया प्रकाश दिया, कान्ति की नई लहर दी, उसके जीवन को नया मोड़ दिया, पर उस मानव ने उन्हें क्या दिया? किसी युगद्रष्टा महापुरुष को उताने फांसी पर चढ़ाया तो किसी सत्य के प्रवर्तक को जहर का प्याला पिलाकर दुनियां के छेड़फाँट से हट जाने को विवश कर दिया तो किसी को गोली से वीध दिया।

पर उस महापुरुष ने क्या दिया? उसने दुनियां का विष पिया और बदले में अमृत दिया। दुनियां ने उसे मरना और तिरस्कार दिया तो उसने दुनियां को प्रेम और कृपा दी। सत्यद्रष्टा विचारक मौत की घड़ियों में भी अपने मारनेवाले के प्रति आशीर्वाद बरसाता है। धृष्टकेतु को भी आश्रय देती है जो उसे खोदते हैं, इसी प्रकार महापुरुष अपने हृदय में उन्हें भी आश्रय देते हैं, जो उन्हें सताते हैं। उर्दू का शायर बोलता है—

“कातिल का इरादा है शिश्मिल को मिटा देने। शिश्मिल का तकाजा है कातिल को बुझा देने।”

और सच बात यह है अपने मिटाने वाले के प्रति आशीर्वाद बरसाकर ही मानव महामानव बनता है। क्रोध का बदला क्रोध से लेने में क्या आनंद है? सारी दुनियां जानती है किन्तु क्रोध को क्षमा से जीतने का आनंद महापुरुष ही जानता है। दक्षिण के महान संत तिरुवल्लूर बोलते हैं—घमंड में चूर होकर जिन्होंने तुम्हें हानि पहुँचाई है उन्हें तुम अपनी मलमनसाहत से विजय कर लो—बदला लेने की खुशी केवल एक दिन रहती है, मगर जो पुरुष क्षमा कर देता है उसका गौरव सदा स्थिर रहता है। एक और महत्त्वपूर्ण बात ये कह गये हैं—अतिथिसत्कार से इन्कार करना ही सबसे अधिक गरीबी है तो मूर्खों की बेहूदगी को सहन करना सबसे बड़ी बहादुरी है।

एक विचारक अपने प्राण विधातक को भी इसलिये क्षमा कर देता है कि वह सोचता है इसने मेरे प्राण के बीप को बुझाया है किन्तु मेरे सत्य विचारों के प्रदीप को नहीं बुझाया और इसी विचारसृष्टि ने कूट पर चढ़े इसा से मुँह से कहलबाथा था परमात्मा इन्हें क्षमा करना ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। इसी विचार ज्योति को पाकर गजसुकुमार की आत्मा ने सोमिल को क्षमा किया था और स्कंधक ने अपनी चमड़ी उतारनेवाले से कहा था—भाई! तुझे फट तो नहीं हो रहा है? और इसी प्रकाश को पाकर राष्ट्रपिता गांधीजी की आँखों ने गोडसे को क्षमा किया था।

यह पूरी विचार सृष्टि समत्व साधना की है। अज्ञानियों के कष्टों को हम सह सकें और मन में उनके प्रति दुर्भावना न आने पाएँ, उसकी यह साधना है इसके द्वारा हम कषाय पर विजय पा सकते हैं।

ऐसा ही एक रूपक बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। एक भिक्षु भगवान बुद्ध से अनार्य देश में विचरण की अनुमति माँगता है। तब कृष्णावतार बुद्ध बोले—

भिक्षु! वे अनार्य लोक तुम्हें गालियाँ देंगे और तुम्हारा अपमान करेंगे तो?

भन्ते! मैं समझूँगा ये केवल गालियाँ ही देते हैं, धंष्ट आदि से प्रहार तो नहीं करते।

भिक्षु! यदि उन्होंने दंड से प्रहार किया तो?

भन्ते! मैं समझूँगा इन्होंने दंड से ही प्रहार किया है, शस्त्र से शरीर पर आघात तो नहीं किया।

भिक्षु! यदि किसी ने तुम्हारे शरीर पर शस्त्र से प्रहार किया तो?

भन्ते! मैं सोचूँगा इन्होंने मेरे प्राण तो विसर्जित नहीं किये।

भिक्षु! यदि वे प्राण लेने पर उतारू हो गये तो?

भन्ते! मैं सोचूँगा इन्होंने मुझे आत्महत्या के पाप से बचाया है!

दुर्जन पर सज्जनता की विजय की ऐसी कहानियाँ थोड़े परिवर्तन के साथ जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में मिल जाती हैं।

टीका :—बालश्च पंडितं जीविताद् व्यवरोपयेत् तद् पंडित इत्यादि यावत् व्यपरोपयति न धर्माद् अदयति। मूर्ख इत्यादि पूर्ववत्। गतार्थः।

इसिगिरिणामाहण परिच्छायेणं अरहता इसिणा बुद्धं.

जेण केणइ उवापणं पंडिओ मोहज्ज अप्पकं।

बालेण उदीरिता दोसा तं पि तस्स हिजं भवे ॥ १ ॥

अर्थ :- “ ऋषिगिरि ” नामक ब्राह्मण परिव्राजक अर्हर्तर्षि बोले—पंडित अपने आपको हर प्रकार से प्रमुदित रखे । अज्ञानी के द्वारा किये गये द्वेष प्रयत्न भी उसके लिये हितप्रद होते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :-

ऋषिगिरिनामक ब्राह्मण परिव्राजक अर्हर्तर्षि नेम गोन्या. दुःखिता नखुसे तरे तेन करी पितर. प्रंतुष्ट राखतुं नेधीये. केमडे मूरण भाणुसे करेखा द्वेष विगेरे प्रयत्नो पण तेने भाटे सहायक अने हितप्रद अने छे.

ऋषिगिरि में दूसरे ब्राह्मण परिव्राजक हैं । वे साधक को लक्ष्य करके कह रहे हैं तेरे भीतर आनंद का स्रोत बह रहा है तो दुनिया का हर कण तुझे आनंदित करेगा । अज्ञानियों के द्वेषभरे कार्य क्या तेरे भीतर की शान्तिधारा को लुप्त कर सकेंगे ? क्या वे तेरे भीतर द्वेष की आग प्रज्वलित कर सकेंगे ? यदि हां, तो तेरे भीतर तेरा अपना कुछ नहीं रहा ! तेरी शान्ति का तू नियामक नहीं रहा । किन्तु भूल रहा है साधक । वास्तव में तेरी शान्ति का स्रोत तेरे भीतर ही है । इंग्लिश विचारक बोलता है—If you can rest yourself in this ocean of peace all the usual noises of the world can hardly affect you. यदि तू अपने भीतर की शान्ति के सागर में अराम करते रहोगे तो दुनिया के शोक तुम्हारे पर असर न डाल सकेंगे । यदि भीतर शान्ति का स्रोत फूट पड़ा है तो अज्ञानियों के द्वेष-जन्य प्रयत्न भी आनंद देंगे जैसे कि बालक के कार्य माता को आनंद देते हैं । साथ ही उन प्रयत्नों से तुम्हारा तेज कम न हो सकेगा । गोशालक ने भगवान सहावीर की अवगतता के लिये कितने प्रयत्न किये, किन्तु वे सभी प्रयत्न भ. सहावीर के जीवन को अधिक से अधिक उज्ज्वल बनाते गये । विचारकों के लिये विरोध तो विनोद है उसी में वे चमकते हैं । एक विचारक ने कहा है—

Hardship and opposition are the native rail of manhood and self reliance. कठिनाई और विरोध वह देशी मिट्टी है जिसमें पराक्रम और आत्मविश्वास का विकास होता है । जैसे कोई भी सरकार प्रबल विरोधी दल के बिना अधिक दिन टिक नहीं सकती, ऐसे विरोध के बिना व्यक्ति चमक नहीं सकता । पर आवश्यकता है उस विरोध को सह लेने की । जिसने विरोध सह लेने की कला सीख ली है वह जीवन के मैदान में विजय लेकर ही लौटेगा ।

टीका—येन केनचिदुपायेन पंडितात्मानं मुंचेत् दोषाद्दालेनोदीरिताद् तदपि स दोष एव तस्य पंडितस्य हितं भवेत् ।

टीकाकार कुछ भिन्न अभिप्राय रखते हैं—पंडित किसी भी उपाय से अज्ञानियों द्वारा उदीरित दोषों से अपने आपको मुक्त करे तो भी वह दोष ही पंडित के लिये हितप्रद होगा ।

अपडिण्णभावाओ उत्तरं तु ण विज्जती ।

सइं कुब्बइ वेसे णो, अपडिण्णे इह माहणे ॥ २ ॥

अर्थ :-अप्रतिज्ञभाव से उत्तर नहीं होता है । साधक स्वयं अनेक में नहीं पड़ता, अर्थात् भविष्यकालीन संकल्प-विकल्पों से गुस्सा नहीं होता । साधक स्वयं द्वेष नहीं करता है और जो अप्रतिज्ञ होता है वही यथार्थ ब्राह्मण होता है ।

गुजराती भाषान्तर :-

अप्रतिज्ञ (राग-द्वेषविहीन) भावशी जवाभ भणवानो संभव नथी. साधक पोते अनेक वस्तुओंको विचार करतो नथी. ओटसे अविषयभावमां थवाना कार्योनों संकल्प (उगाठि विचार) विकल्प (काम थशे डे नही अने भाटे संशय) ओना विचारोमां भग्न रहैतो नथी. साधक ओधीनो द्वेष करतो नथी अने के भाणुस अप्रतिज्ञ (प्रेम के द्वेषशी रहित) होय छे तेण ब्राह्मण उडेवाय छे.

अप्रतिज्ञ भाव रागद्वेष रहित भाव है । उसके सामने कितने भी परिषद् आवे, अज्ञानी उस पर कितने भी प्रहार क्यों न करे वह उत्तर न देगा । अतः साधक अप्रतिज्ञात भाव में रहे और प्रहार बर्ता पर भी आशीर्वाद बरसाये । यद्यपि यह एक कठिन साधना है । दक्षिण के प्रसिद्ध विचारक तिरुवहूर बोलते हैं—भूखे रहकर तपश्चर्या करनेवाले निःसंदेह महान् हैं, किन्तु उनका दर्जा उन लोगों के बाद ही है जो अपनी निंदा करनेवालों को क्षमा कर देते हैं । वास्तव में जो बदला न लेने की भावना से उपरत है वही यथार्थ ब्राह्मण है ।

अप्रतिज्ञ भाव का अर्थ है जो क्रोध का उत्तर क्रोध से देने की प्रतिज्ञा नहीं करना । बदला या प्रतिहिंसा की भावना हृदय की नीचता की शीतक है । प्रसिद्ध विचारक बेकन बोलता है—

He that studieth revenge keepeth his own wounds green which otherwise would heal and do well,

जो बदला लेने की सोचा है वह अपने ही घाव को हरा रखता है जोकि अब तक कमी का अच्छा हो गया होता । एक दूसरा विचारक भी बोलता है:—

In taking revenge a man is but equal to his enemy; but in passing it over he is superior.

बदला लेने से मनुष्य शत्रु के समान हो जाता है, किन्तु बदला न लेने से उससे महान बनता है ।

अतः अर्हतर्पि साधक को अप्रतिज्ञ भाव से रहने की प्रेरणा दे रहे हैं ।

टीका :—अप्रतिज्ञभाषादुत्तरं न विद्यते स्वयं पंडितो वेशान् अनेकरूपान् भविष्यद् भावान् न प्रकरोति । यदि वा वैसेति दोषे दोषे न स्थाने लेखकभ्रमात् । अप्रतिज्ञ इह लोके भवति यथार्थो ब्राह्मणः । गतार्थः ।

किं कञ्जते उ दीणस्स णणत्थ देहकंक्षणं ।

कालस्स कंक्षणं वा वि णणत्थं वा वि हायती ॥ ३ ॥

अर्थ:—दीन व्यक्ति देह कांक्षा के अतिरिक्त क्या करता है ? अथवा कमी मृत्यु की आकांक्षा करता है किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरे तत्व को नष्ट करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

सामान्य भाषुस पीताना (शरीरने टडाववा भाटे जडरी थीलोनी अपेक्षाथी) वधारे शुं डरी शके छे ? ते डहाय छंछीना अंतनो ज्वाळ पणु डरे, परंतु भरी रीते ते तेना शिवाय थीला तरनोनो नाश डरे छे.

सामान्य मानव जब तक आराम में होता है तब तक वह जीवन चाहता है और जब संकट के क्षणों से गुजरता है तब वह मौत मांगता है । वह दीनता लेकर चलता है । जीवन की कला से वह अनभिज्ञ है तो मौत की मधुरिमा से भी वह अपरिचित है । सुखीबत से घबराकर मौत मांगना जीवन की बहुत बड़ी पराजय है । यह ठीक है मृत्यु से जब तक बन सके बचे रहना जीवन का पुरुषार्थ है । किन्तु साथ ही यह भी न भूलना होगा कि मृत्यु का यथार्थ वर्ण ही जीवन का चरम विकास है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मनुष्य जीने का भरसक प्रयत्न करे, किन्तु जहाँ उसे मनुष्य की तरह जीने का अवसर मिले तो वह न चूके । मृत्यु मनुष्य की विवशता नहीं एक कला भी है । मृत्यु की गोद में सोकर सुकरात साधारण प्रचारक से बढ़कर अमर विचारक हो गया ।

आराम में जीवन की चाह और संकट में मौत की चाह यह दीनता की भाषा है । विचारक न सुख में जीना चाहता है न दुःख में मौत मांगता है वह अपने लक्ष्य के लिये जीता है । यदि उसे मौत में लक्ष्य की सिद्धि दिखाई देती है तो वह मृत्यु को भी हंसते हुए वर्ण करेगा ।

टीका-सामान्येन पुरुषेण किं कियते देहकांक्षणात् सि अन्यत्र न किंचिदित्यर्थः, दीनस्य कालकांक्षणं प्रायोपगमनादिना मृत्युप्रतीक्षणे वा लोकादन्यत्वं वात्मस्वभावत्वं हीयते न ज्ञायते ।

अर्थात् सामान्य पुरुष देहकांक्षा के अतिरिक्त क्या करता है । ? “ णणत्थ ” अन्यत्र अर्थात् दूसरा कुछ नहीं जानता है । दीन व्यक्ति की कालकांक्षा अर्थात् प्रायोगमनादि के द्वारा मृत्यु की प्रतीक्षा करना भी संभव है, यह लोक से अनन्यत्वं एकरूपता अथवा आत्मस्वभाव की हानि है कहा नहीं जा सकता ।

णञ्चाण आतुरं लोकं णाणावाहिहि पीलितं ।

णिम्ममे णिरहंकारे भवे मिक्खु जित्तिदिथे ॥ ४ ॥

अर्थ :—लोक को आतुर और नानाविध व्याधियों से पीड़ित जानकर भिक्षु ममत्व और अहंकार रहित होकर जितेन्द्रिय बने ।

गुजराती भाषान्तर :—

लोकने आतुर (पीडाथी दुःखित) जेधने तेमज्ज नानाविध दस्तोशी पीडायेला जेधने साधके भभत्व अने अहंकारनो त्याग डरी जितेन्द्रिय (इन्द्रियोनुं दमन करवुं) जेधये.

लोक आतुर है । दुनियां अपने स्वार्थों के पीछे भाग रही है । किन्तु यह आतुरता ही भय और रोग की परंपरा लिये खड़ी है । क्योंकि कोई भी भोग रोगशून्य नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति को भोग का मूल्य रोग के रूप में चुकाना पड़ता है ।

एक विचारक ने ठीक कहा है—

Pleasure's coach is a virtue's grave.

भोग का सिंहासन सद्गुण की कब्र है ।

क्षणिक तृप्ति के पीछे आनेवाली संकटों की बाढ़ को साधक अपनी आंखों से देखता है । अतः जन मानस की उस अशान्ति में भी साधक प्रेरणा के बीज खोजे और आतुरता का परित्याग कर ममकार और अहंकार से विहीन हो जितेन्द्रिय बने ।

पंचमहाव्रतं धृत्य जगत्साधये चित्तिरिद्विजे ।

से ह्यु दंते सुहं सुयति निरुधसग्नो य जीयति ॥ ५ ॥

अर्थ :—पंचमहाव्रतों से युक्त, कषाय रहित, जितेन्द्रिय और दमनशील साधक सुख से सोता है और उपसर्ग रहित जीवन जीता है ।

गुजराती भाषांतर :—

पंच महाव्रतोंधी युक्त, कषाय वगरनी, इन्द्रियो पर काबू भेजवेला अने दमनशील साधक सुखधी नींद से छे अने दीकरवगरनुं जीवन गुजारे छे ।

आत्मिक शान्ति कौन पा सकता है और किसका जीवन कष्टों और पीड़ाओं से मुक्त रहता है इसका उत्तर प्रस्तुत गाथा दे रही है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पंच महाव्रत जिसकी आत्म-शान्ति की सुरक्षा कर रहे हैं । इच्छाओं की रस्सियों को जिसने तोड़ डाला है और कषाय की ज्वाला जिसकी शान्त हो चुकी है; वही आत्म दमन-शील साधक सही अर्थों में सुख की नींद सोता है । वासना जन्म कष्ट उसके जीवन में प्रवेश नहीं पा सकते ।

“सुहं सुयति” यह एक मुहावरा है । मानव जब किसी बड़े कष्ट से मुक्ति पाता है तब बोल उठता है—अब मैं सुख की नींद सोऊंगा । इसी प्रकार जो साधक इच्छाओं की पीड़ा से मुक्त हो जाता है वही पूर्ण सुख की अनुभूति करता है ।

जे ण लुब्धमति कामेहिं चिण्णसोते अणासवे ।

सद्ध-दुक्ख-पहीणो उ सिद्धे भवति णीरण ॥

अर्थ—जो कामों में लुब्ध नहीं होता है और जो छिन्नस्रोत है और अनाश्रित होता है, वह समस्त दुःखों से मुक्त हो कर्मरज रहित सिद्ध होता है ।

गुजराती भाषांतर :—

जे भाखुसने वासनाओ आकर्षित करी शकता नथी, स्रोतोने छेदी नाभी अनाश्रित अनी गयो छे तेज भाखुस अधां दुःखोधी मुक्त अनी कर्मरजधी रहित सिद्ध अने छे ।

वासना में जिसे छुभा नहीं सकती वही वासना के स्रोत को सुखा सकता है और कर्माश्रय को रोक सकता है । जो आश्रय रहित है वही दुःख-परंपरा को रोक सकता है और वही आत्मा कर्म-रज-रहित हो, शाश्वत सिद्ध स्थिति पा सकता है ।

प्रोफेसर शुक्तिन् लिखते हैं—

तैद्वतीसवें अध्याय की भांति ही यहां पर भी घटनाओं का निश्चित संख्या के रूप में वर्णन करते हैं । स्थानांग सूत्र में भी यह संख्या के रूप में आया है, किन्तु वहां इतना स्पष्ट नहीं है । यक्षादान को अज्ञानी के सामने रखा है और विद्वान् पुरुष अज्ञानियों के प्रहार से अपने आपको कैसे मुक्त करे यह इसमें बताया गया है । जो उस पर प्रहार होते हैं सद्-विचारों के द्वारा उन्हें अच्छे रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि वह समस्त बंधनों से मुक्त है । आचारांगसूत्र में “अवदिज्ञ” शब्द अनेक बार आया है । उसमें बताया गया है कि चैर के कार्यों का परिणाम सुन्दर नहीं आता^१ है ।

तृतीय श्लोक में तीन शब्द छद्म विभक्ति में आया है जिसका मतलब यह है कि वह (साधन) शरीर को ठीकाये रखने के लिये वह जीता है, पश्चात् इच्छाओं की समाप्ति एवं ज्ञान प्राप्ति के बाद वह आत्मा संसारी जीवों के साथ नहीं रहता ।

एवं से सिद्धे बुद्धे मतार्थः ।

इति इसिगिरिअर्हत्तर्षि प्रोक्त

चौतीसमं अध्ययनं

—><—

अदालत अर्हतर्षि प्रोक्त पैंतीसवां अध्ययन

अर्हत कुन से आराम शान्ति के खोज में चटक रहा है। किन्तु शान्ति के लिये किये गये वे सभी प्रयत्न शीतल हवा के लिये ज्वालामुखी पर आरोहण से हो रहे हैं। हिमालय के बड़े ज्वालामुखी को चुनकर शान्ति की आशा केवल स्वप्न है। बृध के बर्तन को आग पर रखकर उसे उबालने से बचाना संभव नहीं है, इसी प्रकार कषाय की ज्वाला के निकट रहकर शान्ति की सांस लेना भी संभव नहीं है।

मानव मुक्ति के लिए सो सो प्रयत्न करता है किन्तु जब तक वह अपने हृदय से कषाय को दूर नहीं करता तब तक मुक्ति नहीं पा सकता। मुक्ति न वेध बदलने में है, न किसी संप्रदाय विशेष के छुंटे में बंध जाने में ही मुक्ति है। मुक्ति है कषाय विजय में।

विश्व के हर महापुरुष ने क्रोध की निन्दा की है। आचार्य विनोबा कहते हैं—संपूर्ण संसार को एकता के सूत्र में बांधने की योजनाएं बनाना सरल है, किन्तु अपने हृदय में रहनेवाले क्रोध पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। क्रोध की खुराक है मानव का मनोबल। क्रोध मानव की विचार शक्ति को दुर्बल बनाता है, इसीलिये तो उसका अल्ल सर्व प्रथम उसके चालक को ही घायल करता है।

आग ठंडे पानी से भी बुझ सकती है और गरम से भी। किन्तु विश्व के तीन मानवों में एक भी ऐसा सूर्य न होगा जो आग लगने पर पानी को गरम करने बैठे। ठीक ऐसे ही समाज या परिवार की समस्या शान्त दिमाग से भी हल होती है और कभी गर्म दिमाग भी उसको सुलझा देता है किन्तु जो समस्या को सुलझने के लिये पहले क्रोध के द्वारा मस्तिष्क को उबालने लगे उसे क्या कहा जाय ?।

क्रोध पाप का जनक और पुण्य का भक्षक है। एक विचारक ने कहा है—

Anger blows out the lamp of the mind. क्रोध मन के दीपक को बुझा देता है।

हमें सोचना है क्रोध क्यों आता है ? क्रोध की जड़ अहंकार में है। जब मनुष्य के “अहं” पर चोट लगती है तो दर्प का सर्प फुफकार उठता है। उसके खून में उमाल आ जाता है और मस्तिष्क की दिशा सूचक सुई भी घुम जाती है वह सही रास्ता नहीं दिखाती। उसकी जीम भी ठीक काम नहीं देती। वाणी और देह की यही विकृति क्रोध है। प्रकृतिस्थ होने के लिये विकृति को समाप्त करना होगा। प्रस्तुत अध्याय कषाय-विजय की प्रेरणा देता है।

अउहिं ठाणेहिं खलु भो जीवा कुप्यंता; मज्झंता गूहता लुब्धंता वज्जं समादियंति, वज्जं समादित्ता चाउरंत संसारकंतारे पुणो पुणो अत्ताणं पैरिविज्जंसंति, तं जहा कोहेणं माणेणं माथाए लोमेणं।

अर्थ—क्रोध करते हुए, मद करते हुए, छिगते हुए और लोभ करते हुए जीव इन चार स्थानों से पाप को ग्रहण करते हैं और पाप ग्रहण करके चातुरन्त संसार वन में पुनः पुनः अपनी आत्मा को (आत्म गुणों को) नष्ट करते हैं। वे ये हैं क्रोध के द्वारा, मान के द्वारा, माया के द्वारा और लोभ के द्वारा।

गुजराती भाषांतरः—

गुस्सावाणो, मदथी उन्मत्त, छुपावनारो अने लोभी भावुस पोतपोताना आर कर्मोथी पापोनो संश्रद्ध करे छे. पापोनो संश्रद्ध करी यातुरन्त संसाररूपी जंगलमां आवी बड़ी बड़ी आत्मा (ना गुणो) ने नाश करे छे. ते कर्ता (कषावनार) आ छे. क्रोध, मान, माया, अने लोभ ओटले आ आरथीज पापनो संश्रद्ध थाय छे.

क्रोध मान माया और लोभ ये आत्मा की विभाव परिणतियां हैं। आत्मा स्वभाव से हटकर जब इन विभाव परिणतियां में जाता है तब सावध को ग्रहण करता है। वह सावध पाप आत्मा को पुनः विभाव की ओर ले जाता है और इस रूप में आत्मा की भवपरंपरा की लता सर्वदैव पल्लवित और पुष्पित रहती है। दशवैकलिक सूत्र में भगवान महावीर की वाणी गूंज रही है।

क्रोधो य माणो य अणिग्गहिया माथा य लोभा य पपडुमाणा ॥

एए य चत्तारि कसिणा कसाया, सिंचन्ति मूलाई पुणभवस्स ॥—दशवै० ।

यदि क्रोध और मान निग्रहित नहीं है माया और लोभ की ज्वाला धधक रही है तो यह कषाय चतुष्क भव-परंपरा की जड़ को सदैव सींचता रहेगा । क्योंकि जन्म परंपरा के मूल कर्म हैं और कर्म रागद्वेष प्रेरित होते हैं । रागद्वेष कषाय में अंतर्भुक्त हैं । स्थूल दृष्टि से क्रोध और मानद्वेष प्रेरित हैं और माया और लोभ रागप्रेरित हैं ।

श्रीजिनभद्रगणि 'क्षमाश्रमण' नय विचार से राग और द्वेष में कषाय का विभाजन करते हुए कहते हैं :-

कोहं माणं वडणीइ, जाइओ मेइ संगहो दोसं । माया लोभेय सपीइ, जाइ सामण्यओ रागं ॥

मायं पि जं दोसमिच्छइ ववहारो जं परोवघायाय । नाओ वा दाणेच्चिय मुच्छा लोभोत्ति तो रागं ।

उज्जुसय मयं कोहो दोसो सेसाण मय जेगन्तो । रागो त्ति व दोसो त्ति व परिणामवसेण उविसेओ ॥

विशेषावश्यक भाष्य २६६६-२६७१.

संग्रह नय के विचार से क्रोध और मान द्वेष रूप हैं जब कि माया और लोभ राग हैं । क्योंकि प्रथम दो में दूसरे की अहित भावना है और अन्तिम दो में अपनी स्वार्थ साधना का लक्ष्य है । व्यवहार नय की दृष्टि से क्रोध मान और माया तीनों द्वेष रूप हैं, क्योंकि माया में भी दूसरे की विघात के ही विचार हैं । केवल लोभ ही अकेला रागात्मक है, क्योंकि उसी में भ्रमत्व मात्र है ।

ऋजुसूत्र नय केवल क्रोध को ही द्वेषरूप मानता है । ऐय अथात्र त्रिक के उग्रान्ध में एकाग्रतः ऐसा स्वीकार नहीं करता है, कि वे केवल राग प्रेरित हैं या केवल द्वेष प्रेरित ।

अध्यवसाय विशेष से प्रेरित मानादिक भी द्वेषात्मक प्रवृत्ति करते हैं तो कभी राग की ओर भी झुकते हैं, जब वे सहित की सुख में प्रवृत्त हों तब इनका स्वार्थप्रेरित रूप रागात्मक वृत्ति का स्रोतक है और जब वे दूसरे के विनाश में प्रवृत्त होते हैं तब द्वेष रूप हैं । ऋजु सूत्र नय वर्तमान क्षणग्राही हैं, अतः वह क्रोध और मान को द्वेष रूप एवं माया और लोभ राग रूप हैं ऐसा भेद मानने को वह तैयार नहीं हैं ।

शब्दादि तीनों नय इनसे भिन्न मत रखते हैं । उनकी दृष्टि में क्रोध, मान, माया और लोभ जब स्वशुण उपकारात्मक उपयोग में होते हैं तब तीनों मूर्च्छात्मक भाव में हैं, अतः राग ही है । और जब वे दूसरे की अनिष्ट भावना से प्रेरित होते हैं तब द्वेष रूप है ।

कषाय चाहे रागरूप हो या द्वेषरूप, अन्ततः ये सभी भवपरम्परा की वृद्धि करते हैं ।

टीका — चतुर्षु स्थानेषु खलु भो जीवाः कुप्यन्तो मायन्तो गृह्यन्तो लुभ्यन्तो वज्रं समादधन्ति वज्रं समादाय चातुरन्तसंसारकान्तारे पुनःपुनरात्मानं प्रतिविध्वंसन्ति, तत् तथा क्रोधेन मानेन मायया लोभेन । गतार्थः ।

तेसिं च णं अहं परिधातहेउं, अकुण्णंते, अमज्जंते, अगूहंते, अलुब्धंते, तिगुत्ते, तिदंड-विरते, णिस्सहे, अगारवे, चउविकहविवज्जिए, पंचसमिते समिए, पंचेंदियसंबुडे, सरीर सखरणट्टा जोग-संघणट्टा, णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमुप्पायणसुद्धं तत्थ तत्थ इतरा इतरा कुलेहिं परकडं परणिट्ठितं विगतिं गालं विगतधूमं, सत्थात्तीतं, सत्थरिणतं, पिडं सेज्जं उवहिं च एसे भावेमिति अहालेणं अरहता इसिणा बुद्धं ।

अर्थ :- अब मैं कषायों के प्रतिघात के लिये क्रोध नहीं करता, मान नहीं करता, छल से दूर रहता और लोभ नहीं करता । त्रिगुणियों से गुप्त त्रिदंड से विरत शल्प-रहित, गर्व-रहित, चार विकृतियों से विवर्जित, पंच समितियों से युक्त, पंच इन्द्रियों से संवृत होकर, शरीर धारण के लिये और योगों के संधान के लिये, नवकोटि परिशुद्ध दस दोषों से विप्रमुक्त उद्गम और उत्पाद के दोषों से शुद्ध यहां वहां अन्यान्य कुलों से दूसरों के लिये बनाया हुआ अग्नि और धूम रहित शब्दातीत और शस्त्र परिणत आहार शय्या और उपाधि को ग्रहण करता हूँ और आत्मा को भावित करता हूँ । उद्दालक अर्हतरिं ऐसा बोले ।

गुजराती भाषान्तरः—

हमझां हूँ कथायो (पर विजय भेगवी ते) नो नाश (वातक प्रवृत्ति) करवा माटे गुस्सो करतो नथी, मान करतो नथी, छवथी दूर रहूँ छुँ अने दोल करतो नथी. त्रिगुप्तियोधी गुप्त त्रिदंड (मन, वाणी अने देह) थी विरत, शब्द (भाषा निदान, इक्षुनी अभिलाषा, अने मिथ्यादर्शन) रहित, अस्मिमान रहित, चार (स्त्रीनी, देशनी, राजनी अने बीजनी) कथाओथी रहित, पांच (ईर्ष्या, लाषा, ऐषणा, आदान, निक्षेप, उच्चार प्रसवणा) समितिओथी युक्त, पांचे छदियोथी संवृत, देहधारण माटे अने योगना संधान माटे नवकोटि परिशुद्ध दोषोथी परिमुक्त, उद्गम अने उत्पादना दोषोथी शुद्ध, अर्द्धाभा अजर भीजे हकाणु भीज कुबोथी भीजओने माटे अनावेजा अग्नि अने धुंवा-डाथी रहित, शस्त्रातीत अने शस्त्रपरिभूत, आहार, शय्या अने उपाधिने हूँ स्वीकार करूँ छुँ अने आत्माने आवित करूँ छुँ अयेम उदावक ऋषि ओल्या.

कषाय पर विजय पाने के लिये साधक को कषाय की परिणति से दूर रहना चाहिये । उसे क्षमा विनय सरलता और निर्लोभता के भावों में रत रहना चाहिये । साथ ही उसकी आहार और व्यवहार शुद्धि भी आवश्यक है । समिति और गुप्तियाँ उसे साधना में लीन रखती हैं । मन, वाणी और काया को तन्मय से दृढ़कर शुभ को ओर प्रवृत्त करना गुप्ति है ।

त्रिदंडः—मन वाणी और काया की आत्म विघातिनी प्रवृत्ति दंड है ।

निःशब्दः—भाषा निदान = कलसक्ति और मिथ्यादर्शन से शब्द हैं, इनसे विरत निःशब्द कहा जाता है ।

चउविकहा—स्त्री-कथा, देश-कथा, राज-कथा, भाक्त = भोजन कथा ये चारों विकथा व्यर्थ कथाएँ हैं ।

पंचसमितिः—ईर्ष्या = विवेकपूर्वक चलना, भाषा = विवेकपूर्वक सीमित बोलना, एषणा = शुद्ध भोजन की शोध, आदान निक्षेप निजी सीमित सामान को यत्न के साथ लेना और रखना.

उच्चार प्रसवणादि = परिस्थापन = एकान्त स्थान में विवेकपूर्वक मल मूत्रादि विसर्जन करना । ये पाँचों समितियाँ हैं । उपयुक्त प्रवृत्ति समिति है । गुप्ति निवृत्ति है तो समिति प्रवृत्ति है । साधक जीवन निवृत्ति और प्रवृत्ति के दो तटों के बीच बहता है, किन्तु दोनों में ही उसका विवेक जागृत रहना चाहिए ।

मूल और उत्तर गुणों से संयमित जीवनवाले साधक को भी भोजन की आवश्यकता होती है, किन्तु भोजन नवकोटि शुद्ध हो । एषणा = गवेषणा भोजन प्राप्ति के दोषों से रहित तथा उद्गम और उत्पादक के दोषों से मुक्त हो । जिस भोजन के निर्माण और उसके संस्थापन में मुनि का संकल्प हो वह मुनि के लिये अग्राह्य है । उद्गम और उत्पादन के क्रमशः सोलह दोष हैं । विशुद्ध भोजन भी मुनि एक ही घर से ग्रहण न करे, किन्तु विविध कुलों में जाकर शुद्ध भोजन ले । मुनि की शिक्षा भ्रमरवृत्ति है । दशवैकालिय सूत्र के प्रथम अध्याय में मुनि की शिक्षा-विधि का सुंदर निरूपण किया गया है ।

जैसे अमर वृक्ष के फूलों का रस ग्रहण करता है, किन्तु वह इतना कुशल है कि उस के रस ग्रहण से न पुष्पों को पीड़ा होती है, न वह स्वयं ही अवृत्त रहता है । साधक की शिक्षा भी ठीक इसी प्रकार की हो । वह समाज उद्यान में पहुँचे गृहस्थ पुष्पों से रस ले किन्तु उसके द्वारा वे फूल सुझाने भी नहीं चाहिये ।^१

भोजन दूसरों के लिये बनाया गया हो अग्नि और धूर्व से रहित हो । भोजन शस्त्र परिणत हो साथ ही शस्त्र से रहित भी हो ।^२

१ सम्बन्धयोगनिर्महीपुंसि : तत्त्वाद्यै अ० ९ सू० ८. २ जो भोजन मुनि ने बनाया न हो, न दूसरे से बनवाया हो और न उसके लिये अनुमोदन ही किया हो । जो काय मन वाणी और देह तीनों से पृथक् है वह नवकोटि शुद्ध कहलाता है, मन से न करना, न करवाना, न अनुमोदन करना ऐसे ही वाणी और काया के द्वारा ये नव धोरियाँ हैं ।

३ जहा दुग्गस्स पुण्हेसु भगरो आ वियह रसं ।

णवपुप्फं फिलामेह सोय पीणह अप्पयं ॥

एमे ए समणामुत्ता जे लोए संति साहणो ।

विहंगमा न पुण्हेसु वाण भत्तेसणे रसी ॥—दशवै. अ. १. गाथा २-३

४ शस्त्र से यहाँ चाकू आदि अभिप्रेत नहीं है किन्तु एक द्रव्य में विजातीय द्रव्य का मिश्रण; जिस आघात को द्रव्य जीव सह न सके जैसे शक आदि में नमक मिश्रण हो वह द्रव्य शस्त्रपरिणत है । ५ उस द्रव्य के साथ नमकादि शस्त्र पृथक् रूप में उपस्थित न हो । अन्यथा वह संचित ध्वं अनेषणीय होगा ।

टीका—तेषां च कषायाणामहं परिधातहेतोरकुप्यन्माद्यन्नगुह्यन्नलुभ्यन्निगुसन्निदं—विरतो, निःशलोऽगारवः स्त्री-भक्त-देश-राज विशेषितम्चतुर्विकथाविवर्जितः पञ्चसमितः पञ्चेन्द्रियसंवृतः शरीरसंधारणार्थं योगसंधानार्थं नवदोष-कोटिपरिशुद्धं दशदोष-विप्रमुक्तं, उद्गमोत्पादनदोषशुद्धं तत्र तथेतरेषु कुल्लेषु परार्थं कृतं निष्ठितं, विगतांगारं, विगतसर-साहारधनवद् दातृवर्णनं, विगतधूमं विरसाहारकृपणदातृ-निन्दन-वर्जितं शस्त्रातीतं शस्त्रपरिणतं पिबं शक्यामुवर्धि येषां भावयामीत्यर्पिणा भाषितं । गतार्थः ।

विशेष विगतांगार और विगत धूम के साथ कुछ विशेषण और जोड़े हैं । सरसा आहार और धनवान दाता का वर्जन करना चाहिये । क्योंकि धन का पूजारी गुण पूजा को महत्व नहीं देता और वह अपने यहाँ आगतुक संत को भी रसलोलुप मिश्रुक ही समझता है । कृपण के यहाँ भी मुनि मित्रा के लिये न जाए, क्योंकि जिसका दिल संकुचित है उसके पास भी कुछ नहीं मिल सकता । कृपण का दूसरा अर्थ गरीब भी होता है । दीन-दुःखियों के उद्देश्य से बनाये गये भोजन को मुनि ग्रहण न करे । साथ ही मुनि निन्दित गृह में भी प्रवेश न करे ।

अण्णाणविष्णमूढप्पा पञ्चुप्पण्णाभिधारण ।

कोवं किञ्चा महाबाणं अप्पा विंध्य अप्पकं ॥ १ ॥

अर्थ :—अज्ञान से घिरा हुआ मूढ़ात्मा केवल वर्तमान को ही देखता है कोष को महाबाण बनाकर उसके द्वारा अपने आपको बांध डालता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

अज्ञानशी घेरायेझो मूढ़ मानव डेवन्न थालू डालत तरङ्ग म ध्यान आपे छे. गुरसाने महाबाण (शस्त्र) बनावी तेनाथी म पोते घायल अनी मय छे.

अज्ञानशील आत्मा की दृष्टि केवल वर्तमान तक ही सीमित रहती है । इसीलिये उसके वर्तमान सुख में जरा भी कमी होती है, या उसके स्वार्थ को ठेस लगती है तो उसका कोष उबल पड़ता है । कोष मानव का विवेक दीपक बुझा देता है । एक इंग्लिश विचारक ने कहा है :—

An angry man opens his mouth and shuts his eyes. कोधी मनुष्य आँखें मूंद लेता है और मुँह खोल देता है ।

वह यह नहीं सोचता कि मेरे इन शब्दों का परिणाम क्या आयेगा । कोष के प्रारंभ में मूर्खता है और उसके अन्त में पश्चात्ताप रहता है । कोष जब अलग दरवाजे से प्रवेश करता है तो विवेक पीछे की ओर से भाग खड़ा होता है ।

कोधी मानव कोष के बाण से स्वयं अपने आपको वीथ लेता है । हजारों की संख्या में होनेवाली आत्महत्याएं इसी की साक्षी हैं । दूसरे को जलाने के लिए जो आग फेंकने की चेष्टा करते हैं, उस आग से दूसरा जलेगा या नहीं यह दूर की बात है किन्तु आग अपने फेंकने वाले के हाथ को जरूर जलाती है ।

कोष पर विजय पाने के लिये कोष विजेताओं को स्मृतिपथ में लाना चाहिये । आग बुझाने के लिये फायर ब्रिगेड को बुलाया जाता है तो कोष के उपशमन के लिये क्षमा के देवता राजकुमार को याद करना चाहिये । उनका उज्ज्वल इतिहास क्षमा की पुष्टि दे जाता है । साथ ही कोष के उपशमन के लिये कोष आने बाद विचार करना चाहिये । कोष क्यों आया ? उसमें गलती किसकी थी ? यदि मेरी गलती थी और उसने बताई तो फिर कोष की आवश्यकता क्या थी ? यदि गलती दूसरे की थी फिर भी उसे गुस्सा आयेगा तो मुझे शान्त रहना था ।

मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति ।

कोधबाणेण विद्धे तु निज्जती भवसंतति ॥ २ ॥

अर्थ :—बाण से वीथ जाने पर एक भव विवदता है । कोष बाण के प्रविष्ट होने पर भव-परंपरा ही बिगड़ जाती है ऐसा मैं मानता हूँ ।

गुजराती भाषान्तर :—

भीष्म बाणुथी घायल थया पछी એકલ ભવ બગડે છે. ગુસ્સાનો બાણ વાગ્યા પછી ભવપરંપરા (અનેક ભવ) બગડે છે, એમ હું માનું છું.

दूसरे बाण शरीर को लगते हैं, शरीर धराशायी हो जाता है और जीवन की आवा समाप्त हो जाती है। किन्तु क्रोध का बाण हजारों भवों को विकृत करता है। यह क्रोध का ही परिणाम था कि मौशालक ने भ० महावीर जैसे पवित्र सन्त पर तेजोल्लेखा फेंकी। विश्व के महायुद्ध और संहार का इतिहास भी क्रोध की कलम से लिखा गया है। विषाक सूत्र की कथाएं भी कषाय का परिणाम बता रही हैं।

अण्णाणविप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारण ।

माणं किञ्चा महावाणं अप्पा विंघह अप्पकं ॥ ३ ॥

मण्णे वाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति ।

माणवाणे विद्धे तु निज्जती भवसंतति ॥ ४ ॥

अर्थ :—अज्ञान से घिरा हुआ आत्मा वर्तमान को ही पकड़ कर रखता है और मान को महाबाण बनाकर आत्मा अपने आपको वींध लेता है।

बाण से वींधा हुआ व्यक्ति एक ही भव को नष्ट करता है, किन्तु मान के बाण से वींधा हुआ व्यक्ति अनेक भवों को विकृत करता है, ऐसा मैं मानता हूं।

गुजराती भाषान्तर :—

अज्ञानधी घेरायेली माणूस आलू डालत ने पकड़ी राणे छे अने अहंकारनो महाबाण्ण अनावी पोते न पोतानो गोध (पोटो ज्याल) करी ले छे।

धील आलुथी घायल थयेल माणूस ओकन लवनो नाश करे छे, ज्यारे अहंकारना आलुथी घायल थयेली माणूस धण्ण्ण अवोने अगाडे छे, ओम हं मानुं छुं।

अहंकार मानव-मन का नागपाश है। दर्प का सर्प जब मानव को डसता है तो उसके नशे में अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मान बैठता है। मगरूर की हवा उसे फूला अवश्य देती है, किन्तु चैन से कहीं बैठने नहीं देती। यह भी निश्चित है मनुष्य जितना छोटा होता है उसका अहंकार उतना ही बड़ा होता है। पश्चिमी विचारक फ्रैंकलिन ने कहा है—घमंडी व्यक्ति भी दूसरे के घमंड से नफरत करता है। फिर भी उसे अहंकार से नफरत नहीं है, क्योंकि वह अपने आपको बहुत बड़ा मानता है।

नम्रता ने शैतान को फरिश्ता बनाया है तो अहंकार ने फरिश्ते को शैतान बनाया है।

अहंकार ज्ञान का सबसे बड़ा अवरोधक है। बाहुबली को अल्प अहंकार भी उनकी साधना का सबसे बड़ा बाधक बन गया था।

अण्णाणविप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारण ।

मायं किञ्चा महावाणं अप्पा विंघह अप्पकं ॥ ५ ॥

मण्णे वाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति ।

मायावाणेण विद्धे तु निज्जती भवसंतति ॥ ६ ॥

अर्थ :—अज्ञान के आवरण में रहा आत्मा वर्तमान को ही पकड़ता है। माया को महाबाण बनाकर आत्मा अपने आपको वींधता है।

दूसरे बाण से वींधे जाने पर एक ही भव नष्ट होता है, किन्तु माया के बाण से वींधा गया व्यक्ति भवपरंपरा को विकृत करता है, ऐसा मैं मानता हूं।

गुजराती भाषान्तर :—

अज्ञानना आवरणधी ढंकायेली आत्मा डालनी परिस्थितिने पकड़ीने न ओसे छे, ते माणूस मायानो महाबाण्ण अनावी पोतेन पोताने घायल करी ले छे।

1. It was pride that changed angels into devils it is humility that makes men as angels.

भील आशुथी धायल धयेला भासुनो ऐकज अव जगडे छे; परंतु मायाना आशुथी धवायेलेो भासुन अवपरंपरा (ऐटले अनेक अवो) ने जगडी दे छे, ओम हुं मानुं हुं.

सरलता की भूमि में धर्म का पौधा लगता है। जीवन की वकता सरल वस्तु को विकृत बना देती है। डाक्टर से कपट रखकर कोई भी रोगी स्वस्थ नहीं हुआ है। अध्यापक से छल कर कोई भी व्यक्ति शिक्षा नहीं पा सका। वकील से दुराव छिपाव छुपाकर कोई भी मुबक़ील विजय नहीं पा सका।

आलोचना जैसी पवित्र क्रिया भी दूषित हो जाती है। जो आलोचना शुद्ध हृदय से की जाती है तो जिस पाप का एक मास का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु छल के द्वारा की हुई आलोचना करने पर उसी अपराध का दो मास का प्रायश्चित्त आता है।

आगम में मायाशील आत्मा को मिथ्या दृष्टि बताया गया है। 'मायी मिच्छादिद्वी अमायी सम्मदिद्वी'। साथ ही माया को तिर्यग्योनि का बन्ध देत बताया गया है। जीवन की वकता शरीर को भी वक बना देती है।

अज्ञानविप्रमूढत्वा प्रच्युप्यण्णाभिचारप ।

लोभं किञ्चा महाबाणं अण्णा विंचह अप्पकं ॥ ७ ॥

मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति ।

लोभबाणेण विद्धे तु विज्जती भवसंततिं ॥ ८ ॥

अर्थ :—अज्ञान से आवृत आत्मा वर्तमान को ही ग्रहण करता है। लोभ को महाबाण बनाकर उसके द्वारा आत्मा स्वयं को वीध लेता है।

अन्य बाण से वीधा हुआ आत्मा एक भव को ही खोता है, पर लोभ बाण से विद्ध व्यक्ति अनेक भवों को खो बैठता है।

गुजराती भाषान्तर :—

अज्ञानशी आवृत (घेरायेलेो) मानव आत्मा परिस्थितीने ज वणणी रहे छे. लोकने महाबाण (मोटाभां मोटुं साधन) समस्त पीताना ज कुसोथी पीताने धायल करी भेसे छे.

भील आशुथी धायल धयेयो आत्मा कदाच ऐक अवने ओछ भेसे छे, पछु लोभरूपी आशुथी धायल धयेल आत्मा वण्णा ज अवोने ओछ भेसे छे.

लोभ यह चतुर्थ कषाय है जिसके लिये आगम बोलते हैं "लोहो सर्वविणासणो।" लोभ समस्त विनाश का हेतु है। इंग्लिश कहावत है—Avarice is root of all evils. लोभ समस्त पापों की जड़ है।

चेष्टा और कोणिक के बीच हुए युद्ध और भीषण नरसंहार के पीछे एक हृदय का लोभ ही तो बोल रहा था। विभिन्न राष्ट्रों में होनेवाली रक्त-क्रान्तियों की जड़ में लोभ ही बोल रहा है। संग्रह और शोषण वृत्ति के पीछे भी यही काम करता है।

टीका :—अज्ञानविप्रमूढत्वा प्रच्युप्यण्णाभिचारकः कोपं मानं मायां लोभं किञ्चा महाबाणमात्मा विञ्चत्य्वात्मानं। मन्ये बाणेन विद्ध एकमेव भवं विनीयते कोधमानमायालोभबाणेन विद्धस्तु भवसंततिं नीयते जनः। मतार्थः।

तम्हा तेसिं विणासाय सम्ममागम्मसम्मतिं ।

अप्पं परं च जाणिस्ता खरेऽविसयगोयरं ॥ ९ ॥

अर्थ :—अतः साधक के कषाय के नाश के लिये सम्यक् रूप से सम्मति को प्राप्त करे और ख और पर का ज्ञान करके अविषय गोचर वातावरण में रहे।

गुजराती भाषान्तर :—

भाटे साधकना कषायनो नाश करवा भाटे सारी रीते सन्मति भेगवी लेवी ओछये अने स्व तथा परनुं ज्ञान करी खछ अविषयगोचर (जथां विषयोनुं ज्ञान छिद्रियोने थाय नही भेवा) वातावरणुमां ज रहेवुं ओछये.

१ जे भिक्खु मासियं परिहारं ठागे पडिसेविच्चा आलोपज्जा अपलिओत्थियं आलोपमाणस्स मासियं, पलिओविय आलोपमाणस्स दोमासियं। व्यवहारसूत्र ३० १ सू० १. २ माया तिर्यग्योनमस्य। तत्त्वार्थ अ. ६ सू. १७

साधक कषाय के स्वरूप का परिज्ञान करे। जब उसकी विधातक शक्ति का ठीक ठीक अबोध होगा तभी आत्मा उसके विनाश के लिए प्रवृत्त होगा। कषाय मेरी स्वभाव-परिणति नहीं है, वह मेरे निज गुणों का विधातक है। इतना निश्चय होने के बाद ही साधक विभाव परिणति को दूर कर सकता है। अतः एव वर्तमान सुख के लिये आकुल बुद्धि की बचलता को दूर करना होगा।

किसी वस्तु की प्राप्ति और उसके संरक्षण के लिये मनुष्य क्रोध के हथियार का उपयोग करता है। उसके लिये दो बातों का चिन्तन आवश्यक है; जिस वस्तु को पाने के लिये क्रोध किया जाता है वह स्वद्रव्य है या परद्रव्य? यह निश्चित है आत्मा के अतिरिक्त सभी वस्तुएं परद्रव्य हैं, फिर पर के लिये इतना आक्रोश क्यों? दूसरी बात क्रोध के द्वारा किसी वस्तु का संरक्षण हम कर सकें यह भी संभव नहीं है। क्योंकि वस्तु स्वयं विनाशधर्मी है और अशाश्वत को शाश्वत बनाने की ताकद किसमें है? अतः साधक स्व और पर का भेदविज्ञान करे। यह भेदविज्ञान उसे कषाय-विजय के लिये बहुत बड़ा सहाय्यक होगा।

कषाय-विजय के लिये भेदविज्ञान के साथ अन्तर्निरीक्षण भी आवश्यक है। क्रोध के उतार के क्षणों में आत्म-निरीक्षण करें। हर एक व्यक्ति दूसरे की गलती देखता है। इसीलिये तो उसे क्रोध आता है यदि उसका आत्म-निरीक्षण जारी रहा तो वह अपनी भूल भी देखेगा और फिर क्रोध का स्थान सद्गुण सुलभ लज्जा ले लेगी।

क्रोधोपशमन के लिये विपक्षोपरति भी आवश्यक है। क्योंकि विषयों की ओर घूमनेवाला मन जब अपने प्रिय पदार्थों की प्राप्ति में किसी को बाधक पाता है तभी उन्हें दूर करने के लिये क्रोध का आश्रय लेता है।

जेषु जायंते क्रोधाती कम्म-बंधा महाभया ।

से वत्थु सव्वभावेणं, सव्वहा परिवज्जए ॥ १० ॥

अर्थ :—जिन व्यक्तियों अथवा वस्तुओं में कर्म बन्ध के हेतु और महा भयोत्पादक क्रोधादि उत्पन्न होते हैं साधक उन समस्त वस्तुओं को सर्वे भावों से सर्वथा छोड़ दे।

गुजराती भाषान्तर :—

जे भावुसीमां अगर पदार्थोंमां कर्मबंधना कारणे मोहुं अथ उत्पन्न करना क्रोध जेवा विचार पैदा थाय छे; साधके गमे तेम करी तेवा पदार्थोंने सदंतर छोडी देवा जेधजो.

पुद्गल यद्यपि जड़ है उसमें कषाय भाव नहीं है, फिर भी कषायोत्पादन में वे निमित्त हो सकते हैं। यदि आत्मा में कषायभाव है तो पदार्थ भी कषाय के लिये निमित्त हो सकता है। अतः साधक कषाय के निमित्त से बचता रहे।

यद्यपि निमित्तों से बचना बाह्यी दवा है, अन्तर की औषधि तो आत्मा में से कषाय की परिणति का क्षय कर देना है। फिर भी जब तक मोह क्षय नहीं हो जाता तब तक कषाय के निमित्तों से बचते रहना आवश्यक है।

भगवान् महावीर ने कहा है—

सेकिलेशकरं ठाणं दूरओ परिवज्जए ।

—दशवैकालिक सूत्र.

साधक। कषायोत्पादक वातावरण को दूर से ही छोड़ दे।

सत्थं सल्लं विसं जंतं मज्जं वालं दुभासणं ।

वज्जेतो तं निमिसेणं दोसेणं ण पि लुप्पति ॥ ११ ॥

अर्थ :—सत्त्व, राग्य, विष, मंत्र, मद्य, सर्प और कटुमाषण का वर्जन करने वाला व्यक्ति उस निमित्त से आनेवाले दोषों से लिप्त नहीं होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

हथियार, शस्त्र, जहर, मंत्र, दारु, साप अने न गमे तेवी वातोथी दूर रखेनार भावुसने तेने कारणे आवनार कोधपणु दोषनो संसर्ग (जवाबदारी) ते भावुसने थलो नथी.

पूर्व गाथा में बताया गया है कि साधक कषाय से बचने के लिये उसके निमित्तों से दूर रहे, यहां उन निमित्तों का निर्देश किया गया है।

शस्त्र हिंसा का बहुत बड़ा साधन है। कोध आधा और पास में शस्त्र है तो वह शीघ्र हिंसा के लिये तैयार हो जायगा। पर यदि आवेश के क्षणों में शस्त्र पास में नहीं है तो वह उस समय प्राण-घात से बच जाएगा। संभव है कुछ देर बाद उसके आवेश का तुफान ही शान्त हो जाए।

शस्त्र वह अन्तःशस्त्र है। जो कि भीतर ही प्रहार करता है। विष भी कोध को उत्तेजना देनेवाला है। आवेश में बहुत से अविवेकी जन आत्मघात की सोच लेते हैं और विष का प्रयोग करते हैं अथवा उसका उपयोग दूसरे की हत्या में करते हैं।

इसी प्रकार रंज, मद्य, सर्प और दुर्वचन कषाय के प्रमुख निमित्त हैं। आत्मशान्ति के गवेषक को इनसे बचते रहना चाहिये।

आतं परं च जाणेजा सच्चभावेण सच्चधा ।

आयदुं च परदुं च पियं जाणे तहेच य ॥ १२ ॥

अर्थ :—साधक 'स्व' और 'पर' का सर्वभाव से सर्वथा परिज्ञान करे, साथ ही आत्मार्थ और पदार्थ को भी जाने।

गुजराती भाषान्तर :—

साधक 'स्व' अने 'पर'नुं सर्वभावे (सारी रीते) ज्ञान करी लेवुं ओर्धये; अने साथे साथे आत्मार्थ तेमण पदार्थनुं ज्ञान पळु करी लेवुं ओर्धये.

कषायों से उपरत होने के लिये साधक स्व और पर का भेदविज्ञान प्राप्त करे। जब तक यह भेदविज्ञान नहीं आयेगा तब तक संघर्षों का अन्त नहीं हो सकता। क्योंकि पर में स्व की बुद्धि ही संघर्षों की जड़ है। साथ ही स्वहित और परहित का भी विवेक आवश्यक है। केवल स्वहित को आगे रखकर चलनेवाला दूसरों के हितों को कुचलता है और इस प्रकार वह परोक्ष रूप से कषाय की ज्वाला भड़काने का ही काम करता है। दूसरे के अधिकार छीनकर उनकी संपत्ति दबाकर शान्ति की बात करना शान्ति का उपहास है।

सए गेहे पलित्तामि किं धावसि परातर्क ? ।

सयं गेहं गिरित्ताणं ततो गच्छे परातर्क ॥ १३ ॥

अर्थ :—जब अपना घर जल रहा है फिर दूसरे के घर की ओर क्यों दौड़ रहे हो ?। स्वयं के घर का निराकरण करने के बाद दूसरे की ओर जाओ।

गुजराती भाषान्तर :—

अधारे पीतानुं ७४ भडान सणगवा मांछुं छे त्यारे तमे भीजना घेर तरङ्ग छेम छोडो छो ? पीताना घेरनुं निराकरणु (आगथी संरक्षणु) कर्या पछी ७४ भीजना घेर तरङ्ग अबो.

कषायोत्पत्ति के हेतुओं में एक प्रमुख हेतु परनिन्दा का है। दूसरे के आलोचना बहुत सस्ती होती है, क्योंकि हमारे आंख की काली कीकी दूसरों की झालिमा बहुत जल्दी देख लेती है। मानव की आंखें देखती हैं उसका घर जल रहा है किन्तु एक क्षण भी मुड़कर अपनी ओर नहीं देखता कि मेरे पैरों के नीचे भी आग जल रही है।

भारत के भक्त कवि सूरदास बोलते हैं—

एगतर जगत न जानत मूरख ।

पर घर जाय बुझाये । अचंभा हन लोगन को आवे ।

दूसरे की आग बुझाने के लिये आप दौड़ पड़े हैं, आपकी इस परोपकारिता का स्वागत है। आपके दिल में दूसरों के उद्धार के लिये बहुत बड़ी बेचैनी है, किन्तु जरा रुकिये, आपने अपना उद्धार तो कर लिया है न ? आपका अपना घर तो कहीं आग की लपटों में नहीं है ? पहले अपने घर का फिसल कर लें फिर दूसरे के घर की ओर कदम बढ़ाएं।

टीका :—स्वमिन् गृहे प्रदीप्ते किं परं गृहं धावसि ? स्वमेव गृहं गिरिष्य ततो गच्छेत् परं गृहम् ।

एक इंग्लिश विचारक बोलता है—Don't complain about the snow on your neighbour's roof when your own doorstep is unclean. जब आपके अपने द्वार की सीढ़ियाँ मैली हैं तो अपने पड़ोसी के छत पर पड़ी हुई गंदगी का उल्लाहना मत दीजिये।

आतङ्गे जाग्रो होही परद्वहिधारय ।

आतङ्गो हावय तस्स जो परद्वहिधारय ॥ १४ ॥

अर्थ :—आत्मार्थ लिये जाग्रत बनो, परार्थ को धारण न करो । जो दूसरे के अर्थ (कार्य) को अपनाता है वह अपना अर्थ (कार्य) खो बैठता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

आत्मार्थ पीताना (कल्याण भाटे डमेशा लभत रहो, भीलनी झीकरमां पडीने तमे पीते नभणा अनो नही, जे तमे भीलनी थिता (झीकर) मांण डूजा रहेशो तो परेशामे तमाई हित (कल्याण) तमे भोर्ध भेसशो.

साधक सुम अपने कल्याण के लिये जाग्रत बनो । दूसरों की चिन्ताओं से हुबले न बनो । यदि दूसरों की चिन्ताओं में हूबे रहोगे तो अपना हित खो बैठोगे ।

प्रस्तुत गाथा साधक को स्वहित के लिये जाग्रति का संदेश दे रही है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि साधक स्वार्थी बनकर अपने आप में विश्व के हित को भूल जाए । यदि वह केवल अपने हित को ही आगे करके चलता है तो वह अपने उत्तरदायित्व से अलग हटता है ।

किन्तु प्रस्तुत गाथा का हार्द कुछ दूसरी कहानी कह रहा है । यहां उन साधकों के लिये करारा व्यंग्य है जो दूसरों के उद्धार के लिये चल पड़े हैं, पर जिनका अपना कोई ठिकाना नहीं है । दूसरों के उद्धार की फिक्र में आज का साधक साधना का तत्त्व खो बैठा है । उसकी शक्ति का मोड़ पर के सुधार की ओर है, आज का भ्रमण वर्ग चला है गृहस्थों को सुधारने और श्रावक समुदाय चला है साधुओं को सुधारने, पर इस पर सुधार की उधेक बुन में घर उजड़ा जा रहा है । दूसरे के कल्याण की चिन्ता में वह अपना खो बैठा है ।

यह जैनदर्शन का मूल स्वर रहा है कि हर आत्मा अपने पतन और विकास के लिये स्वयं उत्तरदायी है । अनंत तीर्थ को मिलकर भी अन्य आत्मा के एक कर्मप्रदेश को कम नहीं कर सकते । निश्चय की यह भाषा अपने आपमें बहुत बड़ा सत्य रखती है । व्यवहार की दृष्टि में दूसरे के विकास में आप निमित्त भले बन सकें, किन्तु उसके लिये भी पहले अपने आपको विशुद्ध बनावें फिर दूसरे की आत्मा का फैसला करने चलें ।

टीका :—आत्मार्थे जाग्रहि मा भूः परार्थमिधारकः तादृश्यात्माधो हीयते । गतार्थः ।

जह परो पडिसेवेज पावियं पडिसेवणं ।

तुज्झ मोणं करेतस्स के अट्टे परिहायति ? ॥ १५ ॥

अर्थ :—यदि दूसरा कोई पाप की प्रतिसेवना कर रहा है तो तुझे मौन करने में क्या हानि होती है ? ।

गुजराती भाषान्तर :—

जे कोर्ध भीजे भाणुस पापनुं आयरणु के प्रतिसेवना करतो छेय तो तने सुभयाप रहेवाभां शुं वांधे छे ?
/ अर्हतिवि आलोचकों को बहुत बड़ी फटकार बता रहे हैं । माना दूसरा व्यक्ति गलत कदम उठा रहा है वह पाप या अनाचार की ओर बढ़ रहा है और आपकी आंखों ने देख भी लिया है । फिर भी आप मौन रह जाइये । क्योंकि सारी दुनिया को सुधारने का ठेका आपने नहीं लिया है । फिर उसके पुण्य पाप की जिम्मेदारी आप पर नहीं है । जैनदर्शन बोलता है प्रत्येक आत्मा स्वकृत कर्म को ही भोगता है परकृत नहीं । फिर आप दूसरे के जीवन की आलोचना करके कौनसा पुण्य कर्म कर रहे हैं ? ।

यदि दूसरे की आलोचना पुण्य कर्म होता तो आगम पिट्ठीमंसं न खाएज्जा का पाठ न होता । वहां तो स्पष्ट शब्दों में पर निन्दा का निषेध किया गया है । इतना ही नहीं परनिन्दा को नीचे गोत्र का बन्ध हेतु बताया है ।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादने नोद्भावते च नीचे गात्रस्य ।

तत्त्वार्थ अ० ६ सू० २४.

दूसरों की निन्दा और आत्म-प्रशंसा, दूसरों के सद्गुणों को ढकना और दुर्गुणों को प्रकट करना नीचे गोत्र का बन्धहेतु है । आज मानव दूसरों को खुला करता है अपने दोषों पर पर्दा डालता है । आगम कहता है अपने दोषों की आलोचना करो और गुणों पर पर्दा डालो, किन्तु आज उल्टी गंगा बह रही है; वह दान का झिलालेख लगाता है और दोषों पर शिला जड़ता । उसके झिलालेख भी आभिकांक्षतः अपने पापों को शिला के नीचे दबाने के लिये ही होते हैं ।

यों तो दूसरों के पाप पुण्य की जिम्मेदारी हम पर नहीं है तो उसकी आलोचना करने का अधिकार भी नहीं है। विचारक डेल कारनेगी कहते हैं —

Criticism is futile because it puts a man on the defensive and usually makes him strive to justify himself criticism is dangerous because it wound a man's precious pride hurts his sense of importance and are uses his sentiment. — डेल कारनेगी.

आलोचना व्यर्थ होती है क्योंकि इससे दोषी प्रायः अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। आलोचना भयावह भी है। क्योंकि वह मनुष्य के बहुमूल्य गर्व पर ध्यान करती है। उसकी सहता के भाव को पीड़ा पहुँचाती है और उसके क्रोध को भड़काती है।

अतः विवेकशील साधन आलोचना से बचें; आलोचना वृक्ष की शाखा से फूल और किड़े दोनों को पृथक् कर देती है। कभी कभी आलोचना के द्वारा हम अपने मित्र को भी शत्रु के शिविर में भेज देते हैं।

आतद्धो निजरायंतो परद्वो कम्मबंधणं ।

अत्ता समाहिकरणं अप्पणो य परस्स य ॥ १६ ॥

अर्थ :—आत्मार्थ (स्व की ओर दृष्टि) निर्जरा का हेतु है और परार्थ (दूसरे की ओर दृष्टि) कर्मबन्धन का हेतु है आत्मा ही स्व और पर के लिये समाधि का करनेवाला है।

गुजराती भाषान्तरः—

आत्मार्थ ओटसे स्वार्थनो विचार निर्जरातुं कारणु अने छे, अने परार्थ ओटसे भीजने भाटे विचार कर्मबंधनतुं कारणु अने छे. आत्मा ज 'स्व' अने 'पर' भाटे समाधि करनार छे.

स्व की आलोचना विकाश का हेतु है तो पर की आलोचना आत्मा को विनाश के पथ पर ले जाती है। विश्व की प्रत्येक वस्तु गुण और दोषों से रहित नहीं है। जैसी दृष्टि लेकर आप चलेगे वैसा तत्त्व आप वा सँके। दोष दृष्टि लेकर चले तो सर्वत्र दोष दिखाई देंगे। शुभाव की ढाल पर तीखे-झूल भी है तो मद्दकते फूल भी। कांटे की दृष्टि लेकर चलेगे तो कांटों में उलझ जाएंगे पर फूल की मधुर सुवास नहीं वा सँकेतो।

हमारी दोषदृष्टि दूसरों के दोष हमारे पास लाती है। स्वामी रामतीर्थ ने एक बार कहा था जब तक तुममें दूसरों के दोष देखने की दृष्टि मौजूद है तब तक तुम्हारे लिये ईश्वर का साक्षात्कार करना कठिन है। एक इंग्लिश विचारक भी यही कहता है—

The fewer faults we possess ourselves the less interest we have in pointing out the faults of other people.

अपने मन के दोष कम होने पर ही हमारे छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति कम हो सकती है। अर्थात् हम दूसरों पर दोषारोपण तभी करते हैं जब स्वयं हमारी ही मनोवृत्ति दूषित होती है।

इसीलिये अर्हतर्षि पर की आलोचना से परे हटने की प्रेरणा दे रहे हैं। हम अपनी आलोचना करके आत्मिक शान्ति पा सकते हैं और पर की आलोचना कर्म बन्ध करते हैं। क्योंकि आत्मा स्व और पर के बीच समाधिकारक है।

अण्णातपस्मि अट्टालकम्मि किं जरिगण्ण वीरस्स ? ।

णियगम्मि जग्गियव्वं इमो हु बहुचोरतो गामो ॥ १७ ॥

अर्थ :—अज्ञात अट्टालिका में वीर के जागने से क्या होगा? स्वयं को जागना होगा। क्योंकि यह ग्राम चोरों का है।

गुजराती भाषान्तरः—

अण्णया डिह्वाभां सैनिक जगतो रहे तो हुं थाय? पोताने ज उज्जगरो थरो. केम के आ गाम तो चोरोतो ज छे.

अज्ञात कोट में घिर जाने पर हमें स्वयं को जागृत रहना चाहिये। एक वीर जग रहा है उसके विश्वास पर सब छोड़ा नहीं जा सकता। हमें स्वयं को जगना चाहिये, क्योंकि यह तो चोरों की नगरी है। जैनदर्शन का स्वर है हजार युग की सुषुप्ति की अपेक्षा जागृति का एक पल श्रेष्ठ है।

किन्तु वह जागृति की आत्मा जागृति हो। भगवान् महावीर की आत्मा जागृत है, किन्तु उनकी जागृति हमारे घर को नहीं बचा सकती। जब तक आत्मा की जागृति नहीं होती सम्यग्दर्शन की उद्योति प्राप्त नहीं करता तब तक कषाय और वासना के तस्करों से दुनिया की कोई ताकत हमें बचा नहीं सकती।

जग्गाहि मा सुधाहि मांते धम्मचरणे पमत्तस्स ।

काहिंति बहु चोरा संजमजोगे हिडाकम्मं ॥ १८ ॥

अर्थ :—जाग्रत बनो, सोओ नहीं, धर्माचार्य में प्रवृत्त होने पर तुम्हारे संयम योग में बहुत से चोर लुट न करें।

गुजराती भावान्तर :—

जागृत रहो, सोएरकार रहो नहीं, धर्मेता आचरणुमां सोएरकार रहेवाथी संयम योगमां धणा अरा योरो (पांच इंद्रियो) लूटकाट करी शडे नही ऐनी काणल राओ।

साधक (धार्मिक अनुष्ठानों में प्रमाद न करो) आत्मिक जागृति के क्षेत्र में प्रमाद के चोर को प्रवेश न पाने दो क्योंकि आत्मिक साधना के लिये प्रमाद बहुत बड़ा लुटेरा है। एक विचारक ने कहा है 'आलस्य जीवित मनुष्य की कम है। प्रमाद जीवन का जंग है। जंग लोहे को खाजाता है ऐसा ही प्रमाद जीवन को नष्ट करता है'। एक विचारक ने कहा है—

Idleness is only the refuge of weak minds and holiday of fools. आलस्य दुर्बल मनवालों का एक मात्र शरण है, और गूखों का अवकाश दिवस है। —चेस्टर फील्ड

टीका :—जागृहि मा सुधिहि मा धर्माचरणे प्रमत्तस्स तव चोराः पंचेन्द्रियादयः कषयाग्ताः संयमयोगयोर्दुर्गति-गमने वा बहु कर्म कारुः। हीडन्ति कर्मविशेषणं खजातार्थम्।

अर्थात् — जागो, सोओ नहीं; धर्म कार्यों में प्रवृत्त होने पर तुम्हारी पंचेन्द्रियां और कषाय तस्क के चोर संयम और योग का अपहरण करते हैं और दुर्गति गमन के लिये बहुत कर्म करोगे। हीड यह कर्म का विशेषण है, उसका अर्थ अज्ञात है।

पंचेन्द्रियाइ सण्णा दंडं सल्लाइ गारवा तिणिण ।

बावीसं च परीसहा चोरा वत्तारि य कसाया ॥ १९ ॥

अर्थ :—पांच इन्द्रियां, संज्ञा, दंड, शल्य, तीनों गर्व, बावीस परीषद और चारों कषाय सभी चोर हैं।

गुजराती भावान्तर :—

पांच इंद्रियो, (आहार विगरे) पांच संज्ञाओ, (मन विगरे) तल्लु दंड, शल्य (माया, निदान मिथ्यादर्शन) (अहं, रस अने सुषुप्ति) गर्व तेमण बावीस परीषद अने क्रोधादि आर कषाय आ अघा योर छे।

पूर्वगाथा में साधक को आत्मनिधि के अपवृत्ताओं से सावधान रहने की प्रेरणा दी गई थी। प्रस्तुत गाथा में उन्हीं आत्मतस्करों का उल्लेख किया गया है। पांचों इन्द्रियां आहारादि चार संज्ञाएं, मनादि तीन दंड, माया, निदान और मिथ्यादर्शन के शल्य, अहं रस और सुषुप्ति के गर्व, बाईस परीषद और क्रोधादि चार कषाय ये हैं आत्मनिधि के प्रमुख तस्कर। जरा सी असावधानी चोरों को रास्ता दे देती है।

विभाग दशा ही आत्मा को पतन की ओर ले जानेवाली प्रमुख वृत्ति है, उसी के द्वारा आत्मा स्वभाव को छोड़कर पुद्गलों में आसक्त होता है। इंद्रियादि का निरूपण क्रमबद्ध रूप से श्रमण सूत्र में आता है। जहाँ पर कि एक से तेहतीस तक की संख्या के पद दिये गये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के चरण विधि नामक इकतीसवें क्रमबद्ध आता है।

दंष्ट्राणं गारवाणं च मह्यं च त्रियं त्रियं ।
जे भिक्षू चयई निचं से न अच्छइ मंडले ।
चिह्नाकसायसन्नाणं क्षाणणं च दुयं तहा ।
जे भिक्षू वज्जई निचं से न अच्छइ मंडले ॥

उत्तरा० अ० ३१ भा० ४-५.

संज्ञा :—गान की मूल अंगिकाएं संज्ञा कहलाती हैं जो अपाधिक रूप में समस्त संसारी आत्माओं में व्याप्त हैं । वे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की श्रुतियां संज्ञा हैं ।

गौरव :—वे बाहिरी संज्ञाएं जिनको पकड़ कर जन सामान्य गर्व की अनुभूति करता और दूसरों को हीन मानता है ।

जागरह णरा पिच्छं मा मे धम्मचरणे एमत्ताणे ।
काहिति बहुचोरा दोगतिगमणे हिडाकम्मं ॥ २० ॥

अर्थ :—मानवो ! रुद्धैव जग्युत रहो । धर्माचरण में प्रगत्त न बनो ! तुम्हारे ये बहुत से चोर दुर्गति गमन के लिये निकृष्ट कर्म करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

मानवो ! हृदयमें शांति साधना रहो, धर्माचरणों में उद्यम (प्रवृत्ति) राजो, तमारा आ धन्य अरा और दुर्गतिगमनने भाटे हीन कृत्यो करे छे.

साधक को स्वयं रहने को फिर प्रेरणा दी गई है । चतुर चोर कोने में दुबक जाते हैं और रात्रि के निस्तब्ध क्षणों में जब कि नास्तिक गहरी नींद में होता है तब वे बाहर आते हैं और संवत्ति का अपहरण करते हैं । ठीक इसी प्रकार वासना के चोर जागृति में आते महमने हैं । सामाजिक गन्ध या स्वजन परिजनों का भय उन्हें बाहर आने से रोकता है और इसीलिये वे अवचेतन मन की अंधेरी गुफा में जा छिपते हैं, किन्तु रात्रि के प्रशान्त क्षणों में जब कि व्यक्ति निद्रा की गोद में होता है न समाज का भय रहता है न स्वजन परिजनों के सामने लुपे जाने का ही उस समय स्वप्न के रूप में वासना के चोर प्रवेश करते हैं ।

स्वप्न क्या है ? मन के लुपे चोरों की कीड़ा ही तो । हमारे स्वप्न हमें अपने आपको परखने का मौका देते हैं । यदि स्वप्न में वासना के चित्र आते हैं तो समझना होगा मन के भीतर काम का चोर बैठा है । यदि स्वप्न में भोजन का दृश्य आता है समझना होगा मन अभी मिठाईयों से अतृप्त है ।

ये दृश्य सिद्ध करते हैं कि वासना के चोरों को दबाया गया है निकाला-नहीं गया । जैसे कर्कश आँदर के समग्र संज्ञा के चौराहे पर आते ही उपद्रवी तत्व गली कूयों में दुबक जाते हैं और उराके हटने ही पुनः खुलकर खेलने लगते हैं । ऐसे ही संयम के जीवन के चौराहे पर आते ही वासना और प्रवृत्तियों के चोर मन की अंधेरी गुफाओं में दुबक जाते हैं और मौका पाते ही पुनः मंच पर आ आते हैं ।

अतः साधक राजस रहें । जागृति की भांति निद्रा में भी उसका विकारों पर अनुशासन रहे । स्वप्न उसके जीवन का सही चित्र देते हैं कि विकारों के साथ संघर्ष में उसे विजय ने कहां तक साथ दिया है । वह अप्रमत्त रहकर साधना करे । अनुचित डंग में दमन न करे । अन्यथा वे मन में घुटती हुई अतृप्त कामनाएं साधक को दोनों ओर से छे बैटंगीं । अणमवाणी है —

कामे य पथभाणा सकामा जंति दोगहं ।—उत्तरा० अ० ९.

बाहर से निष्काम बना साधक अन्तर से काम की अभ्यर्थना करता है तो वे अतृप्त इच्छाएं उसे दुर्गति का पथिक बना देंगी ।

अण्णायकम्मि अट्टालकंसि जगंत सोथणिज्जोसि ।
णाहिसि वणितो संतो ओसहमुल्लं अविदं तो ॥ २१ ॥

अर्थ :—इस अज्ञान अट्टालिका में तू जागता हुआ शोचनीय है। जैसे कोई निर्धन व्यक्ति घाब हो जाने पर भी औषध के मूल्य को न जानता हुआ औषध खरीदने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार तुम भी समझो कि भाव जागृति अभाव में तुम तत्त्व को पा न सकोगे।

गुजराती भाषान्तर :—

આ અજ્ઞાન કિલ્લામાં તૂ બગે છે (ખરો, પણ) તે તારૂ કૃત્ય દિલગિરીભર્યું છે. જેમ એક ગરીબ માણસને વાચ્યું હોય કે તેને ઘા પડ્યો હોય તો પણ તેની દવાની કીમત માણસ ન હોવાથી દવા ખરીદવામાં અસમર્થ બને છે તેમજ ભાવ જાગૃતિનો અભાવ હોય તો તૂ તત્ત્વને મેળવી શકીશ નહીં.

प्रस्तुत गाथा में अर्हतर्षि भाव जागृति के लिये प्रेरणा दे रहे हैं, केवल आंखें खुल रहना ही जागृति नहीं है। भाव जागृति का मतलब है वस्तु के स्वरूप का ज्ञान। जब तक वस्तु तत्त्व को नहीं पहचाना तब तक देख लेना कोई महत्त्व नहीं रखता। चन्द्रपति को देख लेने मात्र से वह औषध के रूप में काम नहीं दे सकती। गुण न जाना ज्ञान तब तक नाग दमनी (विषनाशक वेल) भी केवल जड़ मात्र है। अर्हतर्षि सोदाहरण इस तथ्य को पुष्ट कर रहे हैं। एक पीकित व्यक्ति जिसके शरीर में चारों ओर घाव हो रहे हैं, वह औषधिविक्रेता के पास भी पहुंचता है, किन्तु औषधि का मूल्य वह जानता नहीं है और वह पहले ही घबरा जाता है मुझे निर्धन के पास इतने पैसे कहाँ कि मैं इसे खरीद सकूँ? वह औषधियों के भण्डार के निकट बढ़कर भी स्वास्थ्य लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। अतः साधक वस्तु तत्त्व को समझे वही भाव जागृति है और अज्ञात अट्टालिका में वही रक्षण दे सकती है।

टीका :—अज्ञाताट्टालिके जाग्रच्छतोचनीयोऽसि नहिसिस्ति यथा कश्चिद्धनहीनो वणिजः सजौषधमूल्यमविन्दन् द्रातुं न शक्यः। गतार्थः।

जागरह णरा णिच्छं जागरमाणस्स जागरति सुत्तं।

जे सुचति न से सुहिते जागरमाणे सुही होति ॥ २२ ॥

अर्थ :—मनुष्यों। सदा जाग्रत रहो। जागृत रहनेवाले के लिये सूत्र भी जागृत रहता है, जो सोता है उसके लिये सुख नहीं है। जागृत रहनेवाले पास ही सुख है।

गुजराती भाषान्तर :—

માનવો! હમેશા સ્વાધ્યાન રહો. જાગૃત રહેનારને માટે સૂત્ર પણ જાગૃત રહે છે. જે માણસ સુએ છે તેને સુખ મળશે નહીં, જે જાગૃત રહે છે તેને પાસે સુખ હમેશા રહે છે.

साधक को जाग्रति का संदेश देते हुए अर्हतर्षि ने एक महत्त्व पूर्ण बात कही है कि सूत्र भी उसी के लिये जाग्रत है जिसकी आत्मा जागृत है। आचार्य संघदासगणि व्यवहारभाष्य में 'सूत्र' शब्द की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर लिखते हैं सूत्र का एक रूप सुप्त भी बनता है। अर्थात् सूत्र तो सुप्त रहता है उसे जगाने की आवश्यकता है। सूत्र को वही जगा सकता है जिसकी आत्मा स्वयं जागृत हो।

दूसरी ओर जागृत आत्मा को ही सूत्र प्रकाश दे सकता है। किन्तु जिसकी आत्मा सुप्त है उसके लिये सम्यक् शास्त्र भी प्रकाश नहीं दे सकते। स्वप्रकाश के अभाव में पर प्रकाश का कोई महत्त्व भी नहीं है। अंधे के हाथ में रही हजार पावर की बैटरी भी कोई उपयोगी नहीं है, वह उसे कांटों और कंकड़ों से बचा नहीं सकती; क्योंकि उसके पास स्वतः प्रकाश नहीं है। ठीक इसी प्रकार प्रकाशहीन दृष्टि लेकर आप आगम के पास पहुंचेंगे तो वहां भी प्रकाश प्राप्त न होगा। साथही यदि दृष्टि प्रकाशमयी है तो आगम ही नहीं। आगमोत्तर साहित्य भी आपको सम्यग्ज्ञान प्रकाश देगा, क्योंकि स्वप्रकाश के अभाव में सम्यक् श्रुत भी मिथ्याश्रुत है। भ० महावीर के विचार सूत्रों में यह तथ्य दिन के उजाले की भांति स्पष्ट है।

सम्मविट्ठिस्स सम्मसुचाई मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छा सुचाई। - नंदीसूत्र

सम्यक् दृष्टि संपन्न के लिये श्रुत सम्यक् है और मिथ्यादृष्टि के लिये यही श्रुत मिथ्या भी है। रसज्ञ हृदयवाले व्यक्ति के लिये ही गुलाब एक महकता पुष्प है तो जब कि गुबरेले के लिये गुलाब सबी गन्ध देनेवाला पदार्थ मात्र है। अतः अर्हतर्षि कह रहे हैं खुली दृष्टि लेकर चलें तो सर्वत्र प्रकाश मिलेगा।

जहाँ सुषुप्ति है वहाँ सुख नहीं है। नञ्जि निद्रा विश्राम के लिये आवश्यक है, क्योंकि विश्रान्तिकाल में स्नायुतंत्र नये काम करने के लिये शक्तिसंचय करता है, किन्तु दूसरी दृष्टि से निद्रा ध्वस्तकालीन मृत्यु भी है। वह कोई सच्चा सुख नहीं है, क्योंकि उसमें अज्ञान है। यथार्थसुख जागृति में है, इसीलिये तो छः या आठ घंटे निद्रा लेकर हम फिर से जागृति में आ जाते हैं।

टीका :— हे नरा ! जाग्रत नित्यं । जाग्रतो हि सुखं स्वप्नमेव जागर्ति । धर्मे जाग्रतोऽप्रमत्तस्यालस्य न विद्यते स्वप्नकल्पमित्यर्थः । यः स्वपिति न स सुखी, जाग्रतु सुखी भवति ।

अर्थः— हे मानवो ! सदैव जाग्रत रहो । भाव जागृति के अभाव में जागते हुए भी सुप्त है । धर्म में जागृति है वही यथार्थ जागृति है । जो यथार्थतः जाग्रत होता है वह धर्माचरण में अप्रमत्त होता है । आलस्य उसके पास फटकता भी नहीं है । जो सोता है वह सुखी भी नहीं है, जो जाग्रत है वही सुखी है ।

जागरंतं मुनिं वीरं दोषा वज्रैति दूरभो ।

जलंतं जातवेयं वा चक्षुसा दाहभीरुणो ॥ २३ ॥

अर्थ :— जाग्रत वीर मुनि को दोष उसी प्रकार दूर से छोड़ देते हैं जैसे कि जलने से डरनेवाले जाज्वल्यमान अग्नि को आँखों से देखते ही दूर हट जाते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

जाग्रत (सावधान) रहनेवाले मुनिने दोष तेज प्रभासे छोड़ी जाय छे जेम डे अभीनो अउछो नेधने अभिदाहनी दहेशत जेने होय तेवो (भीक्षु) भाषुस तरतज नासी जाय छे.

अर्हंतर्षि जागृति का फल बता रहे हैं। जाग्रत आत्मा के निकट दोष कमी नहीं आते, वे उनसे उतने ही डरते हैं, जितना कि एक दाहभीरु ज्वलंत अग्नि से। जिसकी आत्मा में तेज है दोष उसके निकट आने का साहस नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है उनके निकट पहुँचा कि तप की आग में भस्मदेह हो जाऊँगा।

विचार की वीपशिखा सदैव प्रज्वलित रहे तो वासना और मिथ्या विश्वासों के जुगनू उनके निकट नहीं पहुँच सकते। प्रोफेसर शुब्रिगू प्रस्तुत अध्याय पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं। स्थानांगसूत्र के चौथे स्थानपर जीवन की भूलों के संबंध में जो चार उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें समर शब्द जिस समस्या को खड़ी करता है प्रस्तुत अध्ययन भी हमें उसी तरफ ले जाता है। धार्मिक नियमों के अनुसार जीवन में परिवर्तन हो सके तो इन मूलभूत दूषणों को रोका जा सकता है। इस विषय का स्पष्टीकरण प्रस्तुत विषय को पुष्ट करता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना घर साफ रखना चाहिये। जिससे कि बाहर की असर उसकी नैतिक निधि का अपहरण न कर सके।

अष्टारहवीं और बीसवीं गाथा में “हिडा” कर्म शब्द आया है, उसके लिये शुब्रिगू लिखते हैं द्वित्वम की भाँति ८ कर्म और अधस्तात् कर्म का अर्थ नीच कर्म होना चाहिये।

२१ वी गाथा में णाहिसि शब्द आया है वह नञ्जसि का ही एक टुकड़ा लगता है। पउमचर्य (जेकोवी की भवि-रसत्तकहा ६१) के ज्ञायते के अर्थ में प्रस्तुत कर्मणि वाच्य आया है। भविष्य के कर्मणि प्रयोग अथवा सामान्य भविष्य के निकल्प के रूप में भी ऐसा पाठ आता है। णाहिसि आरं को परम सूयगडे” १२, १, ८ में भी णाहिसि शब्द आता है। जेकोवी ने शिल्पाचार्य के अनुसरण कर इस पद की जरा भिन्न रूप में व्याख्या की है।

इसिभासियाइं जर्मन प्रति पृ० ५६९.

एवं से सिद्धे बुद्धे (गतार्थः) ॥

इति अष्टादश अर्हंतर्षिभाषित पंचत्रिंशत्तमं अध्ययनं समाप्तम्



तारायण अर्हतरि प्रोक्त

छत्तीसवां अध्ययन

पूर्व अध्ययन में क्रोध का स्वरूप बताकर भाव-जागृति का संदेश दिया गया था। प्रस्तुत अध्ययन में क्रोध विजय की प्रेरणा है। जब तक मोह है तब तक क्रोध आता रहेगा, फिरभी उस पर विजय पाने के प्रयत्न आवश्यक हैं। क्रोध आया और लड़ लिये और मिल गये यह मानव का चित्र है, किन्तु क्रोध आया और लड़े और क्रोध शान्त होने के बाद एक दूसरे को मिटाने में जुट गये यह भेदिये का चित्र है। लड़ाई शत्रुओं की अपेक्षा मित्रों में ज्यादा होती है। मित्रों में आये दिन लड़ाई होती है जबकि शत्रु एक बार लड़ते हैं। शत्रु लड़कर जिन्दगी भर के अलग हो जाते हैं जब कि मित्र लड़कर भी एक हैं।

क्रोध में भी एक आग है और जितनी जल्दी हा सके उस आग का बुझा देना ही ठीक है, क्योंकि वह जुद्ध गर्मी नहीं, ज्वर की विकृत गर्मी है। शरीर में गर्मी तो आवश्यक है किन्तु एक सौ सात डिग्री की गर्मी मृत्यु का वारंट है। इसी प्रकार आत्मा में शुद्ध तेज तो आवश्यक है किन्तु क्रोध की गर्मी विकृत गर्मी है और वह नरक की गर्मी है।

तलवार को देखकर नीर की याद आ जाती है। तराजू को देखकर व्यापारी की याद आ जाती है। इसी प्रकार क्रोध की ज्यादा को देखकर विचारकों को नरक की ज्वाला की याद आ जाती है। उस नरक की आग से भी क्रोध की आग अधिक भयावह है जो जीवन भर क्रोध की आग में झुलसा है, जहां पहुंचा वहां सर्वत्र जिसने आग लगाने का कार्य किया है उस आग में परिवार, समाज और राष्ट्र भी झुलसा है क्या उसके नसीब में स्वर्ग के फूल हैं? नहीं, आग लगाने-वाले के भाग्य में आग है। नरक की आग उसका मूर्त रूप है।

अतः साधक अपने क्रोध पर विजय पाये इस रूप में वह अपने भीतरी तेज को बश कर सकता है और उसके द्वारा महान सफलता पा सकता है। विज्ञान की सफलता आज तेज तत्त्व पर निर्भर है। बिजली को काबू में करके वह अनंत गगन में रॉकेट और उपग्रह छोड़ने में सफल हो सका है।

इसी प्रकार साधक अपने भीतरी तेज को काबू में रखकर आध्यात्मिक उपग्रह छोड़ सकता है। भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक बार कहा था A heat conserved is transmuted into energy so anger controlled can be transmuted into a power which can move the world, जैसे तप स्वरचित रहकर शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है जो विश्व को हिला दे।

अर्हतरि उसी क्रोध पर विजय पाने की प्रेरणा दे रहे हैं—

उप्पतता उप्पतता, उप्पयंतं पितेण वोच्छामि । किं संतं वोच्छामि ?

ण संतं वोच्छामि कुक्कुसया, वित्तेण तारायणेण अरहता इसिणा बुद्धं ॥

अर्थ :—उपर रूप में उत्पन्न होनेवाले क्रोध से उबलते हुए व्यक्ति को प्रिय वचनों से बोलेंगा, क्या शान्त वचन कहेंगे अथवा क्रुद्धा से क्रुत्तित होकर (क्रोध में जल भुन कर) क्रुत्तित वचन कहेंगे? इस प्रकार आध्यात्मिक लक्ष्यों से युक्त तारायण अर्हतरि बोले।

गुजराती भाषांतरः—

उत्थ स्वरूपभां पैदा थयेला गुस्साथी गरभ थयेला भाणुसभासे भीठी वातो करुं, ते शान्त वचनोथी समजावुं ते गुस्साना गुस्साभां जुंठी वातो करुं? या प्रकारे आध्यात्मिक-वृद्धीसंपन्न तारायण अर्हतरि बोध्या।

शब्द की टक्कर लगते ही क्रोध उबल उठता है। क्रोध के क्षणों में मनुष्य सोचता है जिसके प्रति क्रोध आ रहा है उसको अधिक से अधिक पीड़ा पहुंचाई जाय और इसीलिये वह मर्मवेधी शब्दों का प्रयोग करता है। किन्तु सोचना यह कि क्या यह जरूरी है। क्रोधी को देखकर हम भी क्रोध में उबल जायें। दूसरे को धूलिधूसरित देखकर हम तो अपने ऊपर धूल नहीं डालते। दूसरे को निर्धन देखकर हमें निर्धन बनने का स्वप्न नहीं आता, फिर दूसरे को क्रोधी देखकर हमें क्यों क्रोध आ जाता है? इसका मतलब यह हुआ क्रोध हम में भरा है यह तो एक बहाना है “कि उसे क्रोधित देखकर मुझे गुस्सा आ गया।”

आवश्यकता यह है हम अपनी शान्ति उसके भीतर जगा दें । यदि दीपक अपने सामने केले अनंत अंधकार को देखकर स्वयं भी अंधकार रूप हो जाय फिर उस दीपक की कीमत क्या है ? उसका मूल्य वहीं है वह अंधकार में भी अपनी ज्योति को कायम रखता है । दूसरे को गुस्से में देखकर हमने अपनी शान्ति छोड़ दी तब फिर हमारी शान्ति का कोई मूल्य नहीं है । यदि हमारे पास शान्ति की सुधा है तो उसका उपयोग हम क्रोध के क्षणों में करें । मधुर एवं शान्त वचनों के द्वारा उसकी क्रोध की आग को शान्त कर सकें तभी हम उसके नचे चिकित्सक हो सकेंगे । अन्यथा यदि उसकी अशान्ति हममें प्रवेश कर जाय तो यह जीवन की विह्वलना होगी । यदि ज्वरग्रस्त रोगी को देखकर डॉक्टर को ज्वर चढ़ जाय तब तो हो चुका । अर्हतर्षि इसी लिये प्रेरणा दे रहे हैं कि हम आत्म-निरीक्षण करें की अवेश के क्षणों में लिखे शब्दों के द्वारा उसकी ज्वाला को बढ़ाई है, या मिटे शब्दों के द्वारा आग में पानी का काम किया है । विचारशील तो यही चाहेगा कि गर्म वातावरण में भी मेरा दिल और दिमाग शान्त रहे और मैं दूसरों के गर्म विभाग को ठंडा कर सकूँ ।

टीका:— भृश उत्पत्ता क्रोधेनेति शेषः । उत्पत्तं कंचित् प्रियेण प्रियवचनेन वक्ष्यामि किं शान्तं पापमिति शान्तवनं वक्ष्याम्युत न संतेति अशान्तं तं पुरुषमिति शेषो वक्ष्यामि यथाह—“तुष—तुष कल्प” निःसारजनेति । एतत्तु मुनेर्न युज्यत इति भावः ।

अर्थात् प्रबल उत्पन्न होते हुए क्रोध से फुटकारते हुए किसी व्यक्ति को प्रिय से अर्थात् प्रिय वचनों से कहूंगा क्या पाप शान्त है इस प्रकार उसे सोचनाभरे शब्द कहूंगा अथवा ‘न शान्त’ अर्थात् उस अशान्त पुरुष को यह कहूंगा कि यह तुष समान निःसार है; ऐसा समझो अर्थात् यह मुनि को योग्य नहीं ऐसा कहूंगा ।

टीकाकार कुल भिन्न अभिप्राय रखते हैं ।

प्रोफेसर छुर्बिग लिखते हैं कषाय की चियरी में संज्वलन क्रोध जो स्थान है वही वहां उत्पन्न शब्द का है । उत्पत्ता से क्रोध प्रकट होता है किन्तु मैं उसके साथ प्रेम भरे शब्द ही बोळूंगा । किन्तु शान्त पुरुष के लिये क्या कहना ? उत्तर होगा नहीं ।

पत्तस्स मम य अजेसिं सुक्को कोवो दुखावहो ।

तस्मा खलु उत्पत्तं सहसा कोवं निगिणिहत्तव्वं ॥ १ ॥

अर्थ—क्रोध-पात्र (व्यक्ति) के इस प्रति छोड़ा गया क्रोध मेरे ओर उसके लिये दुःखरूप होता है इसलिये उत्पन्न होते हुए क्रोध को सहना (जल्दी ही) रोक देना चाहिए ।

गुजराती भाषान्तरः—

क्रोध अमुक व्यक्ति प्रत्ये थयो होय तो ते भाणुस भाटे अने तेना तरङ्ग शुरू करनार भाटे पासदायक अने छे. भाटे क्रोधनी उत्पत्तिना वणतेव (समय गुमाव्या वगर) तेने अटकाववा ओछिअे.

क्रोधी व्यक्ति क्रोध के द्वारा प्रतिपक्षी को दुःख में डालना चाहता है । इसीलिये तो वह क्रोध का उपयोग करता है और ऐसे विष बुझे वाण जैसे तीखे शब्दों के द्वारा प्रतिपक्षी के हृदय को चींच देना चाहता है और जब वह तिलमिला उठता है तो उसके दिल में प्रसन्नता की लहर दौड़ पड़ती है, अपने प्रतिपक्षी के दुःख में उसे आनंद मिलता है । किन्तु यह निरी भूल है कि क्रोध एक पक्ष को ही दुःखी करता है । वह दोनों को झुलसाता है । जिसके दिल में उसने प्रवेश किया है उसे भी वह जैन से नहीं बैठने देता । उसके मन में भी संकल्प-विकल्पों का जाळ छाया रहता है । उसके मन की शान्ति भी छूत हो जाती है ।

पड़ौसी के झोंपड़े में आग लगानेवाला मन में इठलाता है । आग की लपटों में अपना अहंकार हंसता है, किन्तु कभी उन्हीं लपटों में उसकी अपनी झोंपड़ी के साथ अहंकार भी भस्म हो जाता है । इसीलिये अर्हतर्षि साधक को प्रेरणा दे रहे हैं यह न समझो कि क्रोध की आंच तुम्हारे प्रतिपक्षी को ही झुलसा के रह जाएगी यदि उलटी हवा चली तो उसकी झोंपड़ी बच जाएगी और तुम्हारा महत्व राख की ढेरी हो जायगा । अतः क्रोध को उसके उत्पत्ति के क्षण में ही रोक देना चाहिये, क्योंकि नन्हीं-सी विनमारी उपेक्षित होकर ज्वाला का रूप ले सकती है ।

टीका:— मम चान्येषां च क्रोधः पात्रं प्रति-कंचित् पुरुषं सुक्को दुःखावहो भवति । तस्मात् खलुत्पत्तं सहसा कोवं निगृह्णन्तु मुनयः ! यदि वा उत्पत्तं कोपो निगृहीतव्यः ।

अर्थात् कोप पात्र किसी पुरुष के प्रति छोड़ा गया क्रोध मेरे और उसके लिये दुःखावह होता है । अतः हे मुनिगण । उत्पन्न होते हुये क्रोध का एकदम निग्रहीत कर लो । अथवा आते हुए क्रोध का निग्रह करना चाहिये ।

प्रोफेसर शुब्रिग लिखते हैं कि अर्हतर्षि बता रहे हैं क्रोध मेरा और उसका दोनों का नाश करता है । यद्यपि इस श्लोक में तीन छद्मी विभक्तियाँ आई हैं, किन्तु वहाँ दीर्घ के स्थान पर एक सातवीं और दो तिसरी विभक्तियाँ अपेक्षित हैं । गद्य के मूलपाठ की रचना भी ठीक नहीं है । “ निगिणिस्सामि ” अथवा निगिण्हामि के लिये कोवें दूसरी विभक्ति में आवश्यक है ।

क्रोधो अग्नीं तमो मच्चू विसं बाधी अरी रयो ।

जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो ॥ २ ॥

अर्थ :—क्रोध अग्नि है, अंधकार है, मृत्यु है, विष है, शत्रु, रज, व्याधि, जरा, हानि, भय, शोक, मोह, शत्रु और पराजय है ।

गुजराती भाषान्तर :—

क्रोध अग्नि छे, अंधकार छे, मृत्यु छे, जडर छे, दुश्मन, रज, रोग, बाधक्य, हानि, कथ, शोक, मोह, शत्रु अने पराजय छे.

क्रोध को चौदह उपमाओं से उपमित किया गया है । क्रोध में आग की ज्वाला है । अंधकार की विहम्बना है तो मौत की विभीषिका है । क्रोध स्वयं एक विष और व्याधि है । आत्मा का वह सब से बड़ा शत्रु है । उसमें जरा की दुर्बलता है तो उसकी बहुत सी हानियाँ भी हैं । क्रोध में भय और शोक भी है । क्योंकि क्रोध के प्रारम्भ में मूर्खता है । अन्त में पश्चात्ताप है । भय और शोक अज्ञान के ही पुत्र हैं । क्रोध रजस्व है । वैज्ञानिकों ने खोज परिणामों में बताया है कि क्रोध के क्षणों में शरीर से तलवार और बछी आदि की आकृतिवाले स्रस्र निकलते हैं साथ ही कर्म रज को लाता है । सूक्ष्म दृष्टि से क्रोध स्वयं कर्म है और आपम में उसे भावकर्म कहा गया है । क्रोध में मोह भी काम करता है । मोह का तो वह पुत्र है । वह शत्रु है । क्योंकि शत्रु की भाँति चुभता है । साथ ही वह जीवन की सबसे बड़ी पराजय है । क्रोध की खुराक है आत्मा का सात्त्विक बल । जब आदमी का बल समाप्त हो जाता है तो वह अपनी दुर्बलता को क्रोध के आवरण में दबाना चाहता है । पर यह पारदर्शी है । उसमें पराजय स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है ।

“जरा हाणी” का पाठान्तर “जग हाणि” मिलता है । उसका अर्थ होगा क्रोध ने सारे विश्व को हानि पहुंचाई है । विश्व की आधी से अधिक समस्या क्रोध ने खड़ी की है ।

वणिहणो गो बलं छित्तं कोहमिस्स परं बलं ।

अप्पा गती तु वणिहस्स, कोवग्गिस्सरमिता गती ॥ ३ ॥

अर्थ :—अग्नि का बल महान है । पर क्रोधाग्नि का बल उससे भी अधिक है । अग्नि की गति अल्प है पर क्रोध की गति अमर्यादित है ।

गुजराती भाषान्तर :—

अग्निनुं जल मोहुं छे, पण तेनाथी होधना अग्निनो लउओ धलोण लयंकर छे. अग्निनी गति स्वल्प (सीमित) छे, पण होधनी गति तो अमर्यादित छे.

प्रस्तुत गाथा में अग्नि से क्रोध की तुलना की गई है । मनुष्य आग से डरता है । उसे स्वप्न में भी कहा जाय आग में हाथ डाल दे तुझे चक्रवर्ती का पद मिलेगा किन्तु उसके लिये वह तैयार नहीं होगा, क्योंकि वह जानता है आग सुझे जला डालेगी । जितना विश्वास आग पर है उतना क्रोध पर नहीं है । अन्यथा मनुष्य अग्नि से भी अधिक क्रोध से बचता ।

अग्नि को सर्वभक्षी कहा जाता है फिर भी उसका बल सीमित है । पर क्रोध का बल तो उससे भी अधिक है । अग्नि तो निकटवर्ती को ही जलाती है । जबकि क्रोधाग्नि निकट और दूरवर्ती सबको जलाती है । अग्नि की गति सीमित है जब कि क्रोध की गति असीम है । पानी के निकट पहुँचते ही आग की गति रुक जाएगी किन्तु क्रोध की आग पानी भी नहीं बुझा सकती ।

अर्हतर्षि अगली गाथा के द्वारा प्रस्तुत विषय को सुन्दर ढंग से रख रहे हैं।

टीका:— बह्वेर्बलं न क्षिप्तं नावमन्तव्यं, क्रोधाग्नेस्तु बलं परं परमं । बह्वेरल्पा गतिः क्रोधाग्नेरमिता । गतार्थः ।

सक्ता चण्डी निवारेतुं चारिणा जलितो वहि ।

सहवोद्विज्जलेणाग्निं कोचग्नी दुष्णिवारओ ॥ ४ ॥

अर्थ:—बाहर की जलती हुई आग पानी से बुझाई जा सकती है पर क्रोध की आग सारी समुद्रों के जल से भी बुझाई नहीं जा सकती।

गुजराती भाषान्तर:—

गणता अग्निनो अउओ पाण्णीथी शमी (करी) शके छे पणु क्रोधनी ज्वाला गंधां समुद्रोना पाण्णीथी पुजवी शक्य नही।

द्रव्य आग पर काबू पाना सरल है। पानी की एक बाल्टी उसे बुझा सकती है, किन्तु वह मान अग्नि क्रोध जिसमें तन और मन दोनों जल रहे हैं उस आग में सारा परिवार झुलस रहा है, सारे समाज में उसकी चिनगारियां उड़ रही हैं। राष्ट्र क्या विश्व तक उस ज्वाला में भस्मक रहा है। यदि उस क्रोध की आग पर बाल्टीभर पानी डाल दिया जाय तो क्या परिणाम आयेगा उसका? आग अधिक भस्मक उड़ेगी।

एकं भवं दहे चण्डी दहस्स वि सुहं भवे ।

इमं परं च कोचग्नी निस्सकं बहते भवं ॥ ५ ॥

अर्थ:—अग्नि केवल एक भव को जलाती है और द्रव्य व्यक्ति बाद में ठीक हो सकता है पर यह क्रोधाग्नि तो निःशंक होकर यह लोक और परलोक दोनों को जलाती है।

गुजराती भाषान्तर:—

अग्नि इत अेउज्ज अयने गाणी शके छे, अने दग्ध (दाजी गयेज) भाणुस पाछणीथी सारे थर्ध जय छे; पणु क्रोधाग्नि तो अरेअर आ लोकेने अने परलोके (ना अय)ने गाणी (नाश करी) नाणे छे।

अग्नि और क्रोधाग्नि की तुलना करते हुए अर्हतर्षि नया तथ्य सामने रख रहे हैं। अग्नि केवल एक ही भव को जलाती है और जलनेवाला भी उपचार के द्वारा स्वस्थ होकर शान्ति का अनुभव करता है, किन्तु क्रोधाग्नि तो न यहां शान्त होती है न वहां। इस जन्म की ज्वाला जन्म जन्म तक राख जाती है।

अग्निणा तु इहं दह्य संतिमिच्छंति माण वा ।

कौहग्निणा तु दह्याणं दुक्खं संति पुणौ विहि ॥ ६ ॥

अर्थ:—आग से जलनेवाला मानव शान्ति चाहता है पर क्रोधाग्नि से जले हुए पुनः उस दुःख को निर्मंत्रण देते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

अग्निथी दाजेवो भाणुस शान्तिनी अपेक्षा करे छे, पणु क्रोधाग्निथी दाजेवो भाणुस करी (द्वेष करी) तेज दुःखने नोतरुं आपे छे।

आग से जला मरहम चाहता है और क्रोध से जला फिर उस ज्वाला के पास पहुंचता है। कितना अशोध है आत्मा। जिस चीज को उसने सौ सौ बार जोध देखा उसकी असफलता पाकर पछताया फिर भी विश्वास उसी का करता है। जीवन में सौ सौ बार उसके क्रोध का उपयोग किया है पर कभी क्षमा का भी उपयोग करना नहीं चाहा। उसने क्षमा के गीत गाये हैं। क्षमा धर्मणों के जयनाद से आकाश गुंजाया है। क्षमा पर उसने बड़े बड़े भाषण दिये हैं। बड़े बड़े ग्रन्थ रचे हैं, पर जब कोई समस्या उलझी तो उसने क्षमा को दरवाजे से बाहर धकेल दिया और क्रोध को भीतर बुला लिया। बाहर खड़ी क्षमा अपने साथी के व्यवहार पर सिसक रही है और क्रोध मुस्कुरा रहा है। वह बोल रहा है मुझे लाख धुत्कारा, बुरासला कहा, गालियां मी दीं, जीभर कर कोसा, पर अब तो तुम्हारे ऊपर मेरा शासन है।

जब तक दिल में शैतानियत भरी है तब तक मन भर क्रोध का शासन रहेगा। इसीलिये तो मानव ने उसे ऐसा अपने सीने से लगा रखा है कि उसे क्रोध छोड़ने की बात कही जाय तो लड़के भिड़न को तैयार हो जायगा। आदमी

पैसा छोड़ सकता है, बीड़ी सिगारेट भी छोड़ सकता है और कभी कभी रोटी भी छोड़ देता है पर कोप नहीं छोड़ सकता। कोप छोड़ने को कहनेवाला कोप का भाजन बन जायगा। वह ऐसे विद्वज्जगमानों किसी हिंदू वा मुसलमान से कह दिया हो कि तुम हिन्दू वा इस्लाम धर्म छोड़ दो।

सका तमो निवारेतुं मणिणा ज्योतिणा वि वा।

कोपं तमे तु दुज्जेयी, संसारे सब्बदेहिणं ॥ ७ ॥

ससं बुद्धि मती मेधा, गंभीरं सरलत्तणं।

कोहग्गहाभिभूतस्स सव्वं भवति निष्पभं ॥ ८ ॥

अर्थः—मणि और ज्योति के द्वारा अंधकार का निवारण किया जा सकता है, पर कोप का अंधकार संसार के समस्त देहधारियों के लिये भजेय है।

कोप रूप भद्र से अभिभूत व्यक्ति के सत्व बुद्धि मति मेधा गंभीर्य और सरलता राखी निष्प्रभ हो जाते हैं।

गुजराती भाषांतर :—

रत्नो अने ज्योति अंधकारनुं निवारण करी शके छे. पशु कोपनो अंधकार संसारना अधां प्राणीओ भाटे अजेय (निवारण करवा अशक्य) छे.

कोवड़ी भी अलखी पराजय पामेला माणुसनी सार्विक बुद्धि, मति, मेधा, गंभीर्य अने सरलतापणुं निष्प्रभ (नकारुं) पनी अथ छे.

कोप की अग्नि के तुलना के बाद अब कमजोर अंधकार से असे उपासन किया जा रहा है। छोटा सा दीपक पर के अंधकार को दूर कर सकता है पर कोप का अंधकार ऐसा अंधकार है जिसे संसार का कोई दीपक दूर नहीं कर सकता। कोप एक राक्षस है, वह आता है तब तुफान गांव लाता है। आप बुलाते हैं तभी वह आता है, आते ही वह खुराक मांगता है। उसका मोहन है सदसदकी विवेक बुद्धि, तत्वग्राहिणी प्रज्ञा, वाणी की प्रचरता और शरीर की कार्यक्षमता। बेवारी के सरलता और गंभीरता तो उसके आने ही भाग खड़ी होती है।

ऐसा कहा जाता है कि खटमल का रक्त लगते ही हीरे की चमक समाप्त हो जाती है। यही कहानी आत्मा की है। उस पर कोप का दाग लग जाता है तो उसकी सारी चमक समाप्त हो जाती है।

पर आश्चर्य तो यह है इतना सब कुछ जानकर भी मानव कोप से विपटा हुआ है, आज घर क्षमा की नहीं—कोप की पाठशाला हो गया है। पुत्र गलती करता है तो पिता उसे क्षमा के बड़े कोप की भाषा में समझाता है। छोटा भाई गलती पर है तो बड़ा भाई कोप का उपयोग करता है। यह है कोप का फैलाव। मनुष्य समझता है मैं कोप की भाषा से असे समझा दूंगा पर यह भ्रान्ति है। कोप की कड़वाय शिक्षा की गुरुरिमा मिलनी है तो शिक्षा की मिठाय खा जाती है, और फिर सारी शिक्षा विष मिले दूध की भाँति फेंकने काम की रह जाती है।

प्रसिद्ध विचारक महात्मा भगवानदीनजी ने लिखा है कोप की जगह हसने वालकों को क्षमा का पाठ दिया होता और क्षमा का प्रयोग सिखाया होता तो न अवतारों की जहरत होती न रक्षक पैगम्बरों की न महापुरुषों की।

गंभीरमेरुसारे वि पुब्बं होऊण संजमे।

कोडग्गमरयो धूते असारत्तमतिच्छति ॥ ९ ॥

अर्थः—पहले संयम सुमेरु के समान गंभीर गारबील रहा हो फिर भी कोपोत्पत्ति की रज से आवृत होकर निःसार हो जाता है।

गुजराती भाषांतर :—

प्रथम संयम मेरुपर्वतनी जेभ गंभीर (अडग) रह्यो छे; तो पशु कोपोत्पत्तिनी ओठ चिनगारीथी लसुभी-भूत धमज्यय छे.

गौत शरीर को भारती है, तो कोप संयम की माल है। सुमेरु से विशाल और गारबील संयम को कोप की नन्हीं चिनगारी भस्म कर सकती है। रई के छेर के लिये नन्हीं चिनगारी पर्याप्त है। चंडकौशिक की जीवन कहानी इसका ज्वलंत उदाहरण है।

क्रोध आग है । आग का काम है जलाना । दुर्गुण सद्गुणों की राख है और वह राख आई है क्रोध की चिनगारी से ।

टीका :—पूर्वं मेखवद् गंभीरसारेऽपि संयमे भूत्वा स्थित्वा कोपोद्भ्रमजला धूत आवृतोऽसारत्वमतिच्छे-
त्यमिगच्छति । गतार्थः ।

महाविषे वाऽहो दिते धरे इत्थं कुपोद्ये ।
चिद्वे चिद्वे स रुसन्ते निर्व्विषस्तनुपागते ॥ १० ॥
एवं तपोबलस्थे वि निच्छं क्रोधपरायणे ।
अचिरेणापि कालेण तपोरित्तप्तमिच्छति ॥ ११ ॥

अर्थ :—जैसे महाविषधर सर्प अहंकारित में होकर वृक्ष को डस लेता है, और उसमें अंकुर भी नहीं फूटने देता, अथवा किसी महापुरुष को डसता है और उन्हें जब रोमांच भी नहीं होता है तब वह क्रोधित होकर रह जाता है, क्योंकि उसका विष वृथा चला गया और अब वह निर्व्विष बन गया । उसी प्रकार महान् बल शाली तपस्वी भी नित्य क्रोध करत है तो भीघ्र ही उसका तप समाप्त हो जाता है ।

केम अयं ५२ गहरी कृष्णसर्प पीताना दर्पने कारणे जाडने पणु दंश करे छे, परिणामे तेने अंकुर पणु पेदा थर्ध शक्ति नथी, अने जे क्रोध पीतरागने दंश करे छे अने ते महापुरुष उपर गरा पणु असर थती न होय ते गुरुसाथी उशेकरे छे अने निश्चेतन अनी जय छे; केम के तेना गहरनी गरा पणु ते महापुरुषपर असर थर्ध नथी ने ते पीते निर्व्विष अनी जय छे ते ग प्रमाणे अलवान् तपस्वी पुरुष पणु जे हरहमेशा क्रोध करे तो थोडाज सम-
यमां तेनुं तप समाप्त (अवास) थर्ध जय छे.

प्रस्तुत गाथाओं में क्रोध को महा विषधर सर्प उपमित किया गया है । सर्प का दर्प जब किसी वृक्ष को डसता है किन्तु उसका परिणाम उसे शून्य मिलता है तो और भी क्रोधित हो उठता है । किन्तु बादमें उसकी विष की शक्ति भी समाप्त हो जाती है । अब उसे हर कोई राना सकता है । तपस्वी साधक कुपित होकर दूसरे को भस्म करने के लिये क्रोध का उपयोग करता है तो उसका तप और तेज दोनों नष्ट हो जाते हैं ।

गौशालक ने भगवान महावीर को भस्म करने के लिये तेजोलेद्वय का उपयोग किया । परिणाम यह आया गौशालक अपनी वर्षों की साधना से अर्जित तपःशक्ति को खो बैठा । इतना ही नहीं वह उलट चली तेजः शक्ति ने उसी पर आक्रमण कर दिया । भयंकर दाह ज्वर ने उसे अशान्त कर डाला और उसे तेजोहीन होकर लौट जाना पड़ा ।

प्रसिद्ध दार्शनिक सौना ने कहा है क्रोध में पहले जोश होता है शक्ति की अधिकता का अनुभव होता है पर उसका लुमार डूटने पर मनुष्य शराबी की भांति कमजोर हो जाता है । न्यूयॉर्क में वैज्ञानिकों ने क्रोध के परिणामों की जांच के लिये एक क्रोधी व्यक्ति का खून चुहे के शरीर में डाला । चाईस मिनिट के बाद वह चूहा मनुष्य को काटने दौड़ा, ३५ वै मिनिट पर अपने आपको काटने लगा और एक घंटे में तो सिर पटक पटक कर मर गया । एक दूसरे वैज्ञानिक ने बताया है की पन्द्रह मिनिट के क्रोध से शरीर की उतनी शक्ति क्षीण हो जाती है जितनी कि नौ घंटे कभी मेहनत के बाद ।

क्रोध के प्रारम्भ में मनुष्य आगे में शक्ति से भी दस गुना बल का अनुभव करता है किन्तु उसके चले जाने पर शिथिलता का अनुभव करता है । मानों नशा उतर गया हो । इसका अर्थ हुआ क्रोध के क्षणों आई गरभी ज्वर की गरमी है जो अपने उतार के साथ नस नस को ढील कर देती है ।

टीका :—महाविष इवाहिः सर्पो दृप्तोऽदसांकुरोद्भयोऽकुरायाप्युदयो न दत्तो येन स तथा खरेत् स रुष्यंस्ति-
ष्ठति विषं च वृथा मुक्तवान् निर्व्विषस्तनुपागतो भवति । एवं तपोबलस्थोऽपि नित्यं क्रोधपरायणोऽचिरेणापि कालेन तपोरित्तप्तं ऋच्छति । गतार्थः ।

प्रोफेसर शुबिन्ग लिखते हैं—(अ) “दत्तंकुरो-दयो-चिद्वे” के स्थान पर “अंकुरायाप्युदयो न दत्तो येन विद्वे” शब्दावलि अधिक उपयुक्त है ।

गंभीरो वि तवोरासी जीवाणं दुःखसंचिओ । अकखेविणं दवगि वा कोवग्गी न दहसे खणा ॥ १२ ॥

अर्थ :—गंभीर तपोराशि जिसे कि प्राणी महान कष्ट साधना के बाद एकत्रित कर पाता है कोधामि उसे उसी क्षण उसी प्रकार भस्म कर डालती है जैसे प्रज्वलित दावाग्नि सूखे लकड़ों को जला डालती है ।

गुजराती भाषान्तर :—

महान् प्रयत्नोष्ठी साध्य उरेवी तपश्चर्यानि क्षुद्र क्रोधाभीष्ठी तेज क्षणे अने त्यां न नष्ट करे छे के नेम जंगलमां देवायेस्त्री अग्नि जंगलना दांडोनुं लसुम हुंछ समयमां करी नाणे छे ।

पूर्व गाथा में बताया गया था कि कषाय की ज्वाला तपकी साधना को नष्ट कर डालती है । प्रस्तुत गाथा उसी की पुष्टि में आई है । यहां अर्हतर्षि उसके लिये सुन्दर-भा रूपक भी दे रहे हैं । जैसे दावानल वन के सूखे वृक्षों को अविलंब भस्म कर देता है । इसी प्रकार कोष की आग साधककी कष्ट साधना को मिनिटों में भस्म कर डालती है ।

महान कष्ट और परीषहों के सहने के बाद जो साधना की संपत्ति अर्जित की उसे राख मौल राख बनते देख अर्हतर्षि का दिल अकुला उठा और वे कह उठे साधक तेरी संपत्ति को यों छुट न जाने दे एक गरीब धूप और भूख की मार सहकर पहली तारीख को उसे भ्रम के प्रतिकूल में तीस रुपये मिलते हैं वह जब घर आता है पर सबक पर दौड़ते हैं । मन खप्तों में दौड़ता है यह खाना है वह लाना है । घर पहुँचा रुपये पत्नी के हाथों में थमाये और दुसरे कमरे में स्नान करने के लिये गया है । पत्नी भोजन बनाने के काम में व्यस्त थी, रुपये लिये और पास ही रख दिये । इधर चार वर्ष का नन्हा मुन्हा आया और खेल ही खेल में उसने नोट उठा लिये और जलते जूल्हे की आग में झोंक दिये । मां ने देखा वह झपटी उन्हें बाहर निकाले इतने में तो वे राख की ढेर हो गये । वह चिन्नाई पति बाहर आया नोटों की राख देखी तो उसका दिल टबल पड़ा । आवेश में कांपते हाथों उसने बालक को भी पकड़कर जूल्हे में झोंक दिया । वह रोया चिन्कया । मां उसे बाहर निकाली तब तक आग कपड़े पकड़ चुकी थी । अध झुलसा बालक बाहर निकला वह दवाखाने पहुँचा तो पिता जेल की काली कोठारी में । फिर कितनी रोई थी पिता की आत्मा । यदि बीमार को आँखें होती तो वह भी मिसक उठती ।

यह सब क्या हुवा ? किसने किया । बालक के अज्ञान ने नोट की राख की तो पिता के क्रोध ने नन्हें बालक को आग की लपटों में झोंक दिया । कठिन श्रम से अर्जित संपत्ति कितनी प्रिय होती है तो कषाय परिणति कितनी बुरी होती है । प्रस्तुत घटना दोनों तथ्यों को स्पष्ट करती है ।

टीका :—गंभीरोऽपि तपो-राशिर्जीवानां साधुभिः पुरुषैर्दुःखेन कृच्छातः संचितः, कोपाग्निस्वाक्षेपिणां आकर्षतां तपःकाष्ठानि दहति क्षणाद् वनकाष्ठानीव दावाग्निः ।

कोहेण अप्यं डहती परं च अत्थं च धर्मं च तहेव कामं ।

तिव्वं च वेरं पि करेति कोधा अधरं गतिं वा वि उर्विति कोहा ॥ १३ ॥

अर्थ :—क्रोध से आत्मा स्व और पर दोनों को जलाता है । अर्थ, धर्म और क्रोध को भी जलाता है । क्रोध तीव्र वेर भी करता है और क्रोध से आत्मा अधोगति प्राप्त करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

क्रोधथी आत्मा 'स्व' अने 'पर'ने जाणे छे. तेमज्ज अर्थने, धर्मने अन गुस्साने जाणे छे अने पोते पक्ष्ज्जणी लय छे. क्रोध लयंकर वेर करे छे अने तेने कारणे आत्माने अधोगति प्राप्त थाय छे.

प्रस्तुत गाथा में क्रोध के द्वारा संभावित हानियां बताई गई हैं । क्रोध से आत्मा स्व और पर दोनों झुलसाता है । एक जलता हुआ कोयला खुद को भी जला रहा है और उसके निकट जो भी आता है उसे भी जलाता है और वह जहां पहुँचता है या जो भी उसके निकट आता है उसे भी वह जलाता है । क्रोध की आग में जलता हुआ व्यक्ति सबका शान्ति-भंग करता है । क्रोधी का दिमाग मानों बारूद का कारखाना है, जरा सी टक्कर लगते ही भस्माका होते ढेर नहीं लगती ।

दूसरे को जलाने के लिये चलनेवाला स्वयं भी पहले उस आग में झुलसता है । दिया सलाई पहले स्वयं जलती है, उसके बाद ही वह दूसरे को जला सकती है । क्रोधित में व्यक्ति अपने अर्थ धर्म और काम की भी हानि कर बैठता है । यह तो आम तौर पर देखा जाता है, गुस्से में आकर आदमी कांच की ग्लास दे मारता है । उस भले आदमी को कौन

समझाये कि तैने अपने ही आठाने बिगाड़े हैं साथ ही राष्ट्र की संरक्ति को भी क्षति पहुंचाई है । कोध आँख मुंद कर चलाता है । इसीलिये तो वह ठोकर खाता है और ऐसा गिरता है कि पृथ्वी भी उसे रोक नहीं सकती । कोध की आग नरक की आग लेकर ही आती है । इसीलिये अर्हतर्षि साधक को बार बार सचेत कर रहे हैं ।

कोधाविद्धा ण याणंति मातरं पितरं गुरुं । अधिक्खिवंति साधू य रायाणो देवयाणि य ॥ १४ ॥

अर्थ :—कोधाविष्ट प्राणी माता पिता और गुरु को भी नहीं समझते । वे साधु राजा या देवता का भी अपमान कर सकते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

क्रोधाधीन मानव माता, पिता અને ગુરુને પણ માનતા નથી; તે સજ્જન, રાજા કે દેવતાનો પણ અપમાન કરી શકે છે.

मायावी का कोई मित्र नहीं है । अहंकारी के लिये कोई बड़ा नहीं है । क्रोधी का तो वह खुद ही नहीं है । क्रोधका शैतान जब मानव के दिमाग में प्रवेश करता है तो उसकी आँखें मुंद जाती हैं और ओंठ खुल पड़ते हैं । उस समय वह न माता को देखता है, न पिता को, न गुरु को, वह साधु को भी अपमानित कर सकता है । राजा और देवता का भी तिरस्कार कर सकता है ।

क्रोधमूलं गियच्छंति धनहानि बन्धनाणि च । प्रिय-वियोगो य बह्व जन्माहं मरणाणि च ॥ १५ ॥

अर्थ :—क्रोध धन-हानि और बन्धनों का मूल है । प्रिय वियोग और अनेक जन्म मरणों का मूल भी वही है ।

गुजराती भाषान्तर :—

દ્રવ્યનાશ અને બંધનનું મૂળ ક્રોધ જ છે. વહાલાનો વિયોગ અને અनेક જન્મ તેમજ મરણનું કારણ પણ ક્રોધ જ છે.

क्रोध सारी विपत्तियों के लिये निमंत्रण है । क्रोध में धन और जन दोनों हानियाँ हैं । वर्षों की जमी जमाई नौकरी को क्रोध एक क्षण में बिगाड़ देता है और उफान शान्त होने पर फिर वह नौकरी के लिये चक्कर लगाता है । मनुष्य समझता है मैं क्रोध से काम निकाल लूँगा किन्तु क्रोध से काम लेना ऐसा ही है जैसा कि घड़ी का पैडलूम हिलाकर उस घड़ी से काम लेता है । जिसकी कमान टूटी हुई है क्रोध से काम बनते नहीं बिगड़ते जरूर हैं । प्रिय वियोग उसमें है बहुत से व्यक्ति आवेश में आकर घर छोड़कर ऐसे गये कि फिर घर की ओर झाँका तक नहीं । जन्म और मृत्यु तो क्रोध के साथ लगे हुए हैं ही ।

जेणाभिभूतो जहती तु धम्मं, विद्धंसती जेण कतं च पुण्णं ।

स सिव्वजोती परमप्पमादो, क्रोधो महाराज ! जिरुद्धिथव्वो ॥ १६ ॥

अर्थ :— जिसके द्वारा अभिभूत होकर यह आत्मा धर्म को छोड़ता है और जिसके द्वारा कृत पुण्य नष्ट होता है । हे महाराज ! वह तीव्र अग्नि और परम प्रसाद रूप क्रोध निग्रह करने योग्य है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેને કારણે માણસ પરાજય પામીને ધર્મનો ત્યાગ કરે છે અને જેને લીધે પુણ્યનો લોપ થઈ જાય છે, હે મહારાજ ! અગ્નિ જેવા અચંકર અને આલાપ એવા ક્રોધનો સંયમ કરવો જ જોઈએ.

क्रोध से होनेवाली दो बड़ी हानियाँ बताई गईं हैं । पहली है उसके द्वारा आत्मा का स्व-धर्म समाप्त करना । क्षमा आरना का स्वधर्म है और क्रोध पर धर्म । दूसरा वह कृत पुण्य को नष्ट करता है । क्रोध हमारा हाथ तो इस ढंग से पकड़ता है मानों वह हमारा हक बहुत बड़ा माँगी हो किन्तु वह इतना चालाक है कि काम हमसे ही कराता है इसीलिये तो क्रोध उतारने के बाद हम दुर्नी थकान का अनुभव करते हैं ।

अर्हतर्षि कह रहे हैं यह क्रोध तीव्र ज्योति अग्नि रूप है और परम प्रमाद है । अर्थात् पंच प्रमादों में इसका स्थान प्रमुख है । अतः यह सदैव निरोध करने योग्य है । क्रोध विजय का एक अलम तरीका है । क्रोध की आग मिट्टी के तैलसे लगी आग है । वह पानी से काबू में नहीं आ सकती । उसे बुझाने के लिये मिट्टी चाहिये । वह मिट्टी है मृत क्रोध की -

नकली क्रोध की। क्रोधी व्यक्ति को आप शान्ति से नहीं समझा सकते उसके। लिये नकली क्रोध की आवश्यकता है। गरमी से गरमी दबती है किन्तु ध्यान रखें वह क्रोध की आग आपके दिल में न आ जाय, अन्यथा वह दबेगी नहीं मद्धक उठेगी। दो लड़ते हुए व्यक्तियों की लड़ाई रोकने के लिये पहले उनकी लड़ाई को क्रुद्धी में बदल देना होगा, फिर मध्युद्ध को खेल युद्ध में बदल दें। कुछ देर में आप देखेंगे वे हास्य की सरिता के निकट आ गये हैं। क्रोध के हंसी में बदलते ही क्रान्ति शान्ति में बदल जाएगी।

टीका :—महाराज त्ति संबोधनं श्लोकस्यान्यस्मात् कस्माच्चिदन्वायादिहायतरितत्वं प्रकटीकरोति।

प्रस्तुत श्लोक में आया हुआ महाराज का संबोधन यह प्रकट करता है कि यह श्लोक अन्य किसी स्थान से लिया गया है।

प्रोफेसर शुब्रिग मी लिखते हैं—पन्द्रहवें श्लोक में आया हुआ महाराज का संबोधन का मूल दूसरे अनुसंधान में होना चाहिये, क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण के श्लोकों में यह संबोधन ठीक नहीं बैठता।

हृष्टं करोतीह निरुद्धमाणो भस्मं करोतीह विमुच्यमाणो।

हृष्टं च भस्मं च समिक्ख पण्णे, कोपं निरुमेज्ज सदा जितप्पा ॥ १७ ॥

अर्थ :—जो निरोधित किये जाने पर मनुष्य को हृष्ट करता है और छोड़े जाने पर प्रकाश (भस्म) करता है। समीक्ष्य प्रज्ञाशील जितात्मा साधक हृष्ट और प्रकाशित दोनों प्रकार के क्रोध को सदैव रोके।

गुजराती भाषान्तर :—

क्रोध (अप्रकट) संयमित थाया पछी माधुसने ते संतोष आपे छे अने क्रोध (प्रकट) छोडी डीधा पछी ते आउछे छे. शुद्धियान् अने विचारी भावसे हृष्ट अने प्रकाशित (अटवे प्रकट अप्रकट) वेडि तरङ्गना क्रोधनो साधके हमेशा अटकाव करवो.

क्रोध के दो रूप हैं—एक प्रकट, दूसरा अप्रकट। पहला प्रज्वलित आग है, दूसरा दबी हुई आग है। क्रोध का एक वह रूप है जब कि उसकी ज्वालाएं बाहर फूटती दिखाई देती हैं, दूसरा एक वह क्रोध है जिसकी ज्वालाएं बाहर तो नहीं दिखाई पड़ती किन्तु जो भीतर ही भीतर अनबुझे कोयले की भांति सुलगता रहता है। कभी कभी ऐसा भी होता है दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा हो जाने पर दोनों बोलना बन्द कर देते हैं। परन्तु दोनों के बोलना बन्द कर देने मात्र से क्रोध की ज्वाला समाप्त हो गई ऐसा नहीं समझा जा सकता। हाँ, इतना हुआ बाहर की ज्वाला भीतर पहुंच गई।

यह भीतर की आग बाहर की आग से अधिक भयानक होती है। क्योंकि बाहर की आग तो दो मिनिट में जलकर शान्त हो जाती है। पर भीतर की आग कब किस क्षण विस्फोट करेगी कुछ कहा नहीं जा सकता। इसीलिये तो उष्ण युद्ध की अपेक्षा शीत युद्ध अधिक भयावह होता है और शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि पर ही उष्ण युद्ध की विभीषिका खड़ी होती है।

प्रज्ञाशील साधक बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के क्रोध को निरुद्ध कर कषाय विजयी बने।

टीका :—हृष्टं करोति पुरुषमनिरुध्यमानः कोपः विमुच्यमानस्तु भस्मं करोति। भस्मी करोति, हृष्टं च भस्मं च समीक्ष्य प्रज्ञा जित्वात्मा सदा कोपं निरुमेज्यात्।

तारायणीयमध्ययनम्।

अनिरुध्यमान क्रोध मनुष्य को हृष्ट करता है और विमुच्यमान क्रोध उसे भस्म करता है। अतः प्रज्ञाशील जितात्मा और भस्म को देखकर क्रो सदा रोकता रहे।

टीकाकार का अभिप्राय कुछ भिन्न पड़ता है।

एवं से सिद्धे०। मतार्थः ॥

पट्विंशत्तममध्ययनम्

—>0<—

सिरिगिरि अर्हतर्षिप्रोक्त

तृतीयसर्ग अध्ययन

तत्त्वचिन्तक के मन में एक प्रश्न खड़ा होता है हम जिस विराट् सृष्टि में रहते हैं उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? कोई दर्शन इसे अंडे से उत्पन्न मानता है इसे बराह के द्वारा समुद्र से बाहर लाई मानता है। किन्तु ये समाधान तर्क की तुल्य पर ठहर नहीं सकता। जिस अंडे से यह सृष्टि उत्पन्न हुई वह अंडा कितना बड़ा होगा और वह रहा कहाँ? होगा? अब पृथ्वी पानी आदि कोई तत्व ही नहीं थे तो अंडा आया कहाँ से और कहाँ टिका होगा।

जैन दर्शन इसका सही समाधान देता है। यह विश्व की रंग-स्थली अनादि है। यह विराट् विश्व न कभी उत्पन्न हुआ है, न कभी पूर्ण रूप से विलय ही होगा। क्योंकि हृद्य यदि उत्पत्ति बाद स्वीकार करते हैं तो हमारे सामने प्रश्न आता है पहले बीज था या वृक्ष। यदि बीज पहले था तो वृक्ष बिना बीज आया कहाँ से और वृक्ष पहले था तो बीज बिना वृक्ष कैसे हो गया? यह ऐसी अनबूझ पहेली है। जिसे आज तक कोई तुल्यज्ञा नहीं पाया। अतः जैनदर्शन कहता है बीज भी उतना ही पुराना है जितना कि वृक्ष। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज यह कम अनादि है। न कभी यह कम टूटा है न कभी टूटनेवाला है। इसी रूप में सृष्टिचक्र घूम रहा है।

आजका विज्ञान सृष्टि की उत्पत्ति के लिये विकासवाद को मानता है। विकासवाद के प्रणेता डार्विन कहता है यह पृथ्वी करोड़ों वर्ष पहले इतनी गर्म थी कि उस पर कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता था, फिर उसकी ऊपर की परत शीतल हुई तो कुछ छोटे जन्तुओं ने जन्म लिया। उनके द्वारा कुछ कीड़े आदि पैदा हुए। फिर उन्होंने विकास किया तो बड़े रंगनेवाले प्राणी जन्मे। उन्होंने विकास किया तो चौपाये जन्मे। उनमें से बुद्धि पटुता लेकर बन्दर जन्मा और बन्दरों का विकसित रूप मानव है। यह विकासवाद का संक्षिप्त रूप। लाखों करोड़ों वर्षों के पूर्व कुछ बन्दर मानव बने थे। उसके बाद लाखों की संख्या में जो बन्दर थे उन्होंने विकास क्यों नहीं किया। माना कि सब विकास नहीं कर सकते तो सौ वर्ष के बाद या हजार वर्ष के बाद एक बन्दर तो मनुष्य होना चाहिये। फिर मनुष्य का भी तो विकास होना चाहिये वह भी तो कुछ बनाना चाहिये।

डार्विन का यह विकासवाद भी तर्क की तुल्य पर ठीक नहीं बैठता। हाँ, आत्मा विकसित करती है और यह चोला बदलकर दूसरे रूप में आ सकती है किन्तु उस वर्ग के प्राणी विकसित होकर अन्य रूप ले यह संभव नहीं है। प्रस्तुत अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न की चर्चा की गई है।

सन्ध्यामिणं पुरा उदगमसीत्ति सिरिगिरिणा माहणपरिव्वायगेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

अर्थ :—कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि यहाँ पहले सब पानी ही था। इस प्रकार ब्राह्मण परिव्राजक सिरिगिरि अर्हतर्षि ऐसा बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

पेटवाड दार्शनिकों नेम माने छे के अहियां प्रथम अधुं जलमय (पाण्डुथी व्यास) जे छतु नेम ब्राह्मण परिव्राजक सिरिगिरि अर्हतर्षि बोल्या।

सृष्टि-कर्तृत्व के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष बताते हुए अर्हतर्षि कहते हैं कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि पहले यह केवल जल तत्त्व था।

पत्थं अंडे संतत्ते पत्थ लोप संभूते । पत्थं सासासे । इयं ने वरुणविहाणे । उभयोकाळं उभयो-संखं खीरं णवणीयं मधुसमिधासमाहारं खारं संखं च पिंडेत्ता अग्निहोसकुंडं पडिजागरमाणे विहरिस्समीति तम्हा एयं सब्बं ति वेमि ।

अर्थ :—वहाँ अण्डा आया और फूटा उससे लोक उत्पन्न हुआ और सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। किन्तु कोई यह बोलते हैं कि यह वरुणविधान हों मान्य नहीं हैं। वे उभय काल दोनों संध्या को क्षीर नवनीत (मधुसूदन) मधु (शहद) समिधा (लकड़ियाँ) इनको एकत्र करके धार और शंखको मिलाकर अग्निहोत्र कुंड को प्रति जाग्रत करता हुआ रहूँगा इसलिये मैं यह सब बोलता हूँ।

वैदिक-परंपरा के अनुगामी ऐसा विश्वास करते हैं कि विश्व की उत्पत्ति अंडे से हुई है। महासागर में एक अंडा तैरता हुआ आया। वह फूटा और दो खंडों में विभक्त हो गया। पहले से ऊर्ध्वलोक बना और निम्न खंड से अधोलोक बन गया। उसी से यह सचराचर सृष्टि पैदा हुई है।

सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी विभिन्न बाद हैं। सूत्रचूनांगसूत्र में उसका उल्लेख है। कोई ऐसा मानते हैं कि यह लोक देवों ने बनाया है। दूसरे ऐसा कहते हैं कि यह सृष्टि ब्रह्मा ने बनाई है। कोई यह मानता है कि यह सृष्टि ईश्वर ने बनाई है। इस विराट् विश्व में ईश्वर अकेला था किन्तु अकेलेपन से वह ऊब गया और उसने अपने को दो हिस्सों में विभक्त कर दिया। एक था पुरुष दूसरी श्री नारी और इस रूप में सृष्टि का निर्माण हुआ। कुछ लोग इस विश्व की प्रकृति की कृति मानते हैं। कोई इसे स्वभावकृत मानते हैं। मयूर के पंखों को किसने चित्रित किया है। कांटों को किसने तीखा बनाया है। उत्तर होगा यह सब स्वभाव की देन है। उसी स्वभाव ने सृष्टि का निर्माण किया है। महर्षि ऐसा कहते हैं वह सृष्टि ब्रह्मा ने रची है। फिर उन्होंने सोचा कि यदि सृष्टि का निर्माण ही होता गया तो उसका समावेश कहाँ होगा, अतः उन्होंने यमदेव की रचना की और उसने माया का निर्माण किया यही माया लोक का संहार करती है^१। ब्रह्मा और त्रिदंडी आदि श्रमण ऐसा बोलते हैं—यह विश्व अंडे से बना है^२।

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकवार प्रचलित हैं। अर्हंतर्षि अंडे से विश्व की उत्पत्ति माननेवाले सिद्धान्त का वर्णन कर रहे हैं। साथ ही उस मत के अनुगामियों की दैनंदिनी साधना भी बता रहे हैं कि वे दोनों समय दोनों संध्या को क्षीर और नवनीत और मधुके द्वारा अभिहोत्र करते हैं। वैदिक परंपरा के अनुगामी अंडे से विश्व की उत्पत्ति मानते हैं और अभिहोत्रादि यज्ञयागों में विश्वास करते हैं।

टीका :—सर्वमिदं जगत् पुरा उदकमासीत् । अत्राण्डं संतप्तम्, अत्र लोकः संभूतः । अत्र साक्षात्तो जातः, इदं नोऽस्माकं मते वरुणविधानं इति केचित् । अन्ये तूभयतः कालमुभयतः संध्यं क्षीरं नवनीतं मधु समित्, समाहारं क्षारं शंखं च विद्वत्सिद्धाऽग्निहोत्रकुण्डं प्रतिजागरयमाणो विहरिष्यामीति तस्मादेतत् सर्वमिति प्रवीमीति । गतार्थः ।

प्रोफेसर शुब्रिग लिखते हैं -

यह एक ही प्रकरण ऐसा नहीं है कि छन्द रूप में जिसकी भूमिका नहीं है। अध्ययन १०, १४ और २१ में भी ऐसा ही हुआ है। वहाँ पहले इस विश्व में केवल पानी ही था। यह गुदा लेस है। इसके बाद आनेवाला अध्ययन भी इसी शैली का प्रमाण है। ऊपर के वाक्य का स्पष्टीकरण निम्न रूप से है—अंडा फूटा और दुनिया बाहर आई और उसने श्वास लेना शुरू किया। यहाँ ब्रह्म के बदले वरुण का निर्देश उचित है। क्योंकि जल का देवता वरुण माना जाता। अतः यह सृष्टि वरुण की कृति है।

दूसरे वैदिक सिद्धान्त के अनुसार इस विश्व की उत्पत्ति यज्ञ से हुई है। अभी काल वगैरे से यही ध्वनित होता है। किन्तु उसमें प्रमाण रूप से कोई कल्पित मेद नहीं बताया गया है। इसके सामने दो ब्राह्मण के बताये गये हैं किन्तु उसमें विरोध नहीं दिखाया गया है।

ण वि माया ण कदाति णासि ण भवति ण कदाति ण भविस्सति य ।

अर्थ :—यह लोक माया नहीं है। कभी नहीं था ऐसा नहीं है, कभी नहीं है ऐसा भी नहीं है और कभी नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं है।

१ स एकाकी न रेभे ।

२ सत्त्व रज और तम की साम्यावरथा प्रकृति है ।

३ इणमजं तु अत्राणं इह मेगेसि माहियं ।

देव उक्ते अयं लोणं यमउक्तेसि आवरे ॥

ईसरेण कडे लोणं पहाणाइसहावरे ।

जीवा-जीव-समाउक्ते सुइदुक्खसमन्निष ।

सयंभुग्गा कडे लोणं इइधुत्तं महेसिणा ।

मारेण संभुया माया तेण लोणं अस्ससिण ॥

सूयगड अ० १, उ० ३, गा० ५-६-७.

४ माहणा समणा एगे आइ अंड कडे जने ।

सूयगड अ० १, उ० ३, गा० ८.

गुजराती भाषांतर :—

आ लोके माया (ओटले स्वप्न जेयो जोरो) नथी, अमारे पक्षु नहोतो ओम नथी, अमारे पक्षु नथी ओम पक्षु नथी, अने अविष्यमां पक्षु रहेशे ओम पक्षु नथी.

अर्हसि पहले सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक परंपरा दिखाकर बाद में जैनदर्शन रख रहे हैं। जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व सत्य है। और यह जो संपूर्ण रूप से नश्वर भी नहीं है। इस सारी सृष्टि को माया मानने पर भी बहुत बड़ी आपत्ति आती है। यदि यह माया है फिर आत्मा जैसा कोई तत्व भी नहीं है। फिर पुण्य पाप साधना आदि सभी निष्फल हैं। यदि संसार को स्वप्न माना जाय तो स्वप्न भी एकदम मिथ्या है ऐसा नहीं कहा जा सकता। हमारी जाग्रति का ही प्रतिबिम्ब स्वप्न है। जाग्रति में दृष्ट और अनुभूत वस्तुएं वासना रूप में हमारी स्मृति में रह जाती है और वे ही स्वप्न रूप में दिखाई देती हैं। यदि जाग्रति भी कोई वस्तु नहीं है तो फिर स्वप्न भी नहीं आ सकता।

सीप में चांदी की भ्रांति होती है, पर विद्य में सीप और चांदी है सी तो भ्रान्ति होती है; अन्यथा आकाश कुसुम की तो भ्रान्ति नहीं होती। अतः विद्य व्यवस्था सत्य है, किन्तु उसे हम गलत रूप में देखते हैं तो हमारी दृष्टि में भ्रांति है। पर जो स्व देखना और उसमें आदमीयता की बुद्धि रखना यह भ्रान्ति है किन्तु वस्तु या यह विश्व-भ्रान्ति नहीं है।

साथ ही यह पक्षु विकल्पवर्ती है। यह कभी नहीं आ ऐसा भी नहीं है। कभी नहीं है ऐसा भी नहीं है, कभी नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं है। हां पर्याय रूप से प्रतिक्षण बदल रहा है किन्तु द्रव्य रूप से यह लोकशश्वत है। क्योंकि लोक का संपूर्ण नाश मानने पर उसकी उत्पत्ति भी माननी होगी और ऐसा मानने पर अनेक तर्क उपस्थित होता है। साथ ही जैनदर्शन यह मानता है विश्व सत् है और सत् उत्पन्न भी होता है नष्ट भी होता है फिर भी तत्व रूप से ध्रुव रहता है। उसका रूप बदलता है पर स्वरूप नहीं बदलता है। गीता भी कहती है असत् कभी उत्पन्न नहीं होता और सत् का कभी नाश नहीं होता^१, फिर सृष्टि की उत्पत्ति कैसी? अंछे आदि से उत्पत्ति मानना और भी युक्ति विरुद्ध है। सूत्रकर्तांग सूत्र में कहा गया है—

सगृहिं परियाणुहिं लोय बूया कडेत्ति य ।

तत्ते तेण विजणंति ण विणासी बग्गह वि ॥ —सूत्रकर्तांग अ० १ उ० ३ गा० ६.

अपने विचारों से वे बोलते हैं लोक बनाया गया है। किन्तु वे तत्व को जानते नहीं हैं, क्योंकि लोक विनाशी नहीं है।

टीका :—वयं तु न विस्मि माया नैवाद्भुतविधानं मन्तव्यम्, किन्तु न कदाचिन्नासीन्न कदाचिन्न भविष्यति च लोक इति वदामः। गतार्थः।

प्रोफेसर शुब्रिग लिखते हैं—

कि नवि माया आदि के द्वारा जैन सिद्धान्त बताया गया है और वह दुनिया की शान्धतता और वास्तविकता की मांग करता है।

पडुण्णमिणं सोरुवा सूरसहगतो गच्छे । जत्थ सेव सूरिये

अत्थमेज्जा खेत्तेसि वा णिणंसि वा तत्थेख णं पादुण्णमायाग रयणीय

जाव तेयसा जलंते । एवं खलु से कप्पसि पातीणं वा पडीणं वा दाहिणं

वा उदीणं वा पुरतो जुगमेतं पेहमाणे आहारीयमेव रीतित्तप ।

अर्थ :—प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमान इस तथ्य को सुनकर साधन सूर्य के साथ जाए ! जहां सूर्य हो वहीं रुक जाए, फिर वहां खेत हो या ऊंची नीची भूमि हो। रात्रि के व्यतीत हो जाने पर तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होनेपर (साधक को) पूर्व पश्चिम उत्तर या दक्षिण किसी भी दिशा में युग मात्र भूमि देखते हुए चलना कल्पता है। उस प्रकार चलनेवाला साधक कर्म क्षय करता है।

गुजराती भाषांतर :—

प्रत्युत्पन्न ओटले वर्तमान सत्यत्वने साधणीने साधके सूर्यने साथे ज यावतुं ओछेओ. सूर्यनो अस्त थतां ज ते पोते पक्षु थोकी जय, अले त्यां अंतर डोय डे डोयी डे नीयी जग्ग्या डोय. रात पीती ग्या पछी डे तेजस्वी सूर्यनो उदय थया पछी साधके पूर्व, पश्चिम, उत्तर डे दक्षिण डे ओछे दिशा तरङ्ग युगमात्र भूमि ओछेने यावतुं. ओ ओक कल्पना छे. तेवी रीते यावनार साधक कर्मनो क्षय करे छे.

१ उत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं हि सत् ॥— तत्त्वार्थ अ० ५ सू० २६.

२ न सतो जायते मावो नाभायो विद्यते सतः ॥—गीता

साधक सत्य को पहचाने और फिर सूर्यविहारी बने। सूर्य उदय होने पर उसकी गति आरंभ हो और सूर्य अस्त हो वहाँ रुक जाए, फिर भले वह खेत हो या निम्न भूमि हो। रात्रि व्यतीत हो जाने पर ही वह आगे बढ़े। क्योंकि वह प्रकाश का पथिक है, वह प्रकाश द्रव्य और भाव दोनों रूप में अपेक्षित है, द्रव्य से सूर्य का प्रकाश अपेक्षित है, तो भाव से ज्ञान प्रकाश प्राप्त है। भाव शब्द से यहाँ—सूर्य के कुछ विशेषण प्राप्त हैं। जोकि औपपातिक सूत्र में मिलते हैं। टीकाकार उन्हें दे रहे हैं, अतः यहाँ पृथक् नहीं दिये गये। साधक युग मात्र भूमि देखता हुआ चले। ताकि वह जीवादि विराधना से बच सके। उसके मन में कठना की धारा बह रही है वह सब की रक्षा करने की कामना लेकर चल रहा है। अतः चलते हुए भी उसे सावधानी रखना आवश्यक है। जागृत साधक ही गृहीत को रिक कर रहा है। इसके दो रूप हैं द्रव्य में वह लक्ष्य की दूरी की रिक कराता काट रहा है। दूसरी ओर गृहीत कर्मों को क्षय कर रहा है।

टीका:— 'पङ्कपण्यं इणं सोच्च' चि प्रत्युत्पन्नं वर्तमानमिदं भुत्वेति त्रीणि पदानि श्लोकपाद इव दृश्यन्ते। नच पूर्वगतेन न चैव पङ्कपादगतेन संबद्धं शक्यानि। सूर्यसहस्रतो निर्ग्रन्थो अर्थात् यात्रेव सूर्योऽस्तमियात् क्षेत्रे वा निम्ने वा तत्रैवोषिध्वा प्रादुः प्रभातायां रजन्यामसीतायां रात्रावुत्थिते सूर्ये सहस्ररश्मौ दिनकरे कीदृशे-तदीपपातिकपादेनोच्यते विकसितोऽपले चोन्मीलितकमलकोमले च पांडुरप्रमे रक्ताशोकप्रकाशे च किंशुक-शुकमुख-गुंजार्धरागसदृशे च कमलाकरषण्णदोधके तेजसा ज्वलति सति पूर्वं तत्क्षणमेव प्राचीं वा दक्षिणो वा उदीचीनां वा दिशि पुरतो युगमात्रमेव प्रक्ष-भाणे यथारीयेतु तस्य कल्पते निर्ग्रन्थस्य। श्रीगिरीयमध्ययनम्।

'पङ्कपन्न, इणं, सोच्च' आदि तीनों पद श्लोक के पाद समान दिखाई देते हैं, किन्तु वे न पूर्व के साथ जोड़े जा सकते हैं, न पीछे के साथ। मुनि सूर्य के साथ जाये इसका अर्थ है जहाँ सूर्य अस्त हो वहाँ क्षेत्र=खेत या निम्नभूमि हो वहीं उसे ठहर जाना चाहिये। रजनी के बीत जाने पर सहस्ररश्मि सूर्य के उदय होने पर पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण किसी भी दिशा में आगे युग-मात्र भूमि देखते हुये गति करना मुनि को कल्पता है। वह सूर्य कैसा है उसका वर्णन औपपातिक के आधार पर दिया जा रहा है। उत्पल (कमल को विकसित कर दिया है और कोमल कमल को खिला दिया है जिसने ऐसा पाण्डु प्रभाववाला रक्त (लाल) अशोक के सदृश प्रकाशवाला, किंशुक शुकमुख (पोपट की चंचु) और गुंजार्ध के सदृश लाल कमलाकर (समूह) सरोवर को जगानेवाला तेजस्वी जाज्वल्यमान सूर्य है। उसके उदय होने पर भुनि विहार पथ में आगे बढ़े।

प्रोफेसर शुब्रिग लिखते हैं—

आगे जो पाठ (प्रस्तुत) दिया गया है उसमें कुछ नया वर्णन है। साधुओं के प्रतिदिन का कार्यक्रम दिया गया है जो कि सूर्य की गति के साथ संगत है। जिसकी तुलना कल्पसूत्र ५-६-८ और निशीथ १०, ३१, ३४ और दशर्वे ८-२८ के साथ की जा सकती है।

घोड़ी शुभेच्छाओं के साथ एक फूलपुनः विश्व की ओर खींच जाता है। "पङ्कपण्यं इणं सोच्च" श्लोक पद यह बताता है कि उसने जाना है हुनिपां वहाँ हैं और ऐसा लगता है वहाँ थोड़ा कुछ छूट गया है। इसीलिये उसकी पुनरुक्ति भी होती है। क्षितिज में सूर्य अस्त होता है यह वाक्य भी कुछ बाहर का लगता है उसे पूर्णता की आवश्यकता है जोकि मुनि विहार की पूरी मर्यादा बताता हो। औपपातिक में जो सूर्योदय की काव्यात्मक पदावलि मिलती है वहाँ भी ऐसा लगता है कि वेद की भ्रांति प्राप्त मिलाने के लिये कुछ शब्दों का योग दिया गया है। वहाँ जो पाउपमाधारमणीए पाठ है वहाँ निम्नोक्त पाठ होना चाहिए फूलपल उन्मीलित कोमल कमलमि अद्वा पंडुरपभायाए सस्ते एवं खलु। देखो आचारांग ८३-१। अतः वहाँ उपोद्घात का वाक्य होना चाहिए उसकी पूरी संभावना।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। मतार्थः।

इति श्रीगिरीयं सतत्रिंशत्तममध्ययनम्

१ कलं पाउपमाए रयणीए फूलपलकमलकोमलउन्मीलितमि अद्वा पंडुरे पहाए रत्तासोगपगास किं सुथ-सुव-सुह-गुंज-रागसरिसे कमलायरसउद्धेए उत्थियमि धुरे सहस्सररिसमि दिग्धारे तेयता जल्ले।

—औपपातिकसूत्रम्

२ अर्थ गयमि आद्वि गुरथावअणुगाए। आहारनाद्वं सर्वं मणता वि ण पत्थए।

बौद्ध अर्हत्तर्षि सात्तिपुत्र भाषित अडतीसवाँ अध्ययन

वह सुख क्या है जिसके पीछे सारी दुनिया पागल है। खाना पीना और मौज करना जिसे इंग्लिश दुनिया Eat drink and be merried यही सुख है तो फिर जिनके भवन आकाश से बातें कर रहे हैं, जिनके बंगले के सामने चार चार कारें घूम रही हैं वे दुःख के निःश्वास छोड़ते हैं। इसका मतलब हुआ सुख की सच्ची चार्भी उनको भी नहीं मिली है।

सुख के दो रूप हैं एक इन्द्रिय-निष्ठ दूसरा आत्म-निष्ठ। इन्द्रियों को जो प्रिय लगता है जिस ओर इन्द्रिया दोहती हैं। भोला मन उसे सुख की संज्ञा दे देता है और उसके पीछे बेहताशा भागता है। किन्तु वहाँ उसे क्षणिक उत्तेजना और हल्की तृप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता और उसके बाद फिर वही चिर अन्तः, वही दर्द, वही संघर्ष और दुःख की अनन्त परंपरा। दूसरी और आत्म-निष्ठ सुख में प्रेय का नहीं प्रेय का आग्रह है। वस्तु की क्षणिक मधुरिमा में आत्मा का असीम सुख नहीं बसता वह तो रहता है अपने निज रूप की प्राप्ति में। वहाँ रागरहित सात्विक आनंद है जिसके पीछे न दुःख की चिनगारी है न सुख के सूर्य के बाद दुःख की रजनी आने की संभावना ही रहती है। एक इंग्लिश विचारक कहता है:-

The happiness of a man in this life not consist in the absence but in the mastery of his passions.

इस जीवन में मनुष्य का सुख (बाहरी रूप से) वासनाओं के अभाव में नहीं; अपितु उनपर शासन करने में है।

प्रस्तुत अध्ययन मानव को सुख की राही राह दिखाता है। इस अध्ययन के प्रवक्ता हैं बौद्ध अर्हत्तर्षि सात्तिपुत्र। विगत सैंतीस अध्ययनों में हम विभिन्न अर्हत्तर्षियों से परिचित हो चुके हैं। उनमें कुछ क्षत्रिय रहे हैं तो कुछ ब्राह्मण भी हैं। उन्होंने उस परंपरा में जन्म लिया था, किन्तु तत्व दृष्टि मिलते ही उन्होंने आर्हती-देशना में प्रवचन दिये थे। अब यहाँ नई परंपरा आ रही है जो कि करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत में जन्मी थी उस बौद्ध परंपरा से आनेवाले सात्तिपुत्र अर्हत्तर्षि के विचार सूत्र यहाँ दिये गये हैं। प्रस्तुत सूत्र के प्रथम निबन्धक उनके प्रवचन की भूमिका के साथ उनका बुद्धेय विशेषण जोड़ना नहीं भूले हैं।

ऐसे तो बुद्ध शब्द जैन आगमों में भी आया है किन्तु वह तीर्थंकर देवों की प्रबुद्ध आत्मा का विशेषण बनकर आया है और सात्तिपुत्र शब्द स्वयं बौद्ध-मिश्र के नाम सा लगता है साथ ही प्रस्तुत अध्ययन की चतुर्थ गाथा के अन्तिम चरण में एक शब्द आता है वह भी इस कथन की पुष्टि करता है वह है यह एवं बुद्धाण सासण।

जं सुहेण सुहं लद्धं अन्तंसुहमेव तं ।

जं दुहेण दुहं लद्धं मामे तेण समागमो ॥ १ ॥

सात्तिपुत्तेण बुद्धेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

अर्थः—जिस सुख से सुख प्राप्त होता है वही आत्यंतिक सुख है। किन्तु जिस सुख से दुःख की प्राप्ति हो उससे मेरा समागम न हो। सात्तिपुत्र बौद्ध अर्हत्तर्षि ऐसा बोले।

गुजराती भाषान्तरः—

जे सुખથી સુખનો લાભ થાય છે તેજ સાચું આત્મતિક સુખ છે. પરંતુ જે સુખથી દુઃખની પ્રાપ્તિ થાય છે તેવા સુખને સાથે હું સંપર્કમાં ન આવું. એમ સાતિપુત્ર બૌદ્ધ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

एक सुख वह है जो आदि में मीठा है तो अन्त में भी मीठा है। सुख का एक रूप वह भी है जो पहले मीठा है फिर कड़वा बन जाता है। भौतिक पदार्थों का सुख दूसरे प्रकार का सुख है। वह उस मक्खी का सुख है जो शहद देखती है उसका मिठास देखती है, किन्तु यह नहीं देखती कि इसमें गिरने के बाद मेरी क्या हालत होगी।

स्थानांग सूत्र की एक चौभंगी है जिसमें बताया गया है जिसकी आदि में सुख है और अन्त में भी सुख है दूसरा जिसकी आदि में सुख है और अन्त में दुःख है। तीसरी जिसके आदि में दुःख है अन्त में सुख है। चौथा रूप वह है जिसके आदि में भी दुःख है और अन्त में भी दुःख है। उसमें प्रथम तृतीय ग्राह्य हैं और शेष दो अग्राह्य हैं।

टीका:— यत् सुखं सुखेन लब्धं तद् अत्यन्तसुखमेव, यत् दुःखं दुःखेन लब्धं सा मम तेन समागतो भूविति बौद्धविष्णु भाषितम् ।

मणुण्णं भोयणं भोक्खा मणुण्णं सयणासनं ।

मणुण्णंसि अगारंसि झत्ती भिक्खू समाहिण ॥ २ ॥

अर्थ:— मनोज्ञ भोजन करके और मनोज्ञ शयनासन पाकर मनोज्ञ भवनों में भिक्षु समाधिपूर्वक ध्यान करता है ।

गुजराती भाषान्तर:—

मनगमतुं नमस्तु, मनगमतुं शयनतुं सुभ के आसनतुं सुभ भेजवीने मनगमत्त भवनभां भौद्ध भिक्षु समाधिपूर्वक ध्यान करे छे ।

टीका:— मनोज्ञ भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने मनोज्ञेऽगारे बुद्धभिक्षुः समाहितो ध्यायति । गतार्थः ।

विशेष टीकाकार मिश्र, शब्द को बौद्ध परंपरागत भिक्षु के अर्थ में व्यवहृत मानते हैं ।

अमणुण्णं भोयणं भोक्खा अमणुण्णं सयणासनं ।

अमणुण्णंसि गेहंसि दुक्खं भिक्खू झियायती ॥ ३ ॥

एवं अणेशवण्णामं तं परिचज्ज पंडिते ।

णणत्थ लुच्चमई पण्णे एयं बुद्धाण सासनं ॥ ४ ॥

अर्थ:—अमनोज्ञ भोजन करके अमनोज्ञ शयनासन पाकर अमनोज्ञ घरों में भिक्षु दुःख का ध्यान करता है । इस प्रकार अनेक वर्णवालों का विचार है किन्तु उसे छोड़ कर प्रज्ञाशील कहीं पर भी नहीं होता है यही बुद्ध कि (प्रबुद्ध आत्मा की) शिक्षा है ।

गुजराती भाषान्तर:—

न गमे तेतुं भोजन के शयन अथवा आसननो अनुभव करीने न गमता घरभां रही भिक्षु दुःखनो विचार करे छे. आप्रभाणो अनेक वर्णवाणा मानवोनो विचार छे. परंतु तेने छोडीने बुद्धिमान् भाणुस आंय पणु आसक्त थतो नथी. आ न बुद्ध (प्रबुद्ध) आत्मानी शिष्यामणु छे.

साधक मन के प्रवाह में न बहे । मन अपने पसंद के पदार्थों को पाकर आनंदित होता है और उसके प्रतिकूल पाकर दुःखानुभूति करता है । किन्तु यह स्थिति साधक की सम रसता का भंग कर देती है । अणेशवण्णणे से ध्वनित होता है यह बात पादार्वापत्यों के लिये कही गई है अथवा बौद्ध परंपरा के गुरुओं के लिये । क्योंकि मगवान महावीर के शासन के मुनि तो केवल ही वर्ण से वस्त्र पहनते हैं । पार्श्वनाथ प्रभु की परंपरा में पांचों वर्ण के वस्त्रों का विधान है और बौद्ध परंपरा में भी काषाय रंग के वस्त्रों का विधान है और वे प्रासादों में ठहरते भी थे । मध्ययुग का इतिहास तो बताता है बौद्ध भिक्षु उत्तरवर्ती युग में राज्याश्रम पाकर किस प्रकार भवनों में प्रवेश कर गये थे ।

साधक मन को साधे । भवन हो या बट वृक्ष मिष्टान्न हो या हल्की रोटी दोनों के लिये उसके मन में एक स्थान होना चाहिये । मिष्टान्न उसे लुभा न सके और हल्की रोटी उसके हृदय में तिरस्कार न पा सके ।

टीका:— स एवामनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा शयनासने चामनोज्ञे गृहेऽमनोज्ञे दुःखं ध्यायत्यात्मसपध्यानं करोतीत्यर्थः । तं तादृशमेवमनैकवर्णकमन्यतीर्थकं भिक्षुं नानागुणपदार्थं वा परित्यज्य पंडितः प्राज्ञो नान्यत्र लुभ्यति एतद् यथार्थं बुद्धस्य शासनम् । गतार्थः ।

णाणावण्णेषु सद्देषु सोयपत्तेसु बुद्धिमं ।

गेहि वायपदोसं वा सम्मं वज्जेज्ज पंडिय ॥ ५ ॥

एवं रूपेषु गंधेषु रसेषु फासेषु अप्पण्णाभिलाषेणं ।

अर्थ:—श्रोत्र प्राप्त नानाविध शब्दों में रुद्धिभाव और वाक् प्रदोष को बुद्धिमान प्रज्ञाशील साधक सदैव छोड़े । रूप गंध रस और स्पर्श आदि में भी साधक आसक्त न बने ।

गुजराती भाषांतर :—

ऊनधी सालघेला अनेक प्रकारना शब्दोनो लोक अने वाशिदीपने शुद्धिमान् साधके हमेशा छोडी देवुं बोधये. रूप, रस, गंध अने स्पर्श वगैरेभां पद साधके आसक्त यवुं न बोधये.

प्रस्तुत गाथा में साधक को अनासक्ति भाव की प्रेरणा दी गई है। कान से शब्द टकराते हैं और टकगयेंगे भी उन्हें रोका नहीं जा सकता, किन्तु हाँ, शब्द टकराने के बाद ये बहुत अच्छे हैं मन में गुद्गुदी पैदा करनेवाले इन शब्दों को एक बार और सुनना चाहिये। इस आसक्ति भाव को हम रोक सकते हैं। जल में गहकर भी जल से निर्लिप्त रहने की कला है अनासक्ति। नदी में डूबकी लगाकर भी कोई सूखा निकल आवे तब चमत्कार है। किनारे पर बैठकर ही कोई यह दावा करे कि हम सूखे हैं तो वह हास्यास्पद होगा। रूप रस और गंध के सुभ पर्याय हमें प्राप्त हों फिर भी वे हमारे मन के भीतर प्रवेश न पा सकें। उनकी प्राप्ति के लिये तप न उठे और उनके विदाई के क्षणों में पलक भीने न हों तो समझना होगा इसने अनासक्ति का पाठ सीखा है।

आसक्ति हमें बांधती है वह कहती है जरा रुक जाओ, फूलों की मधुर मीठी सुवास आ रही है। अनासक्ति मुक्ति का द्वार खोलती हुई कहती है आगे बढ़ते चलो, तुम्हारे पथ में हमेशा फूल खिलते रहेंगे।

अनासक्ति योग के साथ प्रस्तुत गाथा में साधक को वाणी के दोषों से बचने की भी प्रेरणा दी गई है। अति बोलना, कठोर बोलना, असमय पर बोलना ये सभी वाणी के प्रदोष हैं, पशु इसलिये दुःखी है कि वह बोल नहीं सकता। मनुष्य इसलिये दुःखी है कि वह बोल सकता और उसकी अति कर सकता है। एक इंग्लिश विचारक ने ठीक कहा है—The your tongue keep it with in the banks, a rapidly flowing river soon collects mud. अपनी जीभ को तुम तुम्हारे होठों के बीच बन्द रखो। क्योंकि जो नदी बेग से बहती है वह जल्दी गन्दी हो जाती है।

मनुष्य ने बोलकर दुःख पाया है, पर मौन से कभी एक दुःख पाया हो सुना नहीं गया है। अति बोलना भी एक छूत की बीमारी है। लोग उससे ही जमते हैं जितने कि एक दूरा के रोगी से।

दूसरा एक विचारक भी कहता है—Open your mouth and purse cautiously and your stock of wealth & reputation shall at least in repute be great. तुम अपना मुँह और पर्स सावधानी से खोलो ताकि तुम्हारी संपत्ति और कीर्ति बड़े और तुम यशस्वी और महान् बन सको।

साधक आसक्ति और वाचालता दोनों बचे।

टीका :— नानावर्णेषु, शब्देषु, रूपेषु, गन्धेषु, रसेषु, स्पर्शेषु, श्रोत्रादिप्राप्तेषु शुद्धिं वाक्प्रदोषं वा सम्यक् वर्जयेद् शुद्धिमान् पंडितः। गतार्थः।

पंच जागरओ सुता धन्यमुक्खस्स कारणा।

तस्सेव तु विणासाय पण्णे यट्ठिज्ज संतयं ॥ ६ ॥

अर्थ :—जाग्रत=अप्रमत्त मुनि की पांचों इन्द्रियां अल्प दुःख का हेतु बनती हैं किन्तु प्रज्ञाशील साधक (उनके विषय के) विनाश के लिये प्रयत्न करे।

गुजराती भाषांतर :—

जाग्रत, ऐष्टव्ये विनयशील येन मुनिनी पांचे इन्द्रियो थोडाधणु दुःखतो हेतु अने छे; परंतु शुद्धिमान् साधके (तेना) नाश भाटे कोशीश करवी घटे छे.

जिगकी इन्द्रियां जाग्रत हैं उसकी आत्मा सुप्त है और जितकी आत्मा जाग्रत हो उसकी इन्द्रियां सुप्त हैं। जब तक वनराज सोया रहता है तबतक शृगाल उछलते हैं, मृग चौकड़ी भरते हैं किन्तु जब वनराज जाग्रत होता है और उसकी दृष्टि से गिरिकंदराएँ गुंजित हो उठती हैं तो मृग चौकड़ी भूल जाते हैं, शृगाल जान लेकर झाड़ियों में दुबक जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जबतक आत्मा साव-निद्रा में सोया रहता है तबतक इन्द्रियां अपने विषयों की ओर दौबती हैं किन्तु जिस क्षण आत्मा जाग्रत होता है और ज्ञान के प्रकाश को पाता है तो इन्द्रियों के मृग चौकड़ी भरता भूल जाते हैं।

अर्हतर्षि आत्मजायति की प्रेरणा देते हुए हैं :—जाग्रत आत्मा की पाँचों इन्द्रियां सुप्त रहती हैं वे अल्प दुःख की कारण होती हैं । प्रज्ञाशील साधक उनकी अल्प विकृति भी दूर करे ।

टीका :— जाग्रतोऽप्रमत्तस्य मुनेरिन्द्रियाणि पञ्चसुप्तान्यात्मदुःखस्य कारणानि हेतवः कारणाद् वा दुःखस्योत्पाद्य-मानत्वात् तस्यैव विनाशाय संततं सदा प्राज्ञो वर्तेत । गतार्थः ।

प्रोफेसर शुब्रिन् लिखते हैं—३७ वें अध्ययन की भांति इस अध्ययन का मुद्रालेख भी पृथक् है । वह इस दुनिया का वर्णन करता है । भौतिक सुख दुःख आनन्द प्रमोद को दूर करने की प्रेरणा देते हैं । प्रस्तुत अध्ययन बौद्ध ऋषि के सुत्र से कहलाया गया है । दूसरे श्लोक द्वारा हम इस तथ्य को समझ सकते हैं । सूयगडोंग सूत्र के १, ३, ६ गाथाओं से साम्य रखता है । जो जेकोची के द्वारा शीलंक की टीका से हम जान सकते हैं और इसे बुद्धि के सामने रखा गया है । चतुर्थ श्लोक में आया हुआ बुद्ध शब्द जैन अर्थपरक है ।

वाहिकस्वयाय दुक्खं वा सुहं वा णणदेसियं ।

मोहक्खयाय एमेव सुहं वा जइ वा सुहं ॥ ७ ॥

अर्थ :— व्याधि के क्षय के लिये दुःखरूप या सुखरूप जो औषधियां होती हैं (वैद्य के) ज्ञान से वे उपदिष्ट हैं । इसी प्रकार मोह के क्षय के लिये जो भी सुखरूप साधना है वह शुरु से उपदिष्ट हैं ।

गुजराती भाषांतर :—

६२६ भटाडवा भाटे दुःखरूप के सुखरूप के जडीबुटी छे ते (वैद्यराने पोताना) ज्ञानधी न अवाभधु करेखी छे. आ न रीतधी मोहनों नाश करवा भाटे पणु के ऊँधपणु दुःखरूपी के सुखरूपी साधना छे ते शुरुना छिपदेशतुं इण छे.

शरीर में व्याधि है तो मनुष्य उसे दूर करने के लिए वैद्य की शरण लेता है फिर वह जो भी कड़वी या मीठी औषधी देता है उसे पी जाता है । इसी प्रकार मोह के क्षय के लिये हमें सद्गुरु के निकट जाना है जो भी मृदु या कठोर साधना बताएं उसे अपनाना होगा । मोह स्वयं एक व्याधि है । उसके अपने तक ही सीमित रहती है । “दूसरे एक हजार भर जाएंगे तो भी उसका रोम नहीं हिलेगा, किन्तु उसके अपने एक पर भी जहां प्रहार हुआ तो वह तिलमिला जायेगा । जब अपनी कलम से दूसरे के लिये फांसी का हुक्म लिख देता है, किन्तु जब उसी का पुत्र हत्या के अपराध में फसता है और अपराध सिद्ध हो जाता है और उसके लिये फांसी का आदेश लिखते उसकी कलम कांप जाती है । उस सौसो दलीलें याद आती हैं । वह बोल उठता है यह कैसा भी अमाननीय कानून है उसने आवेश में दूसरे के प्राण लिये कानून जान बूझकर उसके प्राण ले रखा है । एक में पगलपन था दूसरे के पास ज्ञान का दावा है । आखिर काम तो दोनों एक ही कर रहे हैं । किन्तु यहां जो भी दलीलें याद आ रही हैं वहां ज्ञान के शिखंडी बनकर पीछे से मोह बाण छोड़ रहा है ।

जब दूसरे भर रहे थे सब एक भी दलील याद नहीं आई । अब जो मानवता के प्रति हमदर्दी दिखाई जा रही हैं वह मानवता से नहीं; मोह से प्रेरित हैं । जहां मोह है वहां दुःख बैठा है ।

टीका :— व्याधिक्षयाय दुःखं वा सुखं यद् अदौषधं भवति तद् वैद्यस्य ज्ञानेन वैदितं दिष्टं, एवमेव मोहक्षयाय दुःखं सुखं वा यो य उपायो दिष्टो गुरुणा । गतार्थः ।

ण दुक्खं ण सुखं वा वि जहाहेतु तिगिच्छति ।

तिगिच्छएसु जुत्तस्स दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥ ८ ॥

मोहक्खए उ जुत्तस्स दुक्खं वा जइ वा सुहं ।

मोहक्खए जहाहेउ न दुक्खं न वि वा सुहं ॥ ९ ॥

अर्थ :—जिस हेतु को लेकर चिकित्सा की जाती है वहां सुख भी नहीं है और दुःख भी नहीं है । चिकित्सा में युक्त व्यक्ति (रोगी) को सुख और दुःख हो सकता है ।

इस प्रकार मो क्षय में युक्त (प्रवृत्त) व्यक्ति को सुख और दुःख हो सकते हैं किन्तु मोह क्षयका हेतु सुख और दुःख नहीं है ।

गुजराती भाषान्तर :—

जो कारणों ने भाटे व्यक्तिता करनेवालों आवे छे त्यों सुख पण नथी अने दुःख पण नथी, व्यक्तिता करनेवालों भाटे धीन्य (धीन) व्यक्तिने सुख के दुःखनी प्राप्ति थर्छ शक्ये छे.

आ प्रमाणे मोहक्षयमें युक्त (प्रवृत्त) व्यक्तिने सुख अने दुःख पण थर्छ शक्ये छे; परंतु मोहना नाशनुं कारण सुख अने दुःख नथी.

एक अस्वस्थ व्यक्ति औषधि लेता है उसका लक्ष्य है स्वस्थ होना। स्वास्थ्य और सुख दो भिन्न वस्तुएं हैं। हां, अस्वस्थता एक दुःख अवस्था है और इसीलिये स्वस्थ व्यक्ति बोल भी पड़ता है 'अब मैं रोग मुक्त हो सुख का अनुभव कर रहा हूं,' फिर भी हमें ध्यान रखना होगा स्वास्थ्य ही सुख नहीं है, बहुत से स्वस्थ व्यक्ति भी आंसू बहाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुखी नहीं है अस्वस्थ व्यक्ति सबसे पहले स्वास्थ्य चाहता है। अन्यथा अच्छा खाना सोना संपत्ति इच्छापूर्ति सभी जो सुख माने गये हैं रोगी इनमें से एक भी नहीं चाहते। वह मिठाइयों को ठुकरा देगा, सोने के सिंहासन से उतर जायेगा। इसलिए कि उसे स्वास्थ्य चाहिये।

अथवा यहां सुख और दुःख का यह भी अर्थ हो सकता है कि रोगी कड़वी या मीठी औषधि में नहीं लुभाता। उसका लक्ष्य है स्वस्थ होना। औषधि कटु है तब भी उसे लेना है और मीठी है तो स्वस्थ होने बाद उसे छोड़ना है। हां, चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति को सुख दुःख हो सकता है, किन्तु उसके लक्ष्य में सुख और दुःख नहीं है। ठीक इसी प्रकार मोह क्षय की साधना में प्रवृत्त साधक के सामने दुःख और सुख आ सकते हैं कभी मोह रौद्र रूप लेकर भी आता है। जब उसकी बात ठुकराई जाती है तो वह राक्षसी रूप लेकर भी प्रकट होता है। प्रवेशी के सम्मुख मोह का यही तो आया था और साधना के पथिक के सामने मोह मोहिनी का रूप लेकर भोग की भिला भी मांगता है, किन्तु साधक दोनों से परे रहता है और बोलता है। मैंने तुम्हारा वह रूप भी देखा है अर्थात् मेरी आंखें तुम्हारी सुन्दरता के साथ रौद्रता भी देख चुकी; अतः अब तुम्हारा जादू मेरे ऊपर चला नहीं सकता। साधक का लक्ष्य मोह क्षय कर आत्मा का निज रूप प्राप्त करना है। भौतिक सुख और दुःख उसके लक्ष्य नहीं हो सकते।

बहुधा एक तर्क उपस्थित किया जाता है मोक्ष में सुख है और उसकी प्राप्ति के लिये भाविक आत्मा प्रयत्नशील है किन्तु सुख पाने की लालसा भी एक प्रकार की आसक्ति है और फिर जब तक यह आसक्ति है तब तक मोक्ष कैसा? यहां उसका दिया गया है मोह से मुक्ति ही मोक्ष है। मोह से विमुक्ति अपने आपमें सुख या दुःखरूप नहीं है। सुख में राग है और दुःख में द्वेष है, जबकि मोक्ष दोनों से परे है। जैसे रोग मुक्त व्यक्ति को हम सुखी या दुःखी न कहकर स्वस्थ कहते हैं; ठीक इसी प्रकार मोह मुक्त आत्मा स्वस्थ है निज रूप में स्थित है।

एक प्रश्न और है—आगम में सिद्ध प्रभु को अनंत सुख बताया गया है। उसका क्या समाधान होगा? उसका उत्तर यह होगा कभी कभी हम स्वास्थ्य को सुख कह बैठते हैं जैसे कि रोग से मुक्त हो अब मैं सुखी हूं। वयं; ठीक इसी प्रकार मुक्तात्मा की स्वात्मस्थिति को आगम में सुख कहा गया है। इसी आत्मिक सुख की भौतिक सुख से तुलना करते कहा गया है। समस्त देवों और इन्द्रों से भी सिद्ध प्रभु का सुख अनंतगुना है। इसी आत्मस्थिति को सुख मानकर कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने निरानंदमयी वैशेषिकी मुक्ति का उपहास करते हुए कहा था—

सतामपि स्यात् कचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् ।

न संविदानंदमयी च मुक्तिः, सुसूत्रमासूत्रितमन्त्रदीयैः ॥

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लो० ६

वैशेषिक दर्शन के कुछ सिद्धान्तों की चर्चा यहां की गई है। न संविदानंदमयी च मुक्तिः “मैं एक लुपा ध्यंग है। वैशेषिक दर्शन बुद्धि आदि नौ गुणों के सर्वथा क्षय होने को मुक्ति मानती है। तथा मुक्ति को सुख निरपेक्ष मानते हैं। महर्षि गौतम भी वृन्दावन की कुंजगलियों में शृगाल होकर रहने में प्रसन्न हैं, किन्तु वैशेषिकी मुक्ति में जाने को तैयार नहीं है।”

१. यावदात्मा गुणाः सर्वे नोच्छिन्नवार्तेनादयः । तावदात्मन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न कस्यते ॥

२. वरं वृन्दावने रम्ये कोष्ठमभिवाञ्छितम् । न तु वैशेषिकी मुक्तिर्गौतमो गन्तुमिच्छति ॥

जैन दर्शन मोक्ष को भौतिक सुख दुःख से परे मानता है, पर आत्मा की स्वरूप स्थिति में एक सात्विक आनंद है उसमें इन्कार नहीं किया जा सकता ।

टीका:— न चिकित्सति कुर्वेद्यो यदि वा न चिकित्सते कुर्वेद्येन दुःखं सुखं वा यथाहेतु हेतुविशेषं विभज्य, किन्तु सामान्यचिकित्सिते वैद्यशास्त्रे सुयुक्तस्य कोविदस्य दुःखसुखे भवतः सुज्ञाते । एवमेव मोक्षक्षयेऽर्थेऽप्रज्ञानमार्गे सुक्तस्य मे सुज्ञाते नस्वयुक्तस्य हेतुविदोपगोऽनयोः श्लोकयोरर्था ग्रहीतुमसम्भवतः ।

अर्थात् टीकाकार का मत कुछ भिन्न पड़ता है । कुर्वेद्य योग्य चिकित्सा नहीं करता । अर्थात् जैसे अनाड़ी वैद्य रोगी के दुःखदर्द को न जानकर रोग की ठीक चिकित्सा नहीं करता है । किन्तु आसुर्वेद का ज्ञाता निपुण वैद्य रोगी के सुख को समझकर योग्य चिकित्सा करता है । इसी प्रकार मोक्ष क्षय में अर्थात् ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति आत्मा सुख दुःख को जानता है । किन्तु आत्म-स्वभाव को न जाननेवाला व्यक्ति सुख और दुःख के सही रूप को भी जान नहीं सकता ।

तुच्छे जणंमि संवेगो निवेदो उत्तमे जणे ।

अत्थि तादीण भाषाणं विसेसो उवदेसणं ॥ १० ॥

अर्थ:— तुच्छ मनुष्यों में संवेग रहता है और उत्तम मनुष्य में निवेद रहता है । तीन भावों के अस्तित्व में विशेष रूप किया जाता है ।

गुजराती भाषान्तर:—

हीन मनुष्यों में संवेग (मोक्ष प्राप्ति भाटे छिछा) होय छे; अने उच्च मानवों में निवेद (विषयो में आसक्ति) होय छे. हीनभावोना अस्तित्व में (विशेषरूप में) आस उपदेश आपवामां आवे छे.

आत्मा का मोक्षाभिमुख प्रयत्न संवेग है । अनंत अनंत युग से आत्मा गति कर रहा है । भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़ रहा है । किन्तु इसका वेग विषम है । उसके प्रयत्न उसे दुःख की ओर ही ले जाती है । किन्तु जब वह स्वात्मोपलब्धि के लिये प्रयत्न करता है वही उसका संवेग है । विषयों के प्रति अनासक्ति निवेद है । आचार्य सिद्धसेन संवेग और निवेद की व्याख्या करते लिखते हैं—नरकादि गतियों को (उनके दुःखों को) देखकर मन में एक भय पैदा होता है । वह संवेग है और विषयों में अनासक्तिमान निवेद है ।

प्रस्तुत व्याख्या के अनुरूप यहां पर अर्हतर्षि बना रहे हैं कि तुच्छ जनों निर्धन प्राणियों में संवेग प्रमुख रहता है । क्योंकि उन्हें यह भय रहता है कि वहाँ दुर्गति में चला नहीं जाऊं पहले के अशुभ कर्मों के उदय से मैं साधन विहीन घर में आया हूं और यदि अब भी अशुभ कर्मों में लिप्त रहा तो दुर्गति का पथिक बनूंगा ।

जो साधनसंपन्न है । लक्ष्मी के पायलों की झंकार के साथ जहां सुरा और सुन्दरियों की कीड़ा होती है; किन्तु एक दिन उनके मन में उसके प्रति घृणा हो जाती है और वे कह उठते हैं इन मधुर गीतों में स्वदन की ध्वनि आ रही है । सभी नाटकों के पीछे दिङ्मना को मेरी आंखें देख रही हैं । सभी अलंकार मेरे लिये भार रूप हैं और सभी सुख के साधन मुझे कांटे से चुभ रहे हैं और वह उनसे अलग हो निर्जन वन की शीतल शान्ति में आश्रम खोजता है ।

यद्यपि संवेग और निवेद ऐसे नहीं हैं कि उन्हें गरीब और अमीर में विभक्त किया जा सके फिर भी बाहुल्य और परिस्थिति के प्राधान्य को लक्षित करके ऐसा कहा जाता है । साथ ही गरीबी के अस्तित्व में उपदेश विशेष दिया जाता है और उसका असर भी जल्दी होता है । क्योंकि वैराग्य की प्रसन्न भूमि दुःख ही है । भीष्म ग्रीष्म में ही आम रसदार बनता है । दुःख के भीष्म ग्रीष्म में ही मानव में माधुर्य आता है । जब तक बांस तीखे चाकू के प्रहर को सह नहीं केता तब तक उसमें से मधुर स्वर जहरी निकल नहीं सकती । एक इंग्लिश विचारक बोल्ता है:—

Is not the lute that soothes your spirit the very wood that was hallowed with knives?—खलील जिब्रान यह बांसुरी जो दिल के दर्द को हर लेती है क्या वही बांस का टुकड़ा नहीं है जिसमें चाकू से छेद किये गये थे ?

दुःखों के प्रहार सहकर ही मानव में मृदुता आती है और वही उपदेश को श्रवण कर सकता है।

टीका:— संवेगो नरकादिगत्यवलोकनात् संभीनिर्विर्वेदो विषयेष्वनभिपङ्ग इति सिद्धसेनः। तुच्छे निःसारे जने संवेग इत्युत्तमे तु निर्वेद इत्येतौ दीनानां जनानां भार्यौ यदि वा दीनी च भवतो भार्या चेति दीनभावो तयोर्विशेषस्तयोर्विशेषमधिकृत्य तावदुपदेशनमप्युपदेशोऽस्ति, ज्ञानं लोकानामभ्यासमधिष्ठारूपं विना नास्त्युपदेश इति भावः।

अर्थ:—संवेग निर्वेद की व्याख्या ऊपर आ चुकी है। शेषार्थ इस प्रकार है तुच्छ/निःसार मनुष्य में संवेग और उत्तम मनुष्यों में निर्वेद होता है। ये दोनों हीन मनुष्यों के भाव हैं, अथवा ये दोनों हीनभाव हैं उनकी विशेषता को लक्ष्य करके उपदेश दिया गया है। अध्यात्म विद्या-रूप ज्ञान के अभाव में उपदेश नहीं हो सकता।

सामान्ये गीतणीमाणा विससे मम्मवेदिणी।

सव्वण्णु-भासिया वाणी पाणावत्थोदयंतरे ॥ ११ ॥

अर्थ:—सर्वज्ञ भाषित वाणी नाना अवस्था और उदय (कमोदय) के भेद से सामान्य पुरुषों में गीत रूप बनकर रह जाती है; जबकि विशेष पुरुषों के मर्म को वेध देती है। अर्थात् उनके हृदय को स्पर्श कर जाती है। अथवा नाना अवस्था और उदय के अन्तर से बीतराग की वाणी सामान्य होती है और विशेष में मर्म वेदिनी होती है।

गुजराती भाषान्तर:—

सर्वज्ञभाषित वाणी अनेक अवस्था अने उदय (कमोदय) ना भेदधी सामान्य मनुष्योंमां गीतरूप अनीने रहे छे; ज्यारे विशेष मानवोना मर्मोने वेधे छे. ओटवे तेना हृदयने स्पर्श करी जाय छे. अगर अनेक अवस्था अने उदयना अंतर्धी बीतरागनी वाणी सामान्यरूपमां थाय छे; अने विशेषमां मर्मवेदिनी होय छे.

पूर्व गाथा में बताया है दीनवस्था में उपदेश का असर विशेष होना है। ऐसा क्यों होता है? तीर्थंकर देव की वाणी समस्त से बढ़ती है फिर परिणाम में अन्तर क्यों आता है? उसी का उत्तर यहां दिया गया है। सर्वज्ञ देवों कि वाणी सब सुनते हैं, किन्तु जो केवल श्रवण का साधुर्थ पाने के लिये पहुंचते हैं उनके लिये वह संगीत बनकर ही रह जाती है; किन्तु जो विशेष भूमिका पर पहुंच चुके हैं उनके लिये वह वेदिनी है। यही तो कारण है गजसुकुमार जैसे ने एक ही देशना सुनी थी, किन्तु आत्मा जागृति की वृद्ध लहर आई कि भोग और वासना के बन्धन तोड़कर वे चारित्र्य के पथ पर चल पड़े। वाणी का असर होने के लिये व्यक्ति की भूमिका और कमोदय भी कारणी भूत होता है। भूमिका शुद्ध है तो सामान्य से बीज और हलकी सी वर्षा भी काम कर जाएगी। भूमि ऊसर है तो न बीज काम कर सकते हैं, न वर्षा ही कुछ कर सकती है।

उपादान शुद्ध हो, अन्तर की जागृति हो तथा वाणी के बीज प्रतिकलित हो सकते हैं। यही कारण है कि आज के बहुत से श्रोता प्रवचन सुनते हैं। उसमें भीगते भी हैं और प्रवचन हॉल से बाहर निकलते हैं तब बोल उठते हैं महाराज ने बहुत सुंदर कहा; ऐसी बात कही कि श्रोता हिल उठे। किन्तु जीवन में परिवर्तन का प्रश्न आता है वही श्रोता एक कदम पीछे हट जाते हैं। प्रवचन प्रतिदिन सुनना। मधुर कंठ से दिया गया प्रवचन उन्हें सुनना है। वह इसलिये कि कानों को प्रिय लगता है। इसका मतलब यह हुआ आज प्रवचन केवल कानों के लिये है, जीवन के लिये नहीं। दूसरे शब्दों में वह श्रवणेन्द्रिय का व्यसन मात्र रह चुका है।

प्रस्तुत गाथा की दूसरी व्याख्या के अनुसार जब तीर्थंकर देव देशना देते हैं जब उनकी देशना कभी सामान्य वस्तुत्व का स्पर्श करती है तो कभी विशेष का विश्लेषण करती है। सामान्य और विशेष के दोनों तटों को छूकर ही देशना की धारा बढ़ती है। वस्तु का केवल वस्तु रूप में परिचय सामान्य दर्शन कहलाता है और उसकी भीतरी विशेषताओं का परिचय दर्शन की भाषा में विशेष कहलाता है। भवन को भवन के रूप में देख लेना सामान्य दर्शन है पर उसके खंड उपखंड प्रकोष्ठ उनमें रही हुई वस्तुएं उसका स्वामी आदि का परिचय प्राप्त करना विशेष है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर भी कहते हैं—

तीर्थंकर देव की देशना संग्रह (सामान्य) और विस्तार (विशेष) के मूल को बतानेवाली है। संग्रह नय स्पर्शक देशना द्रव्यास्तिक नयों का उद्भव स्थल है तो विशेष वादक अंश पर्यायनयों की प्रसव भूमि है। शेष नय उन्हीं के विकल्प है।

१ तित्थंकरवणसंग्रहपत्थारमूलवागवर्णी.। द्वाव्हिय पञ्जवणमाथ सेसापियव्वासि।

—सन्मतिप्रकरण काण्ड १ कोक २.

तीर्थंकर देवों की देशना सामान्य रूप में गीति प्रधान है किन्तु विशेष में मर्मस्पर्शी है। किन्तु उसकी मर्मस्पर्शिता श्रोता की पात्रता और उसकी क्षेत्र विज्ञप्ति पर आधार रखती है।

टीका:— नानावस्थोदयान्तरे पुरुषाणां भिन्नावस्था अनुसृत्य सर्वज्ञैस्तीर्थंकरैर्भाषिता वाण्युपदेवाः सामान्येन गीतनिर्माणोपदिष्टरूपपरिणामा भवति, विशेषे तु मर्म-वेधिनी प्रत्येकपुरुषस्य चिह्नमिति । गतार्थः ।

सत्त्व-सत्त-दयो वेसो, नारंभो नपरिग्रही ।

सत्तं तवं दयं चैव भासंति जिणसत्तमा ॥ १२ ॥

अर्थ:— जिनेश्वर देव समस्त प्राणिनों पर दया, वैश-मुनि का रूप और अनारंभ अपरिग्रह सत्त्व सद्भाव, तप और दया का उपदेश करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर:—

जिनेश्वरदेव अधा शुचो उपर दया, वेस (मुनिनुं रूप) अने अनारंभ, अपरिग्रह सत्त्व सद्भाव, तप, अने दयानो उपदेश करे छे.

पूर्व गाथा में बताया गया है कि तीर्थंकर देव की देशना सामान्य रूप में गीत रूप है और विशेष में मर्मवेधिनी है। वह मर्मवेधित यहाँ स्पष्ट की गई है। उस शुद्ध आत्मा से प्रस्फुटित वाणी में सबके प्रति दया की पवित्र भावधारा बह रही है। सबका हित और सबका विकास चाहनेवाली वाणी वीतराग की वाणी है। सर्वोदय की यह पवित्र देशना हजारों युग पहले जिनेश्वर के मुख से प्रवाहित हुई थी। आचार्य समन्तभद्र भी कहते हैं—ओ वीतराग! आपका शासन ही सर्वोदय की प्रेरणामूर्ति है।^१ राजतंत्र में प्रजा की उपेक्षा है प्रजातंत्र में अल्प मत उपोक्षित है, किन्तु जिनेश्वर के शासन में एकेन्द्रिय तक के आविकसित जीवों के हित सुरक्षित है। उस सुरक्षा का दायित्व दिखाता हुआ मुनिवेष उन्होंने निर्धारित किया है। साथ ही सर्वोदय की प्रतिज्ञा लिये चलनेवाले साधक को आरंभ और परिग्रह से भी दूर रहना होगा। क्योंकि आरंभ अल्प विकसित जीवों को कुचलता है। महारंभ गरीबों की रोटी रोजी छीनता है। परिग्रह शोषण करता है, अतः वीतराग के सर्वोदय शासन में इनको स्थान नहीं है। वीतराग देव तप और दया के द्वारा आत्मिक शक्ति को जागृत करने की प्रेरणा देते हैं। उनकी वाणी में सत्य दया और तप की त्रिपद्मशा (गंगा) बहती है। स्वतंत्र का अवबोध उसका ध्येय है। तप आदि उस स्वरूप स्थिति तक पहुँचने के सोपान हैं।

टीका:— सर्वसत्त्वदयो वेसो लिङ्गलक्षितं मुनिवर्गं भवत्यनारंभो परिग्रहश्च सत्त्व-सद्भावं तपो दानं चैव जित-सत्तमा भाषन्ते । गतार्थः ।

दंतिन्द्रियस्स वीरस्स किं रण्णेणास्समेण वा ।

जत्थ जत्थेय मोडेज्ज तं रण्णं सो य अस्समो ॥ १३ ॥

अर्थ:— दमितेन्द्रिय वीर के लिये अरण्य और आश्रम से क्या प्रयोजन है? जहाँ जहाँ मोड़ का अन्त है वहीं अरण्य है और वही आश्रम है।

गुजराती भाषान्तर:—

जेना इन्द्रियो पर संयम छे तेवा वीरने भाटे अरण्य अने आश्रमनुं शुं काम छे? जहाँ जहाँ मोड़नो अंत छे, त्यां ज अरण्य छे अने त्यां ज आश्रम छे.

यह कोई जरूरी नहीं है कि आत्मा साधना के लिये वन में ही जाना चाहिये। यदि वन में पहुँचकर भी वृत्तियों पर विजय करते नहीं आया तो वन में भी वासना उभर सकती है। वासना का पिपासु वन में भी आत्मशान्ति नहीं पा सकता। जबकि इन्द्रियजेता साधक महलों में रहकर सी कैवल्यज्ञान पा सकता है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि कैवल्यज्ञान पाने के लिये महलों में रहना अवश्य है। जैनदर्शन स्थान को नहीं स्थिति को महत्त्व देता है उसका यह भी आग्रह नहीं है कि आप वन में ही रहें। वहाँ रहेंगे तभी कैवल्य पा सकेंगे। वह यह भी नहीं कहता कि आप महलों में वासना की लहरों में डूब रहें। वह तो चाहता है आप अपने में रहें। अपने निज घर में पहुँचे। आत्मा पर घर में भटक रहा है, इसी लिये तो विडम्बना है। कवि बनारसी दासजी भी कहते हैं:—

^१ सर्वोदयमित्र शासनं तवैव ।—आचार्य समन्तभद्र.

हम तो कबहुं न निज घर आये ।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये ।
पर पद निज पद मानी मगन हैं ।
पर परिणति लिपटाये ।

मोह दशा ही आत्मा की स्वस्थिति में पहुंचने के सब से बड़ी बाधक शक्ति है । जहां मोह का अन्त है वही मोक्ष है, फिर मोक्ष के लिये एक इंच भी इधर उधर हटने की आवश्यकता नहीं है । क्यों कि जितना बड़ा मानव-क्षेत्र है उतना ही विशाल सिद्धक्षेत्र है । अतः स्थान नहीं, किन्तु वृत्तियों को बदलने की आवश्यकता है ।

किमुदंतस्स रण्णेण दंतस्स वा किमस्समे ? ।

णात्तिकंतस्स मेसज्जं ण वा सत्थस्स मेज्जता ॥ १४ ॥

अर्थ :—इन्द्रिय जेता के लिये जंगल क्या और दान्त (दमनशील) व्यक्ति के लिये आश्रम क्या ? अर्थात् उसके लिये वन और आश्रम दोनों सम हैं । रोम से अतिक्रान्त-मुक्त व्यक्ति के लिये औषध की आवश्यकता नहीं है और शस्त्र के लिये अमेद्यता नहीं है, वह सबको भेद सकता है । अथवा मर्यादाहीन के लिये कोई औषध नहीं है । और स्वस्थ व्यक्ति को औषध की आवश्यकता नहीं है ।

गुजराती भाषान्तरः—

इन्द्रिय छेपर जय पावेला वीरने माटे जंगल शुं अने दान्त (दमनशील) भाखुस माटे आश्रम शुं ? छेष्टले जने माटे वन अने आश्रम छे जने सरभाज छे. भादगीथी अतिक्रान्त (मुक्त शयैला) भाखुस माटे दवानी जइरी ज नथी अने शस्त्रने माटे अलेद्यता नथीज; छेभ छे ते अधानि छेही शडे छे. अथवा मर्यादारहित मानवने माटे कुंछ छेलाज नथी, अने तेवा भाखुसने माटे दवानी जइरी पाशु नथी.

वन में जाने मात्र से इन्द्रियों पर काबू हो जायगा यह धारणा गलत है, क्योंकि जंगल का हिमालय में ऐसी जड़ी-बुड़ी नहीं है जो मन पर विजय दिया सके । उद्धिप्त चित्तवाले व्यक्ति के लिये वन का शान्त वातावरण भी शान्ति नहीं दे सका । मन में शान्तिधारा बह रही है, तो मनोहर वनस्थली उसमें पवित्रता का संचार कर सकती है । अन्यथा मन ही दूषित है, वनस्थली उसे रोक नहीं सकती । रावण वन से ही तो सीता को ले गया था । अतः वन में आत्मशान्ति मिल ही जायेगी ऐसा नहीं कहा जा सकता । अन्यथा वनविहारी सभी हिंस्र पशु भी सन्त होते । ।

भगवान् महावीर ने अपने अंतिम प्रवचन में कहा था—

न मुंडिपुण-समणो न ओंकारेण वंभणो ।

न मुणी रण्णवासिणं कुसचीरेण तावसो ।

केवल मुंडित होने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो जाता और ओंकार के जाप से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता । जंगल में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं कहला सकता । बल्कल वस्त्र धारण करने मात्र से कोई तापस नहीं हो जाता ।

अतः कपड़े नहीं; मन बदलने की आवश्यकता है । स्थान नहीं स्थिति बदलिये ।

टीकाः— किमु दान्तस्सारण्येनाश्रमेण वा ? न किंचिदित्यर्थः । यथातिक्रान्तस्य रोगाद्विमुक्तस्य पुरुषस्य भैषज्यं नास्ति । न च शस्त्रस्यामेद्यता, तद्धि स्वभावाद्भेद्यमेव । गताश्वः ।

सुभाव-भावितप्पाणो सुण्णं रण्णं धणं पि वा ।

सब्बं पतं हि ज्ञाणाय सल्ल-चित्तेव सल्लिणो ॥ १५ ॥

अर्थः—स्वभाव से भावित आत्मा के लिये शून्य वन और धन सभी एक समान हैं । वे सभी वस्तुएं उसके लिये उसी प्रकार धर्म ध्यान की निमित्त होती हैं जैसे कि सशल्पाचित्त वाले के लिये आर्तध्यान की ।

१ वनेऽपि रोषाः प्रभवन्ति रात्रिणां, गृहेऽपि वनेन्द्रवनिग्रहं तपः ।

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

સ્વભાવથી આધિત આત્મા માટે નિર્જન જંગલ અને સૂનું જંગલ અને ધનથી પૂર્ણ જંગલો એકસરખાં છે. તે બધી વસ્તુઓ તેને માટે તે જ રીતે ધર્મધ્યાનના નિમિત્ત થાય છે જેમ કે સશસ્ત્ર અંતઃકરણના માધ્યમ માટે આર્તધ્યાન.

જિસકી આત્મા સ્વભાવ સે માધિત હૈ, આગમ કી ભાષા મેં જિસે નિર્ગો રુચિસંપન્ન કહા જાતા હૈ વહ સૂને વન કે દેશાન્ત કોને મેં રહે યા સ્વર્ણ પ્રાસાદોં મેં રહે વહ સમી સ્થલોં પર આત્મ-સાધના મેં લીન હો સકતા હૈ । જિસને મન કો સાધ લિયા હૈ મૌલિક રાગ કે બન્ધન ઉસે બાંધ નહીં સકતે । ઉસકે લિયે વન ક્યા ઔર પ્રાસાદ ક્યા ? ઉસકે લિયે મિટ્ટી કા પાત્ર મી સ્વર્ણ-પાત્ર હૈ ઔર સ્વર્ણ-પાત્ર મી મિટ્ટી સે અધિક મૂલ્યવાન્ નહીં હૈ । ગીતા કી ભાષા મેં યહ સ્થિત-પ્રજ્ઞતા હૈ । વહ સબ મેં રહકર સબ સે પરે રહતા હૈ । વહ સમસ્ત વિચારોં સે દૂર રહકર અપને દ્વારા અપને આપ મેં સંતુષ્ટ રહતા હૈ ।^૧

જિસકે મન મેં વાસના કી ડાહ અવશેષ હૈ વહ વન મેં પહુંચેગા તબ મી વાસના કે પ્રસાધન હી જુટાઈગા । યે વન ઔર ધન ઉસકે લિયે આર્તધ્યાન કે હેતુ બનૈંગે । સ્થાન કા મી મહત્ત્વ હૈ પર વહ સાધના કી પ્રાથમિક ભૂમિકા તક સીમિત હૈ, અકલાય કી ભૂમિકા પર પહુંચને કે બાદ સાધક કહીં મી રહે ઉસકે ચિત્ત મેં વિકૃતિ પ્રવેશ નહીં પા સકેગી ।

ટીકા:—સુભાવેન માવિતાત્માનઃ શૂન્યમિવ દશ્યતેઽરણ્યં ગ્રામે વા ધનં સર્વમેતદિ જગદ્ ધર્મધ્યાનાય તસ્ય ભવતિ યથા શલ્યવતશ્ચિત્તે શલ્યમાર્તધ્યાનાય ।

અર્થાત્ સુન્દર ભાવોં સે માધિત આત્માએ આકાશ વત્ નિર્લિપ્ત રહતી હૈં । વન ગ્રામ ઔર ધન સારા વિશ્વ ઉસકે લિયે ધર્મ ધ્યાન હેતુ હોતા હૈં, જૈસે કિ સશલ્યચિત્ત વાલે કે લિયે આર્તધ્યાન કા ।

દુઃખરુવા દુરંતસ્સ ણાણવથા વસુંધરા ।

કમ્મા-દાણાય સઙ્ગં પિ કામચિત્તે વ કામિણો ॥ ૧૬ ॥

અર્થ:—નાના રૂપ મેં સ્થિત વસુંધરા દુરંત વ્યક્તિ કે લિયે દુઃખ રૂપ ઔર કર્માદાન કી હેતુ હૈ । જૈસે કામી વ્યક્તિ કે લિયે સારી સૃષ્ટિ કામોત્પાદક હોતી હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

નાના રૂપોમાં રહેલી આ પૃથ્વી દુરંત વ્યક્તિને માટે દુઃખરૂપી અને કર્માદાનમાં કારણ અને છે. જેમ કે કામી, વ્યક્તિને માટે તો આખું વિશ્વજ કામોત્પાદક અને છે.

વિચિત્રતાઓ સે ભરી વિશાલ સૃષ્ટિ મેં માધુર્ય હૈ કિન્તુ ઝિસકા મન-વેદના સે પીડિત હૈ ઉસકે લિયે દુઃખદ હી હૈ । ઉવરપ્રસ્ત વ્યક્તિ કે લિયે શીતલ સુરમિત પવન મી કષ્ટપ્રદ હી હૈ । સૃષ્ટિ ન અપને આપમેં સુખ રૂપ હૈ, ન દુઃખ રૂપ । ઝિસ દૃષ્ટિ કો લેકર ચલૈંગે ઉસી રૂપ ડલતી હુઈ દિસાઈ દેગી । ચકોર કે લિયે ચન્દ્ર માધુર્ય કા આગાર હૈ તો ચક્રવે કે લિયે ચન્દ્ર કી ચક્ષલ ચન્દ્રિકા મી દુઃખ કી સૃષ્ટિ કરતી હૈ । દૃષ્ટિ કા મેદ હૈ । દૃષ્ટિ વદલિયે તો સૃષ્ટિ બદલ જાઈગી । અર્હતાર્થે હસી તસ્ય કા ઉદ્ઘાટન કર રહે હૈં । વેદના સે છટપટાતે વ્યક્તિ કે સારી સૃષ્ટિ ઉસી પ્રકાર દુઃખ કા સંદેશ દેતી હૈ જૈસે કિ કામી કે લિયે સારી સૃષ્ટિ કામ કી પ્રેરણા દેતી હૈ ।

ટીકા:—દુરંતસ્ય તુ ધિસે નાનાવથા વસુંધરા=પૃથિવી દુઃખરૂપા સર્વજ્ઞ કર્માદાનાય ભવતિ, યથા કામિનશ્ચિત્તે કામઃ । ગતાર્થઃ ।

સમ્મસં ચ દ્યં ચેય ણિણિદાણો ય ઓ દમો ।

તવો જોગો ય સઘવો પિ સઙ્ગકમ્મલયંકરો ॥ ૧૭ ॥

અર્થ:—સમ્યક્ત્વ, દયા, નિદાન-રહિત સંયમ ઔર ઉસસે હોનેવાળા સમસ્ત (જુમ) યોગ સમી કર્મોં કો ક્ષય કરને વાળા હૈ ।

ગુજરાતી ભાષાન્તર :—

સમ્યક્ત્વ, દયા, નિદાન રહિત સંયમ અને તેનાથી થાય એવા બધા (જુલ) યોગ બધાં કર્મોંનો નાશ કરે છે.

૧. પ્રજહાતિ યદા કામાન્ સર્વાન્ પાર્થ ! મનોગતાન્ । આત્મન્યેવાત્મના લુપ્તઃ સ્થિતપ્રજ્ઞસદોચ્યતે ॥—ગીતા.

पूर्व गाथा में दृष्टि बदलने की प्रेरणा दी गई है यदि दृष्टि बदल चुकी है बाह्य से हटकर अंतर की ओर मुड़ चुकी है तो साधक सत्य को पा चुका है। अब उसकी दृष्टि सम्यक्दृष्टि है। वह वस्तु के प्राणतत्त्व का पारसी है। उसके हृदय में प्राणिमात्र के प्रति दया का निर्झर बह रहा है। उसकी साधना निदान=फलासक्ति रहित होती है। फिर उसकी समस्त शक्ति कर्मक्षय करने में प्रवृत्त हो जाती है।

सा त्थकं थवि आरंभं जाणेज्जा य णिरत्थकं ।

पाडिहत्थिस्स जो एतो तडं चातेति चारणो ॥ १८ ॥

अर्थ:—आरंभ सार्थक भी होता है और निरर्थक भी। प्रति हस्ति के लिये हाथी कभी तट को तोड़ देता है।

गुजराती भाषान्तर:—

કાર્યની શરૂઆત સાર્થક (ફળદાયક) પણ બને છે અને નિર્થક (ફાયદાનગરનું) પણ બને છે. કેમકે પોતાના પ્રતિકંદ્રી (હરીફ) હાથીને લીધે હાથી કિનારાને પણ તોડી નાંખે છે.

जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जानेवाला आरंभ सार्थक आरंभ है, दूसरे शब्दों में अर्थ दंड है, किन्तु मनोरंजन के लिये दूसरे का उत्पीड़न निरर्थक हिंसा है=अनर्थक दंड है। उपेक्षा और प्रमाद के द्वारा होनेवाली हिंसा अनर्थ दण्ड है। साथ ही आवश्यकता से अधिक संग्रह भी अनर्थदंड के अन्तर्गत आता है।

अहिंसा का उपासक श्रावक अर्थदंडकों से नहीं बच सकता तो उसे अनर्थ दंड से अवश्य बचना चाहिये। गृहस्थ जीवन की जबाबदारी निभाते हुए श्रावक कभी कभी अन्याय के प्रतिकार के लिये आततायी को दंड देना पड़ता है। इस रूप में वह स्थूल हिंसा का समाश्रय लेता है फिर भी वह अपनी व्रत मर्यादा से पीछे नहीं हटता क्योंकि उसके मन में अहिंसा की भावधारा बह रही है।

अर्द्धतर्पि बता रहे हैं प्रति हस्ति=विरोधी यूथ के आक्रमक हस्ति को हटाने के लिये हाथी कभी कभी अपने तट को तोड़ देता है। इसी प्रकार श्रावक भी अपने परिवार की रक्षा के लिये प्रतिकारात्मक हिंसा का आश्रय लेता है, श्रावक निरपराधी व्यक्तियों को द्वेष भुक्ति से मारने का प्रत्याख्यान है। सापराध के लिये वह मुक्त है। यदि कोई उसके परिवार पर आक्रमण कर रहा है और वह कायर की भाँति भगोडापन दिखाता है तो अपने कर्तव्य से व्रष्ट होता है। कायरता स्वयं एक पाप है। क्योंकि उसमें मानसिक हिंसा छिपी हुई है। कायर हिंसा नहीं करता है ऐसी बात नहीं है वह हिंसा कर नहीं सकता। चूहा बिल्ली को मार नहीं सकता तो क्या वह अहिंसक है? कायर को मारना क्या मरना भी नहीं आता। जीवन के मैदान में वीर एक बार मरता है तो कायर अनेक बार मरता है। एक विचारक भी कहता है—Cowards die many times before their death the valiant taste death but once. जैनदर्शन में कायरता को स्थान नहीं है। फिर भी श्रावक को सहेतुक और निहेतुक आरंभ का विवेक तो रखना ही चाहिये और महारंभ से हटकर अल्पारंभ पूर्वक जीवन जीने की कला सीखना चाहिये।

टीका:—सार्थकमर्थसहितमिवारम्भं करणं निरर्थकं जानीयात् । यथा प्रतिहस्तिनं पश्यंस्स चातयति वारणः ।

जस्स कज्जस्स जो जोगो साहेतुं जेण पच्चलो ।

कज्जं वज्जेति तं सव्वं कामी वा णग्गमुंडणं ॥ १९ ॥

अर्थ:—जो जिस कार्य के लिये योग्य है वह उसी काम को करे, किन्तु जिस कार्य में जिसका विश्वास नहीं है वह उस कार्य को छोड़ देता है। जैसे कि कामी पुरुष नम्रत्व और मुण्डनत्व को छोड़ देता है।

गुजराती भाषान्तर:—

જે માણસ જે કામ માટે લાયક છે તે તે જ કામ કરે, પરંતુ જે કામમાં જેનો વિશ્વાસ નથી તે તે કામને છોડી દે છે; જેમ કેમાસકત માણસ નમ્રત્વ અને મુંડનત્વને છોડી દે છે.

जो व्यक्ति अपने बल और योग्यता के अनुरूप कार्य का चुनाव करता है वह उसमें सफल हो सकता है। हर व्यक्ति के मन में महत्वाकांक्षा होती है और बड़े बड़े काम करना चाहता है। महत्वाकांक्षा रखें और महान् काम भी करें, किन्तु प्रत्येक कार्य के प्रारंभ करने के पूर्व अपने आपको तोल लेना चाहिए। पत्थर उठाने की ताकत नहीं है और पहाड़ उठाने चल पड़े तो परिणाम में निराशा ही प्राप्त होगी। हमारी महत्वाकांक्षाएं शक्ति से संतुलित हों। पहाड़ फिर पहले पत्थर उठाने

की कोशिश करें तभी हमारी महत्वाकांक्षाएं यथार्थ की धरती पर उतर सकेंगी। अन्यथा ऐसी महत्वाकांक्षाएं केवल मनोहर स्वप्न बनकर रह जाती हैं। एक विचारक ने कहा है:—Ambition is so powerful a passion in the human breast that however high we are never satisfied. "महत्वाकांक्षा मानव-हृदय की इतनी शक्तिशाली अभिलाषा है कि हम कितने ही ऊंचे पद पर पहुंचे संतुष्ट नहीं होते।" मेक्सवेली.

भगवान् महावीर ने साधक को प्रेरणा दी—हर साधना प्रारंभ करने के पूर्व तू अपनी शक्ति को तोलना। अपनी स्थिति का स्पष्ट अवलोकन करने के बाद ही आगे कदम रखना, ताकि तुझे आधे मार्ग से वापिस न लौटना पड़े।

जाणेज्जा सरणं धीरो ण कोटिं देति दुग्गतो ।

ण सीहं दण्डियं छेदं पेयं भोज्या हि जेषुअं ॥ २० ॥

अर्थ:—धीर पुरुष जो शरण दे सकता है वह (अजेय) किले से युक्त कोटि-पर्वत शिखर भी शरण नहीं दे सकता। दस सिंह कुशल हाथी को मार नहीं सकता और जम्बूक शृगाल उसे खा नहीं सकता।

गुजराती भाषांतर:—

धैर्यशाली माधुस नेटलु रक्षायु आभी शके छे, नेटलु रक्षायु छती न शक्य अवा द्विधाथी युक्त करोओ पछाओना शिपर पयु रक्षायु आभी शकता नथी. भद्रो-भक्त सिंह आवाक हाथीने भारी शकतो नथी अने शियाण तेने आछी शकतो नथी.

प्रस्तुत गाथा में अर्हतापि बता रहे हैं साधक धीर पुरुष का ही शरण ग्रहण करे। धैर्यशाली महापुरुष ही दूसरे को शरण दे सकते हैं। यदि सर्प पीछा कर रहा है तो शक्तिशाली गरुड ही बचा सकता है, किन्तु मेंढक की शरण में गये तो वह क्या शरण दे सकेगा? महापुरुष का जीवन विशाल वृक्ष का जीवन है जो दुःख की धूप को अपने ऊपर झेलते हैं, किन्तु अपने शरण में आये हुए को शीतल छाया ही प्रदान करते हैं। भगवान् महावीर को शरण लेकर ही चमरेन्द्र प्रथम स्वर्ग लोक तक पहुंच सका और उसने शकेन्द्र को युद्ध के लिये ललकारा और जब शकेन्द्र वज्र ज्वालाएं छोड़ता हुआ उसके प्राण लेने आया तो भगवान् महावीर की शरण ही उसे बचा सकी। यह घटना उस समय हुई जब कि भगवान् महावीर सुसुमार नगर में दीक्षा लेने के बाद ग्यारहवें वर्ष में तप कर रहे थे।

महापुरुष की शरण जिस ढंग से रक्षा कर सकती है वैसी रक्षा विशाल पर्वत के उच्च शिखर पर स्थित कोट भी नहीं कर सकता।

प्रस्तुत गाथा की द्वितीय पंक्ति में दर्पित सिंह कुशल हाथी और जम्बूक का वर्णन आता है, किन्तु उसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सका। दर्पित सिंह कुशल हस्ति को मार नहीं सकता। पर जम्बूक क्या करता है वह हाथी को नहीं खाता तो वह खा भी कैसे सकता है? इसके पीछे कोई कहानी होनी चाहिए जोकि उस युग में प्रसिद्ध होगी।

अर्थात् धीर को शरण भूत समझना चाहिये। अजेय दुर्ग से मुक्त गिरिशिखर शरण भी नहीं दे सकता। दस सिंह अथवा कुशल हस्ति को शृगाल कुपिल न करे। यही "भोज्य" पाठ निरर्थक है, क्योंकि शृगाल सिंह को कभी खा नहीं सकता।

वेसपच्छाणसंबद्धे संबद्धं धारणं सदा ।

णाणा-अरतिपायोगं णालं धारेति बुद्धिमं ॥ २१ ॥

अर्थ:—वेश प्रच्छादन=वस्त्रादि से सम्बद्ध युक्त मुनि, मुनि भाव से विरुद्ध क्रियाओं को रोकता हुआ मिथ्यात्वादि क्रियाओं से असम्बद्ध रहे। बुद्धिमान साधक के लिये अरति-प्रायोग्य वस्तुएं धारण करना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसे मुनि भाव के विरुद्ध क्रियाओं से भी बचना आवश्यक है।

गुजराती भाषांतर:—

वेषप्रच्छादन अर्हते मुनिना वस्त्रोथी आच्छादित (युक्त) मुनि, मुनिसदृश आचार-विचारोथी विरुद्ध क्रियाओंने रोधी मिथ्यात्व आदि क्रियाओंथी छेठे (संसर्गरहित) रहे. बुद्धिमान साधकने भाटे आसक्ति ने विरोध करनाओ अछिवेष व राभी आसे अभ नथी, मुनिभावथी विरुद्ध के क्रियाओ छे तेनाथी पयु अचयुं संस्तर वदरी छे.

१ बलं धामं च पेहाए सद्धा मारुग-मणणो। खेतं कालं च विज्जाय तद्ध प्पाणं निजुंअय-दशवै. अ. ह.-ना. ३२ २ दोहो भगवतीयुज्ज शतक ३.

प्रज्ञाशील साधक संसार की वासना से विरक्त होता है तब उसे अन्नर की उत्क्रान्ति करना आवश्यक है। मुनित्व की साधना के लिये केवल वाह्य वेश आदि का परिवर्तन ही नहीं हृदय का परिवर्तन भी आवश्यक है। आज वेश की पूजा हो रही है। मुनिवेश को मुनित्व समझ लिया गया है। वेश अपने आप में जड़ है चैतन्य का पुजारी वेश को झुक्ता है तो उसकी चैतन्य पूजा की सबसे बड़ी पराजय है। वेश में मुनित्व नहीं बसता। वेश मुनि-जीवन का उपजीवन है, वह साधन है, जनता के विश्वास की आधार भूमि है। और यही तक वेश उपयोगी है, किन्तु उसे ऊपर उठाकर पूजा की वस्तु समझ लेना बहुत बड़ी भ्रान्ति है। मुनिवेश में रहा हुआ साधक वेश की रक्षा के साथ अपने अन्तर मुनि जीवन की रक्षा के लिये और सदैव जागृत रहे। उसकी धृतिर्यो और प्रवृत्तियों मुनि भाव को क्षत विक्षत हो सकें इसके लिये वह संयम के विरुद्ध किसी भी विचार और व्यवहार को वह प्रथम न दे।

टीका:— वेशप्रच्छादनसंबद्धो रजोहरणादिलिंगसहितो नवतत्त्वरतो संशुद्धं तत्त्वचिरुद्धं पुरुषं सदा वास्येत् नालं भवति धारयितुं बुद्धिमान् नानारतिप्रयोजकम्।

अर्थात्— वेशप्रच्छादन चदर आदि से युक्त रजोहरणादि चिन्हों से युक्त नव तत्व का ज्ञाना तत्व से विरुद्ध गानी पुरुष से सदा दूर रहे। नानाविध अरति प्रयोजक = अर्थात् मानसिक शान्ति को मंग करनेवालों का साथ करना योग्य नहीं होता। अथवा संसार से अरति प्रयोजक वस्त्रादि का धारण करना ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिये संयम साधना भी चाहिये।

ब्रह्मचारी यति कुद्धो बज्जेज्ज मोहदीचणं।

ण मूढस्स तु वाहस्स मिणे अप्पेति साथकं ॥ २२ ॥

अर्थ:— ब्रह्मचारी यति कुद्ध होकर भी मोहोदीपक वस्तुओं का परित्याग करे। क्योंकि मूर्ख शिकारी के बाण मृग को वेध नहीं सकते।

गुजराती भाषांतर:—

ब्रह्मचारी यति क्रोधाधीन तथा पछी पणु मोड़ने उदीपन करे ऐसी वस्तुओं को त्याग करे। डेभ डे भूर्भ (मोड़भां पड़ेवा) शिकारी को पणु मृगने वीधी नहीं शके।

ब्रह्मचारी मुनि कभी क्रुपित न हो। क्योंकि क्रोध आत्मा की विभाव-परिणति है, फिर भी यदि क्रोध आभी जाए तब भी वह मोहोदीपक कार्य कभी न करे। क्रोध में यद्यपि साधक अपनी साधना को भूल जाता है फिर ब्रह्मचारी के लिये निर्देश है कि वह मोह से सदा बचता रहे। अथवा इसका एक रूप यह भी हो सकता है कि ब्रह्मचारी क्रोध में मोहोदीपक वस्तुओं का परित्याग करे, किन्तु आवेश के क्षणों में किया गया त्याग अप्रशस्त है, क्रोध में आकर मनुष्य भोजन का परित्याग कर देता है, किन्तु वह उपवास ज्ञान-प्रेरित नहीं है, अतः ज्ञानियों को वह स्वीकार नहीं है।

फिर भी साधक इतना सावधान तो रहे कि क्रोध के पागलपन में कहीं मोह प्रहार न करदे, क्योंकि क्रोध क्षणिक होता है, किन्तु मोह का प्रहार स्थायी होता है। फिर मोह के कीचड़ में फंसा साधक अपनी साधना को उसी प्रकार व्यर्थ नष्ट कर देता है जैसे कि मूर्ख शिकारी अपने बाणों को। वह अपने लक्ष्य को वेध नहीं सकता। इसी प्रकार मोहशील साधक की साधना निर्वाण के लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाती है।

टीका:— सर्वदा न कुल्येन्मुनिर्यदि तु केनचित्कारणेन ब्रह्मचारी यतिः कुद्धः संज्वलेत् तदात्मनो मोहदीपनं वर्जयेत् मूढस्य हि व्याधस्य साथको मृगान् न विध्यति एवं मूढो मुनिर्न भवेज्ज्ञानभाक्। मतार्थः।

पैच्छाणं चेच्च रुवं च णिच्छंमि विभावणं।

किमत्थं गायते वाहो तुण्हिका वायि पक्खिता ॥ २३ ॥

अर्थ:— मुनि देश और रूप का निश्चय से विचार करे। व्याध किस लिये गाता है और पक्षी चुप क्यों है?

१ केशी गौतम चर्चा में महासुनि केशीकुमार ने वेश के प्रश्न को उठाया तब महान साधक गौतम उसका इसी रूप में समाधान करते हैं:—

पच्चयत्थं च लोगस्स णाणा विह विगण्णं, जत्तत्थं गण्णत्थं च लोगे लिंगपओवणं।

२ पत्थाणं.

उत्तरा० अ० २३ गा० ३२.

गुजराती भाषान्तरः—

मुनिना वेषनो अने रुपनो भास विचार करवो आवश्यक छे. पारधी शुं कारखु गाय छे अने पक्षीओ शाने भाटे छानामाना छे ?

साधक देखे—मुनि के वेश और उसके रूप अर्थात् मुनि भाव में कहां तक सादृश्य हैं। वह केवल स्थूल द्रष्टा बनकर ऊपरी गज से ही न मापे। उसे भीतर की गहराइयों तक प्रवेश करना चाहिए। वह वेश का पूजक बनकर न रह जाए। वह यह भी देखे मुनि के वेश के साथ मुनित्व भी है या नहीं। कौरी वेश पूजा अनाचार की परंपरा बढ़ाती है। वैमक्तिक राम और सांप्रदायिक अभिनिवेश बुद्धि वेश-पूजा को महत्व देती है। मेरी परंपरा और मेरे संप्रदाय का वेश जिसने पहन लिया है वह मेरे लिये पूज्य है। इसका अर्थ यह हुआ मेरा पीतल भी सोना है, और दूसरे का सोना भी पीतल है। धर्म की ओट में जब यह संप्रदायवाद खेलता है तब धर्म का रस सूख जाता है, उसमें दरारें पड़ती हैं ये दरारें और डुकड़े ही संप्रदाय हैं। यह सांप्रदायिक बुद्धि व्यक्ति और वेश, पूजा को प्रोत्साहन देती है, गुण-पूजा को दरवाजे से बाहर धकेल देती है।

जैनदर्शन का मूल स्वर गुण-पूजा हो रहा है, वेश-पूजा को कभी उसने अपना लक्ष्य नहीं बनाया। न उसने कभी आपको सांप्रदायिक दीवारों में कैद ही किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने यहाँ तक घोषणा की थी कि मुझे भगवान महावीर के प्रति आग्रह नहीं है।

और अन्य दार्शनिकों के प्रति मेरे मन में द्वेष भाव नहीं है। जिसके विचार तर्क की तुला पर ठीक उतरते हैं उन्हें ही मेरी बुद्धि ग्रहण करेगी।

अर्हतर्षि वेष-प्रतिष्ठा के स्थान पर गुण-प्रतिष्ठा को विकसित करने की धेरणा दे रहे हैं। उसके लिये सुन्दर रूपक दे रहे हैं। वह आकाश में उड़नेवाली चिड़िया भी व्यक्ति के बाह्य को नहीं अन्तर को जानती है शिकारी जब गाता है तब वह चुप हो जाती है। वह शिकारी के संगीत पर सुग्ध नहीं होती, किन्तु उसके हिंसात्मक भावनाओं को परखती है। तो शायद मुनि के वेश और बाह्य साधना को न देखे, मैले वस्त्रों की आचार का प्रतीक न समझे, न मधुर संगीत को आत्मा की स्वर लहरी न मान बैठे। कभी कभी मैले कपड़ों में जीवन का मैल छुपता है तो कभी भीषण बाह्याचार के नीचे अत्याचार कसकता है। अतः वह वेष नहीं साधना को देखे। रूप नहीं, गुण का पारखी बने।

टीकाः—प्रच्छादनं वेषं रूपं लिंगं निश्चयमेव विभावयेत् । किमर्थं गायति व्याघस्तूष्णीका तु भवन्ति पक्षिणः ? गायतोऽपि व्याघस्य हननाभिप्रायं वेषाच्च लिंभाच्चानुमान्ति विहगा इति भावः । गतार्थः ।

“विशेष=वेश और लिंग से पक्षीगण गाते हुए शिकारी के मारने की भावना को समझ लेते हैं।”

कज्जणिव्यत्तिपाओगं आदेयं कज्जकारणं ।

मोक्षणिव्यत्तिपाओगं, विण्णेयंतु विसेसओ ॥ २४ ॥

अर्थः—किसी कार्य की रचना के लिये उचित कार्य कारण अपेक्षित है। किन्तु मोक्ष की निर्वृत्ति के रचना के लिये विशिष्ट कार्य कारण अपेक्षित है।

गुजराती भाषान्तरः—

कोई पक्षु डार्योंनी रचना भाटे योग्य डार्यडारखुनी अपेक्षा होय छे; परन्तु मोक्षनी रचना भाटे भास डारखुनी आवश्यकता रहे छे.

कार्य की सकलता के लिये हमें कार्य कारण भाव को समझना चाहिए। यदि कारण निर्बल है तो कार्य भी निर्बल रहेगा। क्योंकि कार्य की प्रसवभूमि कारण है। यदि तन्तु=धागे खराब हैं तो कपड़ा सुन्दर नहीं बन सकता।

एक तर्क है—साध्य ठीक होना चाहिए, साधन फिर कैसे भी हों तो चलेगा। किन्तु यह तर्क लचीला है। यदि कार्य और कारण दो भिन्न वस्तुएं हैं तब ठीक है; अन्यथा कार्य कारणों का परिपक्व रूप है तब साधनों को तुच्छ गिननेवालों की मिट्टी खिसक जाएगी। यदि ईंट के प्रति उपेक्षा की गई तो भादन की जलधारा मकान को ढेर कर देगी। क्योंकि ईंटों व्यवस्थित समूह ही तो मकान है।

१. गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः । —उत्तररामचरित. २ पक्षपातो न मे कीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

हरिभद्र स्मृति.

बाह्य या आन्तरिक कार्य सबके लिए साधनों का ठीक चुनाव करना होगा। साधन अनुचित है तो साध्य गड़बड़ा जाएगा। सीधी सी बात है। धक्का मिट्टी से बन सकता है, धागों से नहीं, क्योंकि घट निर्माण के लिए धागे अनुचित कारण हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये समुचित कारण अपनाने होंगे। मोक्ष प्राप्ति का उद्देश्य बना लेने पर भी यदि उसके प्रसाधन अयोग्य हैं तो भी विडम्बना होगी। मोक्ष के पागलों ने काशी में सिर कटवा लिये पर क्या उन्हें मोक्ष मिल गया? जब तक पुद्गल संसक्ति और विभाव दशा की आसक्ति समाप्त नहीं होती तब तक मुक्ति केवल कल्पना है। उसके लिये सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही सुयोग्य प्रसाधन हैं।

अतः साध्य की सिद्धि के लिए योग्य साधनों की ठीक ठीक पहचान आवश्यक है।

टीका:—लौकिककार्यनिर्वृत्तिप्रयोजके कार्यकारणे आदेये ते एव मोक्षनिर्वृत्तिप्रयोजके विदोषतो विज्ञेये । गतायेः ।

परिवारे श्वेव वेसे य भावितं तु विभायम् ।

परिवारे वि गंभीरे ण राया णीलजंझुओ ॥ २५ ॥

अर्थ:—परिवार में हो या मुनि वेश में भावित आत्मा ही विशिष्ट भाव दशा पा सकती है। विशाल परिवार में होने पर भी नील जम्बूक राजा नहीं हो सकता।

गुजराती भाषान्तर:—

पोताना परिवारमां गृहस्थ होय डे मुनिवेशमां होय तो पक्षु आवित आत्मा न विशिष्ट आवदशा भेणवी शडे छे. मोटा परिवारमां रहेनार नील जंझु (वाहणी रंगमां रंगायेसो शिष्याण) राजा अनी शकतो नथी.

कोई भी व्यक्ति परिवार में रहता है या मुनिवेश में। यह प्रश्न उतना महत्व नहीं रखता जितना कि उसका आत्म-विकास। यदि वेश बदलकर भी मन नहीं बदला तो उस वेश बदलने का कोई अर्थ नहीं है। परिवार में भी ऐसी बहुत सी आत्माएं मिल आवेगी, जोकि गंभीर साधना कर रही हैं। जब कि मुनिवेश में भी विपथगामी आत्माएं मिल सकती हैं, अतः वेश को संयम का प्रतीक मान लेना अपने आप में एक गंभीर भूल है। इसीलिये महा श्रमण भ० महावीर पावापुरी की अपनी अन्तिम देशना में इस सत्य का उद्घाटन करते हुए कहा था—कतिपय साधुओं से गृहस्थों का शील और संयम श्रेष्ठ हो सकता है। फिर भी हमें यह भी न भूलना होगा कि समस्त गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ होता।

विशाल परिवार के बीच भी ऐसी आत्माएं मिल सकेंगी जिनका जीवन उनसे भी श्रेष्ठ है कि जिन्हें कि हमारी आंखें पवित्र देखती हैं। दूसरी ओर विशाल शिष्य-परिवार के द्वारा किसी की साधना को मापना भी गलत होगा। आज विशाल शिष्य-परिवार की देखकर उन्हें विशिष्ट पद दिये जाते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा तत्त्वविनिश्चय और अध्यात्म साधना के अभाव में यदि शिष्य-समुदाय बढ़ता है तो वह साधक को सिद्धान्त का अनुगामी नहीं, प्रतिगामी बनाता है^१। अतः पारिवारिक विशालता किसी को महत्वपूर्ण पद बिठा नहीं सकती। फिर आज के युग में जबकि बढ़ती हुई संख्या एक अभिशाप मानी जा रही है। अर्हतर्षि कहते हैं परिवार से घिरा हुआ और रंगा हुआ शृगाल राजा नहीं माना जा सकता।

यह एक लोकप्रसिद्ध वार्ता है। एक शृगाल एक बार नगर में आया रंग के वर्तन में घिर गया। अपने रंग रूप को देखकर उसने अपने आपको वन का राजा घोषित किया। वनपशुओं की विशाल सभा जुटाकर बैठा भी किन्तु उसकी शाही शान उसी क्षण मिट्टी में गई जबकि वनराज आ पहुंचा।

अतः साधना के पथ में बढ़ने के लिये कपड़े नहीं आत्मा को बदलने की आवश्यकता है। यदि आत्मस्थिति बदल चुकी है और कपड़े न भी बदले तब भी वे कपड़े आपकी मुक्ति में बाधक नहीं हो सकते। गृहस्थलिंग सिद्धा को स्वीकार कर जैनदर्शन ने इस सत्य का उद्घोष किया था। माता मरुदेवी और उनके पति चक्रवर्ती भरत इस कथन के ज्वलंत प्रमाण हैं।

१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । -तत्त्वार्थः अ० २ सू० १.

२ संति एगेहि भिक्षुहि भारथा संजमुत्तरा ।

गारुधेहि सव्वेहि साहवो संजमुत्तरा ॥ -उत्तरा० अ० ५ गा० २०.

३ जह जह बहुस्तुओ सम्पभोय सिस्समण संपरिबुद्धो य ।

अविणिच्छिओ य सनये तह तह सिधन्त पडिणीओ ॥ -सम्मतिप्रकरण ३-६४.

टीका:—परिवारेण च वेधेण च यद्भावितं तद् विभावयेन च ताभ्यां वञ्चयेत् परिवारेणाऽपि गंभीरेण परिहृतो नीलजम्बूकः कथाप्रसिद्धो न रात्राऽभवत्पुष्पापदानामवेक्षणीयत्वात् । मतार्थः ।

अथादाहं जणं जाणे पाणा-चित्ताणुभासकं ।

अथादाहं वीसंगे पासंतस्स अत्थसंतति ॥ २६ ॥

अर्थ:—अर्थ (धन) का लोभी व्यक्ति नानाविध रूप में चित्तहारी मधुरभाषा-भाषी समझना चाहिये । अथवा ज्वारा मधुरभाषी को अर्थ का इच्छुक समझना चाहिए और उसकी अर्थ-परंपरा को देखकर लोभी व्यक्ति से दूर रहना ही श्रेष्ठ है ।

गुजराती भाषान्तर:—

अर्थनो ऐठले द्रव्यनो लोभी भाषुस अनेक रूपमें मीठा मीठा शब्दोशी आपण तरङ्ग भीलनु अंतः-
करण भेयी लई देखे. भील शब्दोभां ऐम कही शक्य के मीठा शब्दो भोलनारो भाषुस धननो अखिलापी
होय छे. तेथी आवा भाषुसथी छेटे रहवुं न ऐ प्रशस्त छे.

जिसके मन में संपत्ति की भूख लगी है वह किसी से बात करता है तो उसका बोलने की शैली इतनी मीठी होगी कि वाणी कला के द्वारा वह उसके हृदय में प्रवेश कर जाता है और अपनी इच्छित वस्तु निकलवा लेता है । दूसरी ओर यह भी ध्यान रखना चाहिए जो आपसे बहुत मीठी बातें कर रहा है उसकी मीठी बातें भी कोई अर्थ प्रती हैं । किसी प्रयोजन से ही आपसे इसना मीठा बोल रहा है । अतः लोभी के दिल को समझना चाहिये उसकी अर्थ पिपासा को देखना चाहिये । उसे अर्थ नहीं, अर्थ संतति चाहिये, अर्थात् यदि उसका मन चले तो अपनी पीढ़ियों के लिये भी संपत्ति मांग ले, अतः उसके मन की विशाल तृष्णा की पूर्ति करना कठिन है । एक विचारक ने ठीक कहा है—A poor man wants some thing, a covetous man all things. गरीब थोड़े से संतुष्ट हो सकता है जबकि अमीर की मांग सदैव ज्यादा होगी । अतः अर्थतर्षि कहते हैं तृष्णाळ व्यक्तिसे सदैव दूर रहो । “पासंतस्स” का पाठान्तर दासंतस्स । उसका अर्थ यह होगा कि जो लोभी का संग नहीं करता अर्थ संतति उसके लिये दासवत् रहेगी । लक्ष्मी छाया-सी है उसके पीछे दौड़ेंगे वह आगे दौड़ेगी और यदि आपने उससे मुँह मोड़ लिया फिर यह आपके पीछे दौड़ेगी ।

आचार्य मानतुंग आदिनाथ स्तोत्र की परिसंज्ञाति पर एक मार्मिक उक्ति कह गये हैं—प्रभो ! जिसने आपके गुण रूप पुष्पों से प्रथित यह स्तोत्र रूप माला जो पहनेगा लक्ष्मी उसके पास बरबस चली आएँगी ।

टीका:—अथादाहिनमर्थलोभिर्न जणं जानीयात् नानाविस्तानुभाषकमन्यमात्रानुगामितम्, तस्माद् अर्थ-संतति निरन्तरार्थलोभं पश्यतः श्रेयान् भवत्यथादायिभिर्विसंगो वियोगः । मतार्थः ।

उभ-कप्यं कत्तिसम्मं णिच्छयम्मि विभावए ।

णिखिलामोसा कारित्तु उवचारम्मि परिच्छती ॥ २७ ॥

अर्थ:—दम्भपूर्ण आचरण निश्चय में सिंह के चर्म से आवृत शृगालवत् समझना चाहिये । संपूर्ण रूप से असत्या-चरण करमेकाला उपचार से परखा जाता है ।

गुजराती भाषान्तर:—

हंलथी पूरुं ऐतुं आथरणु सिङ्गना आभडाभां छुपायेल शियाणना जेवुं छे, ऐम समजवुं. हरमेक रीतनुं
बनावटी आथरणु करनार भाषुसनी ओणभाणु तेना आथार-विचार तेमन संलापणुथी करी शक्य छे.

जिसके अन्तर और बाह्य दोनों में वैषम्य है ऐसा दम्भी साधक वह उस शृगाल जैसा है जो सिंह की खाल में घूमता है और पशुओं का राजा होने का स्वप्न देखता है । किन्तु जिस क्षण वह कार्य करता है या बोलता है तभी उसकी परीक्षा हो जाती है । मुनि के वेश में घूमनेवाले मिथ्याचारी व्यक्ति जनता के रामक्ष अपने आपको महान पहुँचे हुए

१ दासंतस्स.

२ स्तोत्रस्रजं सव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धाम्
मञ्जला मया हस्तिरेवर्णविचित्रपुष्पाम् ।

धत्ते जनो इह यंठगतमजस्रं

सं मानतुंगमवशां ससुपैति लक्ष्मीः ॥

भक्त्यमरस्तोत्र श्लोक ४८.

सन्तसिद्ध करना चाहता है। मैले वस्त्र, वाद्य क्रियाकाण्ड और दूसरों को शिथिलकारी बताना ये हैं। उनके प्रसाधन, जिनके द्वारा वे अपने आपको महान् आचारशील मुनि सिद्ध करते हैं और भोली स्थूलदर्शी जनता उन्हें उस रूप में मान भी लेती है, किन्तु जो उनके भीतर उतरता है उसे वहाँ कुछ दूसरा रूप दिखाई देता है और दम्भ के आधार पर लक्ष किया गया महल ढेर हो जाता है।

टीका:— दम्भं कल्पं कृतिसमं कृत्वा जम्बुकसमानं निश्चयेन विभावयेत् निखिलं राजप्रतापस्यामोषं कृत्वो-
पचारे वृतो परीक्ष्यते विज्ञायते। गतार्थः।

सञ्चभावे दुर्बलं जाणे गाणा-वण्णाणुभासकं।

पुष्पा-दाणे सुणंदा चा पथकारधरं गता ॥ २८ ॥

अर्थ—मनुष्य का स्वभाव बहुत दुर्बल होता है। वह अनेक वर्ण (रूप) का आभास देता है। पुष्प को लेने के लिये सुनंदा प्लवकार (नाव बनानेवाले) के घर गई।

गुजराती भाषांतर:—

भाषुंसनो स्वभाव भरेभर घण्णो नभणो होय छे. तेथी अनेक वर्णों (रूपों)ना आभास थाय छे. सुनंदा बूझो खेवा माटे छोडी अनावनारने घेरे अछि.

मनुष्य का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है। अभी वह सुन्दर रूप में है, किन्तु अगले ही क्षण उनका क्या रूप होगा कुछ कहा नहीं जा सकता। कल की ओर भाव उत्पन्न हो सकता है। आज की देखा कल सती भी हो सकती है। नगरवधू कोशा के रूप पाश में बंधे विलासी कुमार स्थूलभद्र को देखकर कौन कह सकता था कि यह एक दिन काम-विजेता महान् सन्त स्थूलभद्र बनेगा और यह भोग की प्रतिभा के अपने पूरे सौन्दर्य के साथ भी उसे अपने रूप जाल में फंसा नहीं सकेगी। विराग का पथिक भोग को त्याग की ओर खींच सकेगा। सती के रूप में पूजे जानेवाली नारियाँ अपने पूर्व जन्मों में किस रूप में रही होगी कौन कह सकता है।

इसी लिये जैनदर्शन कहता है किसी के वर्तमान रूप को देखकर उसके जीवन का कैराला न हो। उस पर घृणा न बरसाओ। संभव है एक दिन वे महान् संत हो सकते हैं और उनके आलोचक उनसे भी नीची भूमि पर जा सकते हैं जिनकी कि आज वे आलोचना कर रहे हैं।

दुःख-विपाक की दुःखभरी कहानियाँ अपने पास एक सत्य रखती हैं। तो भगवती सूत्र में वर्णित गौशालक की कहानी भी एक तथ्य रखती है। भगवान् महावीर गणधर देव गौतम प्रभु के समक्ष उन आत्माओं के जीवन पर्व उठाते जाते हैं, उसमें वे दृश्य भी आते हैं जब कि उनके जीवन की काली कहानियों को देखकर उन परिजन और प्रिय भी घृणा से मुँह फेर लेते हैं। मारकाट हत्याभरा जीवन देखकर ऐसा लगता है इनका जीवन सूना रेगिस्तान है। जहाँ प्रेम कोमलता और कृपा का छोटा वृक्ष भी नहीं है, किन्तु दृश्य बदलते हैं और आखिरी पर्व दृढ़ता है तो वह रूप सामने आता है कि हमारी अपनी आँखों पर हमें विश्वास नहीं होता। क्या यह वही है जो एक दिन बिना प्रयोजन के प्राणियों को मोत के घाट उतार देता था? आज उसका प्राण घातक व्यक्ति उसके सामने उपस्थित है। वह जानता भी है यह मेरे प्राणों की हत्या करने आया है। फिर भी मन के एक कोने में वैर और द्वेष की चिनगारी नहीं निवलती। देखते देखते कैवल्य की अनंत ज्योति से वे जगमगा उठते हैं।

जिनके लिये मानव भी घृणा से मुँह फेर लेते थे, आज उन्हीं के लिये देवगण दौड़े आ रहे हैं। आकाश में देव दुंदुभियाँ गड़गड़ाती हैं। अतः व्यक्ति कब किस क्षण बदल जाएगा कह नहीं सकते। अथवा स्वभाव से दुर्बल प्राणी अनेक रूप में बोलता है उसकी मनःस्थिति सम नहीं पड़ती, कभी वह किसी शान को स्वीकार करता है तो दूसरे ही क्षण इन्कार भी कर देता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिये अर्हतरिषि ने सुनंदा की कहानी भी है जो पुष्प लेने के लिये नौका बनानेवाले के घर जाती है, किन्तु वह प्राचीन कथा अज्ञात है।

टीका:— सञ्चभावे दुर्बलं जानीयात् नानावर्णाणुभासकं विविधजालनुकारिणम्, यथा सुनंदा पुष्पाऽऽदाने प्लव-कारगृहं गता। अस्य तु श्लोकस्यार्थः कथाया अज्ञातत्वादस्पष्ट एव। गतार्थः।

विशेष प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्ध में कथा का संकेत है, किन्तु वह अज्ञात है। अतः उत्तरार्ध स्पष्ट नहीं हो सका।

द्रव्ये खेत्ते य काले य सव्यभावे य सव्यधा ।

सर्व्वेसि लिंगजीवाणं भावणं तु विहाय ॥ २९ ॥

अर्थ :—द्रव्य, क्षेत्र और काल सभी भावों और सभी लिंगों के द्वारा रहे हुए जीवों की भावना को समझना चाहिए ।

गुजराती भाषान्तर :—

द्रव्य, क्षेत्र अने काल अथाभाव अने अथा लिंगों द्वारा रहनेवाला जीवोंनी भावनाने समझना कोहोये.

प्रस्तुत अध्याय का उपसंहार करते हुए अर्हतर्षि बना रहे हैं, इस विराट विश्व में अनंत अनंत आत्माएँ हैं और सबका द्रव्य, क्षेत्र काल भाव लिंग सभी पृथक् हैं और सबकी भावनाएँ पृथक् हैं, अतः साधक विवेकपूर्वक सबको समझने की चेष्टा करे ।

हर व्यक्ति की अपनी परिस्थिति भिन्न होती है । हर व्यक्ति की भावनाएँ पृथक् होती हैं । सबकी शक्ति समान नहीं होती । अतः सबको एक ही गज से नहीं नापना चाहिए । दो व्यक्ति एक समान अपराध करते हैं; फिर भी दोनों को समान दंड नहीं दिया जा सकता । क्योंकि दोनों की परिस्थिति पृथक् पृथक् होती है । एक भूक से पीड़ित होकर चोरी करता है । दूसरा पड़ोसी की संपत्ति देखकर जलता है; उसे भिखारी बनाने के लिये चोरी करता है । पहला पेट भरने के लिये चोरी करता है; दूसरा पेटी भरने के लिए । एकके पास तन की भूख समस्या है तो दूसरे के पास मन की भूख है ।

आगम में भी अपराधों की दो श्रेणियाँ बताई गई हैं—एक अपने अज्ञान के दोष के लिये दोषों का सेवन करता है, दूसरा संयम साधना के कठिन स्थानों को पार करने के लिए दोष सेवन करता है । ये दोनों दोष विधियाँ दर्पिका और कल्पिका कही जाती हैं । दोनों के बीच भावनाओं का बहुत बड़ा विभेद है । अतः दोनों की प्रायश्चित्त विधि में भी विभेद है ।

कोई अपराधी पकड़ा जाता है । कानून उसका प्रमाण मांगता है, अपराध की स्वीकृति मिलने पर वह दंड दे देता है । किन्तु वह यह नहीं देखेगा कि इसने वह अपराध क्यों किया है; इसी लिये तो कहा जाता है 'कानून अंधा होता है' । विचारक के पास खुली आँखें हैं वह देखता है । अपराध हुआ है किन्तु साथ ही वह इसकी पार्श्वभूमि भी देखना चाहेगा कि किन परिस्थितियों से विवश होकर इसने अपराध किया है । उसके सामने दूसरा विकल्प था या नहीं ? । यदि नहीं था और इसने दोष का सेवन किया है तो आसक्त भाव से किया है या अनासक्त भाव से ? । जितना आवश्यक था उतना ही किया है या उससे ज्यादा या कम ? । विचारक व्यक्ति और उसकी परिस्थितियाँ और उसकी भावनाओं को तोलता है और सभी निर्णय देता है ।

अर्हतर्षि कह रहे हैं किसी भी व्यक्ति के लिये अच्छा या बुरा निर्णय न दो । उसकी स्थिति भावनाएँ सबका अवलोकन करो ।

टीका :— द्रव्ये क्षेत्रे च काले च सर्व्वभावे च सर्व्वधा सर्व्वेषां लिंगवतां जीवानां भावनां विभावयेत् । गतार्थः ।

एवं से सिद्धे बुद्धे ॥ गतार्थः ॥

इह साहसुत्तिज्जं मामज्झयणं ।

इति सातिपुत्र अर्हतर्षिभाषितम्—

एतद्विंशतितममध्ययनम् ॥



संजय अहर्षि प्रोक्त उनचालीसवाँ अध्ययन

मनुष्य हजार बार 'हां' कहता है तो उसे एक बार 'ना' कहना भी सीखना चाहिये। वह पाप के लिए इन्कार कर दे। जब कभी मन अशुभ की ओर जाए उसे रोक दे। मानव पाप से अपने को बचाता है तो वह इन्कार उसे हजार आपत्तियों से बचाता है।

पाप की प्रसवभूमि मानव का मन है। पहले वहीं वह जन्म लेता है तब वाणी उसे बाहर व्यक्त करती है और देह उसको क्रियात्मक रूप देता है।

पाप क्या है? कुछ विचारक कहते हैं—'मनुष्य परिस्थितियों का दास है, अतः परिस्थिति से प्रेरित ही जो कार्य करता है।' दुनिया उसे अपने सांघे में डल कर पाप पुण्य की संज्ञा देती है। पर यह तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। यदि मनुष्य परिस्थितियों का खिलौना मात्र है तो उसका अपना अस्तित्व ही क्या रहा? मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं, उसका विधाता है जब वह शुभ संकल्प लेकर चलता है तब उसकी प्रेषित भावधारा पुण्य के परमाणुओं को आकर्षित करती है; वही पुण्य है और भावधारा अशुभ की ओर बहती है तब अशुभ अव्यवसाय पाप के परमाणुओं को आकर्षित करते वही पाप है। खासी रामतीर्थ ने ठीक कहा है—कोई भी कर्म अपने आपमें पुण्य नहीं है, बिन्दु या शून्य का स्वतः कोई मूल्य नहीं होता। व्यक्ति के मन की छाया उस पर गिरती है उसी रूप में वह ढल जाता है। शुभ धारा उसे शुभ की ओर मोड़ देती है और तभी बढ़ता है जब कि मन में पाप होता है। बालक युवति कुन्द के निरुद्ध खेलकर भी निष्पाप रहता है।

प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है पाप क्या है और उससे मुक्त कैसे हो सकते हैं।

जे इमं पावकं कम्मं णेव कुजा ण कारये ।

देवा वि तं णमंसन्ति धितिमं दित्ततेजसं ॥ १ ॥

अर्थ:—जो व्यक्ति इस पाप कर्म को नहीं करता है और दूसरों से नहीं करवाता है उस प्रतिमान की तजस्वी को देवता भी नमस्कार करते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

जे भायूस आ पाप कर्मेने करतो नथी आने धीळने पासेथी पणु करायतो नथी तेवा धैर्यशास्त्री, दीप्त, आने तेजस्वीने देवताओं पणु नमस्कार करे छे.

साधक पापों से दूर रहे। न स्वयं पाप परिणति में लिप्त हो न अन्य व्यक्ति को उस ओर प्रेरित ही करे। ऐसा निष्पाप साधक दिव्य तेज से आलोकित रहता है। अहिंसा और करुणा की सौम्य भावधारा उसके आनन पर अठखेलियां करती है। इसीलिये देवगण भी उसके चरणों में झुकते हैं।

यद्यपि भौतिक वैभव में देव—सृष्टि मानव की अपेक्षा विशिष्ट है, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में तो मानव से बहुत पीछे हैं। संगमर्मर का फर्श खेत की काली मिट्टी की अपेक्षा अधिक सुरम्य है और वह मन को मोह भी लेता है पर जीवन के लिये तो संगमर्मर के सुरम्य भवनों से खेत की काली मिट्टी ही अधिक उपयोगी है, क्योंकि एक दाने को हजार गुणित कर मानव को धान्य राशि का उपाहार देने का काम काली मिट्टी ही करती है। सर्वार्थ सिद्ध के विमानवासी देव तैत्तिरीय सागर पर्यन्त प्रयत्न करें तब भी केवलज्ञान नहीं पा सकते; जबकि मानव का पुख्ता सही दिशा में गति करे तो अचलालीस मिनिट में केवलज्ञान पा सकता है। भौतिक वैभव की दृष्टि से महान देवगण भी आध्यात्मिक वैभवशाली मानव के चरणों में झुकता है।

टीका:— य इदं पापं कम्मं न कुर्यात् न कारयेद्, देव अपि तं नमस्यन्ति धितिमदीसतेजसम् । गतार्थः ।

जे णरे कुळवती पाचं अंधकारं महं करे ।

अणवज्जं पंडिते किञ्चा आदिच्छे व पभासती ॥ २ ॥

अर्थ:—जो मानव पाप कर्म करता है वह अंधकार फैलाता है। जबकि पंडित पुरुष अनवश कर्म करते सूर्य की भांति प्रकाशित होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

જે માણસ પાપનું કામ કરે છે તે દુનિયામાં અંધારું ફેલાવે છે; બ્યારે સુદ્ધિમાન માણસ નિર્દોષ (શુદ્ધ=પુણ્યનું) કામ કરી સૂર્યના જેવો અગ્નિવાળો ફેલાવે છે.

अशुभ परिणति स्वयं अंधकार में है। वह जहाँ जायगा सर्वत्र अंधकार फैलाएगा। जिसने प्रकाश पथ पाया है, वह प्रज्ञाशील पुरुष निष्पाप जीवन बिताकर पुण्य की प्रभा से आलोकित हो सूर्य की भांति विश्व को प्रकाश किरण देता है।

सिया पावं सइं कुजा ण तं कुजा पुणो पुणो ।

णाणि कम्मं च णं कुजा साधु कम्मं विथाणिया ॥ ३ ॥

अर्थः— पाप का प्रसंग उपस्थित हो और एक बार पाप हो जाए तब भी साधक उस पाप को पुनः पुनः न करे। किन्तु ज्ञानी श्रेष्ठ कर्मों को पहिचान कर उन्हीं में सदैव प्रवृत्त हो।

गुजराती भाषान्तरः—

કદાચ પાપ થવાનો પ્રસંગ આવે અને અમારા હાથે પાપકૃત્ય પણ થઈ જાય તો તે ફરીવાર કોઈ પણ હાલતમાં ન થાય એવી કાળજી સાધકે રાખવી. જ્ઞાની માણસે આ ઉચ્ચ કાર્યો છે એમ સમજીને જ હમેશા તેમાં ધોતાની પ્રવૃત્તિ રાખવી.

कमी कमी मानव को अनिच्छापूर्वक भी किसी अनिष्ट प्रवृत्ति में भाग लेना पड़ता है। किन्तु उस समय भी उसकी ज्ञान चेतना खुली रहे। पाप को पाप माने और उसके जल्दी ही अलग हट जाने का विचार रखे। लज्जाशील व्यक्ति एक बार कभी कहीं फिसल गया तो उसे वह भूल सदैव कचोटती रहेगी और पुनः कभी भी उस ओर कदम नहीं बढ़ाएगा। गिरना स्वभाविक है, पर गिरकर वहीं पड़े रहना दुर्बलता है; गिरकर उठ खड़े होना बहादुरी है। एक इंग्लिश विचारक कहता है *Munlike it is to fall into sin, friendlike it is to dwell therein, christlike it is or sin to grieve, goldlike it is all sin to live.* पाप में पड़ना मानव स्वभाव है, उसमें डूबे रहना शैतान स्वभाव है, उस पर दुःखित होना सन्त-स्वभाव है और सब पापों से मुक्त होना ईश्वर स्वभाव है।—लॉगफेलो.

सिया.....कुजा तं तु पुणो पुणो णिकायं च णं कुजा साधु भोज्जो वि जायसि रहस्से खलु भो पावं कम्मं समज्जिणिता दब्बाओ खेत्तओ कालओ भावओ कम्मओ अज्झवसायओ सम्मं अपलीयं चमाणे जहत्य आलोपजा ।

अर्थः—यदि पाप कर्म कमी हो जाय पुनः पुनः उसका आवरण करके उसका समूह न बनावे जिससे कि साधक को पुनः जन्म लेना पड़े। गुप्त रूप से पाप किया हो तब भी उसको द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से कर्म (क्रियात्मक रूप से) और अव्यवसाय से सम्यक् प्रकार से किसी से निष्कपट रूप से यथार्थ आलोचना करे।

गुजराती भाषान्तरः—

જે કદાચ (અજ્ઞાનથી) પાપકૃત્ય ધોતાને હાથે થઈ ગયું હોય તો તે ફરી કરી તેની વૃદ્ધી થવા દેવી નહીં, જેને લીધે સાધકને ફરી આ સંસારમાં જન્મ લેવો પડે. કદાચ પાપકૃત્ય એકાંતમાં થઈ ગયું હોય તો તે પાપને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ અને આવથી કર્મ (ક્રિયાત્મક રૂપથી) અને અવ્યવસાયથી સારી રીતે નિષ્કપટ રૂપથી સાચી રીતે આલોચના કરે.

मानव से भूल होना स्वाभाविक है, किन्तु प्रज्ञाशील साधक भूलों की आवृत्ति नहीं होने दे। क्योंकि एक भूल क्षम्य हो सकती है, किन्तु भूलों का समूह भयंकर परिणाम भी ला सकता है। अतः भूलों का परिमार्जन करते रहे। यदि एकान्त में भी पाप किया गया है तब भी हृदय-शुद्धि के साथ उसकी आलोचना होनी चाहिए। फिर भी उसमें द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को विवेक तो रखना ही चाहिए, आलोचना सुनने के लिये पात्र भी खोजना चाहिए। सुयोग्य पात्र मिलने पर शुद्ध अव्यवसायपूर्वक निष्कपट आलोचना करे। कपट सहित आलोचना से आत्मशुद्धि संभव नहीं है। क्योंकि रोगी डाक्टर से छल करके कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। आलोचना में निष्कपटता को स्थान है।

टीकाः—चतुर्थस्य पूर्वार्धमपूर्णम् । उत्तरार्धं तु कर्मसंबन्धविषयम् । तस्य विपाकेन साधुर्भूयोऽपि जायते ।

रहस्ये खलु भो पापं कर्म समर्थं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भाक्तः कर्मतोऽध्यवसायतः सम्यग् अपरिकुंचमानोऽनि-
गूहशालोचयेत् ।

चतुर्थं श्लोक का पूर्वार्ध अपूर्ण है और उत्तरार्ध कर्म संबन्ध-विषयक है । जिसके परिणाम में साधु पुनः जन्म लेता है । शेष का अर्थ ऊपरवत् है ।

संजयणं अरहता इतिना बुद्धं-

ण वि अत्थि रसेहिं भद्रपहिं संवासेण य भद्रपण य ।

जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए संजय ॥ ५ ॥

अर्थः—संजय अर्हतरि बोले—मुझे सुन्दर रसों से और सुन्दर निवास स्थानों से कोई प्रयोजन नहीं है । जहाँ कि संजय वन में रहे हुए मृग को मारता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

संजय अर्हतरि बोले—मैंने मधुर रस और सुन्दर भोजन भोजनियों में रस नहीं, जहाँ संजय वन में पसना भूगोले मारे छे ।

हिंसा के द्वारा भी थोड़ी देर के लिये मनुष्य भौतिक सुख के प्रसाधन प्राप्त कर सकता है । किन्तु उनके द्वारा सच्ची शान्ति नहीं पा सकता । अपने छोटे जीवन के लिये वह प्राणियों का हिंसा करता है । इस जीम के लिए हजारों प्राणियों का खून बहता है । सुन्दर निवास प्राप्त करने के लिये भी वह हिंसा करता है, किन्तु वे हिंसा जन्म प्रसाधन उसे चैन से रहने नहीं देते । उसकी मानसिक शान्ति समाप्त हो जाती है । फिर आध्यात्मिक शान्ति तो उसके बहुत दूर है ।

संजय अर्हतरि कह रहे हैं—मुझे उन सुन्दर सरस पदार्थों और सुन्दर निवास स्थानों से कोई प्रयोजन नहीं है, जहाँ कि संजय काननवासी मृगों को मारने के लिये लाता है ।

यह संजय गौन है ? यह संजय अर्हतरि है, दूसरा मृगों को शिकार करनेवाला संजय है । दोनों एक ही हैं या भिन्न ? ऐसा लगता है दोनों एक ही होने चाहिये । अर्हतरि अपने पूर्व जीवन की स्मृति कर रहे हैं । उन मधुर आस्वा-
दनों के लिये और सुन्दर भवनों के लिये मेरे मनमें अब कोई रस नहीं रह गया है, जिनके लिये मैंने मृगों की हिंसा की थी । उन्हें अपने हिंसात्मक कृत्यों के लिये मार्मिक वेदना हो रही है ।

यह मृग वध के लिये जानेवाला संजय उत्तराध्ययन सूत्र के कम्पिल नरेश संजय से मिलता है । वह भी मृगया के शौकिन हैं । वन में एक मृग को बाणों से वीध देता है । किन्तु जब आहत मृग मुनि गर्गभाषि के निकट जाकर गिरता है । उधर अश्वारूढ राजा भी वहाँ आता है और सोचता है—मैंने आसक्त होकर ऋषि के मृग का वध कर दिया है । ध्यानस्थ मुनि जब उसे स्वागत नहीं देते हैं तब राजा और भयभीत हो जाता है और उसने क्षमा प्रार्थना करता है, तब मुनि कहते तुम अभय हो और स्वयं अभयदाता बनो । उसके अहिंसा और अनिलता भरे उपदेश से वह भी राज्य को छोड़कर प्रव्रजित हो जाता है ।

दोनों संजय ऋषि एक हैं या भिन्न यह तो कहा नहीं जा सकता, किन्तु दोनों में साम्य अवश्य है ।

टीकाः—भद्रकै रसेभद्रकेन य संवासेन लौकिकजीवितेन नास्ति मे कार्यः कीदृशेन संवासेन ? यत्र संजयः कानन-
वासिनो मृगान् वधायोपनामयति=स्थापादयति इति संजयीयमध्ययनम् । गतार्थः ।

एवं से सिद्धे बुद्धे ।

इति संजय अर्हतरि प्रोक्त

पकोनचत्वारिंशदध्ययनम् ।

दीवायण अर्हतर्षि प्रोक्त चालीसवाँ अध्ययन

मानव का मन एक विराट् सागर है। जहाँ प्रतिक्षण सैकड़ों लहरें उठती और विलीन होती हैं। उनकी रगिनिवी में मानव मन लुभा जाता है। मनुष्य अपने मन में सौ सौ सत् संकल्प करता है किन्तु इच्छाओं की लहरें उन्हें बहा ले जाती हैं। मानव विवश हो उन्हें देखता हो रह जाता है। वह सोचता है इच्छा की पूर्ति के बाद मैं संतुष्ट हो जाऊँगा किन्तु याद रखना होना हर इच्छा की पूर्ति अतृप्ति का नया द्वार खोलती है। एक इंग्लिश विचारक ने ठीक कहा है—The thirst of desire is never filled nor fully satisfied. इच्छाओं की ध्वास कभी नहीं बुझती, न पूर्ण रूप से संतुष्ट ही होती है।—सिसरो।

इच्छाओं के संकेत पर चलनेवाले मानव की स्थिति वैसी है जैसी सागर की लहरों की गति के अनुरूप चलनेवाले नाविक की। पश्चिम के प्रसिद्ध विचारक शेक्सपियर ने कहा है यदि इच्छा ही धोखा बन जाती तो प्रत्येक मनुष्य बुडसवार होता। पर आज तो धोखा आदमी पर सवार है, फिर उसे चैन कैसे मिले ? इच्छाओं पर ब्रेक लगाने की कला सीखाना प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

**इच्छामणिच्छं पुरा करेज्जा दीवायणेण अरहता इसिणा बुद्धं—
इच्छा बहुविधा लोए जाए बद्धो किलिस्सति ।
तम्हा इच्छमणिच्छाए जिणिप्ता सुहमेधती ॥ १ ॥**

अर्थ—दीवायण अर्हतर्षि बोले—(साधक) पहले इच्छा को अनिच्छा के रूप में बदले। लोक में अनेक प्रकार की इच्छाएँ हैं। जिनसे बद्ध होकर आत्मा संकलेश पाता है। साधक इच्छा को अनिच्छा से जीतकर सुख पाता है।

गुजराती भाषास्तरः—

दीवायण अर्हतर्षि उड़े छे छे प्रथम छिछाने अनिच्छामां बद्धी नाओ, आ दुनियाभां अनेक तरछनी छिछाओ छे जेने कारणे एव बद्ध बधने दुःख पावे छे. जे साधक अनिच्छाद्वारा छिछाने छती तय तो सुख पावी शके.

इच्छाएँ मानव के मन पर शासन करती हैं। इच्छाओं से शासित व्यक्ति अपनी सभी आजादी को खो बैठता है। यद्यपि बहार से वह स्वतंत्र दिखाई देता है फिर भी गहराई में उतर कर देखें तो शात होगा, वह आशा और इच्छाओं के धागों से बन्धा है। वे धागे जितने सूक्ष्म हैं उतने मजबूत हैं।

एक संस्कृत के कवि ने सुन्दर लुटकी लेते हुए कहा है—आशा नामक एक विचित्र झंखला है जिससे बद्ध प्राणी दौड़ता है और उससे मुक्त पशुवत् स्थिर रहता है^१। एक विचारक ने ठीक ही कहा है—Desire is burning fire, he who falls into it never rises again.

इच्छा जलती हुई आग है। उसमें गिरा हुआ कभी उठता नहीं है।—“जेम्स ऑफ इस्लाम”—चम्पतराय

टीकाः—पुरा अविरादेव प्रवजितः सन् साधुरिच्छां यदि वा पुरा प्रवज्यायाः पुरस्तादिच्छाभिलाषवाननिच्छां कुर्यादात्मसंतोषमंगीकुर्यात्। इच्छा बहुविधा भवति लोके यथा बद्धः विनश्यति, तस्मादिच्छामनिच्छया जित्वा सुखमेधते।

पुरा अर्थात् सीमा दीक्षित हुआ मुनि इच्छा को अनिच्छा से जीते अथवा पुरा अर्थात् चरित्र ग्रहण के पूर्व साधक के मन में जो अभिलाषाएँ थीं उन्हें समाप्त कर दे और आत्म-संतोष को प्राप्त करे। शेषार्थ ऊपरवत् है।

इच्छाभिभूया न जाणंति मातरं पितरं गुरुं ।

अधिपिबन्वन्ति साधू य रायाणो देवयानि य ॥ २ ॥

अर्थ—इच्छाभिभूत व्यक्ति न माता को जानते हैं न पिता को, और गुरु को ही वे साधु राजा और देवता को तिरस्कृत कर सकते हैं।

^१ आशा नाम मनुष्याणां काचिदार्थशृङ्खला। यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पशुवत् ॥

गुजराती भाषान्तर :—

धृच्छाथी पराजय पायेदी व्यक्ति न भाताने के पिताने जाशुता नथी, अने गुरुने न साधुनो, राजनो अने देवतानो तिरस्कार करे छे.

इच्छा का गुलाम अपनी इच्छा को ही सर्वोपरि मान देता है। उसकी इच्छापूर्ति के मार्ग में कोई अवरोधक बनकर आता है तो उसे अपमानित करने में जरा भी नहीं हिचकिचाता। फिर भले वे माता पिता हो या गुरु के पद पर हो। वह साधु राजा और देवता तक को भी कुछ नहीं समझता।

टिप्पणी—मिलाइये प्रस्तुत सूत्र के ३६ वें अध्याय की १४ वीं गाथा से केवल प्रारंभ के एक ही शब्द का भेद है।

इच्छामूलं नियच्छन्ति धनहानि बन्धनानि य।

पियविण्यओगे य बहु जम्माइं मरणानि य ॥ ३ ॥

अर्थ—इच्छा के मूल में धनहानि और बन्धन रहे हुए हैं। साथ ही प्रिय विप्रयोग और बहुत से जन्म और मृत्यु भी हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

धृच्छानुं नरु द्रव्यनाश अने बन्धनभां न छे, अने तेने साथे प्रियव्यक्तितनो वियोग अने वषा न जन्म-मृत्युना द्वेरा पशु छे.

मनुष्य ने सुख की एक व्याख्या की है। इच्छापूर्तिजन्य सुख। मन में किसी प्रकार की इच्छा पैदा हुई और उसकी पूर्ति के साधन उपलब्ध हो जाते हैं तब मानव बोल उठता है “मैं सुखी हूँ”। किन्तु इच्छापूर्ति सुख नहीं, सुखाभास है। सुख नहीं सुख के स्थान पर दुःख बन्धन और क्लेशों की विशाल परम्परा है सही मिलेगी। रावण भी तो सुख प्राप्ति के लिये सीता को ले गया था। कीचक और जरासन्ध भी तो सुख प्राप्ति के लिये गये थे। क्या पाया उन्होंने? आखिर दुःख क्लेश और घृणा और तिरस्कार ही उन्हें मिला है। क्या अच्छा होता यदि वे अपनी बुरी इच्छाओं को उगाने के साथ ही कुचल देते?। पश्चिमी विचारक मैकलिनेन ठीक ही कहा है बाद में उत्पन्न होनेवाली सारी इच्छाओं की पूर्ति करने की अपेक्षा पहली इच्छा का दमन कर देना कहीं अधिक सरल और श्रेयस्कर है।

टिप्पणी—प्रस्तुत गाथा भी क्रोध के शब्द भेद के साथ ३६ वें अध्याय में यथावत् मिलती है।

इच्छन्ते इच्छन्ते इच्छा अनिच्छन्ते तं पि इच्छन्ति।

तस्मा इच्छामनिच्छाप जिनिता सुहमेहती ॥ ४ ॥

अर्थ—इच्छा अपने चाहनेवाले को नहीं चाहती, किन्तु इच्छा रहित को चाहती है। अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतकर सुख प्राप्त होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

धृच्छा, पोताने चाहनार भाषुसने चाहती नथी, परंतु नो भाषुसने धृच्छा नथी तेने न चाहे छे. भाटे धृच्छाने अनिच्छाथी छतीने न सुख मेणवी शक्य छे.

इच्छा का एक अनोखा स्वभाव है वह उसे नहीं चाहती जो इच्छा के गुलाम है। गुलामों से भी कभी प्रेम किया जाता है? और यह भी देखा गया है हर व्यक्ति की इच्छाएं भिन्न होती हैं। कभी यह भी होता है जिसे हम चाहते हैं। वह हमें नहीं चाहता और जो हमें चाहता है हम उससे नफरत करते हैं। यही तो मानव की विषमता है।

दूसरी ओर उसकी इच्छाएं सदैव अतृप्त रहती हैं। स्वामी विवेकानंद ने कहा है “कामना सागर की भांति अतृप्त है। ज्यों ज्यों हम उसकी आवश्यकता पूर्ति करते हैं त्यों-त्यों उसका कोलाहल बढ़ता है।” अतः साधक इच्छाओं को अनिच्छा से जीते। तभी वह शान्ति पा सकता है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण भी कहते हैं—जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को छोड़कर निस्पृह हो जाता है तथा समता और अहंकार को छोड़ देता है वही शान्ति पाता है। एक इंग्लिश विचारक भी कहता है—
'In moderating, not in satisfying desires lies peace. इच्छाओं की शान्त करने से नहीं; अपितु उन्हें परिमित करने से शान्ति प्राप्त होती है।

१ विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्भयो निर्विकारः स शान्तिमधिगच्छति। गीता,

टीका:—इच्छतेच्छा वांछेय्यते अनिच्छन्नपि तामिच्छति तस्मादित्यादि पूर्ववत् । गतार्थः ।

द्वयञ्चो खेत्तञ्चोऽकालञ्चो भावञ्चो जहा-थामं जहा
यलं जघाविरियं अणिगूहंतो आलोचयन्नासिति ॥ ५ ॥

अर्थ—साधक द्रव्यक्षेत्र काल भाव और अपने धैर्यबल शक्ति को न छिपाकर आलोचना करे ।

गुजराती भाषांतर:—

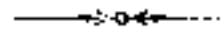
साधके धन, क्षेत्र, काल, भाव अपने पीतानी धीरवशक्तिने न संताडतां सभाषीत्यन करुं नेछये,

साधक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को देखता हुआ चले । अपने आपको तोलना भी सर्वप्रथम आवश्यक है । पहली धृति साहस और बल को देखकर ही साधना के क्षेत्र में कदम रखना उचित है । अन्यथा पीछेहठ करने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है । साथ ही गाथा के उत्तरार्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है यदि साधक में शक्ति है तो उसका संगोपन न करे । शक्ति होते हुए उसका उपयोग न करना एक प्रकार का परिग्रह है । दूसरे शब्दों में चोरी भी है । जैसे शक्ति होते हुए डुबते हुए को न बचाना पाप है तो शक्ति हुए साधन के क्षेत्र में कदम न बड़ाना भी पाप है ।

टीका:—हे साधो ! द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतो यथास्थाम यथाबलं यथावीर्यमनिग्रहबालोचयेरिति ब्रवीमि ।

एवं से सिद्धे बुद्धे ॥ गो पुण रसि इच्चत्थ हव्वमागच्छति ॥ स्ति वेमि । गतार्थः ॥

इति द्वैपायन अर्हतर्षिप्रोक्तम्
चत्वारिंशदध्ययनम्



इन्द्रनाग अर्हतर्षि प्रोक्त एकचालीसवाँ अध्ययन

कुछ आत्माएं बहिर्दृष्टि लेकर चलती हैं। वे केवल वर्तमान सुख को ही देखती हैं, किन्तु उसके पीछे आनेवाली दुःख की परम्परा को नहीं देखती। सलकी केवल अपने ग्रास को देखती है, किन्तु उसके पीछे छुपे कटि को नहीं। यही बहिर्दृष्टि मिथ्या हो जाती है। वह मानव को देहाभ्यास में उलझाये रखती है, किन्तु देह से ऊपर उठकर देहातीत को देखने नहीं देती। जबकि अन्तर्दृष्टि आत्मा को बाहर से हटाकर अन्तर को देखने की प्रेरणा देती है। वह शरीर के नहीं आत्मा के सौन्दर्य को निरखने की प्रेरणा देती है। वह नश्वर से हटकर अनश्वर से प्रेम करने की पवित्र देशना प्रस्तुत अध्ययन का प्रमुख विषय है।

असिं आजीवतो अप्पा णरणं बलदंसणं ।

तवं ते आमिस्सं किच्चा जणा संणिच्चते जणं ॥ १ ॥

अर्थ—जो आत्माएं अपनी आजीविका के लिये प्रदर्शन करती हैं। वे तप दूषित करके मनुष्यों को एकत्रित करते हैं।

गुजराती भाषांतर :—

જે છવો પોતાની ગુજરાણુ માટે પોતાના સામર્થ્યનું પ્રદર્શન કરાવે છે તે પોતાની તપશ્ચર્યાને નકામી બનાવી આમ જનતાનો ખ્યાલ (પોતાની તરફ) ખેંચી લઈ શકે છે.

तप आत्मशोधन का एक पवित्रतम प्रसाधन है। कोयले की कालिमा को साबुन नहीं धो सकता, उसे तो आग की ज्वाला ही उज्ज्वल बना सकती है। इसी प्रकार सुख सुविधाओं के प्रसाधन आत्मा की कर्मजन्य कालिमा को धो नहीं सकता, किन्तु यह तपस्तेज में ही शक्ति है जो आत्मा को उज्ज्वल बना सकता है।

तप को उद्देश्य :—शोधन ही होगा चाहिए। सदा और प्रतिष्ठा की कामना या भौतिक की चाह तपःसाधना को दूषित करती है। इस में साधक अपनी शक्ति को मिट्टी के मोल बेच देता है। इसे जैन आगमों में निदान तप कहा गया है। यहां उससे :—इसे की प्रेरणा दी गई है। जो तप को आजीविका का साधन बनाते हैं वे अपने बल का प्रदर्शन करते हैं; इसके द्वारा न संग्रह कर सकते हैं। बाहिरी जनता के दिल पर वे अपने तप की छाप अंकित कर दें, किन्तु वे अपने तप की सही शक्ति को नहीं पा सकते।

टीकाः—येषामात्मरूपमाजीवाद्धेतोर्नराणां बलदर्शनं तपोबल-दर्शनाय भवति, ये आजीवनार्थमात्मनस्तपोबलं मरान् दर्शयन्ति, ते जनाः स्वतप आमिषं कृत्वा जनं संचीयन्ते मेलयन्ति । गतार्थः ।

विकीतं तेसि सुकडं तु तं च निरुसाण जीवियं ।

कम्मचेट्टा अजाता वा जाणिज्जा ममका सद्धा ॥ २ ॥

अर्थ—उनका (कामनासहित तप करनेवालों का) सुकृत मानो खरीदा हुआ होता है। और उस सुकृत पर आधारित उनका जीवन भी मानो बिका हुआ है। उनकी क्रियाएं अनार्यवत् होती हैं; वे ममत्वशील और शठ होते हैं।

गुजराती भाषांतर :—

જે માણસો પોતાની અમુક કામના પૂર્ણ થવા માટે તપ કરે છે, તેઓનું પુણ્ય તો બીજાએ ખરીદી લીધું છે એમ અમજવું. અને તે સુકૃત ઉપર આધાર મુકી રહેલ માણસોની છંદગી તો ખરેખર વચી નાખેલી જ ગણાય. તેઓના કામો અનાર્ય માણસ જેવા જ થાય છે. તે માણસોનો સ્વભાવ સ્વાર્થી અને કપટી હોય છે.

जो साधक किसी फलेच्छा को लेकर काम करता है वह मानो अपनी साधना को बेच डालता है। गृहिणी दिनभर काम करती है, किन्तु कभी वह अपने धर्म का मूल्य नहीं चाहती; जबकि दासी आठ घंटे काम करके मूल्य मांगती है। परिणाम में एक घर की स्वामिनी बनती है; जबकि दूसरी को केवल मजदूरी के बारह आने साथ मिल पाते हैं। साधक फलासक्ति को अपनी साधना के बीच न आने दे; अन्यथा फल की उधेड़बुन में वह लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाएगा। फलासक्ति तो मोक्ष की भी नहीं होती चाहिए। साधक बनने की कामना की तो अगले जीवन में साधक बन सकेंगे, किन्तु सिद्धत्व नहीं पा सकते।

महात्मा बनने का संकल्प किया तो महात्मा। उन सकेसे, किन्तु परमात्म-तत्त्व दूर रह जाएगा। इसलिए भीता कहती है:—
“कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल की ओर न जाओ”। एक इंग्लिश विचारक भी बोलता है—“Thy business is with the action only never with its fruits, so let not the fruit of action be thy motive nor be thou to in action attached. तुम्हारा प्रयत्न केवल कार्य के लिये होना चाहिये, उसके फल के लिये कभी नहीं, कार्य के फल को तुम अपना लक्ष्य न बनने दो।

यहाँ फलासक्त व्यक्ति का जीवन बताया गया है। उसके जीवन की मस्ती छिन जाती है। उसकी साधना बिकी हुई है। ऐसा व्यक्ति फल पाने की जल्दी में साधन का विवेक भी खो सकता है। अतः अर्हर्तर्षि साधक को फलासक्ति से दूर रहने की प्रेरणा देते हैं।

टीका:—तेषां सुकृतं तपो विक्रीतं भवति। तच्च सुकृतमाश्रित्य जीवितं। विक्रीतं कर्मचेष्टा व्यापारवन्तो जना अज्ञात्याऽनार्या वा मामकाः शठा भवन्ति, एतादृशांस्साजानीयात्। गतार्थः।

गलुच्छिन्ना असोते वा मच्छा पावन्ति वेधनं।

अनागतमपस्सन्ता पच्छा सोयन्ति दुश्मन्ती ॥ ३ ॥

अर्थ—अस्रोत (निर्जल स्थल) में अथवा कंठ छिदा हुआ मत्स्य वेदना को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अनागत (भविष्य) को न देखनेवाला दुर्मति बाद में शोक करता है।

गुजराती भाषांतर:—

जैसी रीति पुरातनी आशाथी अस्रोत (=निर्जल झील या पाणी जहाँ न होय ते जग्या) में अथेही माछणीने डे गजुं कपायेल माछणीने घालुं ज दुःख थाय छे, तेवी ज रीते मोडरूपी भले उये ईकेही प्राणी आनी कानो प्याल न करी आलु सुખमां भश अनी अंते दुःखी थाय छे।

केवल वर्तमान सुख को देखनेवाला मानव उस मछली जैसा है जो मांस की आशा में जलस्रोत से बाहर आजाती है अथवा मांस के प्रलोभन में फँसकर केवल मांस को देखती है, उसके पीछे छिपे कंटि को नहीं देखती। परिणाम में वह अपना कंठ छिदा लेती है। सीमित बुद्धिवाले प्राणी परिणाम की ओर दृष्टि नहीं डालते। असंजी भी केवल वर्तमान सुखपेक्षी होता है। इसी प्रकार बहुत-सी आत्माएं तार्कालिक लाभ के पीछे बहुत बड़ी हानि को निमंत्रण दे देती हैं।

टीका:—यथोच्छिन्नगला अस्रोतसि शुष्कस्थले वा मत्स्या वेदनां प्राप्नुवन्ति तथाऽनागतमपश्यन्तो दुर्मतयः पश्चाच्छोचन्ते। गतार्थः।

मच्छा व क्षीणपानिया कंकाणं घासमागता।

पच्छुप्यण्णरसे गिद्धो मोहमल्लपणोल्लिया ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे मत्स्य पानी से रहित ही कंकास के घास में फँस जाती है। इसी प्रकार मोह रूप मल्ल से उद्वेलित प्राणी केवल वर्तमान के सुख में गूढ़ होते हैं।

गुजराती भाषांतर:—

जेम माछणी अमुक खोलने कारणे पाणीरहित जग्यामां आवी घास डे कांडरांमां इसार्थ मुसीबतनो लोग अने छे तेवी ज रीते विषयना मोहमां आसक्त थयेही प्राणी वर्तमान सुखमां ज वेखो अनी जेसे छे (ने तेना भाडा परिणामने लुडी लय छे)।

अपने खुराक के पीछे दौड़नेवाली मछली पानी से बाहर आकर समुद्र के तटवर्ती कंकास घास में फँस जाती है और तड़प तड़प कर प्राण छोड़ देती है। इसी प्रकार मोह से उद्वेलित आत्मा वर्तमान रस में आसक्त होकर दुःखी होता है। पूर्व अध्ययनों में वर्तमान सुख के लिये मछली का उदाहरण अनेक बार आ चुका है।

टीका:—मत्स्या यथा क्षीणपानीयाः कंकाणां घासमागता इति श्लोकार्थे पूर्वगतेन वा संबन्धनीयं, लेखकदोषेण वा गलितमुत्तरार्थं। प्रत्युत्पन्नरसे गूढ़ा मोहमल्लपणुश्चा इतां बलवतीमुत्कर्षां प्राप्नुवन्ती वारिमध्ये वारण इव।

१ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन-गीता।

अर्थात् जैसे पानी रहित मत्स्य कंक घास में आजाती है वह श्लोकार्थ पहिले के श्लोक से सम्बन्ध रखता है। लेखक के दोष से उत्तरार्ध नष्ट हो गया है। वर्तमान के रस में गूढ़ बने हुए प्राणी मोह रूप मल से उद्धेहित होते हैं और पानी में रहे हुए हस्ति की भांति स्नान अर्थात् बलवती उत्कंठा को प्राप्त करते हैं।

चतुर्थ गाथा का उत्तरार्ध, पंचम गाथा का पूर्वार्ध है। यह गाथा अविकल रूप में पन्द्रहवें अध्ययन के बारहवें कम में स्थित है।

दित्तं पावन्ति उत्कंठं चारिमञ्जे व वारणा ।

आहारमेतत्संबद्धा कज्जाकज्जणिमिलिता ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे पानी में रहा हुआ हस्ति उत्कृष्ट दृष्टि को अथवा दैन्य को प्राप्त करता है वैसे ही आहार मात्र से सम्बन्ध रखनेवाला कार्याकार्य से आँखें मूंद लेता है।

गुजराती भाषांतर :—

जेम पाण्डीमां रहेदो हाथी मद्भस्त जने छे जने त्यां ज अविवेकशी आसज्ज जनी पोतानी स्वतंत्रता शुभाची मेसे छे, तेम अद्विड विषयमां आसज्ज जनेदो भाधुस पोतानी विवेकशक्तिने शुभाची परतंत्र जनी जय छे.

वर्तमान भोगों की आसक्ति में फंसा हुआ व्यक्ति सबसुख दयनीय है। वह अपनी स्वतंत्रता को खो बैठता है। हाथी पानी में रहता है तो बड़ा भारी मद को प्राप्त करता है। इसी प्रकार भोगों के बीच फंसा हुआ अधिकाधिक दर्प का अनुभव करता है। केवल आहार पर ही उसकी दृष्टि होती है, किन्तु भोजन के साथ विवेक भी आवश्यक है, इस तथ्य से वह आँख मूंद लेता है। देह के साथ भोजन का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, किन्तु वह भी कार्याकार्य का विवेक चाहता है। हमारा भोजन शुभ के द्वार से आना चाहिए।

दूसरी ओर भोजन हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। मानव रोटी दाल का यंत्र मात्र नहीं है, वह उससे ऊपर उठकर भी सोचता है। कुछ व्यक्ति भले भोजन के लिये जीते हों किन्तु विचारशीलों के लिये यह बात नहीं है। इंग्लिश विचारक कहता है:—Eat to live and don't live to eat, जीने के लिये खाओ खाने के लिये न जीओ। भोजन को तुम खाओ, किन्तु कहीं ऐसा न हो भोजन तुम्हें खाजाए। इसके मोह में पड़कर डबल खा गये और अगले दिन बिस्तर पकड़ने का समय आ गया, तो समझना होगा भोजन हमने नहीं खाया, भोजन हमें खा गया है। भोजन ही नहीं; कोई भी कार्य हो कार्याकार्य का विवेक हम न खोएं।

प्रस्तुत गाथा की दूसरी यह भी व्याख्या हो सकती है कि हाथी एक बलवान् प्राणी है, किन्तु जलधारा में फंसकर वह दीन दुर्बल बन जाता है। क्योंकि वह तट को देखकर भी वहाँ तक पहुँच नहीं सकता। ऐसे ही भोगासक्त प्राणी आत्म-शान्ति के पथ को देखकर भी वहाँ तक पहुँचने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं।

चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त महामुनि चित्त के अध्यात्म संदेश के उत्तर में यही तो कहता है कीचड में फंसा गजराज तट को देखकर भी वहाँ तक जाने में असमर्थ रहता है; ऐसे ही मैं भी अध्यात्म पथ को देखकर वहाँ तक पहुँचने में असमर्थ हूँ^१।

ऐसा लगता है यह चक्रवर्ती की नहीं कोई क्षयग्रस्त दुर्बल व्यक्ति की भाषा हो। यही मानव के पौरुष की पराजय है।

पक्खिणो वतकुंमे वा अवसा पावन्ति संखयं ।

मधु पावेति दुर्वुद्धी पचातं से ण परस्सति ॥ ६ ॥

अर्थ—पी के घड़े में पड़ी हुई मक्षिका विवश हो मृत्यु को प्राप्त करती है। इसी प्रकार शहद के लिये वृक्षाग्रपर स्थित दुर्वुद्धि प्राणी सोचता है, मैं मधु प्राप्त करूँगा किन्तु वह यह नहीं देखता कि मैं गिर जाऊँगा।

गुजराती भाषांतर :—

जेम बीना वडाभां पडेदी भाभी पराधीन थई भरख् पावे छे तेवी ज रीते मध मेणवा भाटे जाउना टोयपर थदी भेठेव भूषण प्राण्डी विचार करे छे के मने मध मणशे, पण् ओ विचार नशी करतो के हु नीचे पडी मरी जधश.

१ नागो जहा पंकजलावत्तनो ददुं थले नाभिसमेह तीरे।

एवं वयं कामगुणेषु गिह्या न भिक्खुणो मगमगुण्वयामो ।

— उत्तरा० अ० १३ गा० ३०

- केवल वर्तमान मुख को देखनेवाले की निष्ठम्वना के दो चित्र यहाँ दिये गये हैं। श्री पाने की आशा से श्री के घड़े में धूँदनेवाली मक्षिका के भाग्य में केवल मौत का वारंट है। यही कहानी उस मानव की है जो मधु बिन्दु की आशा से वृक्ष की अचकटी शाखा पर बैठा है; वह मधु बिन्दु देखता है, किन्तु नीचे अंध कूप में पतन को नहीं देखता। यदि कहा जाए कि मक्खी में बुद्धि कहाँ है तो बुद्धि का निधि कहे जानेवाला मानव भी यदि मधुबिन्दु को ही देखता है तो कहना होगा स्थूल रूप में भले उसने विकास किया है, किन्तु अन्तर दुनियाँ में वह मक्षिका से एक ईँच भी आगे नहीं बढ़ा है।

टीका:—आहारमात्रसंबन्धाः कार्याकार्येभ्यो निमीलितचक्षुषः पक्षिणां विहगाः घटकुम्भ इवावशाः पाशेन संक्षयं प्राप्नुवन्ति । मधु प्राप्नोति दुर्बुद्धिः कथाप्रसिद्धः, प्रपातं तु स न पश्यतीति । श्लोकार्थं पूर्ववत् ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं:—दुर्बुद्धि व्यक्ति मधु को प्राप्त करता है। किन्तु प्रपात को नहीं देखता। यह कथा प्रसिद्ध है। श्लोकार्थ पूर्ववत् है।

आमीसत्थी इसो चेव मग्गते अप्पणा गलं ।

आमीसत्थी चरित्तं तु जीवे हिंसति दुग्गमती ॥ ७ ॥

अर्थ—मांसार्थी मत्स्य अपना आहार खोजता है। आमिषार्थी के चरित्रवत् दुर्मेति व्यक्ति प्राणियों की हिंसा करता है।

गुजराती भाषांतर:—

मांस खावा दोलुप थअेव भाछणी गोलना। पुराकने (वाग्गे मग्गे) छेवे छे। मांस खागरा भाछुसना चरित्रमुल्लभ भूर्ण प्राणी थीज प्राणीओनी हिंसा करे छे।

मांसार्थी मत्स्य केवल गाँस के टुकड़े को देखता है, किन्तु उसके पीछे लगे काँटे को नहीं देखता। इसी प्रकार हिंसा-प्रिय मानव मत्स्य की कहानी को चरितार्थ करता हुआ प्राणिव्यव की ओर प्रेरित होता है, वह आरंभ के मिठास को देखता है पर उसके विपाक को नहीं देखता।

टीका:—मांसार्थी इष आत्मना स्वीरं गलं बद्धिं मार्गति, दुर्मेतिस्त्वामिषार्थी जीवः पुरुषो वा जीविते सम्यक् चरित्रं हिनस्ति ।

टीकार्थ:—मांसार्थी मत्स्य स्वयं ही अपना शिकार खोजता है। ऐसे दुर्बुद्धि मांसार्थी प्राणी जीवन के लिये सम्यक् चरित्र की हिंसा करते हैं।

अणग्घेयं मणिं मोत्तुं सुत्तमत्ताभिनेदती ।

सव्वण्णुसासणं मोत्तुं मोहादीपहिं हिंसती ॥ ८ ॥

अर्थ—अल्पबुद्धि व्यक्ति अमूल्य मणि को फेंककर केवल सूत से कीड़ा करता है। वैसे ही अज्ञानी आत्मा सर्वज्ञ के शासन छोड़कर मोहशील पुरुषों के साथ हिंसा करता है।

गुजराती भाषांतर:—

जेम अल्पबुद्धिवाणो भाछुस कीमती रत्नने ईंछी ६६ सूतरना धागा साथे रमे छे, तेमण अज्ञानी एव सर्वज्ञनुं शासन छोडी ६६ विषयना भोलभां दुणी थअेव भाछुसो साथे हिंसा (पापनुं आचरण) करे छे।

यदि वानर को हार दिया जाए जिसमें कि अमूल्य मणियाँ गूँथी हुई हैं, पर वह मूर्ख चन्द्र मणि को फेंक देता है और सूत से खेलता है। यही कहानी मोहशील व्यक्तियों की है जो मणिवत् अमूल्य सर्वज्ञ के शासन को छोड़कर मोह मोहित व्यक्तियों के साथ कंड़ा करते हैं। वह आत्म-साधना को भूलकर संगार साधना में लग जाता है। उसकी क्रिया उस बालक जैसी है—जो मिठाई के प्रलोभन में अपना बहुमूल्य आभूषण दे देता है। भोगों की तुच्छ लिप्ता में आत्मा के निज स्वभाव का ध्यान करनेवाला उससे अधिक बुद्धिमान नहीं है।

टीका:—अनर्घ्यं मणिं सुक्त्वा सूत्रेण गुणेन केवलेनाभिनेदति दुर्मेति, स सर्वज्ञशासने सुक्त्वा मोहादिकैः कषायैः स्वचरित्रं हिनस्ति । मतार्थः ।

सोअमत्तेण विसं गेज्झं जाणं तत्थेव जुंजती ।

आजीवत्थं तवो मोत्तुं तप्पते विविहं बहुं ॥ ९ ॥

अर्थ—श्रोत्र मात्र से ही विष प्राप्त है। यह जानकर भी अज्ञानी वहाँ अपने आपको जोड़ता है। आजीवन के लिये तप को छोड़कर विविध तप करता है।

गुजराती भाषांतर :—

બહાર (જો માણસનો જીવ છે તે)નો પરિચય અને કાનથી સાંભળીએ છીએ; પણ જે અજ્ઞાની માણસ એમ સમજીને પણ તેને (પ્રાશન કરી) લઈ લે છે, તે માણસ સાર્વત્રિક નહીં કહેવાય. જોએલી જીવની માટે તપનો ત્યાગ કરી અને બીજા અનેક પ્રકારનું તપ કરવા શરૂ કરે છે.

વિષ્ણુનું નામ ઠીક છે, કિન્તુ તેનું પાન ગુરુ છે । यह सुनकर भी जो विष्णु का सेवन करता है तो समझना है उसने जानकारी प्राप्त की है किन्तु वह ज्ञानी है ऐसा नहीं कहा जा सकता । ज्ञान और जानकारी में बहुत बड़ा अन्तर होता है । ज्ञान भीतरी होता है, जानकारी ऊपरी भाव । ज्ञान होने के बाद आत्मा तुरी वृत्तियों से अलग हट जाता है । जबकि जानकारी के लिये ऐसा नियम नहीं है । आगमवाणी है ज्ञान का फल विरक्ति है । जिसने केवल कानों से ही नहीं हृदय से भी सुना है वह अपने आपको साधना में जोड़ देता है, फिर उसका तप आजीविका के लिये नहीं आत्मशुद्धि के लिये होता है । यह विविध प्रकार की तपःसाधना के द्वारा आत्मा को शुद्ध करता है । अभि सोने को शुद्ध करती है, ऐसे ही तप आत्मा को शुद्ध करता है ।

टीका :—श्रोत्रमात्रेण न तु मुखेन ग्राह्यं विषं जातञ्च एव तत्रैव श्रोत्रेणैव युनक्ति गृह्णाति, आजीवार्थः तपो मुषत्वा संसृज्य त्रिविधं बहुप्रकारेण तप्यति । तप आश्रित्य जीवन्मुक्त आजीवेन जीवति । गतार्थः ।

तद्यजिस्साए जीवन्तो तथाजीवं तु जीवती ।

णाणमेवोपजीवन्तो चरित्रं करणं तथा ॥ १० ॥

अर्थ—तप का आश्रय करके जीनेवाला तपोजीवन को जीता है । कोई ज्ञान से जीवन पाते हैं । कुछ चरण करण रूप चारित्र किया को उपजीवन बनाते हैं ।

गुजराती भाषांतर :—

તપનો આશ્રય કરી જીવનાર માણસ તપોજીવનને જીતે છે. કેટલાક લોકો જ્ઞાનથી જ જીવન પામે છે. કેટલાક તો ચરણકરણરૂપી ચારિત્રક્રિયા ઉપરજી ગુજરાણુ ચલાવે છે.

साधना की दो श्रेणियाँ हैं । एक ज्ञान और दूसरी तप । कुछ साधक साधना में केवल तप को सर्वोपरि स्थान देते हैं । इसीलिये वे अहर्निश तपःसाधना में रत रहते हैं । वे देखते हैं तप के द्वारा ही हमारी आत्मशुद्धि है, परन्तु आत्मा क्या है, उसकी अशुद्ध दशा क्यों है ? शुद्ध स्थिति कैसे संभव है ? इसका ज्ञान उन्हें नहीं है । वे साधना के क्षेत्र में दौड़ना जानते हैं, दौड़ भी रहे हैं, न उन्हें लक्ष्य का पता है न राह की पहचान है । दूसरे साधक ज्ञान की मशाल लिये हुए आगे बढ़ते हैं । उनकी साधना में ज्ञान का प्रकाश है वे सही लक्ष्य को जानते हैं ।

यहाँ जिस ज्ञान साधना का उल्लेख है वह केवल ज्ञानवादियों की किया शून्य ज्ञान साधना है, जिन्हें किया से इन्कार है । उसका मस्तिष्क चलता है पर पैर नहीं चलते । वे केवल बाणी बिलास मात्र से अपने मन को संतोष देते हैं ।

पर सम्यक् ज्ञान संपन्न साधक ज्ञान के साथ चारित्र को भी उपजीवन के तौर पर स्वीकार करता है । उसका स्वर है—

पदमं नाणं तपो दया एवं चित्द्रह सत्त्वसंजग ।

अज्ञानी किंवा काही किंवा नहिह संजग ॥ —दशवै. अ० ४

ज्ञान की मशाल हाथ में है तो उसके प्रकाश में अहिंसा का अनुपालन भी संभव है, जिसे ज्ञान नहीं है तो वह क्या करेगा ? । जिसने साधना पथ को पहचाना नहीं है वह उसपर कदम कैसे बढ़ाएगा ।

टि. मूलगुण चरण हैं और सामति आदि उत्तर करण हैं ।

टीका :—यो ज्ञानमेवोपजीवति चरित्रं करणं लिङ्गं च जीवन्तमुपजीवन्तं विमुक्तं जीवति । गतार्थः ।

लिङ्गं च जीवन्मुक्तं अविमुक्तं ति जीवति ।

विज्ञानमंतोपदेसेहिं दूतिसंपेसणेहिं वा ॥ ११ ॥

भावी तपोवदेसेहिं अविमुक्तं ति जीवति ।

अर्थ—जिन्होंने वेश को जीवन का साधना बनाया है वे अशुद्ध जीवन जीते हैं । विद्या और मंत्र के उपदेश एवं संदेश वाहिका को भेजना है । भावी तप या भवितव्य के उपदेश से जीना भी अशुद्ध जीवन है ।

गुजराती भाषान्तर :-

જેઓએ સાધુવેશનો ઉપયોગ સમાજમાં પ્રભુત્વ અને પોતાની જીવિકા મેળવવા અર્થે કરે છે તેઓ પોતાનું જીવન અગાડી નાખે છે એમ સમજવું. ભૌતિક જ્ઞાન અને મંત્રોપદેશ એ તો દૂતિકાર્ય (સંદેશ પોહોંચકવાના કામ) જેવું છે. બાવી તપ કે અવિતવ્યનો ઉપદેશ કરી જીવનું નિંદ્ર (મુનિમર્યાદાને ન શોભે એવું) છે.

जनता के विश्वास के लिये लोक में मुनिवेश का विधान है, किन्तु जिन्होंने मुनिवेश को आजीविका का साधन बनाया है वे उस देश के प्रति वफादार नहीं हैं। जिसका लक्ष्य भटक चुका है, साधना का सही उद्देश्य जिसे पाना नहीं है वह अपनी साधना को बाजी पर लगा देता है। उसके द्वारा चंद चाँदी के टुकड़े एकत्रित करने में अपनी सफलता मान बैठता है। फिर वह कर्तव्या-कर्तव्य का विवेक भी खो देता है। वह मुनि कल्प के बाहर के तमाम कार्यों में रस लेता है।

भौतिक विद्या और मंत्र का उपदेश दूतिकार्य करना। अवितव्यता का उपदेश ये सभी मुनि-मर्यादा के बाहर हैं। इसलिए कि इनके द्वारा साधक आत्म-विद्या को भूलकर देहाध्यास में पड़ता है। जिसके पास साधना का सच्चा रस नहीं है फिर वह भौतिक विद्याओं के बल पर जन समाज में प्रभुत्व जमाना चाहता है। कुछ भावुक भक्त अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये उनके बहकावे में आ जाते हैं और जब के उनके द्वारा संपत्ति अर्जन में सफल होते हैं तो उसकी कुछ भेंट गुरु के चरणों पर भी चढ़ा देते हैं। इस प्रकार दोनों लोभ की दुनियाँ में भटक जाते हैं और संयम के सम्यक् पथ से बहुत दूर जा गिरते हैं।

ऐसा साधक कुछ देर के लिये भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल हो सकता है, किन्तु आत्मिक आनंद उसके पास नहीं है।

टीका :- विद्यामंत्रोपदेशैः तूतिसंश्रयैर्वा भाविमवोपदेशै चाविशुद्धिमति जीवति । गतार्थः ।

मूलकोबुयकम्मेहिं भासापणाइएहिं या ॥ १२ ॥

अक्षवाइओवदेसेहिं अविशुद्धं तु जीवति ।

..... ॥ १३ ॥

अर्थ—कुछ भूल कौतुहल पूर्ण कर्मों के द्वारा, भाषा चातुर्य से आख्यायिका=अथवा अक्ष=पासे आदिक के उपदेश से जीनेवाला अशुद्ध जीवन जीता है।

गुजराती भाषान्तर :-

કેટલાક સાધુઓ સમાજમાં અભયબી લાગે એવા કામોથી કે પોતાના વાક્યાતુર્યથી અને એવા જ બીજા દુનિયાદારીના ઉપદેશ કરી નિષિદ્ધ જીવન જીવે છે.

प्रस्तुत अध्ययन आजीविका अध्ययन है। विभिन्न मानव जीवन-यापन के लिये विविध प्रसाधनों का उपयोग करते हैं। कोई शरीरबल को जीविका के साधन बनाते हैं। कुछ लोग तपजीवी होते हैं, वे तप के प्रदर्शन के द्वारा या कठोर तप के द्वारा जनता आतंकित करके अर्थप्राप्ति करते हैं। कुछ लोग साधुवेश का जीविका के साधन के रूप उपयोग करते हैं। विद्यामंत्रों उपदेश के द्वारा आवश्यकता पूर्ति करना भी आजीविका का साधन है। कोई ज्ञानजीवि है तो कोई क्रिया-जीवि तो कोई नियतिवाद के उपदेशक हैं।

भगवान् महावीर के युग में नियतिवाद का समर्थक एक दर्शक था; उसका नेतृत्व गौशाला के हाथों में था। भगवान् महावीर ने उसे आजीवक पन्थ के नाम से घोषित किया था। क्योंकि वे नियतिवाद का आश्रय लेकर जीवनयापन करते थे। किन्तु आजीविका के ये सभी प्रसाधन अशुद्ध हैं।

टीका :- मूलकर्मभिः कौतुककर्मभिः भाषया प्रणयिभिश्चाख्यायिकोपदेशैरविशुद्धिमति जीवति ।

इदनागेण अरहता इसिणा सुइतं—

भासे मासे य जो बालो कुसग्गेण आहारए ।

ण से सुयक्खाय धम्मस्स अघगति सतिमं कलं ॥ १४ ॥

१ तेण कालेण तेणं समएण गोसालण मंखलीणुते चउवीसवासपरिमाणं कुंभकारियं कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिबुद्धे आजीवियसमयेणं अण्णणं भावे माणेविहरइ । -भगवतीसूत्र शसक १५,

अर्थ:—इन्द्रनाग अर्हत्तर्षि ऐसा बोले—

जो अज्ञानी आत्म्या भड़िने महिने में दुःख-मन भोजन करता है, किन्तु वह श्रुताख्यात शास्त्र निरूपित धर्म की सौची कला भी प्राप्त नहीं करता।

गुजराती भाषान्तर:—

इन्द्रनाग अर्हत्तर्षि ओम ओह्या:—

ओ अज्ञानी माणुस हर महिनामां कुशाग्रभात्र ओज्जन करे छे पणु तेने श्रुताख्यात शास्त्रनिरूपित धर्मनी शतांश उला पणु भणी शकती नथी.

साधना का मूल प्राण है दृष्टि की विवृद्धि। साधना करते गये। कठोर साधना के द्वारा शरीर को सुख भी दिया परन्तु जब तक वृत्तियों पर विजय नहीं पाई तब तक वह साधना फल शून्य होगी। घाणी में जुता हुआ बैल भी दिन भर चलता है, सोचता है मैं आज लम्बी सँजिल तय कर चुका हूँ नस नस ढीली हो गई है। सुबह से चल रहा हूँ, पैरों ने जवाब दे दिया है, अवश्य आज पच्चीस कोस चल लिया होकरंगा, किन्तु जब पड़टी खुली देखा जहाँ से चले थे वहीं हैं एक इंच भी आगे नहीं बढ़े।

वही कहानी उन साधकों की है जो चलना जानते हैं, कठोर तप करते हैं शरीर सुखकर कांटा हो जाता है, किन्तु वे सोचते हैं हमारी साधना बहुत लम्बी चौड़ी है, हमने इतना त्याग किया है, इतने व्रत उपवास किये हैं, किन्तु जब विवेक दृष्टि का प्रकाश में देखा जाय तो ज्ञात होता है दुनियाँ की आँखों भले लंचे उठ चुके हैं किन्तु अध्यात्म के सही पथ पर अभी एक कदम भी आगे नहीं बढ़े।

विवेक दृष्टि के अभाव में कठोर तप केवल काया-कष्ट मात्र रह जाता है। महीने महीने के उपवास के पारणे के दिन कुशाग्र जितना भोजन करनेवाला साधक भी सम्यग्दर्शन के अभाव में श्रुताख्यात धर्म की साची कला भी प्राप्त नहीं कर सकता।

राजर्षि नमि ने देवेन्द्र को उत्तर देते हुए अज्ञान साधना की व्यर्थता दिखाते हुए जो विचार रखे थे वे यहाँ शब्दशः मिल जाते हैं; केवल इतना भेद है। वहाँ अज्ञान साधना को धर्म को सोलहवीं कला के तुल्य भी नहीं माना गया है, यहाँ सौवी कला से भी अल्प माना है।^१

टीका:—यो बाल आजीवको मासे मासे कुशाग्रैवाहारमाहरति स खख्यातधर्मस्य न शततमां कलामर्हति । गतार्थः ।

माममं जाणउ कोयी माहं जाणामि कंचि पि ।

ऊण्णातेणत्थ अण्णातं चरेज्जा समुदाणियं ॥ १५ ॥

अर्थ:—कोई मुझे नहीं जाने और मैं किसी को नहीं जानूँ। साधक अज्ञात के साथ अज्ञात होकर समाज में (भिक्षा के लिये) विचरे।

गुजराती भाषान्तर:—

ओध माणुस भने ओणणे नही अने हु पणु ओधने पिछाछुं नही; साधक (ओण पीतानो परिचय उर्था वगर रीते) अज्ञात माणुस साथे अज्ञात अनीने (भिक्षा भाटे) समाजमां करे.

साधक साधना के पर बल त्रिवे। कुल गोत्र या अपने पिता के इतिहास पर जीवन न बिताए। साधक जन-संपर्क में आता है तब जब कभी कोई परिचय मांगता है तब वह अपने गोत्रादि से अपना परिचय देता है, तो गलती करता है। गोत्रादि बताकर भिक्षा भी न ले, अन्यथा साधक की यह भी आजीविका हो जाएगी। गोत्रादि के परिचय से संभवतः कोई सका संगोत्री निकल आए और गोत्र-प्रेम को लेकर मुनि के लिये आहारादि बनाकर दे।

मुनि अपना परिचय क्या दे? उसका परिचय वह स्वयं होता है। गृहस्थ दशा के परिचय पत्रों के आधार पर वह साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता। उनका उपयोग करने पर कदम कदम पर मोह उसे घेर लेगा। साधक की साधना बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो। उसकी पाचन क्रिया इतनी तेज हो कि वह साधना के रस को भी पचा जाए।

१ मासे मासे उज्जोवाले कुसग्गेणं तु भुज्जप । न से तुयक्खायधम्मरस कलं अग्येह सोलसि ॥ उत्तरा० अ० ६ गा० ४४

२ रामो य दोसो वि य कम्मवीयं कमे मोहप्पभवं वयन्ति ।

कम्मं च जाई मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई मरणं वयन्ति ॥ उत्तरा० अ० ३२

साधना का रस पचाने की कला जानी थी भगवान महावीर ने। जब वे मुनि बनकर वन में घूम रहे थे उनसे पूछा जाता था कि आप कौन हैं। तब उनका छोटा सा उत्तर होता—“मैं भिक्षु हूँ”। उनके पास अपने परिचय के इतिहास की कमी नहीं थी। वे बता सकते थे “मैं क्षत्रिय कुंड के राजा सिद्धार्थ का पुत्र हूँ”। क्षत्रिय कुंड के वर्तमान राजा नन्दिवर्धन का मैं अनुज हूँ। वे यह भी कह सकते थे कि वैशाली के राजा चंद्रक का मैं दाहिज हूँ। आज वे गणनायक हैं, उनकी किस्मत सूर्य की भांति चमक रहा है। परिचय इतनी विस्तृत सामग्री होने पर भी उनका वही छोटा सा उत्तर होता था—“मैं भिक्षु हूँ”। वहां तक की गुप्तचर के अभियोग में वे एकबार बांध दिये गये। कुए में भी डुब दिये गये। फिर भी पूछा गया तुम कौन होता तब भी वही उत्तर था “मैं भिक्षु हूँ”। यदि वे कह देते कि मैं महाराजा सिद्धार्थ का राजकुमार हूँ, तो एक क्षण में बन्धन मुक्त हो सकते थे, पर उन्हें आत्मनिष्ठापन नहीं करना था। साधना के रस को बाहर नहीं बिखेरना था।

साधक जब भिक्षाचरी के लिये जाए तब स्वयं भी अज्ञात रहे। और न उन कुलों के विशेष परिचय में उतरे। उसे उनके इतिहास से मतलब नहीं है; वह देखे कि भोजन शुद्ध है या नहीं। शुद्ध विधिपूर्वक दिया गया शुद्ध आहार उसे ग्रहण करना है और इसी रूप में वह समुदाय में बिचरे।

टीका:—परं तु मा मां कश्चित् जानातु मा चाहं कंचिज्जानामीत्युक्तेनाज्ञातमर्थसमुदायिकं भिक्षालब्धं चरेत्। गतार्थः।

पंचवर्णीमगसुखं जो भिक्षवं एसणाए एसेज्जा।

तस्स सुलब्धं आभा हणणादी विण्णमुक्कदोसस्स ॥ १६ ॥

अर्थ:—जो साधक भिक्षु श्वान आदि पांच वर्णीयक से शुद्ध भिक्षा को एषणा विधि के साथ ग्रहण करता है। कर्म हनन के लिये भोजन करनेवाले अथवा निर्जीव भोजन करनेवाले दो रहित साधक के लिये लाभ सुलभ है।

गुजराती भाषान्तर:—

जो साधक कुत्रो बिगरे पांच वर्णीयकोथी शुद्ध भिक्षाने ऐषणाविधी साथे स्वीकार करे छे, कर्मनाश भाटे कोजन करनार। अगरे निर्लब्ध कोजन करनार। ऐवा ये रहित साधकोने भाटे लाभ अत्यंत सहेसो छे।

साधक पहले बताई हुई अशुद्ध आजीविकाओं को छोड़कर जीवन निर्वाह के लिये शुद्ध भोजन ग्रहण करे उसके लिये आत्मिक लाभ सुलभ है। प्रस्तुत गाथा में भोजन विधि की शुद्धि के लिये निर्देश दिया गया है। प्रस्तुत गाथा और आगे आनेवाली १७ वीं गाथा बारहवें अध्यायन की प्रथम द्वितीय गाथा के रूप में विस्तृत अर्थ के साथ आचुकी है।

जहा कपोता य कविजला य गावो चरंती इह पातडाओ।

एवं मुणी गोयसियं चरेज्जा णो वील्ले णो विय संजलेज्जा ॥ १७ ॥

अर्थ:—जैसे कपोत कविजल (जंगली कबूतर) और गावें अपने प्रातः भोजन के लिये जाती हैं, गोचरी के लिये गया हुआ मुनि उसी प्रकार जाए। न अधिक बोले और इच्छित आहार की प्राप्ति न होने पर मुन में जले नहीं।

गुजराती भाषान्तर:—

जेम कपिजल (कबूतर) अने गावो पोताना सवारनो ओराक शोधवा डे मेणवा भाटे सवारि निकणे छे तेवी ज रीते गोचरी भाटे गयेक साधुणे पण तेनुं ज अनुकरणु करवुं नोछे, वधारे योववुं नही, अने मनगभतो आहार न भणवाने वीधे मनमां ज साधके भूणवुं न नोछे।

साधक भिक्षाचरी में शान्त मन से रहे। सरस पदार्थों का आकर्षण से उसे लुभाए नहीं और निरस पदार्थ उसके मन को उद्धिम न करे। आगम में पाठ आता है असंभतो अमुच्छिओ। असंभ्रान्त और अमूर्च्छित हो गोचरी करे।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थः।

इति इन्द्रनाग अर्हतरि प्रोक्त

एकचत्वारिंशत् अध्यायन

—०—

सोम अर्हतर्षि प्रोक्त बयालीसवाँ अध्ययन

बयालीस, तैत्तल्लि और चंवालीस ये तीनों अध्ययन केवल एक एक गाथा के हैं। संभव है काल के महाप्रवाह में अन्य गाथाएं छूट हो चुकीं हो और आज ये नामशेष रह गये हों। पर अभी हम यह नहीं कह सकते कि तीनों अध्ययन किस रूप में थे और प्रत्येक में कितनी गाथाएं थीं। आज तो हमें ऋजुसूत्र नय दृष्टि को मानते हुए इतने मात्र संतोष करना होगा। तीनों अध्ययन में क्रमशः साधकवृत्ति का त्याग, सम्यक् की उपासना और रागद्वेषविजय पर विचार मिलते हैं।

अग्नेण बहुमसेज्जा जेदुमज्झिमकण्णसं ।

णिरवज्जे ठितस्स तु णो कप्पति पुणरवि साधज्जं सेविसत्तप ।

सोमेण अरहता इसिणा बुहतं ।

अर्थः—साधक ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ किसी भी पद पर हो वह अल्प से अधिक प्राप्त करने की चेष्टा करे। निरवद्य में स्थित साधक को पुनः सावद्य सेवन कल्पना नहीं है। सोम अर्हतर्षि इस प्रकार बोले।

गुजराती भाषान्तरः—

साधक उच्च, मध्यम अगर कनिष्ठ अर्थात् कोई पञ्च पद पर होय तो विचार और ज्ञान क्षेत्रों में वधारे आगम्य वधी वधु सङ्गता भोग्यवानी छोडीश करता रहे; निरवद्य में रहेज साधक सावद्यसेवननो विचार पञ्च करता नहीं, ओम सोम अर्हतर्षि गोह्या।

साधक किसी भी रूप में हो। वह चाहे आचार्य के रूप में हो, श्रुतधर के रूप में हो या लघु मुनि के रूप में क्यों न हो सदैव उसका एक मात्र प्रयत्न रहे कि वह अल्प से बहुत्व की ओर जाए। ज्ञान की अल्प किरण को विराट् रूप दे। विचार के क्षेत्र में वह आगे बढ़े। मैं और मेरे के श्रुत घेरे को तोड़कर विराट् बने। अपने निकटवर्ती साधकों ही नहीं दूरवर्ती साधकों को भी अपना साने। संप्रदायों की दीवारों को समाप्त कर दूसरी संप्रदाय के मुनियों को स्नेह का माधुर्य प्रदान करे। संघ में सभी मुनियों का मनोबल समान नहीं हो सकता। कोई महीने तक तप करते हैं तो कोई प्रतिदिन भोजन करते हैं, कोई स्थूल आचार में दृढ़ होते हैं तो कोई बाह्य आचार का इतनी कट्टरता के साथ इतना विशाल हो कि वह सबको किन्तु संघ का नायक या श्रुतधर का विचार क्षेत्र इतना विशाल हो कि वह सबको लेकर चले। विचार की इसी विशालता को प्राप्त करने का साधक के मन में संकल्प हो।

भारतीय आचार्य जब अपने शिष्यों को विदा करते थे। तब विदाई संदेश में उनका यही आशीर्षचन होता था 'धर्मे ते धीयतां बुद्धिः मनस्ते महदस्तु च। 'शिष्य! किसी भी क्षेत्र में तुम जाओ, तुम्हारी बुद्धि धर्म के शासन में रहे। तुम अपने आपको न भूल जाओ और तुम्हारा मन विशाल हो। इतना विशाल हो कि उसमें तुम्हारे शत्रु का शत्रुत्व भी समा जाए।' इसी विशालता साधक को प्राप्त करना है।

साधना के क्षेत्र में साधक चारित्र्य की नन्ही चिनगारी विशाल कर्म समूह को क्षय करे और लघु जीवन से सिद्ध स्थिति के विराट् संकल्प को पूर्ण करे। साधक जितने अंश में निरवद्य स्थिति को प्राप्त करता है उतने अंश में सम्यक् चारित्र्य की समाराधना करता है। अतः साधक सावद्य से निरवद्य की ओर जाए। निरवद्य से सावद्य की ओर आना पतन की दिशा है।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थः ।

इति सोम अर्हतर्षि प्रोक्त

बयालीसवाँ अध्ययन



यम अर्हतर्षि प्रोक्त

तेत्तालीसवाँ अध्ययन

लाभंमि जे ण सुमणो अलाभे णेव दुम्मणो ।

से ह्म सेट्ठे मणुस्साणं देवाणं सयक्कञ्ज ॥ १ ॥

जमेण अरहता इत्तिणा बुद्धं ।

अर्थ—लाभ में जो सुमन (प्रसन्न) नहीं है और अलाभ में दुर्मन (अप्रसन्न) नहीं है । वही मनुष्यों में वैसा ही श्रेष्ठ है जैसा कि देवों में शतक्रतु (देवेन्द्र) यम अर्हतर्षि ऐसा बोले ।

गुजराती भाषान्तरः—

जे भाणुस लाभ थया पछी संतुष्ट थता नथी अने हानि थया पछी नाराज पछु न थाय ते साधक देवोमां शतक्रतु (देवेन्द्र) जेभ श्रेष्ठ छे तेमज ते साधक भाणुसोमां पछु श्रेष्ठ छे जेभ यम अर्हतर्षिमे क्रीधु.

जन सामान्य की मनः स्थिति कुछ इस ढंग की होती है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर आनंद की अनुभूति करता है और इच्छित वस्तु का अभाव उसके मन की प्रसन्नता छीन लेता है । किन्तु साधक की मनःस्थिति इससे सर्वथा भिन्न हो । अपने मन पर उसका इतना शासन हो कि प्रिय वस्तु उसके मन को हर्षित न कर सके, उसका वियोग उसकी मुस्कान छीन न सके । लाभ और अलाभ में जिसकी सम स्थिति रहती है वह मानव समाज में महा मानवता प्राप्त करता है । वह समाज में ऐसा शोभता है जैसा कि देवराज में देवेन्द्र ।

एवं से सिद्धे बुद्धे । गतार्थः ।

इति यम अर्हतर्षिप्रोक्त

त्रिचत्वारिंशदध्ययन ।



वरुण अर्हतर्षि प्रोक्त चैवालीसवाँ अध्ययन

दोहिं अगेहिं उप्पीलतेहिं आताजस्सण उप्पीलती
रागंगेय दोसेय सेहु सम्मं णियच्छति ॥ १ ॥
वरुणेण अरहता इस्सिणा बुद्धं ।

अर्थः—राग और द्वेष की उत्पीड़ना से जिसकी आत्मा उत्पीड़ित नहीं होती, वही सम्यक् निश्चय करता है ।
ऐसा वरुण अर्हतर्षि ऐसा बोले ।

गुजराती भाषान्तरः—

राग અને દ્વેષની સંવેદનાથી બેનો આત્મા દુઃખી થતો નથી તે સાધક સારી રીતે નિશ્ચય કરે છે એમ વરુણ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

राग और द्वेष उत्पीड़नाओं की विषमता के कटु फल हैं । दूसरा तो कटु हो ही पर पहले की कड़वास भी कम नहीं है । वह मधुलित विष है । रागी दोष नहीं देखता है और दोषी गुण नहीं देखता । जिसके प्रति रागद्वेष है उसके सौ सौ दोष भी हमारी आँखें देखती नहीं हैं और जिसके प्रति द्वेष है उसके सौ गुण में से एक भी नहीं दिखाई देता । बीड़ी पीनेवाले को उसका एक भी दोष नहीं दिखाई देता । सास को बहू का एक गुण नहीं दिखाई देता । बेटी के हाथ का घुरा काम माँ की दृष्टि में अच्छा है; जबकि बहू के अच्छे काम में भी वह कोई एव जरूर निकालेगी ।

राग और द्वेष से प्रेरित दृष्टि वस्तु के स्वरूप का सही मूल्यांकन नहीं कर सकती । इसीलिये कहा गया है जो राग और द्वेष से परे हैं वेही वस्तु का स्वरूप समझ सकते हैं । राग द्वेष से रहित बुद्धि ही ठीक निर्णय ले सकती है और वही निर्णय ठीक होता है जब कि हमारा मन स्वस्थ और शान्त होता है । इसीलिये एक इंग्लिश विचारक ने कहा है Never make a decision when you are down-hearted.

जब तुम खिन्न भन हो तब किसी प्रकार का निर्णय न लो । क्योंकि आवेश के क्षणों में लिया हुआ निर्णय ठीक नहीं होता । वस्तु के स्वरूप को समझने के लिये या सही निर्णय लेने के लिये हमें राग द्वेष रहित होना चाहिए ।

प्रभु महावीर ने कहा है—

‘राग और द्वेष कर्म के बीज हैं । कर्म का जन्म मोह से होता है, क्योंकि मोह स्वयं भावकर्म है और भावकर्म द्रव्य-कर्मों का प्रवेश द्वार है । द्रव्यकर्म जन्म और मृत्यु की परम्परा के मूल हैं और दुःख क्या है ? जन्म और मृत्यु के ही तो दूसरा नाम हैं ।’

नीतराग आत्मा राग और द्वेष के पाश से मुक्त हैं । रागानुभूति की मोहक लहरें जिसकी आत्मदशा को स्वभाव स्थिति से विचलित नहीं कर सकती ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थः ।

प्रोफेसर शुमिंग लिखते हैं ४२ व ४९ अध्ययन में स्पष्टीकरण विना के प्रकरण हैं । चैवालीसवाँ अध्ययन का प्रथम पद बताता है जो अल्प से बहुत्व की ओर जाता है वह वैश्वरीय रूप का आभास पाता है । वह व्यक्ति प्रेक्षक की तीनों पदवियों भी प्राप्त कर सकता है ।

इति वरुण अर्हतर्षिप्रोक्त

चैवालीसवाँ अध्ययन



वैश्रमण अर्हतर्षि प्रोक्त पैंतालीसवाँ अध्ययन

दृष्टियाँ दो होती हैं। एक अन्तर्दृष्टि और दूसरी बहिर्दृष्टि। अन्तर्दृष्टि साधक आत्मिक सुख की परिधि को मानकर चलता है। बहिर्दृष्टि मानव बाहर के सुख को प्रमुख मानकर चलता है। अन्तर्दृष्टि साधक के हृदय में बाहरी पदार्थों के मोह में आसक्ति नहीं होती। वह व्यक्ति के बाहरी रूप को ही नहीं, अन्तर को भी देखता है। मानव का बाहरी रूप असुन्दर हो सकता है, किन्तु वह हमेशा के लिये वैसा ही रहेगा। यह स्वीकार नहीं करता। इसी लिये पापी से पापी मानव में भी वह दिव्य मानवता का दर्शन करता है। उसके अन्तर की सोई हुई मानवता को जगाता है। कष्टों के कोमल हाथों से कठोरता को धीरे-धीरे मिटा करता है। अन्तर्दृष्टि साधक के हृदय में कष्टों का स्रोत बहता है। सब पर अपनी कष्टों की धारा बहाता है। प्रस्तुत अन्तिम और सबसे बड़े अध्ययन से अन्तर्दर्शन की प्रेरणा प्राप्त होती है। उसका प्रथम श्लोक है:—

अल्पं च आउं इह माणवानं सुचिरं च कालं नरयेसु वासो ।

सन्वे य कामा गिरयाण मूलं को नाम कामेसु बुहो रमेज्जा ॥ १ ॥

अर्थ:—यहां मनुष्यों की आयु अल्प है और नरक में सुदीर्घ काल तक वास होना है और सभी काम नरक के मूल हैं। फिर कौन बुद्धिमान काम वासनाओं में आनंद मानेगा ।।

गुजराती भाषांतर:—

આ દુનિયામાં મનુષ્યના આયુષ્યની મર્યાદા ઘણીજ ઓછી (ટૂંકી) છે અને નરકમાં રહેવાની કાલમર્યાદા ઘણી લાંબી છે; અને બધી વાસનાઓ નરકને લીધે છે. એમ બાળીને કયો ડાઘો માણસ કામવાસનામાં આસક્ત રહેશે ?

मानव मन की भोगसक्ति दूर करने के लिये वासना विरक्ति के संदेश के साथ प्रस्तुत अध्ययन का आरंभ होता है। मानव के अल्प सुख को नरक के अनंत दुःखों के साथ उपमित किया गया है। मानव की क्षणिक सुखानुभूति अपने पीछे नरकों की सागरों की दुःखपरम्परा लिये चलती है। नहर को देख नदी की याद आ जाती है, फूल को देख कर फूल की स्मृति हो आती है, ऐसे ही वासना भरे चित्त देखकर नरक की स्मृति हो उठती है। काम की ज्वाला से कम भ्रूयानक नहीं है। अन्तर इतना ही है एक स्थूल आग है, दूसरी सूक्ष्म है। भगवान महावीर ने काम को मार और नरक बताया है। अर्हतर्षि कह रहे हैं सभी कामों का पर्यवसान नरक में होता है।

टीका:—अल्पं च आयुरेह मानवानां सुचिरं च कालं नरकयेसु वासः। सर्वे च कामा नरकानां मूलं को नाम बुधः कामेषु रमेत् ? गतार्थः।

पापं ण कुज्जा ण हणेज्ज पाणे, अतीरसे णेव रमे कदायी ।

उच्चावपहिं सयणासणेहिं वायु व्व जालं समतिकमेज्जा ॥ २ ॥

अर्थ:—साधक न पाप करे न प्राणियों की हिंसा ही करे। विषयों से उपरत साधक उस नीच शयनासनों में आनंदित न हो, किन्तु हवा की भांति जालका अतिक्रमण करे।

गुजराती भाषांतर:—

સાધકે કોઈ તરહનું પાપ ન કરતું બોધ્યો, ન કે જીવીની હિંસા પણ કરવી બોધ્યો. વિષયોથી વૈરાગ્ય પામેલા સાધકને ઉંચા કે નીચા શયન અગર આસનમાં આનંદ કે દુઃખ ન થતું બોધ્યો. એમ બાળમાંથી હવા આરપાર નીકળી જાય છે તેમ આસક્તિથી પાર થઈ જવું બોધ્યો.

प्रस्तुत गाथा में पाप और उसके कारणों से दूर रहने की प्रेरणा दी गयी है। मनुष्य पाप करता है और हिंसा भी करता है। उस हिंसा के प्रेरक तत्व हैं मनुष्य के मन के लोभ और मोह। आखिर वह हिंसा क्यों करता है ? किसी पदार्थ या व्यक्ति प्रति उसके मन में लोभ रहता है, उसे पाने की चेष्टा रहती है। अतः उसके विघ्नभूत जो भी व्यक्ति होते हैं उन पथ के अवरोधकों को वह दूर करना चाहता है। उसके लिये वह हथियार का भी आश्रय लेता है। अतः मानव के मनके भीतर घुसकर देखा जाय तो ये लोभ और मोह के कीटाणु ही हिंसा को जन्म देते हैं। अतः विचारकों ने मोह को हिंसा का सूक्ष्म रूप बताया है।

साधक को स्थूल हिंसा से बचना है तो सर्वप्रथम उसे मन में पैदा होने वाली सूक्ष्म हिंसा को रोक देना होगा। उसके लिये आसक्ति के पाश को छेदना होगा। यह समस्त का उपासक बने उसके सामने मनोज्ञ या अमनोज्ञ कैसा भी भोजन आए उसे वह समभाव के साथ ग्रहण करे। सोने के लिये सुन्दर भवन मिले या वृक्ष की सूनी छांव, दोनों के प्रति उसके मन में एकधारा रहे। समभाव की साधना के द्वारा साधक वायुमा अप्रतिबद्ध होगा और मोह की जाल को पारकर जाएगा फिर जाल पानी को भी नहीं रोक सकती, तो साधक तो हवा है दुनियाँ के जाल उसकी प्रगति में बाधक नहीं हो सकते। 'अतीरसे गेब' का पाठान्तर 'अतीरमाणेव' भी मिलता है, उसका अर्थ होगा तीर तट को प्राप्त किये बिना आनंद न पाए। क्योंकि साधक के जीवन का लक्ष्य है भवसागर के तट पर पहुँचना। बिना तट पर पहुँचे बीच में आनंद कैसा? सागर की असीम जलराशि में पड़े हुए मानव का एकाग्र लक्ष्य होता है तट पर पहुँचना।

टीका:—पापं न कुर्यात् प्राणिनो हन्यादतिगतरसः न कदापिदुष्कावचेष्टु शयनासनेषु रमेत्, किन्तु तान् समतिक्रमेद्, वायुरिव जालम्। गतार्थः।

वेसमणेण अरहता इतिणा बुद्धं—

जे पुमं कुरुते पावं ण तस्सऽप्या भुवं पिओ।

अप्पणा हि कडं कम्मं अप्पणा चेव भुज्जती ॥ ३ ॥

अर्थ:—वैश्रमण अर्हतरिणं बोले—जो पुरुष पाप करता है उसे निश्चयतः अपनी आत्मा प्रिय नहीं है, क्योंकि स्वकृत कर्म को आत्मा स्वतः मीठा है।

गुजरती भाषान्तर:—

वैश्रमण्य अर्हतरिणि बोल्या:—जे माणुस पाप करे छे तेने पोतानो आत्मा प्रिय नहीं; केम के ते आत्मा पोते ऊरैव दृत्योनो भोग पोते न अने छे।

पूर्व गाथा में पाप प्रवृत्ति के लिये निषेध किया था। यही अर्हतरिण उसका हेतु बता रहे हैं। जो पुरुष पाप प्रवृत्ति कर रहा है, गहराई से देखा जाए तो उसे अपनी आत्मा से प्रेम नहीं है, क्योंकि यह निश्चित है स्वकृत कर्म अवश्य उदय में आवेंगे और उस दिन उसे उनका प्रतिफल भोगना होगा, इन रूप में देखा जाए तो वह स्वयं अपने लिये कांटे बिछा रहा है। अथवा पापशील आत्मा के लिए पाप निश्चित रूप से प्रिय नहीं हो सकते। पाप परिणति कटु परिणाम लेकर आएगी। तब के पदार्थ जिसके अभाव में वह जीना दूसर समस्त रहा है उनके सद्भाव में जीना कठिन हो जाएगा।

साथ ही अशुभ प्रवृत्ति आत्मा लिये भी प्रिय नहीं हो सकती, क्योंकि वह विभाव दशा है और हर बुरे काम के लिये अन्तर्मेन इन्कार करता है।

पावं परस्स कुब्बंतो हसते मोहमोहितो।

मच्छो गलं गसंतो वा विणिन्नायं ण पस्सति ॥ ४ ॥

पशुप्पणरसे सिद्धो मोहमल्लपणोहितो।

दित्तं पावति उक्कंठं चारिमज्जे व वारणो ॥ ५ ॥

परोवघाततल्लिच्छो दप्पमोहबल्लुदुरो।

सीहो जरो दुपाणे वा गुणदोसं न विदति ॥ ६ ॥

सवसो पावं पुरा किञ्चा दुक्खं वेवेति दुम्मती।

आसत्तकंठपासो वा मुक्कधारो दुहट्ठिओ ॥ ७ ॥

पावं जे उपकुब्बंति जीया सोताणुगामिणो।

वहुसे पावकं तेसि अणगाहिस्स वा अणं ॥ ८ ॥

अणुवद्धमप्पसंता पशुप्पणगवेसका।

ते पच्छा दुक्खमच्छेति गलुच्छिप्ता जहा हसता ॥ ९ ॥

आताकडाण कस्माणं आता भुज्जति जं फलं।

तम्हा आतस्य अट्ठा पपायमादार्यं वज्जय ॥ १० ॥

ये सातों गाथाएं पन्द्रहवें अध्ययन में क्रमशः ग्यारह से सत्रह के क्रम पर स्थित हैं। वहीं पर विस्तृतार्थ के साथ इनका विचार भी किया गया है।

जं हन्ता जं विवर्ज्येति जं विर्स वा ण भुजति ।

जं णं गेण्हति वा वालं णूणमत्थि ततो भयं ॥ ११ ॥

अर्थः—जिसे हिंसक छोड़ देता है, जिसको जो नहीं खाता है और जिस सर्प को जी पकड़ता नहीं है, उसे उसको भय अवश्य है।

गुजराती भाषान्तरः—

जेने हन्ता १२नार (५५) जेणी दे छे, ते जहरने (ते भाणुस) लक्ष्णु करतो नथी अने जे सापने (ते भाणुस) पकडतो नथी (ते भाणुसने) ते वस्तुनी भीड (अथ) रह्या वगर न रहे.

अशुभ प्रवृत्ति की कभी उपेक्षा नहीं करना चाहिये। रोग की उपेक्षा की जाए तो वह एक दिन उग्ररूप ले लेता है और फिर उसका प्रतिकार दुःशक्य हो जाता है। विष बेल को समाप्त करना है तो उसकी जड़ को समाप्त करना होगा। हिंसक व्यक्ति जिसको मारता नहीं है, किन्तु यदि हिंसक की हिंसा वृत्ति नहीं मिटाई गई तो संभव है किसी अवसर को पाकर उसकी सोई हुई हिंसावृत्ति में उभार आ सकता है और वह फिर से हिंसा करने के लिये आतुर हो जाए। घर में विष रखा हुआ है, यद्यपि खाया नहीं है पर उसे अलग नहीं किया; तो संभव है भूल से उसका उपयोग हो सकता है और वह अपनी मारकशक्ति का उपयोग कर देगा। दवा के बदले भूल में टिंकचर पीने वाले अनेक पाये गये हैं दुसरी ओर घर के एक कोने में साँप बैठा है तो रात्रि को सारा घर साँपों का घर लगेगा। अथवा लुपा हुआ सर्प एक दिन प्रहार कर सकता है। अतः सर्प को जब तक दूर न किया जाय तब तक उसका भय बना रहेगा। इन तीनों वस्तुओं का सर्वथा परिहार आवश्यक है, इसी प्रकार पाप की प्रवृत्ति का समूल परिहार करना चाहिये।

टीकाः—यं हन्ता अभियोक्ता विवर्जयति, यद्विषं नरो न भुजति, यं वा ग्यालं गृह्णति नास्ति ततो भयम् ।

टीकाकार भिन्न मत रखते हैं उनके अभिप्राय से जिसे मारनेवाला=अभियोक्ता छोड़ देता है। जिस विष को मनुष्य खाता नहीं है और जिस सर्प को पकड़ लेता है उससे उस व्यक्ति को भय नहीं रहता।

टीकाकार का आशय भी ठीक है किन्तु 'णूणमत्थि' में एक न और कहाँ से लाएंगे ?

धावन्तं सरसं नीरं सच्छं दार्ढिं सिगिणं ।

दोसभीरु विवर्ज्येति पावमेवं विवर्जय ॥ १२ ॥

अर्थः—सच्छ मधुर जल की ओर दोड़नेवाले डाढ़ और सींगवाले पशुओं का दोष भीरु व्यक्ति वर्जन कर देते हैं। ऐसे ही पाप को रोकना चाहिए।

गुजराती भाषान्तरः—

स्वच्छ भीडा पाण्णी तरङ्ग होडी जनार दाढ अने सींगवाणा पशुओने उरपोड भाणुस भीओ छे अने तेथी न छेतेथी नय छे. तेवी न रीते पापने पशु दूरथी न (अटकाववा भाटे) वर्ज करवा नेछिओ.

पिपासाकुल सर्प या सींगवाले पशु जब पानी की ओर दौड़ते हैं तब उनके बीच नहीं पड़ना चाहिये। क्योंकि वे अपने बाधक के ऊपर प्रहार कर सकते हैं, इसलिये दोष भीरु व्यक्ति उनको दूर से ही छोड़ देता है। इसी प्रकार विचारवाले साधक पापों को छोड़ दें। पाप से दूर होने के लिये पहली शर्त है पाप को पाप माना जाए। दोष को दोष न मानना सबसे बड़ा दोष है। रोग को रोग न मानना सबसे बड़ा रोग है। क्षय केन्सर आदि बड़े रोग हैं, परन्तु उन पर काबू पाया जा सकता है, किन्तु जो रोग को जानता नहीं है या उसे स्वीकार नहीं करता उस रोगी का कोई इलाज नहीं है। इसी प्रकार पाप के प्रति उपेक्षा करनेवाला या उसे स्वीकार न करनेवाला एक नया पाप और करता है।

पश्चिमी विचारक ल्यूथर ने कहा है—

The recognition of sin is the beginning of salvation, ल्यूथर. पाप की स्वीकृति मुक्ति का श्रीगणेश है। पाप पाप है, चाहे वह किसी भी रूप में आये और वह हमारे मन की पवित्रता को उसी प्रकार हर लेता है जैसे नदियों की उछलती हुई लहरें तट की हरियाली को।

यदि हाथों से पाप हो गया है तो उसके प्रति परचात्ताप होना चाहिये और पाप की प्रवृत्ति से दूर ऊपर उठने की प्रवृत्ति होनी चाहिये। पशु भी पानी में गिर जाता है तो वह भी उससे निकलने के लिये छटपटाता है, किन्तु जो मानव होकर भी अशुभ प्रवृत्ति के बीच से निकलने की चेष्टा न करे वह पशु जगत से ऊपर नहीं कूठा है फिर आकृति भले मानव की क्यों न हो।

एक और इंग्लिश विचारक बोलता है—

Manlike it is to fall into sin, findlike it is to dwell the rein, Christlike it is, for sin to grieve, Godlike it is all sin to leave-लॉगफेलो.

पाप में पड़ना मानव स्वभाव है, उसमें डूबे रहना शैतान स्वभाव है, उस पर दुःखित होना संत स्वभाव है और पापों से मुक्त होना ईश्वर स्वभाव है।

अर्हतर्षि उसी ईश्वर स्वभाव हैं कि प्राप्ति के लिये पाप के त्याग की प्रेरणा देते हैं।

टीका:—सरसं नीरं स्वच्छं प्रति धावन्तं वंदिणं शृंगिणं ह्वापयं दोषभीरणो विवर्जयन्ति एवं पापं विवर्जयेत्। गतार्थः।

राजकर्मोद्यं पापं दुःखदं दुःखभाजनं।

दोसादोसोदयी चैव पापकजा प्रसूयति ॥ १३ ॥

अर्थ:—पाप कर्मोद्यको प्राप्त करके आत्मा दुःख से और दुःख प्राप्त करता है। दोषी व्यक्ति और दोषों को ग्रहण करनेवाला पाप कार्यों को जन्म देता है।

गुजराती भाषान्तर:—

पापकर्मोना उदयने प्राप्त करी शय दुःखथी भीजा दुःखोने पामे छे, दोषी भाशुस भीजा दोषोनी स्वीकार करनार पापकर्मोने जन्म आपे छे.

अशुभ विपाकोद्य के समय आत्मा दुःख का अनुभव करता है, पर एक दुःख नये दुःखों की परम्परा लेकर आता है। दुःख आने पर यदि मन शान्त है तो कर्मों का और तज्जन्य दुःख का क्षय करता है, किन्तु विपाकोद्य के समय मन अशान्त हो गया और वह निमित्तों पर आकोश करने लगा तो दुःख भोग के समय नये कर्मों का उपार्जन कर लेता है साथ ही भविष्य के दुःखों की नींव डाल देता है। इसीलिये कहा गया है कि दोषी व्यक्ति नये दोषों को ग्रहण करता है और इस रूप में वह पाप-कार्यों को जन्म देता है।

टीका:—पापकर्मोद्यं प्राप्य दुःखेन दुःखभाजनं दोषेण च दोषोदयी पापकर्मणि प्रसूयते। गतार्थः।

उन्विचारा जलोहंता तेतणीय मतोद्धितं।

जीवितं वा वि जीवार्ण जीवन्ति फलमंदिरं ॥ १४ ॥

अर्थ—भूकंप से, जल समूह से, आग से अथवा तृण समूह से मरकर भी पुनः जीवों का जीवन आरंभ हो जाता है। फल का आश्रयस्थान कर्म यदि विद्यमान हैं तो जीवन भी चालू रहेगा।

गुजराती भाषान्तर:—

भूकंपथी, पाण्डीना पूरथी, आगथी, घांसना राशिथी (अग्निने पशु) जलोनुं ज्वन करीथी सरू थाय छे. इलनुं आश्रयस्थानरूपी कर्म जे अस्तित्वमां छैय तो ज्वन पशु चालू रहेथे.

सौ पचास वर्ष का जीवन बिताकर प्राणी जब चिरनिद्रा में सो जाता है, तो स्थूल इष्टि में ऐसा लगता है, कि जीवन समाप्त हो गया और ऐसा भी अनुभव होता है। मलाई की जिन्दगी बितानेवाले के भाग्य में दुःख ही दुःख है और दूसरों को सतानेवाला उनके आशुओं से क्रीड़ा करनेवाला मौज की जिन्दगी बिताता है। तब प्रश्न होता है, फिर पाप और पुण्य जैसी वस्तु कहाँ रही? और शुभ का प्रतिकूल शुभ रहेगा और अशुभ का अशुभ इस सिद्धान्त की सत्यता पर भी प्रश्न चिह्न लग जाता है।

इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत गाथा में दिया गया है। भूकंप, जल या अग्नि के द्वारा जीवन्तलीला समाप्त हो जाती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि जीवन तत्त्व समाप्त हो गया। जीवन के नाटक का एक दृश्य समाप्त हुआ है पर पूरा नाटक नहीं। एक दृश्य को देखकर किसी निर्णय पर पहुँचना गलत है। सीता हरण के दृश्य को देखकर अच्छे कार्यों के

प्रति विश्वास खो देना एक गलती है। दृश्य बदलते हैं पर द्रष्टा नहीं बदलता। इसीलिये एक जन्म के कृत पुण्य और पाप अन्य जन्मों में भोगने पड़ते हैं और इसीलिये अच्छी जिन्दगी बितानेवाले को कदम कदम पर दुःख सहना पड़ता है। यह दुःख वर्तमान जीवन का नहीं, विगत जन्म का है।

अतः अर्हत्तर्षि कह रहे हैं दुर्बलताओं से जीवन समाप्त हो जाए पर आत्मा समाप्त नहीं होता और जन्म मृत्यु की परम्परा तब तक चलती रहेगी जब तक कि फलमन्दिर कर्म मौजूद रहेंगे।

टीका:—उर्वीपाराजलौघान्तात् तेजन्या वा दग्धात् तृणगुच्छान्मृतोरिधत्तं उक्तस्थानेभ्यो मृत्वा प्रत्यागतमनश्चरं जीवानां जीवितं जीवादेव भवति फलमन्दिरं धान्यागारं कर्मफलभाजनमिति श्लेषः।

अर्थात्—पृथ्वी के पार से जलराशि में अग्नि से जल कर तृण गुच्छ आदि से मृत्यु पाकर पुनः आये हुए अनन्तर जीवों का जीवन चालू रहता है। वह जीवन फल का स्थान धान्यागार कर्म फल का पात्र होता है जब तक फल का स्थान धान्यागार मौजूद है तब तक उससे धान्य की समाप्ति नहीं होती। उसमें धान्य डाला जाता है और निकाला जाता है अथवा उस धान्य को बोने पर वह सहस्रगुणित प्रतिफलित होता है और इस रूप में वह धान्यागार कभी क्षीण नहीं हो सकता। इसी प्रकार आत्मा कर्म बांधता है उन्हें क्षय भी करता है, किन्तु अपनी रागात्मक परिणतियों के द्वारा पुनः कर्म का बन्धन करता है इस रूप में कर्म का धान्यागार अक्षय रहता है यह एक श्लेष है।

देजा हि जो मरंतस्स सागरंतं वसुंधरं।

जीवियं वा वि जो देजा जीवितं तु स इच्छती ॥ १५ ॥

अर्थ:—मरनेवाले को सागर पर्यन्त पृथ्वी या जीवन दिया जाए तो वह (मरनेवाला) जीवन ही चाहेगा।

गुजराती भाषान्तर:—

भरनारने (छेदवी डालतभां) એમ પૂછીએ કે દર્યા ના છેડા સુધી પૃથ્વી તને બોઈએ કે જીવવું પસંદ છે તો તે (भरनार भाषुस पणु) બનેમાંથી જીવન (મારે જીવવું જ) પસંદ છે એમ કહેશે.

हर प्राणी में एक महत्वपूर्ण इच्छा है, वह है जीने की। यह एक ऐसी कामना है जो मृत्यु के प्रथम क्षण तक प्राणी को छोड़ती नहीं है। मौत की सजा प्राप्त व्यक्ति को ससागरा पृथ्वी और जीवन दो में से एक का चुनाव करने के लिए बंदा जाए तो वह जीवन ही चाहेगा।

आगमवाणी बोलती है—प्राणिमात्र जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, अतः निर्मन्थ घोर प्राणि का परित्याग करते हैं। प्रस्तुत गाथा महाभारत के निम्नलिखित श्लोक से कितना साम्य रखती है।

मर्यमाणस्य हेमाद्रि राज्यं चापि प्रयच्छतु।

तदनिष्टं परित्यज्य जीवो जीवितुमिच्छति ॥—महाभारत।

टीका:—यदि यो जियमाणस्य वसुंधरां पृथ्वीं सागरान्तां दद्याज्जीवितं वाऽनयोरेकतरं प्रियस्वेति ततः स मरण-भीरुर्जीवितमिच्छति ॥ गतार्थः।

पुत्त-दारं धनं रज्जं विज्ञा सिप्यं कला गुणा।

जीविते सति जीवाणं जीविताय रती अयं ॥ १६ ॥

अर्थ:—पुत्र, पत्नी, धन, राज्य, विद्या, कला और गुण ये सभी प्राणियों के जीवित होने पर उनके जीवन को आनंद दे सकते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

છોકરો, બેરી, ધન, રાજ્ય, વિદ્યા, કલા અને ગુણ એ બધાં પ્રાણિઓ જીવતા હોય ત્યાં સુધી તેના જીવનને આનંદ પહોંચાડે છે.

पूर्व गाथा में बताया गया था कि प्राणी ससागरा पृथ्वी को छोड़कर भी जीना पसन्त करता है। उसका हेतु यहाँ दिया है। पुत्र धन विशाल साम्राज्य का सभी जीवन के लिये है। जीवन है तभी तक इनका सद्भाव है। दो आँखें मूंद जाने पर चक्रवर्ती के साम्राज्य का भी क्या मूल्य है? इसीलिये मानव संपत्ति और जीवन के तोल में जीवन को महत्व देता है।

आहारादि तु जीवाणं लोण जीवाणं दिज्जती ।
पाणसंधारणद्वयं दुक्खणिग्गहणा तहा ॥ १७ ॥

अर्थः—लोक में प्राणियों के द्वारा दूसरे जीवों को आहारादि इसलिए दिये जाते हैं ताकि वे प्राण रक्षा कर सकें और दुःख का निग्रह कर सकें ।

गुजराती भाषांतरः—

आ दुनियाभां छवो वडे भीज छवोने आहार विगेरे को न धरादाथी अपाय छे के तेओना प्राणोनु संरक्षण यध श्रे अने दुःखनो प्रतीकार करी शके.

मानव एक सामाजिक प्राणी है । वह समाज में जीता है । समाज से कुछ लेता है तो यह आवश्यक हो वह कुछ दे भी । जो केवल लेना ही जानता है वह राक्षस है, भले ही वह किसी भी कुल में पैदा हुआ हो और जो देना ही जानता है वह देव है । किन्तु मानव दे और ले के बीच पलता है । वह कुछ देता है तो कुछ लेना भी है । यह दे और ले की क्रिया स्वासप्रक्रिया है । हम स्वास के रूप में अच्छी हवा लेते हैं तो बदले में हवा छोड़ना न चाहे तो कब तक जीएगा हम दूसरे का सहयोग लेते हैं तो सहयोग देना भी आवश्यक है ।

मानव का पहला कर्तव्य है वह पीड़ित का सेवा के लिये हाथ आगे बढ़ाये । दूसरे को गिरते हुए देखकर जो हंसता है तो वह रोम के पास बादशाह का वंशज है जो रोम को जलता देख रहा था और बांसरी बजाए जारहा था । यदि खड़े रहे ही तो मिट्टी के ढेले हैं और घेरकर खड़े हो जाते हैं । पशु हैं, क्योंकि गाय भी घेरकर खड़ी हो जाती है, किन्तु जब हम गिरते हुए को आम्ने के लिये हाथ आगे बढ़ाते हैं तभी मानव हैं । बाचकमुख्य उमास्वाति भी लिखते हैं । एक दूसरे के लिए सहायक होना जीवों का लक्षण है ।^१

सत्थेण वणिहणा वा वि खते द्देहे व वेदणा ।

सय देहे जहा होति एवं सत्थेसि देहिणं ॥ १८ ॥

अर्थः—शत्रु और अग्नि से जैसे अपने देह में आघात, दाह, वेदना होती है, वैसे ही सभी देहधारियों को भी होती है ।

गुजराती भाषांतरः—

जेम शत्रोथी, आग अने आघातथी अणतरो के दुआवा जेवा दरहो शरीरभां थाय छे तेवी न रीते हरओक शरीरधारी (छव) ने थाय छे.

विश्व की समस्त आत्माएं एक हैं, क्योंकि सबकी सुख और दुःख की अनुभूति एक जैसी है । मेरी अंगुलि में कोई सुई चुभता है तो पीड़ा होती है तो दूसरे की वेद में सुई चुमेगी तो पीड़ा हुए बिना न रहेगी । इसीलिये आगमवाणी बोलती है—सभी आत्माएं एक हैं । सभी आत्माएं सुख चाहती हैं और दुःख से दूर रहना चाहती हैं, वैसे ही विश्व की अनंत अनंत आत्माएं शान्ति चाहती हैं । इंग्लिश विचारक भी बोलता है—All blood is of one colour—सभी प्राणी एक हैं ।

पाणी य पाणिघातं च पाणिणं च पिया दया ।

सद्वमेतं विजाणिशा पाणिघातं विवज्जय ॥ १९ ॥

अर्थः—प्राणियों को प्राणिघात अप्रिय है और समस्त प्राणियों को दया प्रिय है । इस सबको समझकर साधक प्राणिघात का परित्याग करे ।

गुजराती भाषांतरः—

छवोने छवोनी हिंसा अभती नथी अने अधां छवोने (भूत) दया हुदरती रीते अभे छे. आ वस्तु ध्यानभां सभी साधके छवनी हिंसानो त्याग करवो जेधये.

समस्त प्राणि अहिंसा आत्मा का अपना स्वभाव है । अतः वह सभी को प्रिय है । पशु के सामने एक व्यक्ति घास ले जाता है और दूसरा छुरा लेकर खड़ा है । उसे पूछा जाय कि तुझे कौन प्रिय है ? यदि कुदरत ने उसकी बोलने की शक्ति दी होती तो वह कद उठता मुझे घास लिये खड़ा व्यक्ति प्रिय है । फिर भी उसकी जीम न बोले, किन्तु उसकी आँखें तो बोल

१. परस्परौ ग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थसूत्र अ. पू. सू. २१ २. अहिंसा गूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं न सा उत्तारं मोक्षसमुपारि न यन्नाश्रमविधौ ।

ही देती है। हिंसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसीलिये तो दूसरे को पेट में छुरा भोंकनेवाला भाग खड़ा होता है जब कि करुणा प्रेरित मानव उसके पेट पर पट्टी बाँधता है वह हजारों के सामने खड़ा रह सकता है।

हिंसा मन का विष है, तो अहिंसा आत्मा का अद्वैत है। साधक इस तत्त्व को समझे और हिंसा का परित्याग करे। तत्त्व समझकर अहिंसा का अनुपालन ही श्रेष्ठ है, अन्यथा एकेन्द्रिय भी स्थूलरूप से हिंसा नहीं करता फिर भी अहिंसक नहीं कहला सकता। अहिंसा तत्त्व को समझने वाला प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों हिंसाओं से बचेगा। आज हम प्रत्यक्ष हिंसा से बचते हैं, किन्तु परोक्ष हिंसा के द्वार कितने खुले हैं। चमकीले बुट पहननेवाला उसके लिये नारे जानेवाले पशुओं की हिंसा से बच नहीं सकता। इसी प्रकार महान् ज्ञानियों का उपभोगता उग्र परोक्ष हिंसा का भागी होता है। भले ही हम मन को संतोष दे दें यह हिंसा हमारे लिये नहीं हुई है। एक कम्पनी हिंसात्मक वस्तुओं का निर्माण करती है वह निर्माण उपभोक्ताओं के लिये ही होता है, न कि अपने लिये। इस प्रकार अहिंसा की महारथियों में जितना उतरते जाएंगे उतने ही हिंसा से दूर हटते जाएंगे।

टीका:— ये प्राणिस्तोत्रं च वातं च, प्राणिनां च प्रिया दया, सर्वमेतद् विज्ञाय प्राणिघातं विजर्जयेत् । गत्यर्थः ।

अहिंसा सव्यसत्ताणं सदा गिर्व्येयकारिका ।

अहिंसा सव्यसत्तेषु परं ब्रह्ममणिर्दियं ॥ २० ॥

अर्थ:—अहिंसा समस्त प्राणियों के लिये शान्तिदायिका है। अहिंसा समस्त प्राणियों में अतीन्द्रिय परब्रह्म है।

गुजराती भाषान्तर:—

अहिंसा (अष्टमे ओष्ठं पशुं श्रवणे घात न करेव) अधां प्राणियोने (भरणुं अथ न डोवाथी) शान्ति आपनारी छे, तेथी न अधां प्राणियोभां ओष्ठ (अतीन्द्रिय) छद्रियोथी न अनुअवाय अेलुं अद्द छे.

अहिंसा आध्यात्मिक जगत का अभूत है, उसकी आनन्दानुभूति अन्तरिक्ष यात्रा के आनन्द से कम नहीं है। सक्खन दही का सार है, इसी प्रकार अहिंसा तत्त्व विचारक महान् सन्तों के विचार मन्थन का सक्खन है। अहिंसा का अतीन्द्रिय ब्रह्म प्राणिमात्र में व्याप्त है। आचार्य समन्तमद्र बोलते हैं ऋषियों की कल्पना भूमि में रमनेवाला परब्रह्म अतीन्द्रिय है, उसका केवल मानन प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु यह अहिंसा का ब्रह्म हम सबकी आत्माओं में बोलनेवाला ब्रह्म है और यह सरस है, सुन्दर और साकार भी है।

देविंदा दणविंदा य णरिंदा जे वि विस्सुता ।

सव्यसत्तदयोवेतं मुणीसं पणमंति ते ॥ २१ ॥

अर्थ:—समस्त प्राणियों के प्रति दयायुक्त मुनीश्वर को देवेन्द्र दानवेन्द्र और ख्याति प्राप्त नरेन्द्र भी नमस्कार करते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

अधां प्राणियो भाटे जेना अंतःकरणुभां दया वसे छे ते भाणुसने देवेन्द्र, दानवेन्द्र अने प्रसिद्धि पावेला महान् नरश्रेष्ठ पशु प्रणुभ करे छे.

जिस साधक के हृदय में दया का झरना बह रहा है, देश और काल की वीवारों से ऊपर उठकर जिन्होंने आत्मा को देखा है उसके चरणों में देवेन्द्र और दानवेन्द्र श्रद्धा से झुक जाएं तो आश्चर्य न होगा। हमारी दया का स्रोत प्राणिमात्र के लिये उन्मुक्त रूप से बहना चाहिये। मैं और मेरेपन को उस दया के स्रोत के बीच चट्टान नहीं बनने देना चाहिए। यह मेरा है, मेरी समाज का है, मेरे प्रान्त और मेरे देश का है, इसलिये वह मेरी करुणा के कण पा सकता है, अन्य नहीं। मन की ये वीवारें करुणा की पवित्र धारा को अक्षिप्त बना देती हैं; जिस साधक का चिन्तन इन वीवारों से ऊपर उठता है जिसके हृदय में करुणा का सागर लहलहा रहा है वही विश्ववन्द्य हो सकता है।

तमहा पाणदयदुप तेत्तपक्षधरो अधा ।

पगगमणीभूतो दयत्थी विहरे मुणी ॥ २२ ॥

अर्थ:—दयाशील (दयाशील) मुनि प्राणियों पर दया के लिये तेलपात्र धारक की भाँति एकाग्र मन होकर विचरे।

गुजराती भाषान्तर:—

दयाशील (दयालु) मुनि श्रवणविषे दयाने भाटे तेवी न रीते सभतोक्ष यितथी वतें जेम के छवोछव तेवथी अरेथो छो भाथा उपर भुकी व्याधनार भाणुस रस्ताभां (न डोवाय ओ दिसाओ) ओकाययित्त थर्छ थावे छे.

कहना से असिद्ध साधक प्राणी दया के लिये सदैव सावधान रहे, क्योंकि कदम पर हिंसा का साम्राज्य है। हिंसा प्रसाधन जितने भवानक बनते जाएँगे अहिंसा को उसका मुकाबला करने के लिये उतना ही सजग रहना होगा। उपग्रह के इस युग में अणुबमों का प्रतिकार अशुभ नही, अहिंसा ही कर सकती है। अहिंसक को पूरी सान्धानी के साथ चलना होगा और पूरे जोश के साथ विश्व को संदेश देना है। Live and let live जीओ और जीने दो। केवल ही नहीं देता है अहिंसा का अनुपालन करके प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करता है। अहिंसा के सिद्धान्त पृथ्वी में नहीं व्यक्तियों में जीते हैं। सिद्धान्त चाहे जितने ऊँचे हों किन्तु उनकी श्रेष्ठता उसके पालनकर्ताओं से व्यक्त होती है। क्योंकि जनता सिद्धान्त नहीं जीवन देखती है और जीम की अपेक्षा जीवन का स्वर ऊँचा होता है। अहिंसा के लिये साधक उतना ही सावधान रहे जितना कि तेल पूर्ण पात्र को ले जानेवाले।

जैन कथा साहित्य में चक्रवर्ती भारत की कहानी आती है। जब अयोध्या के उपवन में भगवान आदिनाथ ने विशाल परिषद के समक्ष देशना दी कि महारंभी और महापरिग्रही मरकर नरक में जाता है। तब एक व्यक्ति ने प्रश्न किया “प्रभो! ये चक्रवर्ती मरकर कहाँ जाएँगे?” प्रभु ने उत्तर दिया “यह अल्पारंभी चक्रवर्ती इसी भव में संपूर्ण कर्म क्षय कर निर्वाण प्राप्त करेंगे।” प्रभु का उत्तर पाकर बैठते हुए व्यक्ति के मुँह से निकल गया “हां; पुत्र को मोक्ष न मिलेगा?”

अस्पृष्ट शब्द चक्रवर्ती के कानों से टकराये। उन्होंने सोचा इसे अभी भी प्रभु की बात पर विश्वास नहीं है। अगले दिन अनुचर को भेजकर प्रश्नकर्ता को बुलाया। अनुचर को देखते ही उसके सामने मौत का चित्र घूम गया। सोचा चक्रवर्ती के सम्बन्ध में प्रश्न करके कितनी सुखता की। रोती हुई पत्नी भी बोल उठी “तुम्हें ही क्या पड़ी थी प्रश्न करने की?” का अनुचर ने उसे चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित किया। तो चक्रवर्ती ने तेल का पूरा भरा कटोरा हाथ में देकर कहा—“जाओ तुम अयोध्या में घूमो।” और रक्षकों को आदेश दिया कि “सावधान रहना, तेल एक बून्द गिरते ही तो तुम्हारी तलवार इसका सिर धड़ से अलग कर देगी।”

प्रश्नकर्ता ने सोचा मारना ही तो था और अभियोग भी हँद लिया गया है। आज मौत सिर पर है। तेल कटोरा लेकर चला—तो कदम कदम पर मौत घाव रही थी। पर पूरी सावधानी के साथ तेल कटोरा लिपे अयोध्या के बाजारों में घूमा। संध्या को जब सकुशल महलों में लौटा तो सोचा अब खतरा टला। तेल कटोरा नीचे रखकर संतोष की सांस ली। तो चक्रवर्ती ने पूछा “अब बताओ, अयोध्या के बाजारों में तुमने क्या देखा?”

वह बोला “हमा करें, अयोध्या के सारे बाजार इस तेल कटोरे में थे। जब सिर पर मौत मंडरा रही हो तब बाजारों के रंग में क्या रस होगा?” चक्रवर्ती ने कहा “अब तुम्हें अपने प्रश्न का समाधान मिल गया होगा।” उसने पूछा “यह कैसा समाधान? मेरा तो प्राण सूख गये थे।” हंसते हुए चक्रवर्ती ने कहा “मैंने तुम्हें समाधान देने के लिये बुलाया था, मारने को नहीं। प्रभु वीतराग के जिन शब्दों के प्रति तुम्हें अविश्वास था उन्हें ही मुझे सिद्ध करना था। अयोध्या के राग रंग तुम्हें लुभा न सके, क्योंकि मौत सिर पर झूम रही थी। ठीक इसी प्रकार तू खंड का विशाल साम्राज्य भी मुझे लुभा नहीं सकता। भले ही मेरे चारों ओर भोग और विलास नृत्य कर रहा हो।”

तेलपात्र धारक की यह कहानी एक ओर अनासक्ति का संदेश देती है दूसरी ओर सावधानी और एकाग्रता का देती है। अर्हतर्षि हिंसा की साधना में उसी एकाग्रता की आवश्यकता पर बल दे रहे हैं।

टीका:—सस्मात् प्राणिदयार्थमेकाग्रमना भूया दयार्थी मुनिरग्रमत्तो विहरेद् यथा कश्चित्तैलपात्रधरः। गतार्थः।

आणं जिणिं भणितं सध्वसत्तानुगामिणिं।

समच्चित्ताभिणंदित्वा मुञ्चंती सध्वबंधणा ॥ २३ ॥

अर्थ—साधक प्राणिमात्र का अनुगमन करनेवाली जिनेन्द्र कथित आज्ञा को समचित्त से स्वीकार कर सभी बन्धनों से मुक्त होता है।

गुजराती भाषान्तर:—

साधक प्रत्येक प्राणि उपर दया करनारी छनेन्द्रनिर्दिष्ट आज्ञाने अग्रचित्त वनी अंगीकार करीने अंधनोशी मुक्त वने छे.

वीतराग देव की वह आज्ञा जिसमें कि साधक को प्राणिमात्र पर अनुकम्पा रखने का आदेश दिया गया है। साधक उसका सम्यक् रूप से अभिनेदन करे और उसका अनुगमन कर सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है। जिनेधर देव की आज्ञा

किसी प्राणिविशेष पर अनुकम्पा रखने की प्रेरणा नहीं देती। कोई व्यक्ति हमारी जाति समाज या प्रान्त का है, इसलिये हम उसपर अनुकम्पा करें और दूसरा इसलिये हमारी कृपा का कण न पा सके कि वह हमारी जाति से बाहर का है। क्षुद्रता की ये दीवारें वीतराग-शासन में प्रवेश के लिये अवरोधक दीवारें बनकर खड़ी होती हैं। क्योंकि वहाँ तो अनंत अनंत प्राणियों के प्रति एक रूप में एक भाव से कृपा धारा बहाने का समावेश है।

वीतमोहस्स दंतस्स धीमंतस्स भासितं जण ।

जे णरा णाभिणंदन्ति ते धुवं दुष्खभायिणो ॥ २४ ॥

अर्थः—वीत मोह (वीतराग) दान्त प्रज्ञाशील की बात को जो मनुष्य स्वीकार नहीं करते, वे निश्चयतः दुःख के भागी होते हैं।

गुजराती भाषांतरः—

वीतराग ओटले भुभ, दुःभ, भभत्पनी आसज्जिथी रहित, दमनशील अने बुद्धिमान् भाणुसनी बातोनो जे भाणुस स्वीकार करतो नथी ते भाणुस परेथर दुःभी बने छे.

वीतराग देव की समस्त विधिविधेयतात्मक आज्ञाएँ साधक के लिये हितप्रद हैं। उन आज्ञाओं के पीछे वीतराग की कोई वैयक्तिक स्वार्थ आकांक्षाएँ नहीं हैं, क्योंकि वे स्वयं मोहातीत हैं, जहाँ मोह की प्रेरणा है वहीं पर स्वार्थ की सृष्टि है। साथ ही वे दान्त इन्द्रियजेता हैं, उन्होंने स्वयं पहले उन आज्ञाओं का अनुपालन किया है। उसके बाद ही साधक के लिये विधान किया है। वे अनंत प्रज्ञाशील हैं। केवलज्ञान के प्रकाश गुंज में उन्होंने साधक के लिये ज्ञान किरण दी हैं। उनके आदेश को दुकराकर हम उन्हें तो कष्ट नहीं दे सकते, क्योंकि वे तो वीतराग हैं; पर हाँ, उनके आदेशों की अवहेलना करके हम अपने आपको दुःख और बन्धनों की मृंसला में बांध देते हैं।

जेभिणंदन्ति भावेण जिणाणं तेसि सख्खधा ।

कल्लाणाइं सुहाइं च रिखीओ य ण दुल्लहा ॥ २५ ॥

अर्थः—जो जिनेश्वरों की आज्ञा का भाव पूर्ण सर्वथा प्रकार से अभिर्मान करता है, उसके लिये कल्याण और सुख स्वयं प्राप्त हैं। ऋद्धियों भी उसके लिये दुर्लभ नहीं हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

जे भाणुस जिनेन्द्रनी आज्ञाने श्रद्धाथी मानपूर्वक अभिर्मान (स्तुति) करे छे, तेने भुभ अने उदयाणु ओशीश (कशुं पणु) कर्या वगर मणे छे, ऋद्धि अने सिद्धियो पणु तेने दुर्लभ नथी.

जो साधक वीतराग देव के आदेशों का यथोचित पालन करते हैं। उसके लिये वीतराग की वे कल्याणप्रद आज्ञाएँ सुख की शाश्वत राह दिखाती हैं। आत्म शान्ति के साथ उसे अनेक लब्धियाँ भी प्राप्त हो जाय तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि आत्म-तुष्ट के लिये लब्धियाँ चेरी बनकर हाथ जोड़े दोड़ी आती हैं।

टीकाः—ये भावेनाभिर्नन्दन्ति जिनाज्ञां तेषां कल्याणानि सुखान्यर्हन्त्येव सर्वथा दुर्लभा भवन्ति ।

मणं तथा रम्ममाणं णाणाभावगुणोदयं ।

कुल्लं व पडमिणीसंडं सुत्तित्थं गाहवज्जितं ॥ २६ ॥

रम्मं मंतं जिणिंदार्णं णाणाभावगुणोदयं ।

कस्सेयं ण पियं होज्जा इच्छियं व रसायणं ? ॥ २७ ॥

अर्थः—जैसे नानाविध भाव और गुणों के उदय से मन आनंद पाता है और जैसे ग्रह (मगर) वर्जित सुतीर्थ विकसित पद्मिनियों के समूह से शोभित होता है, इसी प्रकार नानाविध भाव और गुण से उदित जिनेश्वरों का सिद्धान्त सुरम्य है। इच्छित रसायन की भांति जिनेश्वरों का यह दर्शन किसे प्रिय न होगा?

गुजराती भाषांतरः—

जेभ अनेक तरङ्गना भाव अने गुणोनो उदयथी यित्तभां आनंद थाय छे जेमडे ग्राह (मगर) रहित ओष्ठ तीर्थ विकास पावेला कमलोथी सुशोभित बने छे; तेम व नाना तरङ्गना भाव अने गुणोथी विकास पावेदो ओनेश्वरोनो सिद्धान्त अत्यंत रम्य छे. छच्छेला रसायनो भाइ छे ओनेश्वरोनुं आ दर्शन ओने । प्रय न थरो ?

मधुर सौरभ सबका मन हर लेती है। इसीलिये खाद्य पदार्थों में और स्वागत समारंभों में सुरभित द्रव्यों का उपगयो होता है। पर यह बाहर की सुवास है, किन्तु मन की पवित्रता सत्य और शील के गुण अन्तर की सौरभ है। अन्तर सौरभ से सुरभित व्यक्ति सर्वत्र प्रिय होता है और जिस सुन्दर तीर्थ में मगर आदि नहीं है और पशुनी समूह से जो खिल रहा है वह सबके लिये प्रिय पात्र होता है। इसी प्रकार जिनेश्वर देव के शासन के जिस उद्यान में नानाविध भाव सद्गुणों के फूल महक रहे हैं वह किसे प्रिय नहीं होगा? हर को हृदय के व्यक्ति और श्रद्धा सुरभित हृदय को वह आकर्षित करता है। जैसे व्याधि पीड़ित को इच्छित रसायन प्राप्त होती है तो वह कितना आनंदित होता है। वैसे ही जो विभाग दशाओं की व्याधि से पीड़ित हैं उसे आत्म-शान्ति की रसायन क्यों न प्रिय होगी?

अण्हातो व सरं रम्मं वाहितो वा रुयाहरं ।

क्षुधितो व जहाऽऽहारं रणे मूढो व बन्धिय ॥ २८ ॥

वर्णि सीताहतो वा वि निवारं वाऽणिलाहतो ।

तातारं वा भउच्चिगो अणस्तो वा घणागमं ॥ २९ ॥

अर्थ:—अस्नात (स्नान नहीं किये हुए व्यक्ति) के लिये जैसे सरोवर रम्य है, रोगपीडित के लिए रोगहारक (वैद्य) का घर (औषधालय) प्रिय है। क्षुधित व्यक्ति के लिये आहार प्रिय है। युद्ध में मूढ़ आकुल व्यक्ति सुरक्षित स्थान पसन्द करता है। शीत से पीडित व्यक्ति के लिए अग्नि प्रिय है। वायु से पीडित निर्वात स्थान चाहता है। भयोद्विग्न रक्षण को चाहता है और ऋण से पीडित व्यक्ति धनप्राप्ति चाहता है।

गुजराती भाषांतर:—

अस्नात (जो स्नान न करे वा माणस) ने भाटे सरोवर रमणीय होय छे, दरदशी हैराणु थयेला (भांटा) माणस भाटे दरदने मटाडनार (वैद्य) ना घेर (देवाभारतुं) प्रिय छे, भूष लागेला माणसने आहार गमे छे, जंज (बडाई) भां भीजेवो माणस सुरक्षित (ज्यां भरणुं अय नहीं येवा) स्थानने पसंद करे छे, टाढशी कंटाणेला माणसने अग्नि (गरमी) लडु गमे छे, पवनशी पीडित माणस पवन वगरनुं स्थान पसंद करे छे, अयशी उद्विग्न (अयभीत) माणस कोई रक्षण करनारने आढे छे अने देवाहार माणस ज्यांथी (कोई पणु साधनशी) द्रव्यप्राप्ति थाय ते भाटे कोशीश करे छे।

पूर्व गाथा के अनुसन्धान में प्रस्तुत दो गाथाएं आई हैं। जिनेश्वर देव का शासन सम्भवत्त्वशील आत्मा को उतना ही प्रिय है जितना कि अस्नात व्यक्ति को सरोवर, रोगी को औषधालय, क्षुधित को भोजन, युद्ध में कायर व्यक्ति को सुरक्षित स्थान। दूसरी गाथा में भी ऐसे ही मन के प्रिय पदार्थों का निरूपण है। ठंड से ठिठुरते व्यक्ति को अग्नि प्रिय लगती है। वायु से पीडित व्यक्ति को निर्वात वायु रहित स्थान प्रिय होता है। भय से उद्विग्न बालक के सम्मुख उसके जायक अभिभावक आजाते हैं तो उसे कितने प्रिय होते हैं? और ऋण से दबा व्यक्ति जब चारों ओर से असहाय हो तब अचानक कहीं से उसे संपत्ति की प्राप्ति हो जाय तो वह भन उसे कितना प्रिय होगा, इसी प्रकार जन्म और मृत्यु की परम्परा से पीडित व्यक्ति को वीतराग का शानन प्रिय होता है। अण्हातो का पाठान्तर तण्हातो मिलता है, उसका अर्थ है तृणतर्प्यास से आकुल व्यक्ति के लिये सरोवर कितना सुरम्य होता है।

टीका:—अण्हातो वा रम्मं सरं व्याधितो वा रोगाहरं वैद्यं, क्षुधितो वाऽऽहारं, रणे मूढो व्याकुलो वा बन्धि क्षुधितं वर्णि सीताहतो वापि निवारं वाऽणिलाहतस्तातारं वा भयोद्विग्न ऋणार्तो वा घणागमम् ।

गंभीरं सर्वतोभद्रं हेतुभंगणयुज्जलं ।

सरणं पयतो मण्णे जिणिंदवयणं तहा ॥ ३० ॥

अर्थ:—गंभीर सर्वतोभद्र हेतु भंग नय से उज्ज्वल जिनन्द्र देव के वचनों के शरण जानेवाला भी ऐसा ही आनंद पाता है जैसे कि तृपार्त व्यक्ति पानी मिलने से आनंदित होता है।

गुजराती भाषांतर:—

गंभीर, सर्वदुःखाणुप्रद येवा नयशी उज्ज्वल जिनन्द्रदेवता पयनोने मान आपनार माणस तरस लागेला माणसने पाणी मण्या पछी जेम अयानक संतोष थाय छे तेवी ते न रीते संतुष्ट अने छे।

वीतराग देव का शासन आसन्नभी को वैसा ही प्रिय होता है जैसा कि सात दिन के भूखे को मिष्टान्न भोजन । पूर्व गाथा के अनुसंधान में आई हुई यह गाथा जिनेन्द्रदेव की सौरभ को प्रकट कर रही है । पहले बताया गया है कि तृषार्त को सरीवर, व्याधि पीडित को वैद्य का घर और क्षुधित को आहार प्रिय हैं । इसी प्रकार मुमुक्षु को जिनेन्द्र देव की वाणी प्रिय है ।

प्रस्तुत गाथा में जिनेन्द्र देव की वाणी की विशेषताएँ बताई गई हैं । वाणी गंभीर है सर्वतो भद्र है । सबके लिये सब ओर से कल्याण प्रद है और वह वाणी हेतु भंग और नय से उज्ज्वल है । उसमें आत्मा के बन्ध और मोक्ष के यथार्थ हेतु बताये गये हैं । वीतराग की देशना हेतुपुरःसर होती है ।

देशना की धारा विविध भाव भंगिमा की तरंगों से लहराती है । वस्तु तत्व के विविध रूपों का विविध अपेक्षाओं से निरूपण करते हैं । अपेक्षा भेद से की गई व्याख्या भंग कहलाती है ।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्याद् अवक्तव्यम्, स्यादस्ति अवक्तव्यम्, स्यान्नास्त्यवक्तव्यम्, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम् — ये सप्तभंग हैं । वस्तु स्वरूप की व्याख्या कभी विधेयात्मक होती है कभी निधेयात्मक । इन्हीं के अपेक्षा भेद से सप्तभंग निर्मित होते हैं । आत्मा स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्व शील है तो जबादि पररूप की अपेक्षा से नास्तित्वशील है । दोनों की साथ विवक्षा करनेपर अस्तित्वास्ति का तीसरा भंग तैयार होता है किन्तु चतुर्मुखी ब्रह्मा भी अस्तित्व नास्तित्व की एक शब्द में विवक्षा नहीं कर सकता, अतः अवक्तव्य हो जाता है । अवक्तव्य के साथ अस्ति, नास्ति और अस्ति, नास्ति के विकल्प जोड़ने से सप्तभंग तैयार होते हैं । नय-वस्तु के एक स्वरूप का विचार नय है और वस्तु के संपूर्ण स्वरूप का निरूपण प्रमाण है । जब हम विचार करते हैं तो कभी हमारी दृष्टि वस्तु के मूल स्वरूप पर जाती है, तो कभी हम उसकी बाह्य पर्यायों पर विचार करते हैं । वस्तु के मूल स्वरूप का विचार द्रव्यास्तिक नय कहलाता है और उसके अवस्था भेद का विचार पर्यायस्तिक नय कहलाता है । अमेददृष्टि द्रव्यार्थि नय है और भेदगामी दृष्टि पर्याय नय है वस्तु का सामान्यविशेषोभयात्मक निरूपण नैगम नय है, वस्तु के सामान्य अंश को स्वीकार करनेवाला संग्रह नय है । व्यवहार नय वस्तु के विशेष स्वरूपांश को ही ग्रहण करता है । उसकी सृष्टि में सामान्य जैसा कोई तत्त्व नहीं है ।

वर्तमान और स्व को ग्रहण करनेवाली दृष्टि का नाम ऋजु सूत्र नय है । यह दृष्टि पर द्रव्य और उसकी अतीत अनागत पर्याय को असत् मानती है । एक ही वस्तु को स्तिंग भेद किया कारक भेद से भिन्न माननेवाली दृष्टि शब्द नय है । समभिरुद्ध और एवंभूत उसकी सूक्ष्मताओं को बताते हैं । पर्याय भेद से वस्तु में भेद माननेवाला समभिरुद्ध नय है जो मुनि की साधु यति सभी पर्यायों को वह भिन्न मानता है । “ एवं भूत ” नय कार्य में प्रवृत्त पर्याय को ही वस्तु मानता है । मुनि दृष्टि में प्रवृत्त को ही वह मुनि मानता है । मुनि प्रवृत्ति से निरपेक्ष को वह मुनि स्वीकार नहीं करता ।

नैगम संग्रह और व्यवहार नय द्रव्यास्तिक नय के अन्तर्गत हैं । ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूत नय भेदगामी पर्यायनय की दृष्टि को लेकर चलते हैं । इस प्रकार हेतु भंग और नय से उज्ज्वल जिनेन्द्र देव की वाणी की शरण जानेवाली असीम आत्मिक आनन्द की अनुभूति करता है ।

१. अरधंतरमूर्णहिं य नियप्यहिं दोषि समयमादहिं,
वयणविसेसारथंदस्वमव्वतव्यथं पडह ॥
अहंदेशो सम्भावे वेसोऽसम्भावपज्जवे निययो ।
तं दवियं मत्थि गत्थिय आणस विसेसियं जम्हा ॥
सम्भावे आहंठो वेसो य उभयद्व जस्त ।
ते अत्थि अव्वतयं न होह दवियं वियप्वस्ता ।

—आ० सिद्धसेन दियाकर, सन्मतिप्रकरणकाण्ड, कारिका १६-१८.

२. सर्वाश्रमाहि ज्ञानं प्रमाणम्, अस्पाश्रमाहि ज्ञानं तयः । ३. तित्थयरवयणसंगहपत्थारमूलवापरणी, दब्धदिट्ठओ य पज्जवणयो य सेसा नियप्पासी ।

सन्मतिप्रकरणकाण्डकारिका ३

४. नैगमो मन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकम् । निर्विशेषं न सामान्यं विशेषोपि न तद्विना संग्रहो मन्यते वस्तु सामान्यात्मकमेव हि । सामान्यव्यतिरिक्तोऽस्ति न विशेषो सुषुण्वत् ॥ विशेषात्मकमेवार्थं व्यवहारस्य मन्यते । विशेषभिन्नं सामान्यमसत् खरविषाणवत् ॥ ऋजुसूत्रनमो वस्तु नातीतं नाप्यनागतम् । मन्यते केवलं किन्तु वर्तमानं तथा निजम् ॥ अर्थं शब्दनयानेकैः पर्यायैरेकमेव च । एकार्थाः कुम्भकलशघटाः घटपटादिवत् । ब्रूते समभिरुद्धोर्ध्वं भिन्नं पर्यायभेदतः । भिन्नार्थाः कुम्भकलशघटाः घटपटादिवत् । एकपर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते कार्यं स्वीयं कुर्वाणो एवंभूतनयो भुवन् ।

—श्रीविनय विजयजी नयकारिका,

सारदं वा जलं सुद्धं पुष्पं वा ससिमंडलं ।
जच्च-मणिं अण्डं वा थिरं वा मेतिणी तलं ॥ ३१ ॥
साभावियगुणोवेतं भासते जिणसासनं ।
ससीतारापच्छिण्णं सारदं वा णमंगणं ॥ ३२ ॥

अर्थ—शरद ऋतुका जल शुद्ध होता है पूर्णचन्द्र मंगल रम्य है । प्रकाश करती हुई मणि और विस्तृत मेदिनी तल स्थिर है । इसी प्रकार स्वाभाविक गुणों से युक्त जिनशासन शोभित होता है । जैसे चन्द्र और तारागण से व्याप्त शारदीय नभोजन शोभित होता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

शरदऋतुनुं पाणी धणुं शुद्ध होय छे. पूर्य्येन्द्रमंडल पाणु धणुं न रम्य देभाय छे. प्रकाशथी यणकता रज्जो अने विशाल पृथ्वीतल पणु स्थिर छे. जेम येदभा अने नक्षत्रगणुथी व्याप्त शरदऋतुमां व्याकाश शोभे छे ते न प्रभाणे हुंदरती गुणोथी युक्त जिनशासन सुशोभित छे.

अर्हतर्पि जिनेन्द्रदेव के शासन को विविध उपमाओं से उपमित करते हैं । जैसे शारदीय जल शुद्ध होता है और मणि चमकती स्थिर पृथ्वी विविध वन उपवन साग और उपखंडों से शोभित होती है । इसी प्रकार वीतरागदेव का शासन नय और प्रसाद से शोभित है ।

दूसरी गाथा में वीतराग देव के शासन को चन्द्र और तारिकाओं से व्याप्त शरद के स्वच्छ गगन से उपमित किया गया है । प्रस्तुत गाथाएं अर्हतर्पि की काव्यात्मक प्रतिभा को अभिव्यक्त करती हैं । उसमें प्रकृति के मनोहर रूप के साथ वीतराग देव के शासन को रखा गया है ।

शरद का शान्त नभोगन सरसल्लवा वर्षाचन्द्र और मनोहारि नक्षत्रों से शोभित होता है । इसी प्रकार दर्शनादि आत्मा के स्वाभाविक गुणों से जिनेन्द्र प्रभु का शासन शोभित होता है ।

सव्वणुससासनं पप्प विण्णाणं पवियंभते ।
हिमवंतं गिरिं पप्पा तरुणं चारु वागमो ॥ ३३ ॥
सत्तं वुद्धी मत्ती मेधा गंभीरत्तं च वद्धती ।
ओसर्घं वा सुहं कन्तं जुज्जय वलवीरियं ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिसने सर्वज्ञ का शासन प्राप्त किया है, उस आत्मा का विज्ञान वैसा ही विकसित होता है जैसा कि हिमालय में वृक्ष का सौन्दर्य बढ़ जाता है और जैसे पवित्र और तेजपूर्ण औषधि से बल और वीर्य की वृद्धि होती है इसी प्रकार जिनेन्द्र देव के शासन से) सत्त्व वृद्धि मति मेधा और गंभीर्य की वृद्धि होती है ।

गुजराती भाषान्तरः—

जे भाणुसे सर्वज्ञनुं शासन मेणव्युं छे, ते आत्मानुं विज्ञान पणु तेज रीते विकार पाभे छे, जेम के हिमालयमां वृक्षोनी निसर्गसुंदर रमणीयता वधे छे अने जेम पवित्र अने तेजपूर्ण औषधि (जड़ीबुटी) थी अल अने वीर्यनी वृद्धि थाय छे तेवी न रीते (जनेन्द्रदेवना शासनथी) सत्त्व, बुद्धि, मति, मेधा अने गांभीर्यनी वृद्धि थाय छे.

सर्वज्ञ के शासन की एक महती विशेषता यह है कि उसमें ज्ञान के विकास का अवसर प्राप्त होता है वह इसलिये कि इसमें अंधविश्वास को अवकाश नहीं है और धर्म अंध विश्वासों में नहीं पलता । अंधविश्वास को धर्म कहना सुरु को अमृत बताना है । धर्म और अंधविश्वास दो अलग राह पर जानेवाली दो चीजें हैं । मैं तो कहूंगा धर्म का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्दी कोई है तो अंधविश्वास ही । धर्म की पवित्र देह को दूषित किसी ने किया हो तो वह अंध विश्वास ही है । अंधविश्वास ने धर्म की रक्षा करने का ठेका अवश्य लिया था, पर वह रक्षक मूर्ख बन्दर जैसा था जिसने राजा के शरीर पर बैठी मक्खी को उड़ाने के लिये राजा को ही मार डाला । अंधविश्वास ने भी वही किया अश्रद्धा की मक्खी को उड़ाने के लिये तलवार से धर्म के टुकड़े कर दिये उसकी आत्मा को विदाकर के उसके शरीर से चिपका हुआ है । आगमवाणी भी बोलती है—

पण्णासमिक्खिण्णं धम्मं तत्तं तत्तं-विणिच्छियं ॥

—उत्तरा० अ० २३.

१. जम्बमाणि. २. आज सारद पृथ्वी को खधुरी पर घुमती हुई मानता है ।—जैनदर्शन के अनुसार हर वस्तु स्वर्थाय मे परिणमनशील है फिर भी जैन भूगोल पृथ्वी को स्थिर मानता है ।

जैन दर्शन अंधविश्वासियों के नहीं अपितु अनंत ज्ञानियों के धर्म को स्वीकार करता है। इसीलिये मंगलपाठ में बोला जाता है केवलप्रज्ञप्तिधर्म को स्वीकार करता हूँ।

जो धर्म बुद्धि की तराजू पर तुला हुआ होता है वही सत्य और असत्य का निश्चय कर सकता है जैसे हिमालय पर हुआ वृक्ष चारों ओर बहते हुए झरनों की तरी पाकर विकसित होता है। अथवा बर्फ सरोवर के किनारे के बीच खड़ा वृक्ष हरितिम सौन्दर्य में मुस्कुरा उठता है हिमालय की तेजोमयी औषधियें मानव को नवीन स्फूर्ति और तेज प्रदान करती है इसी प्रकार बीतराम देव के शासन के निकट रहा हुआ आत्मा सात्विक बुद्धि और निर्मल प्रज्ञा के द्वारा आत्मा स्वरूप को पहचानता है।

जैसे शुद्ध और तेजपूर्ण औषध शरीर को स्वस्थ और पुष्ट बनाती है इसी प्रकार हृदय की विशुद्धि प्रज्ञा में विशुद्धि लाती है और स्वस्थ बुद्धि में गंभीरता प्रवेश करती है।

टीका:—सर्वज्ञशासनं पुरुषेण प्राप्तं यदि तदा प्रतिजृम्भते-प्रकटीभवति यथा तरुणं चारुणाम्भो मनोज्ञः प्रादुर्भावो दृश्यते पुरुषैः हिमवन्तं प्राप्तवद्भिः। सत्वादीनि वर्धनो यथा सुष्ठाक्रान्तं सुप्रयुक्तमोषधं बलवीर्यं योजयति शरीरेणेति शेषः। गतार्थः।

पर्यङ्गस्स णरिवस्स कंतारे देसियस्स य।

आरोग्यकारणो चैव आणा-कोहो दुहावहो ॥ ३५ ॥

सासनं जं णरिदाओ कंतारे जे य देसगा।

रोगुग्धातो य वेज्जातो सध्वमेतं हिय हियं ॥ ३६ ॥

अर्थ—प्रचण्ड राजा का तथा कान्तार अर्थात् संसार में गुरु का और आरोग्यकारक वैद्य की आज्ञा का पालन न करना दुःख का कारण है।

राजाओं का शासन, वन के मार्गदर्शक अथवा संसार वन के मार्गदर्शक गुरु उपदेश और वैद्य से रोग का उपचार यह सब हितप्रद है।

शुजराती भाषान्तर :—

अश्वपान् राजानो दुःखं, कान्तारं ओटले आ लवरूपं जंगलमां गुरुनी अने आरोग्य-दायक वैद्यराजनी आज्ञानुं पालन न करवुं ओ दुःखनुं डारवुं थाय छे।

राजानोनुं शासन, जंगलमां मार्गदर्शन करनार, संसाररूपी जंगलमां गुरुनी उपदेश अने वैद्यनी (दरदनी) सारवार तेमज परहेछनी सूचन आ अधी वस्तुओ हितप्रद छे।

तेजस्वी राजा का आदेश न पालना दुःख को निमंत्रण देना है। शान्त प्रकृति के राजा का आज्ञा भंग इतना कष्ट प्रद हरा नहीं होता जब कि उग्र स्वभावी राजा अपनी आज्ञा को विफल जाते देखे उपरत बन सकता है और कठोर दंड दे सकता है। वीह्व वन में मार्गदर्शक का आदेश न मानना अपने आपको बिडम्बना में डालना है। इसी प्रकार वैद्य के पद्यापध्य का आदेश न मानकर हम रोग को दूना कर लेते हैं। इसी प्रकार स्वार्थ रहित जीवन बितानेवाले सन्तों के उपदेश की अवहेलना करके हम उनका कुछ न विगाँवेंगे, किन्तु अपने जीवन की सीधी राह में कांटे बिखेर देंगे।

दुनियां ने महापुरुषों को पूजा है, उन्हें सुखादु भोजन दिया है, सुन्दर वस्त्र दिये हैं, रहने के लिये विशाल भवन दिये हैं। मरने के बाद उनकी मूर्ति बनाकर पूजा है, उनकी चरण धूल को मस्तक पर चढ़ाया है। उनके पैर धोकर चरणामृत पिया है। उनके उपदेशों को शास्त्र वाक्य मानकर कंठस्थ किये हैं। उनकी स्मृति में बड़े ग्रन्थ तैयार किये हैं। उनके लिये मानव लक्ष गिना भी है। उसने सब कुछ किया किन्तु एक नहीं किया वह पथा कि उसकी बात नहिं मानी। और इसी लिये तो विश्व की अज्ञानि समाप्त नहीं हो सकी।

टीका:—प्रचण्डस्य क्रूरस्य नरेन्द्रस्य कान्तारे संसारे च देशिकस्य गुरोस्तथा वैद्यस्यारोग्यकारणं आज्ञा क्रोधा-रोग्याद्यर्थं प्रशस्तोप्राज्ञा दुःखावहा भमनोज्ञा दृश्यते परन्तु यन् नरेन्द्राद् यच्च ये संसारे देशिकास्तोभ्यः शासनं वधाद्वा रोगोद्घातो रोगोन्मूलनं सर्वमेतद्विते हितमतिहितं भवति। गतार्थः।

आणाकोधो जिणिंदस्स सरणस्स जुतीमतो ॥
संसारे दुक्खसंवाहे दुत्तारो सब्बदेहिणं ॥ ३७ ॥
तेल्लोकसारगहअं धीमतो भासितं हमं ॥
सम्मं कारण फासेत्ता पुणो ण धिरमं ततो ॥ ३८ ॥

अर्थ—पुण्यशील धुतिमान जिनेन्द्र देव की आज्ञा की अवहेलना इस दुःख पूर्ण संसार में सबके लिये दुःखप्रद होगी । त्रैलोक्य के सारभूत महान प्रज्ञाशील महापुरुषों ने जो कहा है और जीवन के लिये सम्यक् है उसका जीवन से स्पर्श करके फिर उससे पीछे न हटे ।

गुजराती भाषान्तरः—

पुण्यवान् हेटीभ्यमान जिनेन्द्रदेवनी आज्ञानी अवहेलना (अपमान) आ दुःखमय संसारमा अधाने माटे दुःखदायक थसे, त्रैलोक्यना सारभूत श्रेष्ठ धुद्धिमान् महापुरुषोअे उहुं छे अने जे छवनयात्रा माटे अत्यंत छिद्र छे अने छवनने स्पर्श कर्या पछी तेनाथी पाछण असी जवाय नही.

वीतराग देव द्वारा निर्दिष्ट पथ जीवन शान्ति का शाश्वत पथ है । मोहातीत महापुरुष, जीवन पथ के यथार्थ दृष्टा हैं । हम क्या हैं हमारा स्वरूप क्या है ? यह आत्मा चतुर्दिक् संसार में परिभ्रमण क्यों कर रहा है ? आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है । इन सब प्रश्नों का समाधान वीतराग देव ने मोह और कषाय विजय के पवित्र संदेश में दिया है उसका अनुपालन न करके हम मोह की जाल में फंसते हैं और दुःख की परम्परा को निर्मवण देते हैं ।

अहंनर्षि बता रहे हैं विश्व के सारभूत अनंतज्ञानी महापुरुषों का संदेश है जो जीवन के लिये श्रेय स्वरूप है उसे ग्रहण करें । इन्द्रियों के लिये जो प्रिय है वह प्रेय कहलाता है । इन्द्रियां उसी ओर दौड़ती हैं, किन्तु आत्मा को विकासोन्मुख बनानेवाली प्रवृत्ति श्रेय है । साधक श्रेय को पहचाने और हृद मनोयोग के साथ उसका पालन करे । फिर कितने भी प्रलोभन सामने आवें, कितनी भी कठिनाइयाँ आएँ उससे पीछे न हटे । मुसीबतों और प्रलोभनों को देखकर साधना से भटक जानेवाला साधक आत्मविकास नहीं कर सकता ।

टीकाः—जिनेन्द्रस्य शरण्यस्य धुतिमतः संसारे दुःखसंवाहे सर्वदेहिनां दुत्तारो भवत्याज्ञाकोप उमाज्ञा, तथाऽपि त्रैलोक्यसारगुरुधीमतो भावितमिदं कायेन श्रोत्रेण सम्यक् स्पृष्ट्वा गृहीत्वा यथि वा भावितमाज्ञावन् सत्सके गृहीत्वा न पुनस्तस्माद् विरमेत् ।

टीकाकार कहते हैं — शरण्यभूत वीतराग देव की आज्ञा कठोर होगे पर भी उसका अनुपालन आवश्यक है । आज्ञा उग्र होने पर भी उसे सम्यक् रूप से कामा के द्वार अनुपालित करे । उससे विरत न हो ।

वद्धचिंधो जधा जोधो वस्मारुढो धिरायुधो ।
सीहणायं विमुंचित्ता पलायंतो ण सोमती ॥ ३९ ॥
अगंधणे कुले जातो जधा णागो महाविसो ।
मुंचित्ता सविसं भूतो पियंतो जाति लाघवं ॥ ४० ॥

अर्थः—राज चिह्न बांधकर रथ में आरुढ़ स्थिरायुध योद्धा सिंहनाद करके यदि रणभूमि से पलायन करता है, तो वह शोभास्पद नहीं हो सकता । अगंधन कुल में पैदा हुआ विषधर यदि महा विष को छोड़कर पुनः उसे ग्रहण करता है तो हीनता को प्राप्त होता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

राजचिन्हयुक्त रथ उपर चढ़ीने स्थिरायुध थअेलो ददवेअ्यो सिंहनाद कर्या पछी (रणभूमी छोड़ी) जे भागी जय ते तेनी छीतिने छाने नही, अगंधन कुलमां जन्मेव अयंकर जेरी नाग अरने अहार ईष्टी छे जे पाछुं तेने दधे ते ते (साधना वंश) ने हीनत्व प्राप्त थाय छे.

जधा सण्णकुलोन्मूतो रमणिज्जं पि भोयणं ।
वंतं पुणो सा मुंजंतो धिद्धिकारस्स भायणं ॥ ४१ ॥
एवं जिणिवआणाय सल्लुद्धरणमेव य ।
णिग्गमो य पलित्ताओ सुहिओ सुहमेव तं ॥ ४२ ॥

अर्थः—जैसे रक्तिम कुल में उत्पन्न सर्प सुन्दर भोजन कर उसे वमन कर पुनः उसको खाता है तो धिक्कार का पात्र होता है, इसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का यथावत् पालन करने से आत्मशक्तियों का उद्धार होता है । संसार की आग से निकलकर वह सुखी होता है और यथार्थ में बही सुख है ।

गुजराती भाषान्तर :—

साध जेम रुद्रिभवंशगां जन्मेव मनगमतो भोराउ धर्ध तेनी उलटी करे छे अने ते (वसन करेखुं) ज इरी भाई नाभी पोते धिक्कारगो बीग थर्ध पडे छे, तेज प्रभावे छनेन्द्रदेवनी आज्ञानुं पावन करवाथी आत्मशक्त्योनी उद्धार थर्ध जय छे. संसारना तापथी छुटी जर्धने सुभी जनी जय छे ते ज सायुं सुख उडेवाथ छे.

साधक धर्मज जीवन को अपनाकर आगे बढ़े, पर धर्मज जीव की पहिवाइनों को देखकर अथवा भौतिक पदार्थों के आकर्षण को लेकर पुनः संसार की संसक्ति में न फँसे। क्योंकि साधना से वासना की ओर लौटना साधक जीवन की बहुत बड़ी पराजय है। एक थोड़ा सुद्ध के लिये तैयार होता है। कटिबद्ध होकर कवच धारण कर सिंहनाद करता है। इतनी वीरता से आगे बढ़ने बाद यदि वह बुद्ध-भूमि से पनायन करता है तो उसके लिये बहुत बुरी पराजय होगी।

साधक अंगंधनकुल का सर्प न बने, जो उगले हुए विष को पुनः निगल जाए। वह अंगंधन कुल का नाग है जो वासना के विष को उगल देने के बाद हजार यंत्रणा देने पर भी त्यक्त विष को ग्रहण करने को तैयार नहीं होता। अंगंधन कुल के सर्प का रूपक उत्तराध्वयन सूत्र में भी आता है। सती आध्वी राजमती साधना पथ से वलित रथनेमि को फटकार के स्वर में कहती है—

ओ साधक! अंगंधन नाग को जाज्वल्यमान धूमकेतु के सदृश दुःसह आग में गिरकर भस्म होना स्वीकार है। किन्तु वह धमन किये हुए विष को वह पुनः स्वीकार नहीं करता। अतः तुम अंगंधन कुल के सर्प बनकर वामित वासना को पुनः स्वीकार न कर।

यदि अंगंधन कुल का सर्प भी अपने वमित विष को पुनः ग्रहण करले है तो वह अपने कुल गौरव को समाप्त करता है। इसी प्रकार रुक्मिण्युत्पन्न सर्प भी यदि सुन्दर भोजन करके उसका वसन करके पुनः खाता है वह धिक्कार का पात्र होता है।

साधक अंगंधनकुल का सर्प है। वह आग की उधाला में झुलसना मंजूर करेगा पर साधना के पथ से विचलित न होगा; क्योंकि उसने भोग उन पदार्थों को अशिव समझकर परित्याग किया है। यदि वह उन्हें पुनः स्वीकार करता है तो वह वमित पदार्थों का ग्रहण है।

जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से शत्रोद्धरण संभव है। साधक इसका सम्यक् परिशलन करके इस दावानल अथवा प्रलम्पता (संसक्ति) से निकल शाश्वत शान्ति पा सकता है।

टीका:—यथा योधो बद्ध-चिह्नो वर्मारूढः स्थिरायुधः सिंहनादं विमुच्य पलायमानो न शोभते किन्त्ववमन्यतां गच्छति, यथा नागो भुजंगो महाविषोऽगन्धनकुले जातः स्वविषं सुखात् भूयस् तत् पिबन् छाद्यवं याति, यथा च सर्प-कुलोद्भूतो रमणीयमपि भोजनं वान्तं पुनर्भुजन् धिक् धिक्कारस्य भाजनं भवति। अगन्धानास्तु नागा मरणं व्यवस्यन्ति न च वान्तमापिबन्तीति विपरीतमाविशति जिनदासो दशवैकालिक-चूर्णैः एवं जिनेन्द्राज्या “सर्ववस्थमात्मतस् तपसा शल्यो-द्धारणमेव तथा प्रदीप्ताद् गृहानिर्गतं सुखी सुहितं वा भवति। सुखं एव तत्। गतार्थः।

इंदासणी ण तं कुज्जा दित्तो वण्ही अणं अरी।

आसादिज्जंतसंबंधो जं कुज्जा रिद्धिभारवो ॥ ४२ ॥

अर्थ:—इन्द्र का वज्र, प्रज्वलित अग्नि ऋण और शत्रु इतनी हानि नहीं पहुँचा सकते जितना कि मन से आत्मादन लिया जाता हुआ ऋद्धि का गर्व।

गुजराती भाषान्तर :—

छिन्द्रनुं वज्र, प्रज्वलित अग्नि, ऋण अने दुश्मन आठखुं नुकेसान करी नहीं शके, जेटखो के मनथी स्वाह धर्ध बीधेखी लक्ष्मी नो आहुंकार!

कहा जाना है इन्द्र का वज्र मर्त्यों की मृत्यु की शरण पहुँचाता है और अमर्त्य को दाह्य दाह पहुँचाता है। प्रचीत आग ऋण और शत्रु ये सभी व्यक्ति को संकट के सागर में डाल सकते हैं, पर अहर्तपि कह रहे हैं कि ये सभी आत्मा को उतनी पीड़ा नहीं पहुँचा सकते जितना कि मन में घुसा हुआ ऋद्धि का गौरव। गौरव का रौरव जिसके मन में धधक रहा है उसके सङ्गुणों की राख बना देती है। संभुम चक्रवर्ती और रावण जैसे इस गौरव की आग में ही तो राख होगये। हिटलर और मुसोलिनी के गर्व ने जर्मन और इटली का पतन करवाया था।

एक विचारक ने ठीक कहा है : ऐ नवी ! तेरा पूरा तीन दिन में उतर जाएगा, किन्तु अपनी संशक्ति के मद में तूने जो विनाश लीला खड़ी की है वर्षों तक दुनिया उसे भूल न पाएगी। फुटबोल इसी लिये टोकरें खाता है कि उसके पेट में मगरूर की हवा भरी रहती है। बाहुबली के छोटे से गर्व ने उनके लिये कैवल्य के दरवाजे बन्द कर दिये थे। उनके अहंकार की तुलना में हमारा अहंकार हजार गुना अधिक होगा और फिर हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।

प्रभु महावीर से एक बार गौतम स्वामी ने पूछा था : ‘प्रभो ! आपके अनुग्रह से मुझे चौदह पूर्व और चार ज्ञान प्राप्त हैं, केवलज्ञान में अब कितना शेष है ?’ तब प्रभु ने कहा था ‘गौतम ! असंख्य योजन विस्तृत स्वयंभूरमण सागर में से एक

१ पञ्चदे जलियं जीव धूमकेतुं दुरासयं । नेच्छन्ति वन्तयं भोक्तुं कुले जाया अंगंधणे ।

चिड़िया अपने चंचु में पानी लेती है बाद में वह संचे अब सागर में कितना जल शेष रहा है ? वस, चिड़ियों के चोंच में जितना जल आता है उतने से तेरे चार ज्ञान और चौदह पूर्व हैं । केवल ज्ञान शेष असीम जलराशि है । जब ज्ञान की संपत्ति का गर्व मन में आने लगे तब इस लघुकथा को स्मृतिपथ में ले जाना चाहिए ।' गौतम स्वामी को यह उत्तर मिला है तब उनके सामने हमारा ज्ञान कितना है ।

फिर हमारे ज्ञान की यह हालत है वैयाकरणों की सभा में तार्किक बन जाते हैं, तार्किकों की सभा में वैयाकरण बनते हैं । जहाँ दोनों नहीं है वह वैयाकरण और तार्किक दोनों बन जाते हैं और जहाँ दोनों सामने हों तो न वैयाकरण रहते हैं, न तार्किक ही ।

एक इंग्लिश विचारक कहता है—

Men are of four kinds.

1 He who knows not and knows not he knows not,
he is a fool, shun him.

2 He who knows not and knows he knows not. He is simple teach him ;

3 He who knows and knows not he knows, He is asleep,—wake him ;

4 He who knows and knows he knows, he is wise follow him ।

१. जो जानता नहीं है और जो यह भी नहीं जानता कि वह जानता नहीं है वह मूर्ख है, उसे छोड़ दो ।

२. जो जानता नहीं है पर वह अपने अज्ञान को समझता है वह साधारण पुरुष है उसे सीखाओ ।

३. जो जानता है पर उसे भान नहीं है कि वह जानता है, वह सो रहा है उसे जाग्रत करो ।

४. जो जानता है और उसे ज्ञान है कि वह जानता है वह बुद्धिमान है उसका अनुसरण करो ।

विकास के हस्त्युक्त को सत्ता संगति और ज्ञान सब प्रकार के अहंकार से दूर रहना चाहिए ।

टीका:—इन्द्राग्निर्दीप्तो वह्निर ऋणमरिर्न तत् कुर्युर्यत् कुर्यादास्वाद्यमान-सम्बन्धनमृद्धिर्गौरवं कश्चीनां बहुमानः । मतार्थः ।

चित्सगाह सरकुटं विसं वामाणुजोजितं ।

सामिसं वा णदीसोय यं साताकर्म दुहंकरं ॥ ४४ ॥

अर्थ:—विष और ग्राह-मगर आदि से व्याप्त सरोवर, विष मिश्रित नारी (विष कन्या) और मांस युक्त नदी स्रोत की भांति सुख के कर्म भी अन्त में दुःखकारक होते हैं ।

गुजराती भाषांतर:—

और अने मगर विगेरे द्विस्त प्राणिज्योथी व्याप्त सरोवर अने जेरी नारी (विषकन्या), मांसयुक्त नदीस्रोतनी जेम सुअना उभों पणु छेवटे दुःखपर्यवसायी (दुःखमां व परिश्राम थाय जेवा) थाय छे.

कर्म के दो प्रकार होते हैं । एक सातवेदनीय, दूसरा असातवेदनीय । एक का विपाक शुभ रूप में होता है दूसरे का अशुभ । प्राणी सुख रूप कर्म चाहता है; दुःखरूप नहीं । किन्तु कर्म चाहे सुखरूप हो या दुःखरूप उसका अन्तिम परिणाम दुःखरूप होता है । दुःख तो कटु है ही, किन्तु सुखरूप कर्म भी दुःख से मुक्त नहीं है । सता मरुदेवी को पूर्ण सातवेदनीय का उदय था और वे अपनी सुदीर्घ आयु में एक दिन भी अस्वस्थ नहीं हुईं; फिर भी जन्म और मृत्यु का दुःख तो था ही वियोग का मनस्वाप भी कहीं नहीं गया था, अतः सम्यग्दर्शनसंग्रह साधक न अशुभ कर्म चाहे न शुभ कर्म । वह तो सभी का अन्त चाहे ।

अर्हत्तर्षि इसी कथा की सोदाहरण व्याख्या करते हैं—सुरम्य सरोवर को देख भीष्म के ताप से क्लान्त मानव उसमें डुबकी लगाना चाहता है, किन्तु यदि उसका पानी विष मिश्रित है अथवा उसमें भयंकर ग्राह-मगर हैं तो उसमें प्रवेश करने का कोई साहस नहीं करता और उसकी सारी बाह्य सुषमा अस्तेवर हो जाती है ।

अथवा विषकन्या बाहर से अर्निष्ठ सुन्दरी होती है, किन्तु उसका स्पर्श प्राणपहारक होता है और जिल नदी के प्रवाह में मांस के टुकड़े डाले गये हैं वहाँ भी मत्स्यादि का आगमन अधिक होता है, किन्तु मांस-लोभ से आई मछलियां जल में फंस जाती हैं । ये सभी वस्तुएं बाहर से सुन्दरता लिये हुए रहते हैं, किन्तु अंत में इनका परिणाम प्राणघातक हो सकता है । इसी प्रकार शुभ कर्म भी अशुभ विपाक लेकर आता है । सुख की पक्षियाँ मानव को कर्तव्यभ्रष्ट बना देती हैं । कहा जाता है कि मनुष्य दुःख में पागल हो जाता है, किन्तु मनुष्य दुःख में नहीं सुख में पागल हो जाता है । सुख की अत्यधिकता उसकी विवेक ज्योति लुप्त कर देती है । दुर्योधन रावण और कोणि सुख के ही पागल थे ।

दुःख मानव की विवेक ज्योति को कायम रखता है । जैसे टेन्नीमेडी सड़क पर द्वायवर सावधान हो जाता है । इसी प्रकार दुःख के क्षणों में आत्मा सावधान हो जाता है । दुःख में मेरे तेरे के भुद्र घेरे समाप्त होकर आत्मीयता का प्रसार होता है । जैसे रात्री के सघन अंधकार में सभी वस्तुएं एक हो जाती हैं । सुख व्यक्ति के मन में अहंकार पैदा करता है ।

जबकि दुःख अहंकारी को भी नष्ट बनाता है। वैराग्य जन्मभूमि भी वैराग्य ही है। दो सम सुखियों में ईर्ष्या जन्म लेगी, जबकि दो सम दुःखियों में सहानुभूति पैदा होती है। इस लिये अर्हर्षि कह रहे हैं साधक सुख के मोहक रूप में न उलझे।

टीका:—सातकर्मदं करणं दुःखकरं-दुरन्तं भवति यथा समाहं = शिशुमारादिगर्भं सरो बुद्धं विकसितोत्पलं, वामया स्त्रिया वा कामिनोनुयोजितं विषं सामिषं वा नदीस्रोतो मत्स्यप्लवनयोग्यम्।

सातकर्म=अर्थात् इच्छित=सुख रूप कर्म दुरन्त होता है जैसे जिस सरोवर में कमल खिल रहे किन्तु उसके भीतर बड़े मगर हैं। स्त्री की सुन्दरता में भी कभी विष छिपा रहता है। रूपलिप्सा में आकुल कामान्ध व्यक्ति को वह कभी कभी अपने हाथों से विष दे देती है और रूप-मधुरिमा मृत्यु का निमंत्रण बन जाती है। जिस नदी के स्रोत में मांस के टुकड़े बिखरे गये हैं वह मछलियों की क्रीड़ा के योग्य है और मछलियाँ मांस टुकड़ों से आकृष्ट हो वहाँ आती हैं; किन्तु दूसरे ही क्षण वे जाल में फँस जाती हैं।

कोशीकृते ध्याऽसी तिव्रलो भासच्छण्डो व पावओ।

लिंगवेशपरिच्छण्डो अजियन्पा तदा पुमं ॥ ४५ ॥

अर्थ:—जैसे तीक्ष्ण तलवार कोष=म्यान में रहती है और अग्नि मस्माच्छादित रहती है इसी प्रकार अजितात्मा पुरुष भी नानाविध लिंग और वेश में छिपे रहते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

जेम तीक्ष्ण धारवाणी तलवार दुभेशा प्रेश (म्यान) भां रहे छे, अने अग्नि पाणु अस्म (शभ) थी ठंठायेले रहे छे तेण प्रभाणे अजितात्मा (जेनी इन्द्रियो पोताना कायु अछार छे तेयो) भाणुस अनेक तरहना अछारना वेश अने सिंगोशी संताडेवो होय छे.

म्यान तलवार नहीं है। उस सुन्दर-से म्यान के नीचे तीक्ष्ण तलवार छुपी रहती है और राख आग नहीं है, वह तो उसके नीचे दबी हुई है, इसी प्रकार शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा शरीर में है पर शरीर से भिन्न है।

उपनिषदों में शरीर को रथ बताया गया है और आत्मा को सारथि। यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में रथ और सारथी का सुन्दर रूपक दिया गया है वह यों है—

शरीर रूप रथ में आत्मा रथी है, बुद्धी सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े और विषय उनके बिचरने के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा भोग करता है। जो प्रज्ञा संपन्न होकर संकल्पवान मन से स्थिर इन्द्रियों को सुमार्ग में प्रेरित करता है वही मार्ग के अन्त तक पहुँचता है जहाँ से पुनः लोटता नहीं है^१।

साधक आत्मा के स्वरूप को समझे। लिंग और वेश के बंधनों से ऊपर उठकर शुद्ध आत्मा के दर्शन करे। सत्य का शोधक लिंग और देश के आवरण को हटाकर पवित्र आत्मा को खोज लेता है।

टीका:—कोशीकृतः कोशो निहित इवासिस्तीक्ष्णो भस्माच्छन्न इव पावकस्तथा लिंगवेशपरिच्छन्ः कुसापुर्जितात्मा।

टीकाकार कहते हैं—कोश=म्यान में तलवार रहती है और भस्म के नीचे जाज्वल्यमान आग रहती है इसी प्रकार संयम के वेश के नीचे असंयमी आत्माएँ रहती हैं। लिंग और वेश तो संयमी साधक का है, जिनके मनमें वासना की ज्वाला शान्त नहीं हुई है ऐसे व्यक्ति दुनिया के साथ छल करते हैं और अपने आपको भी धोखा देने की चेष्टा करते हैं। दुनिया को धोखा दिया जा सकता है; किन्तु अपने आपको नहीं।

जो वेश के प्रति वफादार नहीं है वे दुनिया के सबसे बड़े मक्कार हैं। चोर चोर वेश में रहता है तो इतना बुरा नहीं है जितना कि वह एक सभ्य व्यक्ति के वेश में आता है। ऐसे गोमुखी व्याघ्रों से सावधान रहने के लिये अर्हर्षि प्रेरणा दे रहे हैं।

कामा मुसामुही तिव्रखा, सातकम्माणुसारिणी।

तण्हा सातं च सिग्धं च, तण्हा छिंदति वेद्धिणं ॥ ४६ ॥

अर्थ:—काम तीक्ष्ण मृषामुखी कैची (असत्यवादी) है सातकर्मनुसारिणी है। किन्तु यह तृष्णा देहधारियों से शांति और तृष्णा शीघ्र काट देती है।

गुजराती भाषान्तर:—

काम ओटले तीक्ष्ण वासन, मृषामुभी ओटले कानर (जोटुं ओलनार) आ सातकर्मानुसारी छे पाणु आ तृष्णा (तरस) शरीरधारीओनी शांति अने तृष्णाने तरत न नष्ट करी दे छे.

मन की वासना तीक्ष्ण मृषामुखी है अथवा काम मृषामुखी है। अर्थात् जहाँ काम है वहाँ असत्य अवश्य रहता है। कामी व्यक्ति अपने पाप को छिपाने के लिये सो खो झूठ का आश्रय लेता है। तृष्णा सुख चाहती है। तृष्णा अपने सुख और शांति के लिये संपत्ति एकत्रित करता है। अनन्त अनन्त काल तक के लिये संपत्ति एकत्रित करना चाहता है। किन्तु यह तृष्णा देहधारियों की शांति को अविलम्ब भंग कर देती है। क्योंकि जिस मोटर में ब्रेक नहीं है वह ऐकसीछिन्ट के खतरे से खाली नहीं है तो

^१ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। — कठोप० ३।३.

जिसकी तृष्णा पर ब्रेक नहीं है वह भी अपने जीवन में ऐक्सीडेन्ट (दुर्घटना) करता है। हिरोशिमा कोरिया, लाओस की युद्ध की ज्वाला उसी ऐक्सीडेन्ट से आयी है। दुनियां के आधे से अधिक सेवर्ष तृष्णा ब्रेक के अभाव की कहानी कह रहे हैं।

एक इंग्लिश विचारक कहता है—

Desire is burning fire, he who falls into never rises again. इच्छा जलती हुई आग है। उसमें जो गिरा है वह फिर कभी उठा नहीं है।—‘जेम्स आक इस्लाम’ चम्पतराय,

स्वर्णमृग के मोह ने सीता को हजार हजार विपत्तियों नीच पटक था। सोने ने भाई के भाई चारे को भुलाया था। एक विचारक और बोलता है—*I despise gold, it has persuaded many men in many an evil.*—‘प्लेटस, मैं सोने को धिक्कार करता हूँ, क्योंकि उसने अनेक मनुष्यों को पाप करने के लिये फुसलाया है।

इसीलिये अर्हतर्षि तृष्णा से शांति के लिये खतरनाक बनाया है। भगवान महावीर ने अन्तिम देशना में फरमाया था—सम्पत्ति के द्वारा मानव शांति नहीं पा सकता।

टीका:—कामा मृषा सुखिनो व्याजशीलाः नीक्षणाः सातकर्मानुसारिणी तृष्णा चासातं च शीघ्रं च तृष्णा कामदिष्ठ-
नति देहिनाम्। मतार्थः।

सदेवोरनगंधर्वं सतिरिक्खं समाणुसं।

वैत्तं तेहिं जगं किच्छं तण्हापासणिबंधणं ॥ ४७ ॥

अर्थ—देव नाग, गंधर्व तिर्यच, मानव के साथ संपूर्ण लोक का उसने परित्याग कर दिया है जिसने तृष्णा का बंधन तोड़ दिया है।

गुजराती भाषान्तर:—

ये भाष्यसे तृष्णा (विषयासक्ति) नुं अंधन तोड़ी नाभ्यु छे ते भाष्यसे देव, नाग, गंधर्व, तिर्यच मानवीने साथे आ संपूर्ण लोकनो त्याग करी दीछे छे,

तृष्णा का गुलाम सारी दुनियां का गुलाम है, क्योंकि मन की तृष्णा उसे दुनियां की गुलामी करने के लिये प्रेरित करती है। अध्यात्म योगी कवि आनंदघनजी अपने आध्यात्म पदमें कहते हैं—

आशा दासी के जे जाया, ते तिहुं जगं के दासा।

जिसने तृष्णापर विजय पाई है उसने देव गंधर्व तिर्यच और मानव संपूर्ण लोक पर विजय पाई है ‘निःस्पृहस्य तृणं जगत्।’ निःस्पृह के लिये सारी दुनिया तृण तुल्य है।

अक्खोवंगो वणे लेवो, तावणं जं जउस्स य।

णामणं उसुणो जं च, जुत्तं तो कज्ज-कारणं ॥ ४८ ॥

अर्थ:—आंख में अंजन लगाना, व्रण (घाव) पर लेप करना जतु=लाख का तपाना और बाण का छुकाना इन सब के पीछे ठीक ठीक कार्यकारण परंपरा काम कर रही है।

गुजराती भाषान्तर:—

आंखमें अंजन आंखनुं, व्रण (घा) उपर लेप लगाउवो, जतु अछेसे बाण तपावी गरम करवी अने भाणु वांको वाणवो अेना पाछण ओछे मोटी डार्य—डारणु परंपरा काम करी रह्ये छे,

तृष्णाशील व्यक्ति का जीवन सदैव भौतिक प्रवृत्तियों में बीतता है, प्रातःसूर्य की प्रथम किरण के साथ उसकी निद्रा खुलती है और वह अपने बनाव सजाव में जूट जाता है। स्वाध्याय और ध्यान के महत्वपूर्ण समय का उपयोग वह मृगार प्रसाधनों में रमना करता है। कोई अपने समय का उपयोग दैनिक पत्र पढ़ने में लगाता है, तो कोई बूट पालिस में तो कोई नेत्रांजन में सुंदर समय को बरबाद करता है। बालों की सजावट और स्नो पाउडर में घंटों लगा देनेवालों के पास प्रार्थना के लिये पांच मिनट का समय नहीं मिलता।

आंख का अंजन सौन्दर्य वृद्धि के लिये है। तो व्रण लेप भी शारीरिक सुषमावृद्धि के लिये है, व्रण लेप का एक अर्थ घाव पर लेप करना है, वह स्वास्थ्य के लिये अभिप्रेत है, किन्तु यहाँ उसकी एक दूसरी ध्वनि भी निकलती है, चेचक आदि के द्वारा मुँह पर व्रणचिह्न=मुँहासे हो जाते हैं, उन्हें हटाने के लिये जो लेप किया जाता है वह स्पृष्टृष्णा से प्रेरित है।

जतुलाख का तपाना आजीविका निमित्तक है। किन्तु वह भी कभी कभी लोभ प्रेरित होता है। बाण को छुकाने की क्रिया भी किसी कारण से प्रेरित होकर की जाती है।

उद्देश्य बिना की क्रिया पागलों की होती है। बुद्धिमान एक कदम भी बिना उद्देश्य के इधर से उधर नहीं रखता। किन्तु हर व्यक्ति के उद्देश्य विभिन्न होते हैं। एक ज्ञानी की समस्त क्रियाएँ आत्म-साधना को लेकर होती हैं, जबकि रागी व्यक्ति की क्रियाएँ अपनी रागपरिणति की पोषक होती हैं।

टीका:—सदेवोरगगन्धर्व सतिर्वक् समानुषं जगत् ताभ्यां शाततृष्णाभ्यां कृच्छं घसं संभूतं तृष्णापाशनिबन्धनं, के ते? उच्यते-अक्षोपांजनं व्रणे लेपो यच्च अतुनस्तापनं यत्र चेषोर्नामनं यच्च ततो युक्तं कार्यकारणमिति । युग्मम् । गतार्थः ।

आहारादीपडीकारो सव्यणुवयणाहितो ।

अप्या हु तिव्ववण्हिस्स संजमट्ठाप संजमो ॥ ४९ ॥

अर्थ:—तीव्र आग को अल्प बनाने के लिये (शुद्धा का) प्रतिकार के लिये किया गया आहार सर्वज्ञ वचनों में से है और वह संयम के लिए है और हितप्रद है ।

गुजराती भाषान्तर:—

अयंकर अग्निने शमायवा भाटे (ओठले पेटनी भूष शांत करवा भाटे) आधेदो भुराड सर्वज्ञे अनुमोदन आपेदो छे. तेथी दुईम्य अना धिद्रियोपर काशु भेणववा भाटे ते योग्य छे तेज परेपर हितकारक थाय छे.

पूर्व गाथा में बताया गया है । सराग आग की हर किया बन्धन रूप होती है । प्रश्न होता है यदि क्रिया में पाप होता है तब संयमी जीवन जीनेवाला साधक आखिर करे क्या ? क्या उसे संयम लेते ही संशय पचख लेना चाहिए ? पर ऐसा हो नहीं सकता । त्याग जीवन की कला सीखाता है, वह मृत्यु का वारंट लेकर नहीं आता । साधक खाता पीता भी है, किन्तु उसका भोजन शरीर के पोषण के लिये नहीं होता अपितु आत्म-विकास के लिये है । उसका सिद्धान्त है--

जीने के लिये खाता है खाने के लिये नहीं जीता । फिर उसका भोजन शुद्धा के प्रतिकार के लिये और पेट की तीव्र आग को मन्द करने के लिये होता है । संयम की रक्षा के लिये होनेवाला भोजन सर्वज्ञ द्वारा अनुमत है ।

टीका:—आत्मनो जीवस्य खलु तीव्रवह्नेः संयमार्थं संयम आहारादि प्रतीकाररूपसर्वज्ञवचनेनाऽऽख्यातः ॥ गतार्थः ।

हेमं वा आयसं वा वि बंधणं दुक्खकारणं ।

महग्गस्सावि दंडस्स णिचाप दुक्खसंपदा ॥ ५० ॥

अर्थ:—बन्धन लोहे का हो या सोनेका वह दुःख का ही कारण होता है । दंड कितना मूय युक्त क्यों न हो उसके पकने पर दुःख अवश्य होता है ।

गुजराती भाषान्तर:—

अन्धन (सांभण) दोढानुं होय के सोनानुं छेपटमां ते तो दुःखनुं व ऊरखु अने छे. आडडी डेटली पणु डीमतनी होय तेनो भार पडे तो दुःख्या वगर रहे व नहीं,

शृंखला की कड़ियां लोहे की हो या सोने की दोनों बांधने का काम करती हैं । बन्धन आखिर बन्धन ही है । धातु का परिवर्तन उसकी बंधनशक्ति में परिवर्तन नहीं कर सकता । ऐसे ही एक सोने का डंडा है किन्तु वह सोने का है, अतः मारने पर उस से दुःख नहीं होगा ऐसा नहीं हो सकता ।

इसीलिये आगम में पुण्य पाप दोनों बन्धहेतु माने गये हैं । पुण्य सोने की शृंखला है और पाप लोहे की शृंखला; पर दोनों का कार्य है बांधना । पाप कारागृह की काली कोठरी है तो पुण्य नजरकैद है । नजरकैद में व्यक्ति महलों में रहता है और महलों के पूरे आराम उसे मिलते हैं, किन्तु उसे मुक्ति नहीं मिल सकती । पुण्य दुनिया के पूरे सुख दे सकता है, किन्तु संसार की नजर कैद से मुक्ति नहीं दे सकता ।

मुक्ति का स्वप्न द्रष्टा शृंखला को तोड़ना चाहेगा, साधक शृंखला से इसलिये प्यार नहीं कर सकता कि वह सोने की है ।

टीका:—हेमं वा बन्धनमायसं वापि दुःखकारणमेव महापर्यस्यापि दण्डस्य निपाते दुःखसंपद भवेत् ॥

असज्जमाणे दिव्वस्मि धीमता कज्जकारणं ।

कत्तारे अभिचारित्ता विणीयं देहधारणं ॥ ५१ ॥

अर्थ:—दिव्यभूमि में अनासक्त होकर बुद्धिमान कार्य और कारण को पहचाने । कर्ता अर्थात् आत्मा का अनुसरण करके साधक देह धारण को दूर करे ।

गुजराती भाषान्तर:—

दिव्यभूमि (ओठले स्वर्ग) ना सुभ अने जैनमां डाखा भाणसे आसक्त न व रहेतुं ओधओ, अने तेना कार्य तेमज ऊरखुनी समजखु करी लेवी ओधओ.

पहले बताया गया है कि साधक बन्धन से मुक्त हो । बन्धन लोहे का हो या सोने का आखिर वह बन्धन ही है । अर्हतर्षि सोने के बन्धन बता रहे हैं । पुण्य का मीठा फल स्वर्ग है और भौतिक सुख से आकृष्ट मन स्वर्ग पाने के लिये आकुल रहता है ।

अर्हतर्षि प्रेरणा के स्वर में कह रहे हैं-साधक ! तू भूल रहा है गुलाब के नीचे कांटे हैं तो स्वर्ग की रंगीन सुषमा के पीछे दुःख की काली छाया है । तू वीर्यद्रष्टा बन । कार्यकारण की परम्परा को पहचान । आखिर देव भी लोभ और कषाय की गठरी उठाये घूम रहे हैं । वे भी मृत्यु की छाया से बच नहीं सके हैं । अतः जैनदर्शन ने स्वर्ग को कभी महत्व नहीं दिया है । स्वर्ग के

लिये की जानेवाली साधना का अपने स्वयं शब्दों में विरोध किया है। अतः पुण्य के पीछे सुफल के लिये आकुल न हो। क्योंकि शूल तो बांधता है और गति को रोकता है किन्तु फूल की पकड़ उससे ज्यादा होती है। शूल तन को बिधता है जबकि फूल मन को बिध देता है। लक्ष्य का राही साधक शूल से बचता है तो वह फूल से भी बचता है। दोनों में नहीं उलझता।

इसी प्रकार साधक पुण्य और पाप दोनों से बचे। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि पुण्य और पाप दोनों समान हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है जितना लोहे और काष्ठ के नौका में। पहली तो डूबो देनेवाली है, जबकि दूसरी नौका धर्म के तट पर लटकर छोड़ती है। तट पर पहुंचाना उसका काम है किन्तु तट पर पहुंचने के बाद उसे नौका छोड़ देना होगा।

तीन परिणतियाँ हैं, एक अशुद्ध परिणति—दूसरी शुभ परिणति, तीसरी शुद्ध परिणति है। पहली गटर का पानी है। दूसरा रंग मिश्रित पानी है, तीसरा शुद्ध पानी है। पहला तो गन्दा है, तो दूसरा रंग मिश्रित है, अतः सदा पेय नहीं होता पर पेय तो शुद्ध पानी ही होता है। पाप अशुद्ध परिणति रूप गन्दा पानी है। पुण्य शुभ है पर रंग मिश्रित है जबकि आत्मा की शुद्ध स्वरूप में रमणता शुद्ध परिणति है।

साधक कर्ता अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप की पहचाने। अशुभ से शुभ में आये और शुभ से भी ऊपर उठकर देह धारण की परम्परा के मूल का उच्छेद करे। देहाभ्यास समाप्त होगा तभी देह धारण समाप्त होगा।

टीका:—दिव्ये कर्तृत्वे साधमाने ब्रह्मणः प्रतिक्रिये क्रियमाणे धीमता मुनिना कार्यकारणमनिवार्य निराकृत्य देहधारणं विनीतं प्रायोपगमादिनाऽपनीतम्।

अर्थात् साधक कार्य कारण की परम्परा को रोककर प्रायोपगमनादिके द्वारा देहधारण को समाप्त करे।

सागरेण त्वणिज्जोको आतुरो वा तुरंगमे ॥

भोजनं भिज्जणहिं वा जाणेज्जा देहरक्षणं ॥ ५१ ॥

अर्थ:—सागर में नाविक नाव का रक्षण करता है। (लक्ष्य प्राप्ति के लिये) आतुर व्यक्ति घोड़े की रक्षा करता है भिजक (भूखा) व्यक्ति भोजन की रक्षा करता है, जैसे ही साधक देह की रक्षा करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

दर्यामां नाविक (नाववासी) नावतुं रक्षणुं करे छे (पोतानुं ध्येय पूर्णुं करवा) व्याधुव भाणुस घोडानुं रक्षणुं करे छे; भिजक (भूखा भाणुस) भोजनतुं रक्षणुं करे छे, ते ज प्रमाणे साधक शरीरतुं रक्षणुं करे छे.

साधक देह की आसक्ति नहीं रखता किन्तु देह तो रखता ही है। देह को वह साधन के रूप में स्वीकार करता है। नाविक सागर की लहरों में नौका से प्यार करता है, क्योंकि वह जानता है कि नौका के द्वारा ही उसकी जीवन नैया तैर रही है। पर तट पर पहुंचने के बाद वह स्वयं नौका को छोड़ देता है। इसी प्रकार अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिये आतुर व्यक्ति घोड़े पर आरुढ़ होता है पर लक्ष्य पर पहुंचने के बाद वह स्वयं घोड़े से उतर जाता है। बुभुक्षित व्यक्ति आवश्यकता होने पर भोजन करता है और क्षुधावृत्ति होने बाद स्वयं उससे मुंह मोड़ लेता है। इसी प्रकार साधक देह की रक्षा करता है पर उसका उद्देश्य देह रक्षण नहीं अपितु आत्म-रक्षा है, जब तक देह के द्वारा देही को पोषण मिलता है तब तक वह शरीर की रक्षा करता है अब वह लक्ष्य पर पहुंच जाता है तो देह छोड़ देता है। भगवान महावीर भी उत्तराध्यायन सूत्र में फरमाते हैं:—

साधक छः कारणों से भोजन लेता है। क्षुधा की शान्ति, रक्षाधिकों की सेवा, ईर्ष्या समिति, संयम मात्रा का निर्वाह प्राणरक्षा और धर्म चिन्तन के साधक भोजन ग्रहण करता है।

टीका:—यथा सागरेणावनेयैः आतुरो रोगी पुरुषस् तुरंगं आरुढः तत्कैर्भोजनं, एवं निरर्थकमन्नदेयं वा देहरक्षणं जानीयात्। गतार्थः।

जातं जातं तु वीरियं सम्मं जुज्जेज्ज संजमे ।

पुप्फादीहि पुप्फाणं रक्खंतो आदिकारणं ॥ ५४ ॥

अर्थ:—साधक अपने भीतर प्रकट होने वाली शक्ति का संयम में सम्यक प्रकार से उपयोग करे। पुष्पों का उपयोग करनेवाला पुष्प के आदिकारण बीज की रक्षा करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

साधके पोतानी अंदर प्रकट थनारी शक्तिनो संयममां सारी रीते उपयोग करवो लेईये. पुष्प वापरनारा भाणुसे पुष्पतुं जे जन्मतुं करणुं बीज तेनुं रक्षणुं करवुं पड़े छे.

शक्ति प्राप्त करने के लिए सब मचल रहे हैं और शक्ति ही जीवन है, स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिकागो के भाषण में कहा था—

Strength is life and weakness is death. शक्ति ही जीवन है और कमजोरी ही मौत है।

इसीलिये शक्ति प्राप्ति की होड़ लग रही है। विद्व की बड़ी शक्तियाँ राष्ट्र की शक्ति वृद्धि के करोड़ों अरबों रुपये खर्च कर रहे हैं। राकेट और उपग्रहों का निर्माण शक्ति प्रदर्शन के लिये ही तो है।

कोई हर्ज नहीं है हम सात्विक उपायों से शक्ति प्राप्त करें। किन्तु धरन यह है कि हम शक्ति का उपयोग किस ढंग से करते हैं। शक्ति की प्राप्ति उतना महत्व नहीं रखती जितना कि उसका विवेकपूर्ण उपयोग। शक्ति का सही उपयोग मानव को देवत्व की ओर ले जाता है तो शक्ति का अनुचित उपयोग राक्षसत्व की ओर। शक्ति का गलत उपयोग करके ही तो रावण राक्षस कहलाया और उसका सही उपयोग कर राम ने देवत्व पाया था।

अर्हताधि साधक को प्रेरणा दे रहे हैं। तुम्हें शक्ति प्राप्त हुई है उसका उपयोग संयम में करें। श्रीमद् रामचन्द्रजी के शब्दों में कहूँ तो “देह होय तो संयम ने माटे।” संयम के लिये किया गया पुरुषार्थ आत्म-विकास में सहायक होता है पुष्पों का आनन्द लेनेवाला माली भी इतनी बुद्धि रखता है बीज-कली की रक्षा करता है। हमें भी अध्यात्मरस कर अनुभव करना है शक्ति को संयम लगाना होगा। बीज जब तक अपने आपको मिट्टी में गला नहीं देता तब तक पौधे और पुष्प के रूप में बदल नहीं सकता। इसी प्रकार जब तक हम अपनी शक्तियों को संयम में परिणत नहीं होने नहीं देते तब तक आत्मा आत्मिक शान्ति को नहीं पा सकता।

टीका:—जातं जातं वीर्यं संयमेन सम्यक् योजयेत् तु पुष्पादिभिर् मुकुलपुष्पफलै रक्षन्निव पुष्पाणामाधिकारणं बीजम् । गतार्थः ।

पत्रं से लिखे बुद्धे विरते धिगावे दत्ते दधिप.

अलं ताती णो पुणरधि इच्छत्थं हव्वमागच्छति चि वेमि ।

वेसमणिज्जं नाम अज्झयनं ।

इतिजासिगां लज्जताइं ॥

इति समाप्तानि ऋषिभाषितानि ।

डॉक्टर शुक्ति लिखते हैं :—

इस अंशित और विस्तृत अध्ययन में बहुत सी समस्याएँ बिन-सुलझी रह जाती हैं। चौदहवीं गाथा में बताया गया है कि पृथ्वी के आखिरी छोर से सागर की झालर-सी लहरों से अथवा अग्नि में से प्राणियों का जीवन निर्माण होता है। ऐसा लगता है कि मृत्यु के बाद परिणाम के दिन वे फिर से जीवित होंगे। यह बात अस्पष्ट है और कृत कर्मों के पश्चात्ताप को रोकती है। आत्मा (कर्म) फलों का जीवित भंडार है। इस बात का दूसरी रीति से वर्णन भी संभवित नहीं है। गाथा २२ में तेल पात्र घर की कथा आई है वह जातक १, ५०३ में आयी है। गाथा ३७ में बहुवचन के स्थान पर एक वचन चाहिये। प्रथम शब्द नरेन्द्र और जिनेन्द्र का उल्लेख करता है। गाथा ३८ का पाठ सम्मं काएण फासिता पुणो न विरमे नती ।” का साम्य दशवैकालिक के निम्न पाठ से मिलता है—

एवं खलु भिक्षु अहासुर्यं सम्मं कायेण फासिता पालिता भवई । वहां “बहिया” अर्थ में शारीरिक शक्ति का उल्लेख किया गया है। यहाँ कार्य-स्पर्श काया के द्वारा स्पर्शना बताई गई है।

गाथा ३९-४० में साधना की सिद्धि के लिये दृष्टान्त दिये गये हैं। दशर्वे० अ० ९ गा० में उसका साम्य है। किन्तु दशवैकालिक सूत्र में जहाँ अर्गधनकुल के सर्प को अच्छे रूप में बताया गया है। वे गन्धन सर्प की भाँति अपने विष को पुनः चूसते नहीं हैं। जबकि यहाँ उनके लिये धिक्कार जनक कार्य बताया है, स्फिडुल के सर्प के रूप में भी यहाँ कुछ परिवर्तन हैं। ४३ वें श्लोक में ऋद्धियों को हीन बताया गया है। गर्व और उसके उपयोग को खराब बताया गया है।

४४ वीं गाथा में बताया गया है कि प्रेमिका के हाथ से दिया गया विष भी मारक होता है। अथवा प्रेमी स्त्री प्रेम में विफल होने पर विष पि्ला सकती है और प्राण ले सकती है, इसी प्रकार नदी में तैरने के लिये मछली के कुछ गुण नहीं लिए तो डूब जावेगे और विष ग्राह की पक्ष में आ सकते हैं।

पचासवें श्लोक में बताया गया है बुद्धिशाली और स्वर्ग में जानेवाले प्राणी अपने विचार के अनुसार जीवन का निर्माण करते हैं और कार्य करने की शक्ति को रोकते हैं। हर रूप में वह ठीक नहीं है। एकावन वें श्लोक में भिजएहि पाठ आया है वह अनुचित है उसके स्थान पर तितेहि चाहिये।

धेपनवें श्लोक में सम्बोधन का समावेश किया गया है। विचारक अपनी शक्ति का संयम में प्रयोग करें, जैसे शनैः शनैः वह विकास करता है और उसके पत्र पुष्प और फलों का आस्वादन करता है।

अन्त में डॉक्टर शुक्ति लिखते हैं—“इसिभासियाई” समझने का हमारा प्रथम प्रयास है। इसके प्रकाशन और अनुवाद के लिये थोड़ी आवश्यक सूचनाएँ यहाँ दी गई हैं।

इति वैश्रमण-अर्हताधिप्रोक्तं पञ्चत्वारिंशदध्ययनम् ।

समाप्तं ऋषिभाषितसूत्रम् ॥

परिशिष्ट नं. १

इसिभासिय पदमा संगहिणी

ऋषिभाषित सूत्र में जिन पैंतालीस अर्हत्तर्षियों के जीवन-स्पर्शी संदेश को संग्रहीत किया गया है। प्रस्तुत संग्रहिणी गाथाओं में उनका नाम निर्देश किया गया है। उसके पूर्व एक गाथा के द्वारा यह बताया गया है ये सभी अर्हत्तर्षि किनके शासन में हुए हैं।

प्रत्तेय बुद्धमिसिणो वीरसं तित्थे अरिदुणेमिस्स ।

पासस्स य पणरस्स वीरस्स विलीणमोहस्स ॥

अर्थः—बीस प्रत्येक बुद्ध ऋषि प्रभु अरिष्ट नेमि के तीर्थ में हुए हैं। प्रभु पार्श्वनाथ के शासन में पन्द्रह और शेष विगत-मोह वीरप्रभु के शासन में हुए हैं।

अब पाँच गाथाओं से अर्हत्तर्षियों के नाम दिये जा रहे हैं।

नारद-वज्जिय-पुत्ते असिते अंगरिसि-पुण्णसाले य ।

वक्कलकुम्मा केवलि काश्यप तह तेतलिसुत्ते य ॥ २ ॥

अर्थः—अर्हत्तर्षियों के नाम इस प्रकार हैं—१. नारद २. वज्जिय पुत्र, ३. असित, ४. अंगरिसि, ५. पुण्य साल, ६. वक्कल चीरी, ७. कुर्म, ८. केतलि (पुत्र) ९. काश्यप, १०. तेतलि पुत्र।

अर्हत्तर्षियोंना नामो नीचे मुद्रण छे:-

१ नारद, २ वज्जियपुत्र, ३ असित, ४ अंगरिसि, ५ पुण्यसाल, ६ वक्कलचीरी, ७ कुर्म, ८ केतलि (पुत्र) ९ काश्यप, १० तेतलिपुत्र,

मंखली जण्णभयालि बाहुय महु सोरियाण विदुर्विपू ।

वरिसकण्हे आरिय उक्कटवादी य तरुणे य ॥ ३ ॥

अर्थः—११. मंखली, १२. यज्ञ, १३. भयालि, १४. बाहुक महु, १५. सोरियाण, १६. विदु, १७. विपू, १८. वरिस कृष्ण, १९. आर्य, २०. उक्कटवादी, २१. तरुण ऋषि।

११ मंखली, १२ यज्ञ, १३ भयाली, १४ बाहुक महु, १५ सोरियाण, १६ विदु, १७ विपू, १८ वरिस कृष्ण, १९ आर्य, २० उक्कटवादी, २१ तरुण ऋषि.

गहभ रामे य तहा हरिगिरि अम्बड मयंग वारत्ता ।

तंसो य अद् य वद्धमाणे वा तीस तीमे ॥ ४ ॥

अर्थः—२२ गहभ, २३ राम अर्हत्तर्षि, २४ हरिगिरि, २५ अम्बड मातंग, २६ वारत्ता, २७ शंस, २८ आर्द्रक, २९ वद्धमान, ३० वायु। ये तीसरे अर्हत्तर्षि हैं।

२२ गहभ, २३ राम अर्हत्तर्षि, २४ हरिगिरि, २५ अम्बड मातंग, २६ वारत्ता, २७ शंस, २८ आर्द्रक, २९ वद्धमान, ३० वायु, आ तीसमा अर्हत्तर्षि छे.

पासे पिगे अरुणे इसिगिरि अद्दालय य वित्ते य ।

सिरिगिरि सातियपुत्ते संजय दीवायणे चेव ॥ ५ ॥

अर्थः—३१ पार्श्व, ३२ पिग, ३३ अरुण, ३४ ऋषिगिरि, ३५ अद्दालक, ३६ वित्त, ३७ सिरिगिरि, ३८ सातिपुत्र, ३९ संजय, ४० द्वीपायन।

૩૧ પાર્થ, ૩૨ પિંગ, ૩૩ અરુણ, ૩૪ ઋષિગિરિ, ૩૫ અદાસક, ૩૬ નિત, ૩૭ સિરિગિરિ, ૩૮ સાતિપુત્ર, ૩૯ સંજય, ૪૦ દ્વીપાયન.

તત્તો ય હંદનાગે સોમ યમે યેવ હોદ્ વરુણે ય ।

વેસમણે ય મહાપ્પા ચત્તા પંચેષ અક્ષાણ ॥ ૬ ॥

અર્થ:—ઉસકે નાદ ૪૧ હન્દનાગ, ૪૨ સોમ, ૪૩ યમ, ૪૪ વરુણ ઓર પેંતાલીસકે મહાત્મા વૈશ્રવણ અર્હતર્ષિ હૈં । ઇસ પ્રકાર પેંતાલીસ અર્હતર્ષિ હૈં ।

તે પછી ૪૧ હન્દનાગ, ૪૨ સોમ, ૪૩ યમ, ૪૪ વરુણ અને પિસ્તાદીસમા મહાત્મા વૈશ્રવણ અર્હતર્ષિ છે, એવી રીતે પિસ્તાદીસ અર્હતર્ષિઓ છે.

ઋષિભાષિત સૂત્ર મેં પેંતાલીસ અર્હતર્ષિ પ્રત્યેક બુદ્ધોં કે નામન હૈં । હાલનાંય સૂત્ર મેં વૈશ્રવણ દેવલોક અધિત પ્રત્યેક બુદ્ધોં કે નામ હૈં ।

ઋષિભાષિત સૂત્રમાં પિસ્તાળીસ અર્હતર્ષિ હરએક બુદ્ધના પ્રવચનો છે, સમવાયાગ સૂત્રમાં યુમાળીસ દેવલોકમાંથી અ્યુત થયેલા હરએક બુદ્ધના નામ છે.



परिशिष्ट नं० २

इसिमासियाई-अत्थाहिगारसंगहिणी

प्रस्तुत सूत्र की द्वितीय संग्रहिणी में अध्ययनों के नाम दिये गये हैं ।

अध्ययनों के नाम करण की विविध शैलियाँ होती हैं । कभी अध्ययन में वर्णित विषय के अनुरूप अध्ययन का नाम करण होता है तो कभी वक्ता के नाम पर भी अध्ययन का नाम होता है । तो कभी अध्ययन की प्रथम गाथा के प्रथम शब्द पर ही अध्ययन का नाम करण कर दिया जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में तीसरी शैली का आश्रय लिया गया है । अध्ययन के प्रथम शब्द के अनुरूप अध्ययनों का नामकरण किया गया है ।

द्वितीय संग्रहिणी पंच गाथाओं में अध्ययनों के नाम दिये गये हैं ।

सोयव्वं जस्स अमिलेये, आदाणरक्खि माणे य ।

तम सव्वं आराए जाव य सद्धेय णिव्वेय ॥ १ ॥

लोकेसणा किमत्थं जुत्तं सत्तो तन्धेव विसस्ये ।

विज्जा वज्जे आरिय उक्कल णाहंति जाणामि ॥ २ ॥

पडिसाडी ठव्वेण दुयेमरणे सव्वं तहेव वंसं य^{१५} ।

धम्मं य^{१६} साहु सोत्ते^{१७} सव्वंति अहसव्वतो समेलोए ॥ ३ ॥

किंसी बाले य पडित सहणा सह कुप्पणा य बोद्धव्वा ।

तपित उदयं य सुव्वा पवि तह इच्छणिच्छा य ॥ ४ ॥

अजीवओ य अप्पेजिण य एसितव्व बहुयंतु ।

लाम्भे दो ठाणेहिं य अप्प पापाण हिंसायु ॥ ५ ॥

— इसिमासित अत्थाहिगार संगहिणी समत्ता ।

अर्थः—ऋषिभाषित सूत्र की अर्थाधिकार संग्रहिणी के अनुसार पैंतालीस अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं ।

१. सोयव्वं, २. जस्स, ३. अमिलेय, ४. आदाण रक्खि, ५. माणे, ६. तम, ७. सव्वं, ८. आराए, ९. जाव, १०. सद्धेय, ११. णिव्वेय, १२. लोकेसणा, १३. किमत्थं, १४. जुत्तं, १५. सात्ता, १६. विसस्य, १७. विज्जा, १८. वज्ज, १९. आरिय, २०. उक्कल, २१. णाहंति जाणामि, २२. पडिसाडी २३. ठव्वेण दुयेमरणे, २४. सव्वं, २५. वंस, २६. धम्मं, २७. साहु, २८. सोत्ते, २९. सव्वंति, ३०. अहसव्वतो, ३१. समेलोए, ३२. किंसी, ३३. बाले, ३४. पडित सहणा, ३५. कुप्पणा, ३६. तपित, ३७. उदय, ३८. सुव्वा, ३९. पाव, ४०. इच्छणिच्छा, ४१. अजीवओ, ४२. अप्पेजिण, ४३. लाम्भे, ४४. दोठाणेहिं, ४५. अप्प पापाण हिंसायु ।

१. शत्रु परिक्षा अध्ययन—आचाराग प्र० अ०

विनय श्रुत अध्ययन उत्तराध्ययन प्रथम अ०

२. काविलीयमध्ययनम् उत्तरा० अ० ८.

शक्रस्तव.

३. लोगस्त, नमोत्थुणं, भक्तामर.

अभिधापित सूत्रनी अर्धाधिकार संग्रहिणी मुञ्ज पित्ताक्षिस अध्ययनोना नामो नीचे मुञ्ज छे:-

१. सोयवं, २. जस्स, ३. अभिक्षेप, ४. आदाष्टु रक्षिण, ५. भाषु, ६. तम, ७. सव्यं, ८. आराभे, ९. जव, १०. सक्षेय, ११. शिवेय, १२. लोकेय, १३. किमर्थं, १४. गुप्तं, १५. साता, १६. विसय, १७. विजय, १८. वज्र, १९. आरिय, २०. उच्छ्र, २१. एहंति जगामि, २२. परिसारी, २३. ह्यत्र ह्येवमेव, २४. सव्यं, २५. जस, २६. धम्मं, २७. साहु, २८. सोत, २९. सवति, ३०. अहसवती, ३१. समेवोभे, ३२. किस्ती, ३३. भोले, ३४. पडितं सद्धया, ३५. कुपया, ३६. उप्पत, ३७. उदय, ३८. सुव्या, ३९. पाव, ४०. धम्मश्रिच्छा, ४१. आशुवयो, ४२. अप्पश्रुय, ४३. दासे, ४४. होहालेहि, ४५. अप्प पापासु हिंसायु ।

इस प्रकार सभी अध्ययनों का नाम प्रथम शब्द पर है कहीं कहीं इसका अपवाद भी है जैसे अध्ययन ४२ में गाथा का प्रथम पद है अप्पेण बहुमेसेज्जा, जबकि अध्ययन के नाम में कुछ अन्तर है । संभव है वह गाथा पूर्ति के लिये ऐसा करना पड़ा हो । ऐसे ही पैतालीसवें अध्ययन में गाथा के प्रथम वरण और अध्ययन के नाम में भेद है ।

-इति क्रिष्णाधितस्य अर्धाधिकार-संग्रहिणी समाप्ता ॥

